भारतीय अर्थशास्त्र

भारतीय अर्थशास्त्र

लेखकों की विख्यात पुस्तक Indian Economics का हिन्दी रूपान्तर

[खण्ड २]

जे० बी० जथार, एम० ए०

तथा

एस० जी० बेरी, एम० ए०



राजकमल प्रकाशन

मूल पुस्तक Home University Library और Oxford University Press द्वारा प्रकाशित की गई है। प्रस्तुत संशोधित हिन्दी संस्करण में अद्यतन सूचनाएँ और आँकडे संशोधनकर्त्ता द्वारा यथास्थान दे दिये गए हैं।

पूर्ववर्ती संस्करणों के रूपान्तरकार तथा संशोधनकर्त्ता :
डी० एस० कुशवाहा (इलाहाबाद विश्वविद्यालय)
पंचम संशोधित संस्करण के संशोधनकर्त्ता : डी० डी० मेहता
(के० एम० कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)

प्रथम हिन्दी संस्करण, १९५५
द्वितीय संशोधित हिन्दी संस्करण, १९६०
तृतीय संशोधित हिन्दी संस्करण, १९६१
चतुर्थ संशोधित हिन्दी संस्करण, १९६२
पंचम संशोधित हिन्दी संस्करण, १९६९

मूल्य
खण्ड १ : ८ रुपये
खण्ड २ : ८ रुपये
सम्पूर्ण : १५ रुपये

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली-६
मुद्रक : शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

पंचम संशोधित संस्करण की भूमिका

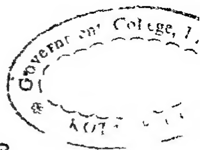
स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत ने अनेक दिशाओं में प्रगति की है। आर्थिक समृद्धि किसी भी देश की शक्ति का प्रमुख आधार होता है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था भी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रही है। विविध योजनाओं द्वारा भारत अपने विस्तृत और मूलभूत साधनों के संतुलित विकास का मार्ग ढूंढ रहा है और अपने आर्थिक ढांचे को शीघ्र ही बदलने का प्रयत्न कर रहा है। भारत की स्वतन्त्रता और उसका भविष्य पंचवर्षीय योजनाओं पर निर्भर है।

इस दिशा में परिवर्तनशील होते हुए भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन अत्यधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है। आज का भारतीय अर्थशास्त्र राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देश की आर्थिक स्थिति के अध्ययन में लगा हुआ है। जथार और बेरी ने १९२८ में अपने ग्रंथ 'अर्थशास्त्र का अध्ययन' का प्रथम संस्करण प्रकाशित करके इस विषय के विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। तब से लेकर १९४९ तक उनकी पुस्तक के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए, किन्तु दुर्भाग्य से सन् १९४९ में श्री बेरी के देहान्त के कारण इस पुस्तक के अन्य संस्करण न निकल सके।

उनका ग्रंथ प्रथम प्रकाशन से आज तक भारतीय अर्थशास्त्र का विश्वकोश समझा जाता रहा है। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे इस ग्रंथ को आधुनिकतम रूप देने तथा संशोधित करने का कार्य सौंपा गया है। मैंने १९६६-६७ के बजट, इण्डिया १९६५, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का सस्वरण-पत्र और आर० बी० बुलेटिन इत्यादि से पर्याप्त सहायता ली है। इस कार्य में मुझे मेरे शिष्य आनन्द बी० चन्दन से बहुत सहायता प्राप्त हुई है। मैं आनन्द चन्दन का इसके लिए बहुत आभारी हूँ।

मुझे पूरी आशा है कि यह पुस्तक अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों एवं अध्यापकों दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली-७ —बी० डी० मेहता
जून, १९६६



सूची : खण्ड २

क्रियाएँ—रुपये को १० शि० ६ पैंस से सम्बन्धित करना—भारत से स्वर्ण-निर्यात—अनुपात का प्रश्न और रिज़र्व बैंक बिल—नये करेन्सी अधिकारी के रूप में रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया का विनिमय दायित्व—करेन्सी के सम्बन्ध में आधुनिक व्यवस्था—अवमूल्यन का पक्ष और विपक्ष—अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष और रुपये का सममूल्य—रुपये का अवमूल्यन (सितम्बर १९४९)—द्वितीय विश्व-युद्ध का भारतीय चलार्थ (करेन्सी) और विनिमय पर प्रभाव—रुपये के सिक्के को प्रचलन से वापस लेना और एक रुपये के नोट का प्रचलन—चाँदी के सिक्कों के रजत तत्त्व में कमी—दशमलव प्रणाली—विनिमय-नियन्त्रण—स्वर्ण के आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध—साम्राज्य का डालर सचय तथा युद्धोत्तर डालर कोष अम्पायर (डालर पूल एण्ड पोस्ट वार डालर फण्ड)।

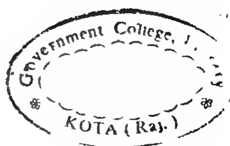
२३ · भारतवर्ष में मूल्य २७७–२९०

१८६१ से हुए मूल्य-परिवर्तनों पर एक विहगम दृष्टि—१८६१ से १८६३ तक—मूल्य जाँच-समिति (१८९० से १९१२)—१९१४-१८ के युद्ध से पूर्व मूल्यों की वृद्धि के कारण—विशेष रूप से भारतीय कारण—विश्वव्यापी कारण—पूर्व अवसाद-काल तथा युद्ध-काल (१९१४-१८) में मूल्य—मुद्रास्फीति—ऊँची कीमतों का प्रभाव—किसानों पर प्रभाव—उद्योगों पर प्रभाव—ग्रामीण क्षेत्रों तथा नगरों के श्रमिक—स्थिर आमदनी वाले व्यक्तियों पर प्रभाव—अवसाद और उसके बाद के समय में मूल्य—मूल्यों के घटने के कारण और प्रभाव—सितम्बर १९३९ के बाद कीमतें—द्वितीय महायुद्ध काल तथा युद्धोत्तर काल में मूल्य-परिवर्तनों का प्रभाव—स्वतन्त्रता के उपरान्त मूल्य—मूल्य-नीति।

२४ . अधिकोषण (बैंकिंग) और साख २९१–३३७

भारतीय अधिकोषण का इतिहास—देशी अधिकोष— देशी अधिकोष की वर्तमान स्थिति—पुरानी तथा नई अधिकोष-प्रणाली के एकीकरण की आवश्यकता—देशी साहूकारों से सम्बन्ध स्थापित करने की रिज़र्व बैंक की योजना—आधुनिक अधिकोष का उदय—प्रेसीडेन्सी बैंक—सुरक्षित कोष-पद्धति—प्रेसीडेन्सी बैंक के कारोबार तथा विकास—विनिमय बैंक (विदेशी बैंक)—विनिमय बैंकों के कारोबार तथा उनकी वर्तमान स्थिति—विदेशी बैंकों पर प्रतिबन्ध—भारतीय विनिमय बैंक का श्रीगणेश—मिश्रित पूँजी के बैंकों का इतिहास—बैंकों का दिवाला—बैंकों का दिवाला निकलने के कारण—पर्याप्त नकद कोष का महत्त्व—बैंक-सम्बन्धी नियमन—सशोधित इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट (१९३६) में बैंकिंग कम्पनियों से सम्बद्ध विशेष विधान—बैंकिंग के नियमन हेतु हाल में की गई वैधानिक व्यवस्थाएँ—निकासी गृह—पोस्टल सेविंग बैंक—भारतीय द्रव्य बाज़ार की विशेषताएँ तथा त्रुटियाँ—द्रव्य की दरों में भ्रामकता तथा गोलमाल—द्रव्य-सम्बन्धी मौसमी तंगी—हुण्डी के बाज़ार का अभाव—

द्वितीय भाग



अध्याय १

औद्योगीकरण : साधन तथा विधि

१. भारत में संरक्षण के पक्ष में प्रमुख तर्क—संरक्षण के लिए भारतीय उद्योगों की स्पष्ट उपयुक्तता की ओर संकेत करते हुए १९२४ के अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) ने प्रो० पीगू के निम्नलिखित शब्दों को उद्धृत किया—"उत्पादन के प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न किसी भी कृषि-प्रधान देश में उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए संरक्षण की नीति का दृढ़ता से समर्थन किया जा सकता है। ऐसे देश में संरक्षण के फलस्वरूप देश के उत्पादन का विदेशी उत्पादन से कम विनिमय होने के कारण जो हानि होगी, अन्ततोगत्वा राष्ट्र को देश की उत्पादन-शक्ति के विकास की तीव्र गति द्वारा उसकी पूर्ति से अधिक लाभ होगा। संरक्षण-कर, जिन्हें कालवर्ट ने नये उद्योगों को चलना *सिखाने वाली बैसाखी बताया है, उद्योगों के स्वतः चलना सीखने की अपेक्षा उन्हें* इतनी जल्दी चलने की शक्ति प्रदान कर देती है कि बैसाखियों की लागत से कहीं अधिक लाभ प्राप्त होता है।"[1]

२. संरक्षण और राष्ट्रीय स्व-निर्भरता—जो लोग संरक्षण के पक्षपाती होते हैं, वे हर सम्भव उपाय से निर्यात को भी प्रोत्साहन देने का समर्थन करते हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि *यह आत्म-निर्भरता के आदर्श के विपरीत है, क्योंकि निर्यात के साथ-साथ* आयात अवश्यमेव बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि क्या एक राष्ट्र की स्व-निर्भरता व्यक्ति की आत्म-निर्भरता से किसी भाँति अधिक वांछनीय है ? डॉ० एडविन कैनन का कथन है कि "संरक्षण का कट्टर पक्षपाती उस साधु की भाँति है जिसे अपने पड़ोसी से कुछ भी खरीदना स्वीकार नहीं।"[2] और एक साधु राष्ट्र एक साधु व्यक्ति से किसी भी भाँति अधिक प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। साधारणतया आत्म-निर्भरता के आदर्श का पालन सापेक्षिक लागत के नियम द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर ही करना चाहिए और उन्हीं उद्योगों के सम्बन्ध में नीति पर विचार करना चाहिए, जिनके सम्बन्ध में एक देश को निश्चित रूप से प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हों।

राष्ट्रीय स्व-निर्भरता के सिद्धान्त का समर्थन बहुधा राष्ट्रीय सुरक्षा के दृष्टिकोण से किया जाता है। भारत उत्पादन के विभिन्न साधनों से सम्पन्न एक विशाल देश है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारत के लिए आत्मनिर्भरता ग्रेट

---

१. 'फिस्कल कमीशन रिपोर्ट (१९२४)', पैरा ७४।
२. 'इकनॉमिक जरनल', मार्च १९१९, पृ० ७९।

ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक सुलभ है। किन्तु न तो यह सम्भव ही है और न वाञ्छनीय ही, कि भारत अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य सारे देशों से सम्बन्ध विच्छेद कर ले।

३ भारत मे सरक्षण के पक्ष मे प्रबल भावना—ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गई स्वतन्त्र व्यापार की नीति मुख्यतया इस सन्देह के कारण अलोकप्रिय रही कि मुक्त-द्वार की यह नीति भारत की अपेक्षा ब्रिटेन के हितो की अधिक पोषक थी। यूनाइटेड स्टेट्स, जर्मनी और यहाँ तक कि जापान जैसे अन्य देशो की समृद्धि भी सरक्षण के ही बल पर हुई थी। लोगो को इस तर्क पर विश्वास ही नही होता था कि उनके विकास के कारण बिलकुल दूसरे ही थे तथा सरक्षण उनके औद्योगिक विकास मे सहायक होने के बजाय गतिरोधक सिद्ध हुआ था। यह भी कहा जाता था कि ब्रिटेन ने स्वय भी सरक्षण की नीति का तभी परित्याग किया, जब उसकी औद्योगिक श्रेष्ठता का सिक्का निश्चित रूप से जम चुका था। यह बात भी सत्य थी कि ब्रिटेन मे स्वतन्त्र व्यापार-काल का प्रारम्भ कृषि से सरक्षण हटाकर उद्योगो को सरक्षण देने के ध्येय से हुआ था। अन्त मे, १९१५ से स्वय ही सरक्षण की नीति का अनुसरण करने के कारण ग्रेट ब्रिटेन किस मुँह से भारत को स्वतन्त्र व्यापार की शिक्षा दे सकता था?

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद सार्वजनिक व्यय मे हुई अत्यधिक वृद्धि ने सरकार को आयात कर बढाने के लिए बाध्य कर दिया। यह एक ऐसी पद्धति थी जो बहुत-से उद्योगो के लिए स्वत सरक्षक सिद्ध हुई। अव्यवस्थित और अनियमित होने के कारण ऐसे सरक्षणो के कुछ परिणामो का अहितकर होना अवश्यम्भावी था। किसी स्थायी नीति के आश्वासन के बिना ही इन्होंने उद्योगो को प्रश्रय दिया, अतएव यह आवश्यक नही था कि सरक्षण उन्ही उद्योगो को मिलेगा जो इस योग्य थे। आय बढाने के उद्देश्य से लगाये गए ऊँचे निराकाम्य कर (कस्टम ड्यूटीज), जो सयोग से सरक्षणात्मक भी थे, औद्योगिक विकास मे सहायक सिद्ध होने के बजाय अधिक बाधक थे।

४ विवेचनात्मक सरक्षण—अर्थ आयोग द्वारा निर्धारित निम्नलिखित सामान्य नियमो को पथ प्रदर्शन के लिए अपनाया गया है—(१) उद्योगो को प्राकृतिक सुविधाओ से सम्पन्न होना चाहिए, उदाहरणार्थ कच्चे माल की पूर्ति की अधिकता, सस्ती शक्ति, श्रम की पर्याप्त पूर्ति और देश मे विस्तृत बाजार की उपलब्धि। (२) सरक्षण उन उद्योगो को ही देना चाहिए जो या तो उसके बिना बिलकुल पनप ही न सकते हो या इसके अभाव मे जिनका विकास उस गति से न हो सकता हो, जो राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक है। (३) सरक्षण दिया जाने वाला उद्योग ऐसा होना चाहिए जो आगे चलकर बिना सरक्षण के ही विश्व-प्रतिस्पर्द्धा का सफलतापूर्वक सामना कर सके।

अन्य गौण सुझावो के अनुसार वे उद्योग जिनमे वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि नियम लागू हो तथा वे उद्योग जिनसे निकट भविष्य मे ही सारे देश की आवश्यकता-पूर्ति का आश्वासन मिलता हो, सरक्षण-योग्य है। ऐसे उद्योगो को सरक्षण कभी नही मिलना

चाहिए जिनसे देश की आवश्यकता की केवल आंशिक पूर्ति हो सकती हो।

कभी कभी बाहरी देशों द्वारा राशिपातन (डम्पिंग) करने पर संरक्षण अपनाया जा सकता है या उसमें वृद्धि की जा सकती है। जब यह स्पष्ट रूप से विदित हो जाए कि अन्य देश राशिपातन कर रहे हैं और इस कारण उस राष्ट्रीय उद्योग को हानि पहुँच रही है, जिसकी समृद्धि में राष्ट्र की समृद्धि सम्बद्ध है तो एक विशेष राशिपातन-कर आवश्यक हो सकता है। जिन देशों में मुद्रा का मूल्य बहुत कम हो गया हो जिसके फलस्वरूप वे अन्य सुदृढ़ मुद्रा वाले देशों के साथ नीचे भाव पर निर्यात करने के योग्य हो गए हों, तो उन देशों की वस्तुओं पर भी ऐसे कर लगाना उचित ठहराया जा सकता है। १८९९ के १४वें अधिनियम के अनुसार यदि कोई भी देश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निर्यात को आर्थिक सहायता देता है, तो गवर्नर जनरल को यह अधिकार है कि भारत गजट में अधिसूचित करके ऐसी सहायता की वास्तविक मात्रा के बराबर आयात पर अतिरिक्त कर लगा दे।[1]

अर्थ आयोग के विचार में प्रायः नवीन उद्योगों को ही संरक्षण प्रदान करना चाहिए। फिर भी उनका मत है कि सुदृढ़ उद्योगों के साथ भी ऐसी आकस्मिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जब उन्हें संरक्षण देना उचित हो, ताकि वे उन कारणों से उत्पन्न संक्रमणकालीन मन्दी का सामना कर सकें, जिनका उपचार उनकी शक्ति के परे है। समय-समय पर सूती वस्त्र उद्योग को दिया गया संरक्षण इस कोटि में भली भाँति आता है क्योंकि यह उद्योग अब अपनी शैशवावस्था में नहीं है।

पूर्ण रूप से नवीन उद्योगों के विषय में अर्थ-आयोग के सदस्यों का विचार था कि वास्तविक स्थिति का अध्ययन न कर नवीन उद्योगों के प्रवर्तकों के अनुमानों पर विश्वास करके संरक्षण प्रदान करना बहुत बड़ी जोखिम उठाना होगा। किन्तु विद्यमान उद्योगों के सम्बन्ध में भी अनिश्चितता और अनुमान का सामना किए बिना नीति निर्धारित करना सम्भव नहीं है। परिकल्पना की मात्रा उन उद्योगों के सम्बन्ध में और भी अधिक होगी, जिनको अन्य शाखाएं खोलने के लिए संरक्षण दिया जाएगा। फिर भी आयोग इस आधार पर संरक्षण देने का विरोधी नहीं था।[2] अतएव यह स्पष्ट है कि उन सभी दशाओं में, जिनमें संरक्षण की माँग की जाती है, अनिश्चितता अवश्य विद्यमान रहेगी। संरक्षण प्रदान किये जाने वाले एक नवीन उद्योग के विषय में यह सम्भव है कि बाहरी देशों में, जहाँ यह उद्योग भली भाँति स्थापित हो चुका है, ऐसे विश्वसनीय तथ्य प्राप्त हो सकें जिनसे यहाँ इस उद्योग के विषय में कोई शंका न रह जाए। अर्थ-आयोग का मत है कि आमतौर से नये उद्योगों के लिए संरक्षण आपत्तिजनक ही नहीं, बल्कि अनावश्यक सिद्ध होगा, क्योंकि सरकार की आर्थिक

१. अप्रैल, १९३२ में पास हुए उद्योग-सुरक्षा-अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया था कि वह उन सभी दशाओं में अतिरिक्त कर लगा सकता है, जिनमें उसके अनुसार विदेशी माल का इतने कम मूल्य पर आयात हो रहा है कि उससे एक स्थापित उद्योग को संकट है। ३१ मार्च, १९३५ को यह अधिनियम समाप्त हो गया।

२. 'अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) रिपोर्ट', पैरा १००।

आवश्यकताएँ आगम करो के स्तर को ऊँचा रखने के लिए बाध्य करेंगी। फलस्वरूप प्रारम्भ म आवश्यक सरक्षण स्वत ही प्राप्त हो जाएगा। अतएव ऐसे उद्योग को, अन्यथा जिसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है, आरम्भ करने के पहल पर्याप्त सरकारी सहायता का आश्वासन प्राप्त होना चाहिए। सरकार द्वारा नय साहसोद्यमियो को कुछ बैंको की निम्नतम ब्याज-दर की गारण्टी देने का सिद्धान्त, जिसका सभी क्षेत्रो मे स्वागत हुआ है, मूलत उन्हे सरक्षण दने की नीति के अलावा और कुछ नही है (नीचे सेक्शन १४ देखिए)। हर एक दशा मे यह आवश्यक है कि उद्योग नीचे दी हुई शर्ते पूरी करें। भारतवर्ष के राष्ट्रीय महत्त्व क आधारोद्योगो म साधारणतया निम्न लिखित उद्योगों का नाम लिया जाता है—भारी रासायनिक उद्योग, रजक द्रव्य, यन्त्र व औजार, रेल के डब्ब, इजन, हवाई जहाज, मोटरगाडिया, कागज, छुरी-काट, बरतन और बिजली क सामान।

किसी उद्योग को सरक्षण देना निश्चय कर लेने क बाद मुख्य समस्या सरक्षण की मात्रा निश्चित करना है। उद्योग को इतना अधिक सरक्षण नही देना चाहिए कि वह स्वत प्रयत्न करना ही छोड दे। वास्तव म उद्योग को निष्क्रिय करन की अपेक्षा उस उत्तेजित करने की आवश्यकता है। कर की एसी यथोचित मात्रा, जो न कम हो न अधिक, निश्चित करना बहुत मुश्किल है। भारत और विदेशो की उत्पादन लागत की तुलना क लिए हम एसी औसत फर्मो का लेकर अध्ययन करना होगा, जो न तो असाधारण रूप स कुशल हे और न अकुशल ही।[1] सरक्षण की दर निर्धारित करते समय उपभोक्ताओ क हित का भी ध्यान रखना चाहिए। सरक्षण कर की दर ऊँची होन म तीव्र औद्योगिक विकास हो सकता है, किन्तु मूल्यो की अनुचित वृद्धि रोकन के लिए यह सम्भव है कि इस दर को कम रखना पड और विकास की अपेक्षाकृत मन्द गति को स्वीकार करना पडे।

विवेचनात्मक सरक्षण की अनुचित रूप स कठोर और अनुदार व्याख्या करन की प्रवृत्ति को उस दूसरे शब्दो म रखकर कुछ सीमा तक ठीक किया जा सकता है। इगलैण्ड स्वय कपास बाहर स मँगाता है, फिर भी सूती वस्त्रोद्योग म अब तक उसका स्थान बेजोड न सही, परन्तु उच्च कोटि का अवश्य है। फिर सूती वस्त्रोद्योग और अपने कई अन्य उद्योगों के लिए उसे बाहरी बाजारो पर निर्भर रहना पडता है, अत अर्थ आयोग द्वारा सुझायी गई पद्धति एक साधारण पथ प्रदर्शक के रूप म ही अपनायी जा सकती है। उसका शाब्दिक या कठोर पालन करना उचित नही। समय समय पर नियुक्त प्रशुल्क मण्डलो (टैरिफ बोर्डो) और सरकार न भी इस महत्त्वपूर्ण सुझाव पर ध्यान नही दिया है। भारत म विवेचनात्मक सरक्षण की दूसरी आलोचना यह है कि

---

१. लागत विश्लेषण की जटिलता का अनुमान लगाने क लिए पाठक 'इण्डियन फिस्कल प्राब्लम', (जे० सी० कोयाजी द्वारा लिखित) पृ० ३६-३७ देखें बी० जी० काल 'इकनामिक्स आफ प्रोटेक्शन इन इण्डिया', सी० एन० वकील और एम० सी० मुशी, 'इण्डस्ट्रियल पालिसी आफ इण्डिया विद स्पशल रफरेन्स टु कस्टम्स टैरिफ', पृ० ८२—८५, तथा टैरिफ बोर्ड की विभिन्न रिपोर्टें देखें।

इसन औद्योगीकरण की सम्पूर्ण समस्या को ध्यान मे न रखकर उद्योगो पर अलग-अलग विचार किया है। फलत औद्योगिक विकास के पथ मे अनावश्यक बाधाएँ उत्पन्न हो गई हैं और इसका स्वरूप अनियन्त्रित-सा हो गया है।

भारतवर्ष मे विवेचनात्मक सरक्षण की असफलता का प्रमुख कारण देश के शीघ्र औद्योगीकरण के प्रति ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति का अभाव था। जैसा प्रो० बी० पी० अदारकर का कहना है, "पाश्चात्य देशों मे सरकारो की सहायता से सरक्षण के अतिरिक्त और भी उपाय काम मे लाये गए हैं, जैसे आर्थिक सहायता, राजकीय सहायता, औद्योगिक अनुसन्धान और औद्योगिक सस्थाओ का पथ-प्रदर्शन एव नियन्त्रण। वास्तव मे वहाँ विवेचनात्मक सरक्षण ने उद्योगो को उदासीन और अनमने भाव से नाम-मात्र की सहायता देने के अतिरिक्त और कुछ नही किया है। तदनन्तर वे उद्योग अपने विकास के लिए स्वतन्त्र छोड दिए गए हैं। प्रशुल्क-मण्डल और सरकार की विलम्बकारी नीति के कारण प्राप्त सरक्षण बहुधा लाभकर नही होता।"[1] इस भाँति भारतवर्ष मे बहुत दिनो से औद्योगीकरण की समस्या का रूप आर्थिक की अपेक्षा राजनीतिक अधिक रहा है। अब स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है, अतएव इसका हल सरल हो जाएगा।

५. विवेचनात्मक सरक्षण नीति में युद्धकालीन व्यवस्था की आवश्यकता—वास्तव मे अब युद्ध-समाप्ति के बाहरी देशों की तीव्र स्पर्धा और सरक्षण को अकस्मात् समाप्त कर देने के फलस्वरूप उत्पन्न तीव्र असन्तुलन की स्थिति से अपने उद्योगो को बचाने के लिए एक सामान्य सरक्षण काल की आवश्यकता है। १९४७ ई० से प्रशुल्क-मण्डल विभिन्न उद्योगो के सरक्षण के लिए आये आवेदन-पत्रो पर विचार करने मे लगा हुआ है और उनमे से बहुतो को सरक्षण मिल भी चुका है।

प्रत्येक उद्योग के सम्बन्ध मे मण्डल निम्न बातो की जाच करता है (१) वह उद्योग भली भाति स्थापित और सचालित है या नही, (२) एक निश्चित समय मे उसके विकास की सम्भावना है या नही, ताकि फिर सरक्षण अथवा किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता न रह जाए, (३) उस उद्योग को सरक्षण देना राष्ट्रीय हित मे है अथवा नही और यह सरक्षण समाज को आर्थिक क्षति पहुँचाये बिना सम्भव है या नही। सरकार के आदेश पर मण्डल को निम्न कार्य भी करने पडते हैं—देश मे पैदा होने वाली वस्तुओं के उत्पादन लागत की जाँच करना, थोक और फुटकर तथा अन्य मूल्यों पर रिपोर्ट प्रस्तुत करना, विदेशो की राशिपातन-नीति से उद्योग के लिए सरक्षण-सम्बन्धी सिफारिशे प्रस्तुत करना, आवश्यकता पडने पर विभिन्न वस्तुओ पर

---

१. श्री पी० सी० जैन द्वारा सम्पादित, 'इण्डस्ट्रियल प्राब्लम्स आफ इण्डिया' में अदारकर का 'फिस्कल और कमर्शल पालिसी' नामक लेख देखिए।

२. युद्ध उद्योग, जिनमें सूती वस्त्रोद्योग, लोहा और इस्पात, कागज और लुगदी, मैगनेशियम क्लोराइड और चीनी आदि के उद्योग भी सम्मिलित हैं, सरक्षित उद्योगो की कोटि से हटा दिये गए हैं।

मूल्यानुसार लगाये हुए तथा विशिष्ट करो के प्रभावो और प्रशुल्क-करो का मूल्यांकन करना तथा अन्य देशो को प्रशुल्क-कर मे दी गई छूट के प्रभावो का अध्ययन करना, मूल्य को ऊँचा उठाने वाली, गिरने से रोकने वाली या प्रभावित करने वाली और इस भाँति व्यापार को रोकने वाली सस्थाओ, एकाधिकार, ट्रस्ट एव सयोजनो (कम्बिनेशन्स) के विषय मे रिपोर्ट देना और उनकी गतिविधि को रोकने के लिए उपायो को सुझाना तथा सरक्षित उद्योगो पर निरन्तर दृष्टि रखना।

अर्थ-आयोग द्वारा तैयार की गई प्रश्नावली मे मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थी (१) आर्थिक पृष्ठभूमि मे १९५२ से लेकर अब तक हुए परिवर्तन, (२) विवेचनात्मक सरक्षण की नीति और उसका प्रयोग, (३) गत प्रशुल्क-नीति के प्रभावो की समीक्षा, (४) सशोधित प्रशुल्क-नीति के सिद्धान्त, (५) व्यापार और उद्योग के लिए सम्भव गैर-आर्थिक उपाय, (६) व्यापार और नियोजन पर हवाना चार्टर के अनुसार निर्धारित अर्थ-व्यवस्था, (७) सहायता प्राप्त और सरक्षित उद्योग के अधिकार और कर्तव्य तथा (८) अर्थनीति और अधिमान। इस अर्थ आयोग (फिस्कल कमीशन) ने सरक्षण देने के लिए उद्योगो को तीन भागो मे विभाजित किया—(१) सुरक्षा एव सैनिक महत्त्व के उद्योग, (२) आधारोद्योग, तथा (३) अन्य उद्योग। पहले प्रकार के उद्योगो को सरक्षण अनिवार्य रूप से देने की सिफारिश की गई, भले ही इससे समाज को कितना भी कष्ट क्यो न हो। दूसरे प्रकार के उद्योगो के सरक्षण के रूप और मात्रा का पूर्णतया निश्चय अर्थ आयोग के ऊपर था। इन उद्योगो को सरक्षण देने के लिए कोई सीमित शर्तें नही रखी गई। तीसरे प्रकार के उद्योगो को सरक्षण देने के लिए दो शर्तें रखी गई। प्रथम, उचित समय के भीतर ये उद्योग इतने विकसित हो सके कि सरक्षण या किसी प्रकार की आर्थिक सहायता के बिना पनप सकें और द्वितीय, सरक्षण की सम्भाव्य लागत समाज के लिए अधिक न हो। अर्थ-आयोग ने एक स्थायी प्रशुल्क-आयोग (टैरिफ कमीशन) की नियुक्ति की सिफारिश की। प्रशुल्क-आयोग-अधिनियम, १९५१ के अन्तर्गत २१ जनवरी, १९५२ को सरकार ने प्रशुल्क-आयोग की स्थापना की, जिसके तीन सदस्य होते है (इनमे से एक सभापति होता है)। प्रशुल्क-आयोग को विस्तृत अधिकार दिये गए है, परन्तु इधर हाल मे सरकार ने प्रशुल्क-आयोग की सिफारिशो मे परिवर्तन करके उसके कार्य मे हस्तक्षेप भी किया है जो अवाछनीय है। सरकार ने मई १९६६ मे डॉ० वी० के० आर० वी० राव की अध्यक्षता मे एक कमेटी बनाई है जो कि प्रशुल्क-आयोग के कार्य की जाच-पडताल करेगी तथा सुझाव देगी।

६. सरक्षण से सम्भावित हानियाँ—जब एक उद्योग को सरक्षण प्राप्त हो जाता है, तो वह स्वभावत उसका लाभ यथासम्भव समय तक उठाना चाहता है और वह जिन उपायो का बहुधा सहारा लेता है, उनमे से एक उपाय समृद्धि को छिपाना और प्रारम्भिक काल की असमर्थता का प्रदर्शन करना है। दूसरा उपाय आयात कर कम करने वाली सस्था पर राजनीतिक प्रभाव डालना है। सरक्षण की अवधि को पहले से ही निश्चित कर लेना ठीक नही है, क्योकि यदि बीच मे ही परिस्थितियो मे

मौलिक परिवर्तन हो जाए तो संरक्षण की नीति पर पुनः विचार करना और सम्भवतः संरक्षण की अवधि बढ़ाना होगा।

अर्थ-आयोग का मत है कि प्रशुल्क-मण्डल के लिए सन्तोषजनक नियन्त्रण बनाये रखने का एक ही रास्ता है कि वह संरक्षित उद्योगों की दशा की समय-समय पर जाँच करे और तर्कयुक्त निर्णय दे कि अमुक वस्तु पर कर बना रहने दिया जाए या हटा लिया जाए, और यदि बना रहने दिया जाए तो उसकी दर में परिवर्तन किया जाए या नहीं। प्रशुल्क-मण्डल के सदस्यों के चुनाव में सबसे अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता है। संरक्षण के प्रयोग की सफलता इस संस्था की कार्य-प्रणाली पर निर्भर करती है।[1] संरक्षण अपनाने वाले बहुत-से देशों में प्रशुल्क अधिनियम स्वार्थी गुटों से प्रभावित रहता है और समस्त देश के हित को ध्यान में रखकर निश्चित की गई योजना का शायद ही कभी अनुसरण करता है। अर्थ-आयोग का मत है कि विधानसभा में भिन्न-भिन्न स्वार्थों के प्रतिनिधित्व और विशेषकर कृषि तथा भूमि के सदैव बने रहने वाले महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधित्व के कारण भारतवर्ष में अन्य देशों की भाँति भ्रष्टाचार का भय नहीं है। किन्तु सम्भवतः यह परिस्थिति का अनावश्यक एवं अति आशावादी दृष्टिकोण से अध्ययन है तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार से उत्पन्न होने वाली हानियों को कम करके देखना है। संरक्षण द्वारा जो स्वार्थ फूलें-फलेंगे वे अपने विरोधियों की अपेक्षा अधिक साधनयुक्त तथा सुसगठित होंगे, क्योंकि विरोधी स्वार्थ भिन्न-भिन्न भाँति के होने के कारण प्रभावकारी ढंग से संयुक्त नहीं हो सकते। विशेष व्यवहार की अपेक्षा रखने वाले उद्योगों की दशाओं में प्रशुल्क-मण्डल द्वारा की गई खोजों का अधिकाधिक प्रचार करने की आवश्यकता है।

राजनीतिक भ्रष्टाचार के अतिरिक्त संरक्षण द्वारा प्रोत्साहित दूसरा दोष, जिससे बचने की आवश्यकता है, उत्पादकों का संयोजन है। किसी भाँति पैदा हुआ संयोजन वास्तव में देश के लिए हितकर है या नहीं, इसका उत्तरदायित्व प्रशुल्क-मण्डल पर ही है और यदि वह हानिकर है तो मण्डल को उस पर से संरक्षण उठा

---

१. सन् १९२९ के भारतीय आर्थिक सम्मेलन के सभापति-पद से भाषण करते हुए दिवंगत प्रोफेसर एन० एस० सुब्बाराव ने यह सुझाव रखा था कि यूनाइटेड स्टेट्स के फेडरल ट्रेड कमीशन और टैरिफ कमीशन की भाँति, जो अपनी विशद कार्य-प्रणाली द्वारा सदैव नये-नये उपाय ढूँढते रहते हैं, भारत में भी एक राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् का निर्माण होना चाहिए। प्रशुल्क-मण्डल को उचित रूप से विस्तृत करना चाहिए और इसे उपसमितियों तथा व्यक्तिगत सर्वेक्षकों की नियुक्ति की अनुमति देनी चाहिए। इसे स्वतः जाँच और सर्वेक्षण करने तथा समय-समय पर अपने परामर्शों को सरकार के सम्मुख रखने का अधिकार होना चाहिए। यह शीघ्रता में की जाने वाली वर्तमानकालीन अव्यवस्थित खोजों को दूर कर देगा, व्यवस्थित आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करेगा और देश में आवश्यक औद्योगिक सन्तुलन को सुलभ बना देगा। मार्च, १९३६ की विधानसभा में श्री एच० पी० मोदी ने सुझाव रखा कि ग्रेट-ब्रिटेन की आयात-कर परामर्शदात्री समिति की तुलना में भारतीय प्रशुल्क-मण्डल को अधिक गतिशील और प्रभावशाली बनाने के लिए इसकी कार्यविधियों में संशोधन होना चाहिए।

लेने या कम कर देने का सुझाव देना चाहिए।

७ संरक्षण के अतिरिक्त अन्य आवश्यक तत्त्व—संरक्षण के बावजूद भी आधुनिक आर्थिक जीवन के अन्य अनिवार्य अंगो, जैसे एक कुशल बैंकिंग व्यवस्था, आवागमन के समुन्नत साधन, रेलो और जहाजो की दर-सम्बन्धी सहानुभूतिपूर्ण नीति, विक्रय के लिए सुगठित सगठन, औद्योगिक और व्यापारिक सूचनाओ के लिए कुशल व्यवस्था, पूँजी-प्राप्ति के पर्याप्त साधनो आदि के अभाव मे देश आर्थिक रूप से सदैव पिछडा रह सकता है।

८ शिक्षा—भारतवर्ष मे जिस बात की सर्वोपरि आवश्यकता है वह है प्रत्येक वर्ग के लोगो के मानसिक दृष्टिकोण म परिवर्तन।[1] आत्मविश्वास की कमी और साहस का अभाव, जो आज भारतीय चरित्र क अग बन चुके है, हमारी दोषपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था के परिणाम है। नीचे से लेकर ऊपर तक हमारी शिक्षा-पद्धति आवश्यकता स अधिक साहित्यिक और सस्थात्मक (एकेडेमिक) है। इसे और अधिक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने की आवश्यकता है। बुद्धिमानी से आयोजित शिक्षा-पद्धति श्रम की प्रतिष्ठा के सिद्धान्तो पर जोर देने पर विशेष ध्यान देगी। हाथ से होन वाले कार्य अथवा भिन्न-भिन्न भाँति की रचनात्मक मानवीय क्रियाएँ प्रत्येक स्कूल के शिक्षा-क्रम

---

१. अपने एक पुराने शिष्य द्वारा पूछे जाने पर भारत के लिए सरक्षण के प्रश्न पर डॉ० मार्शल ने लिखा—"सिद्धान्तत भारत न शैशव-कालीन उद्योगों को सरक्षण देने क विषय में मुझ कोई आपत्ति नही है। किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निराक्राम्य कर एक बहुत महँगी विधि है मेरे विचार से जब तक अन्य उपायों की परीक्षा न कर ली जाए इसको प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। कम-से-कम उस समय तक इसे प्रयोग में नही लाना चाहिए जब तक कि वे उद्योग ह, जिन्हें माल पहुँचाने का लागत के लिए बहुत अधिक सरक्षण मिला है, (कुछ दशाओं में माल पहुचाने की लागत का दूना सरक्षण मिला है) भारतीय साहस को प्रोत्साहित करने में सफल नही हो जाते। इस दृष्टिकोण से प्रमुख उद्योग चमडा, कागज और तिलहन के उद्योग हैं। यदि भारत के पास श्री टाटा के समान एक या दो कोडी व्यक्ति होते और जापानियो की भाति वास्तविकता से सम्बन्ध रखने वाले, राजनीति और न्यायालयों में भाषण देने से घोर घृणा करने वाले और विचारों से भर मस्तिष्क के साथ अन्य 'वस्तुओं' का काम करने से घृणा न रखने वाले कुछ व्यक्ति भी होते, तो भारत शीघ्र एक महान् राष्ट्र बन जाता। एसा होने पर कोई उसे रोक न सकेगा, न कोइ निराक्राम्य कर ही बाधक सिद्ध हो सकेगा तथा अपनी परम्पराओं का वह शीघ्र प्राप्त कर लेगा। किन्तु जब तक उच्च शिक्षा-प्राप्त भारतीय सुसस्कृत विलास में अपना समय नष्ट करते रहेंगे या भारतीय न्यायालयों में धनोपार्जन करते रहेंगे—जो दोनों ही समुद्र के किनारे की रेत की भाँति ही देश के कल्याण के दृष्टिकोण से अनुपयोगी ह—भारत के लिए कोइ भी वस्तु लाभकर नही हो सकती। मैं २० वर्ष से केम्ब्रिज में भारतीयों को जोर देकर बतला रहा हूँ कि वे दूसरों से पूछें कि हममें से कितने पश्चिम जाने समय अपने विकास के अतिरिक्त किसी अन्य विषय के बारे में सोचते ह? क्या जापानी सदैव अपने से नहीं पूछा करते कि वे वापस लौटने पर किस भाँति अपने को अपने राष्ट्र के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी बना सकेंगे? क्या उनको वास्तविक अध्ययन की लालसा नहीं रहती? क्या पश्चिम की शक्ति के मूल पर वे दृष्टिपात नहीं करते? क्या यही जापान के शीघ्र विकास का प्रमुख कारण नहीं है? क्या हम उसका अनुकरण नहीं कर सकते? क्या हमें जापानियों की भाँति अपने देश के विषय में पहले और अपने विषय में बाद में सोचने का परिवर्तन लाने की आवश्यकता नहीं है?"

(करीक्युलम) में रखी जानी चाहिएँ।[1] हाथ से होने वाले कार्यों के प्रति भारतवर्ष में पाई जाने वाली अरुचि के कारण मुख्यतया सामाजिक हैं। किन्तु इस तथ्य का एक कारण यह भी रहा है कि अभी हाल तक भारतवर्ष के स्कूलों में बच्चों के लिए हाथ के कार्यों के लिए सन्तोषजनक प्रबन्ध का बिलकुल अभाव-सा रहा है। कुछ कलाओं या उत्पादक क्रियाओं के माध्यम से प्रारम्भिक स्कूलों में शिक्षा देने के महात्मा गांधी के मौलिक विचारों पर आधारित वर्धा-शिक्षा-योजना का उद्देश्य हमारी शिक्षा-पद्धति के उपर्युक्त दोषों को दूर करना है।[2] बहुत-से प्रान्तों एवं राज्यों में इसका उपयोग हो रहा है।[3] विद्यार्थी को अपनी आँखों और हाथ का अधिकाधिक उपयोग सिखलाना उचित शिक्षा पद्धति का एक उद्देश्य होना चाहिए। किसी भी भाँति की शिक्षा या उचित शिक्षा के अभाव से भारतीय श्रमिक केवल अकुशल और अविश्वसनीय ही नहीं हो जाता, वरन उसकी आत्मोन्नति की सारी अभिलाषा ही मर जाती है। शिक्षा उसकी आवश्यकताओं को बढ़ा देगी, उनकी पूर्ति के लिए अधिक और अच्छी तरह से काम करने के लिए उसे प्रेरित करेगी और इस प्रकार उसके जीवन को समुन्नत कर देगी। भारतीय उद्योगों की एक समस्या यह है कि कुशल कार्यकर्ता, निरीक्षक एवं यन्त्र के चालक बाहर से मँगाने पड़ते हैं। ये मनुष्य स्वभावतः महँगे पड़ते हैं और उन्हें ऊँची दर से पारिश्रमिक देना पड़ता है। इसके अलावा उनको उनके देश वापस करते समय भी भारी खर्च उठाना पड़ता है। अत: आयोग ने सिफारिश की थी कि सरकार को चाहिए कि विदेशी फर्मों को आर्डर देते समय शिक्षार्थियों (अप्रेन्टिसेज) के प्रशिक्षण की शर्त भी टेण्डर में रखे। कुशल कार्यकर्ताओं, निरीक्षकों एवं यन्त्र चालकों के अतिरिक्त भारतीय प्रबन्धकों की भी आवश्यकता है। इस क्षेत्र में आवश्यक प्रशिक्षण के हेतु विदेश जाने के लिए राज्य द्वारा दी गई प्राविधिक छात्रवृत्तियाँ बहुत सीमित मात्रा में ही आवश्यकता की पूर्ति कर सकती हैं। इस समस्या का एकमात्र वास्तविक हल यह है कि देश में ही हर श्रेणी के प्राविधिक विद्यालय खोले जाएँ ताकि भारतीय उद्योग प्रत्येक प्रकार के विदेशी श्रम से छुटकारा पा जाएँ। औद्योगिक समस्याओं में अनुसन्धान कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण श्रेणी का कार्य है। सरकार के शासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं के उद्देश्य से बनायी गई अत्यधिक साहित्यिक ढंग की शिक्षा कुछ अंश में विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में आधुनिक विज्ञान के अध्यापन और उसकी बढ़ती महत्ता के कारण कम हो गई है। विशिष्ट मस्तिष्क से व्यक्तिगत सम्पर्क एवं प्रयोगशाला में सम्भव प्रमाण-योग्य तर्क का अभ्यास मनुष्यों के विचारों और क्रियाओं को लाभकारी दिशा प्रदान करते हैं। वाणिज्य एवं प्राविधिक स्कूलों तथा कॉलेजों के भी ऐसे ही वाञ्छनीय फल होने चाहिएँ। जीवन-संघर्ष की बढ़ती तीव्रता पढ़े लिखे लोगों को सरकारी नौकरियों की अपेक्षा व्यवसाय की ओर खींच रही है, क्योंकि सरकारी नौकरियाँ अवश्य

१. ए० एब्बट और एस० एच० वुड, 'रिपोर्ट आन वकेशनल एजुकेशन इन इण्डिया', पृ० ३२ ।
२. 'रिपोर्ट आफ द जाकिर हुसेन कमेटी', सेक्शन १ ।
३. सी० जे० बर्के, 'द कान्सेप्शन आफ एजुकेशन,' द्वितीय संस्करण, अध्याय ६ ।

स्नातको को प्राप्त नही हो सकती ।

९ भारत मे औद्योगिक शिक्षा की स्थिति—विक्टोरिया जयन्ती प्राविधिक शिक्षालय (विक्टोरिया जुबिली टेक्निकल इस्टीट्यूट), जो बम्बई मे मुख्यतया व्यक्तिगत प्रयत्नो द्वारा १८७७ मे प्रारम्भ किया गया था, ही स्थानीय मिल-उद्योगो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए देश मे इस प्रकार की एकमात्र सस्था है। भारतीय शिक्षा-पद्धति के दोषो की जाच पडताल ने, जो लॉर्ड कर्जन ने प्रारम्भ की थी और १९०१ मे शिमला मे शिक्षा-विशेषज्ञो का एक सम्मेलन बुलाया था, प्राविधिक शिक्षा के प्रश्न को अत्यधिक महत्व प्रदान किया ।

औद्योगिक आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशे की (१) कारीगर तथा श्रमिक वर्ग के लिए औद्योगिक विधि की समुचित प्रारम्भिक शिक्षा-व्यवस्था का स्थानीय सरकार एव अधिकारियो द्वारा प्रबन्ध । उसके अन्तर्गत ऐसे नियोक्ताओ को आर्थिक सहायता देने की भी व्यवस्था हो, जो अपने श्रमिको के लाभ के लिए शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान करे । (२) उद्योग-विभाग के नियन्त्रण मे कुटीर उद्योगो के लिए उद्योग और कला के शिक्षालयो की व्यवस्था, और (३) सगठित उद्योगो के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था। इनका विभाजन हस्तसाध्य उद्योग जैसे अभियान्त्रिक और अहस्तसाध्य उद्योग जैसे रासायनिक पदार्थों के निर्माण मे हुआ । पहले प्रकार के उद्योगों म शिक्षा कारखानो मे ही देने और सैद्धान्तिक शिक्षा की कक्षाएँ इनसे सयुक्त कर देने की व्यवस्था बनायी गई । कुछ दशाओ, जैसे वस्त्र-व्यापार के सम्बन्ध मे, प्राविधिक स्कूलो के साथ उद्योगशालाएँ खोली गई । दूसरे प्रकार के उद्योगो के सम्बन्ध मे प्राविधिक स्कूल की शिक्षा कारखानो म प्राप्त व्यावहारिक अनुभव से पूर्ण होती थी । वर्तमान प्रान्तीय शिक्षालयो के अतिरिक्त आयोग ने दो राजकीय विद्यालयो (इम्पीरियल कॉलेजो) की स्थापना की सिफारिश की—एक उच्चतम अभियान्त्रिक शिक्षा के लिए और दूसरा धात्विक एव खनिज सम्बन्धी प्राविधिक शिक्षा के लिए ।[1]

प्राविधिक शिक्षा और औद्योगिक प्रशिक्षण के प्रसार की आवश्यकता को ध्यान म रखते हुए बम्बई सरकार ने फरवरी, १९२१ मे औद्योगिक और प्राविधिक शिक्षा के लिए एक समिति नियुक्त की । समिति ने दो रिपोर्टे तैयार की—एक यूरोपियन बहुमत की थी और दूसरी भारतीय अल्पमत की थी (अध्यक्ष एम० विश्वेश्वराया अल्पमत के समर्थक थे) । दोनो दलो के मतभेद के मुख्य विषय थे सस्थाओ का रूप, प्रशिक्षण पाने वाले विद्यार्थियो की सख्या एव लागत का अनुमान और सगठन तथा योजना कार्यान्वित करने के लिए सगठन एव एजेसिया ।

बहुमत वर्ग की सूचनाओ के आधार पर भी रच-मात्र कार्यवाही नही की गई यद्यपि उद्योग-विभाग द्वारा सचालित बुनाई के शिक्षण केन्द्र अब भी करघा-उद्योग को मदद दे रहे हैं । इस भाँति सामान्य प्राविधिक एव वाणिज्यिक शिक्षा की दशाएँ

१. भू-गर्भशास्त्रियों और खानों के अभियन्ताओं के लिए १९२६ के अन्त में धनबाद में इण्डियन स्कूल ऑफ माइन्स खोला गया ।

असन्तोषजनक ही रही और देश की विशालता तथा बढती आवश्यकताओं को देखते हुए सरकार या व्यक्तिगत प्रयत्नो द्वारा की गई व्यवस्थाएँ किसी भी भाँति पर्याप्त नही कही जा सकती। जैसा हारटोग-समिति ने कहा था कि व्यावसायिक एव प्राविधिक प्रशिक्षण के प्रयत्न शिक्षा-पद्धति से बिलकुल असम्बद्ध थे और इसलिए अधिकतर निष्फल सिद्ध हुए।

१०. एब्बट-वुड रिपोर्ट—भारत सरकार के निमन्त्रण पर इगलैंड से दो शिक्षा-विशेषज्ञ श्री ए० एब्बट और श्री एस० एच० वुड नवम्बर, १९३६ म शिक्षा के पुनर्संगठन और खासकर व्यावसायिक शिक्षा की समस्याओ पर परामर्श देने भारत आये। उन्होने जून, १९३७ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उनकी कुछ सिफारिशें निम्नलिखित हैं

(१) प्रारम्भिक पाठशालाओ म छोटे बच्चो की शिक्षा पुस्तको के ऊपर आधारित न होकर स्वाभाविक रुचि और क्रियाओ पर आधारित होनी चाहिए।

(२) उच्च (हाई) या उच्चतर माध्यमिक (हायर सकण्डरी) स्कूलो म भारतीय भाषाओ को यथासम्भव रूप से शिक्षा का माध्यम बनाया जाए, किन्तु इन स्कूलो में अग्रेज़ी सारे विद्यार्थियो के लिए अनिवार्य रखी जाए।

(३) व्यावसायिक शिक्षा का प्रसार उद्योगो के विकास की तुलना मे बहुत अधिक नही होना चाहिए। यदि व्यावसायिक शिक्षा अधिक विशिष्ट न हो और यदि उसका लक्ष्य विचारो म सहनशीलता और कुछ ऐस व्यक्तिगत गुणो को उत्पन्न करना हो जो समान रूप से बौद्धिक और नैतिक दोनो ही हो, तो उद्योग और वाणिज्य मे वर्तमान आवश्यकताओ की अपेक्षा और अधिक अनुपात मे प्रशिक्षित मनुष्यो को काम मिल सकता है।

(४) प्रत्येक प्रान्त को अपन उद्योग और वाणिज्य की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओ का सर्वेक्षण करना चाहिए और इस प्रकार व्यावसायिक शिक्षा क रूप तथा प्रतिवर्ष भरती किये गए व्यक्तियो की खपत का अनुमान लगा लेना चाहिए।

(५) व्यावसायिक शिक्षा क उपयुक्त और पर्याप्त होने के लिए यह आवश्यक है कि उद्योग और वाणिज्य शिक्षा-सस्थाओ को सहयोग प्रदान करे। इस भाँति का सुसगठित सहयोग भारत मे अभी कही भी विद्यमान नही है।

(६) सगठित उद्योगो के विकास की इस स्थिति मे देखरेख करने वाले व्यक्तियो, जैसे मिस्त्री (फोरमैन) इत्यादि के शिक्षण और प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उत्पादन की कुशलता की कुजी इन्ही के पास है।[१]

११. युद्ध उद्योगो के लिए प्राविधिक व्यक्तियो की उपलब्धि—देश की युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति और औद्योगिक विकास के लिए प्रशिक्षित एव प्राविधिक व्यक्तियो की उपलब्धि के उद्देश्य से भारत सरकार ने १९४० मे एक प्राविधिक

---

१. एब्बट और वुड, पूर्व उद्धृत, अध्याय १४।

प्रशिक्षण-योजना (टेक्निकल ट्रेनिंग स्कीम) चालू की।[1]

गृह-उद्योग और युद्ध की फैक्ट्रियो के लिए औज़ार बनाने वाले तथा यन्त्रो के हिस्से तैयार करने वाले कुशल कारीगरो की प्राप्ति के लिए एक नयी योजना तैयार की गई। इसके अन्तर्गत सावधानी से चुने हुए प्रशिक्षित व्यक्ति और कारीगर गृह-उद्योगो मे लगी हुई फर्मों मे लगाये गए, ताकि वे उच्चतम प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें और बाद मे युद्ध की फैक्ट्रियो या गृह-उद्योगो मे लगाये जा सके।[2]

युद्ध के लिए इगलैण्ड मे प्रशिक्षित श्रमिको की कमी को दूर करने तथा युद्ध-उद्योगो के लिए आवश्यक मजदूरो के प्रशिक्षण के लिए आरम्भ की गई राजकीय प्रशिक्षण-योजना (गवर्नमेण्ट ट्रेनिंग स्कीम) से यह योजना सम्बद्ध थी। इस योजना म निहित दूसरा मन्तव्य यह था कि भारतीय मजदूरो को ब्रिटिश मजदूरो के निकट सम्पर्क मे लाया जाए और इगलैण्ड की भाँति भारत मे भी सुदृढ तथा सुसगठित श्रम-आन्दोलन के विकास मे सहायता दी जाए। यह भी आशा की जाती थी कि भारतीय श्रमिक प्रशिक्षण के बाद एक विस्तृत सास्कृतिक, शैक्षिक तथा समाजिक दृष्टिकोण के साथ वापस आयेगा। इस प्रशिक्षण के लिए सदस्यो का चुनाव कारखानो के मजदूरो म से हुआ और वे राजकीय व्यय पर प्रशिक्षण के लिए इगलैण्ड भेजे गये। इगलैण्ड मे तीन महीने राजकीय प्रशिक्षण केन्द्र मे बिताने क बाद उन्हे ब्रिटेन के भिन्न-भिन्न युद्ध उद्योगो का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से और अभियान्त्रिकी की विशिष्ट शिक्षा प्राप्त कराने के लिए विभिन्न उद्योगो के कारखानो मे भेजा गया। उनको ऐसे कारखानो मे रखा गया, जो भारत लौटन पर उनके लिए सबसे अधिक लाभप्रद सिद्ध होते। प्रशिक्षण की कुल अवधि आठ महीने थी। भारत लौटने पर सभी प्रशिक्षितो की परीक्षा ली गई। इसके बाद उन्हे यथायोग्य काम दिये गए।

१२. भण्डार क्रय-नीति—लगभग ५० वर्ष पहले सरकार ने राजकीय उपयोग के लिए विदेशो मे उत्पन्न या निर्मित वस्तुओ की अपेक्षा भारत मे उत्पन्न या निर्मित भण्डारो को खरीदने की नीति की घोषणा की थी। भण्डार खरीदने के विषय मे नियम भी बनाये गए, जिनमे समय-समय पर सशोधन किये जाते थे। इन नियमो के अन्तर्गत कोटि या गुण का ध्यान रखते हुए पूर्ण या आंशिक रूप से भारत मे तैयार हुए माल को प्राथमिकता देना निश्चय किया गया। ऐसी दशाओ म जब विदेशी वस्तुओ की तुलना मे भारत मे बनी वस्तुएं उतनी ही अच्छी और उस ही मूल्य की हो, तो यह स्पष्ट ही है कि भारतीय वस्तुओ को प्राथमिकता दी जाएगी।

---

१ १९३७-३८ के बाद बम्बइ सरकार ने एक योजना बनायी, जिसके अनुसार प्राविधिक शिक्षा देने के उद्देश्य से विद्यार्थियों को भरती करके सरकार मिलों, कारखानों, प्रेस, रसायन या अन्य उद्योगों में बम्बई या अहमदाबाद भेजती थी। ये नये प्रशिक्षित नवयुवक युद्ध के विभिन्न विभागों में निरीक्षक और उप-निरीक्षक के पद पर रख लिए गए।

२. 'इण्डियन लेबर गजट', अगस्त १९४३, पृ० २९।

कुछ लोग इस विचार के भी हैं कि यदि यहाँ की तैयार वस्तुओं की लागत कुछ अधिक हो तो उन्हीं को खरीदना चाहिए। उद्योग-आयोग की जाँच के अनुसार व्यवहार में कोटि एवं मूल्य में समान होने पर भी भारतीय भण्डारों की तुलना में ब्रिटिश भण्डारों को प्राथमिकता दी जाती थी। विभिन्न सरकारी विभागों की मांगों की पूर्ति करने के लिए लन्दन-स्थित भारतीय कार्यालय के भण्डार विभाग द्वारा माँगे गए टण्डर के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्द्धा करने में भी भारतीय निर्माताओं को अनेक कठिनाइयों तथा बाधाओं का सामना करना पड़ता था। भण्डार-क्रय के नियम से लाभ उठाने तथा इस भाँति देश की निर्माण-शक्ति का पूर्ण विकास करने के प्रयत्न में असफल रहने के लिए सरकार ने यह सफाई दी कि खरीद करने वाले भारतीय अधिकारी को राय और सूचना देने के लिए कोई योग्य निरीक्षणात्मक एजेंसी नहीं है। इस कारण सारे उत्तरदायित्व और मुसीबतों से छुटकारा पाने के लिए वह सारे ऑर्डर लन्दन-स्थित भारत-कार्यालय के भण्डार-विभाग को भेज देती थी। इस सफाई के विरुद्ध यह प्रश्न उठा कि विशेषज्ञों की राय प्राप्त करने के लिए आवश्यक एजन्सी की नियुक्ति का प्रयत्न क्यों नहीं किया गया? भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए क्रय-नीति को उपयुक्त रीति से नियोजित करने की नीति का भारतीय उद्योग मण्डल ने भी समर्थन किया था। यदि भारतीय उत्पादकों को संरक्षणात्मक अधिमान दिये बिना ही 'उचित अवसर और निष्पक्ष व्यवहार' की नीति अपनायी जाए तो सरकार के लिए अधिक मात्रा में कर-प्राप्ति स्वयमेव एक स्वस्थ और बहुमूल्य प्रोत्साहन का काम करेगी।

औद्योगिक विकास की प्रगति के साथ-साथ सरकारी माँग की अधिकाधिक पूर्ति स्थानीय उद्योगों द्वारा सम्भव होती जा रही है—विशेषकर इसलिए कि निरीक्षणात्मक एजेन्सियों तथा भारतीय भण्डारों की प्राप्ति के स्थान और मूल्य के विषय में सूचना के अभाव के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को दूर करने का प्रबन्ध किया जा रहा है। औद्योगिक आयोग की सिफारिशों के अनुसार नियुक्त भण्डार-क्रय समिति १९२१ ने आयोग के इस सुझाव का समर्थन किया कि राजकीय भण्डार के निरीक्षण के लिए एक केन्द्रीय विशेषज्ञ एजेन्सी की स्थापना होनी चाहिए। फलस्वरूप भारतीय भण्डार-विभाग का संगठन हुआ, किन्तु प्रान्तीय सरकारों, नगरपालिकाओं, बन्दरगाह-अधिकारियों, कम्पनी द्वारा प्रबन्धित रेलवे, अन्य सार्वजनिक तथा अर्द्ध-सार्वजनिक संस्थाओं तथा भारतीय रियासतों के लिए भी इसकी सेवाएं प्राप्त हो सकती हैं। यह विभाग क्रय और निरीक्षक एजेन्सी के रूप में परामर्शदाता की हैसियत से काम करता है। यह ऑर्डरों की जाँच इस दृष्टिकोण से करता है कि कोई भी ऑर्डर व्यर्थ ही बाहर न भेजा जाए जबकि उस भाँति की वस्तुओं की उचित मूल्य पर पूर्ति भारतीय उत्पत्ति की वस्तुओं से सम्भव है। यह कुछ निर्दिष्ट वस्तुओं का भारत में क्रय करता है और निरीक्षण करता है, भण्डार के क्रय और मूल्यों से सम्बन्धित सारे मामलों पर सूचनाएँ एकत्र करने के केन्द्रीय कार्यालय के रूप में काम करता है और भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से अन्य अनेक काम

करता है। कलकत्ता और बम्बई मे स्थानीय क्रय-शाखाएँ स्थापित की गई है और मद्रास, कानपुर और दिल्ली मे निरीक्षण एजेन्सियाँ स्थापित की गई है। विदेशी फर्मों से प्रतियोगिता करने वाली भारतीय फर्मों को सुविधा और प्रोत्साहन देने के लिए विभाग ने भारत मे दिये जाने वाले टेण्डरो को रुपयो मे माँगने की नीति का अधिकाधिक अनुसरण प्रारम्भ किया।

१३. औद्योगिक अनुसन्धान—१९३५ मे अलीपुर मे औद्योगिक अनुसन्धान कार्यालय (इण्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यूरो) की स्थापना एक अनुसन्धान-शाखा के साथ हुई। एक सलग्न परामर्श-दात्री सस्था—औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् (इण्डस्ट्रियल रिसर्च-कौंसिल) की सहायता से कार्य करने वाला यह कार्यालय भारतीय भण्डार-विभाग से सलग्न है। औद्योगिक सूचनाओ को एकत्र तथा प्रसारित करना, औद्योगिक अनुसन्धान मे उद्योगो से सहयोग करना, औद्योगिक प्रमापन के विषय मे परामर्श देने वाली उपयुक्त पत्रिकाओ का सम्पादन और औद्योगिक प्रदर्शन के सगठन मे सहयोग देना इसके कार्य है। ऐसी केन्द्रीय सस्था की आवश्यकता और औद्योगिक अनुसन्धान के मूल्य के सम्बन्ध मे अतिशयोक्ति नही की जा सकती। हाल ही मे वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् (साइण्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च कौंसिल) नामक एक नवीन सस्था स्थापित की गई है। विभिन्न प्रमुख उद्योगो के प्रतिनिधि इस परिषद् से सम्बद्ध है।

तीसरी पचवर्षीय योजना मे तकनीकी तथा अनुसन्धान पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया, जिससे प्राविधिक व्यक्तियो की सख्या बढे, अनुसन्धान बढे तथा छीजन कम हो और औद्योगिक प्रगति हो। तीसरी योजना मे शिक्षा के ५६० करोड रुपये मे से १४२ करोड रुपये तकनीकी शिक्षा, इजीनियरिंग की उन्नति के लिए रखे गए। इस प्रकार इस योजना मे २५ प्रतिशत शिक्षा विभाग का खर्चा तकनीकी शिक्षा के लिए निर्धारित हुआ जबकि पहली और द्वितीय योजनाओ मे १३ तथा १९ प्रतिशत था। चौथी पचवर्षीय योजना मे इस कार्य के लिए १४७५ करोड रुपया रखा गया है। तीसरी पचवर्षीय योजना मे इन्जीनियरिंग तथा तकनीकी सस्थाओ मे प्रवेश की सख्या १३,८२० और २५,८०० (१९६०-६१) से बढकर १९,१३७ तथा ३७,३९१ (१९६५-६६) के अन्त तक हो गई है। यह आशा की जाती है कि १९७०-७१ मे ३८,६०० तथा ८८,६०० हो जाएगी।

इस प्रकार वैज्ञानिक अनुसन्धान ने भी स्वतन्त्रता के पश्चात् बहुत उन्नति की है। पहली दो पचवर्षीय योजनाओ मे इन कार्यो पर ८० करोड रुपया खर्च हुआ। तीसरी पचवर्षीय योजना मे १३० करोड रुपया निर्धारित हुआ तथा ७५ करोड रुपया दूसरी पचवर्षीय योजना के कार्य पर, जो अभी चल रहे थे, खर्चना था। इस प्रकार सरकार के यत्नो के कारण देश मे ६२ विश्वविद्यालयो के अनुसन्धानो के अतिरिक्त २८ नेशनल लैबोरेटरीज, ८८ अनुसन्धान विभाग तथा केन्द्र और ५४ एसोसिएशन सस्थाएँ तकनिकी कार्य कर रही है। पहली अप्रैल १९५७ से औद्योगिक उन्नति के लिए डैसीमल सिक्को को चलाया गया और पहली अक्तूबर १९५८ मे मीट्रिक नाप-तोल यन्त्र बनाए गये जो १९६६ मे सारे राष्ट्र मे लागू हो जाएँगे।

१४. प्रान्तीय उद्योग विभागो का कार्य—औद्योगिक आयोग की सिफारिशो के अनुसार प्रान्तीय उद्योग-विभागो की स्थापना की चर्चा हम पहले ही कर चुके है। इन विभागो के मुख्य कार्य तीन प्रकार के हैं—(१) औद्योगिक एव प्राविधिक शिक्षा का विकास, (२) औद्योगिक शिक्षा की पूर्ति, और (३) औद्योगिक प्रदर्शनियो, हस्तकला-भण्डारो एव अर्थ (धन) द्वारा उद्योगो की सहायता। उनकी क्रियाएँ बडे पैमाने के उद्योगो की अपेक्षा कुटीर तथा ग्रामोद्योगो से अधिक सम्बद्ध हैं।[1] औद्योगिक आयोग के काल से आज की औद्योगिक दशा मे महान् परिवर्तन तथा धनाभाव के कारण उद्योग-विभागो ने औद्योगिक आयोग द्वारा अनुमानित मात्रा एव दिशा मे सफलता नही प्राप्त की। १९१९ और १९३५ के वैधानिक परिवर्तनो के कारण औद्योगिक विकास का उत्तरदायित्व बहुत अशो मे प्रान्तो पर आ पडा। इससे भी एक व्यवस्थित और सम्यक् औद्योगिक नीति अपनाने मे बाधा पहुँची। अखिल भारतीय औद्योगिक सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनो द्वारा, जिनमे प्रान्तो के मन्त्रीगण तथा उद्योग सचालक एव कुछ भारतीय रियासतो के भी प्रतिनिधि उपस्थित रहते थे, कुछ अशो मे उपयोगी सयोजन हो सका। बगाल के उद्योग विभाग ने अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त की है। अपने पर्याप्त कर्मचारी-वर्ग तथा कलकत्ता मे अनुसन्धान प्रयोगशाला खुलने के उपरान्त औद्योगिक आयोग की निर्धारित नीति का पालन करने के लिए बगाल का उद्योग विभाग भली भाँति सुसज्जित समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ मद्रास मे स्याही बनाने के कारखाने की चर्चा की जा सकती है। अन्य उद्योग असफल हो गए हैं, जैसे उत्तर प्रदेश मे मिर्री (खाडिया) बनाने का उद्योग।

१९३५ के राजकीय सहायता नियम के अपर्याप्त होने के कारण छोटे उद्योगो के लिए बम्बई विधानमण्डल ने एक प्रस्ताव द्वारा कुछ नये नियम बनाये है। ये नियम कई प्रकार की राजकीय सहायता की व्यवस्था करते हैं, जिनमे ऋणपत्रो या हिस्सो पर ब्याज की गारण्टी, हिस्से या ऋणपत्रो का लेना, ऋण प्रदान करना और अनुसन्धान-कार्य के लिए सहायता देना आदि सम्मिलित हैं। कुछ दिशाओ मे उपर्युक्त नियमो के अनुसार नये उद्योग आरम्भ करने के लिए व्यक्तिगत साहसोद्यमियो को ऋण भी दिया जा सकता है। वास्तव मे ये नियम वृहद प्रमाप उद्योगो की अपेक्षा लघु-प्रमाप उद्योगो के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं।[2] बडी-बडी मिलो, जैसे कर्नाटक पेपर मिल्स (मद्रास) और इण्डियन स्टील वायर प्राडक्ट लिमिटेड (बिहार), को दिये गए बडे-बडे ऋणो की असफलता से यह सिद्ध है कि बडे उद्योगो को आर्थिक सहायता की समस्या हल करने के लिए विशेष उपायो की आवश्यकता है।

उत्तर प्रदेश मे स्वर्गीय सर एस० एन० पोचखनवाला की अध्यक्षता मे १९३४ मे औद्योगिक वित्त समिति की स्थापना हुई। इसने प्रधान एव अप्रधान

---

१. इन क्रियाओ का पुनरावलोकन अगले अध्याय में किया गया है।

२. देखिए, 'प्रोसीडिंग्स आव दि सिक्स्थ इण्डस्ट्रीज कान्फ्रेंस' (१९३३) तथा डी० आर० गाडगिल, इण्डस्ट्रियल इवाल्यूशन आव इण्डिया, चतुर्थ सस्करण, पृ० २२५।

उद्योगों को अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण देने के लिए २५ लाख की पूँजी तथा अधिक-से-अधिक २० वर्ष के लिए हिस्सों पर ४% करमुक्त लाभांश पर सरकारी गारण्टी सहित 'दि यूनाइटेड प्राविंसेज इण्डस्ट्रियल क्रेडिट बैंक लिमिटेड, की स्थापना के लिए सिफारिश की। इस समिति ने 'दि यूनाइटेड प्राविंसेज फाइनेंसिंग एण्ड मार्केटिंग कम्पनी लिमिटेड' नामक एक विपणन (मार्केटिंग) संगठन प्रारम्भ करने की सिफारिश की, जिसकी पूँजी ५ लाख रुपये होती तथा जो सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों की भाँति चलाई जाती। समिति के मतानुसार इस पूंजी के हिस्सों के वितरण का उत्तरदायित्व औद्योगिक बैंक के ऊपर होगा।[1] जून, १९३६ में समिति की सिफारिशों के अनुसार निर्मित सरकारी योजना को उत्तर प्रदेश विधानमण्डल ने स्वीकार कर लिया।[2] दिसम्बर, १९३६ में बंगाल विधानमण्डल ने भी एक औद्योगिक साख-निगम संस्था की स्थापना स्वीकार की। इसका उद्देश्य कारागृह से मुक्त बन्दियों द्वारा लघु-प्रमाप उद्योगों की स्थापना के लिए ऋण देना था। बंगाल के किसी ऐसे नागरिक को भी ऋण दिया जा सकता था जो व्यावहारिक प्रस्ताव प्रस्तुत करता।[3]

१५. आयोजन और औद्योगीकरण—१९४४ में आठ प्रमुख भारतीय व्यापारियों ने भारत के औद्योगिक विकास की योजना का निरूपण करते हुए एक संक्षिप्त स्मृति-पत्र का पहला भाग प्रकाशित किया। सामान्यतः यह बम्बई योजना (बॉम्बे प्लान) के नाम से प्रसिद्ध है।[4]

इस योजना का प्रमुख उद्देश्य पन्द्रह वर्ष की अवधि के भीतर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को दूना कर देना था। जनसंख्या की वृद्धि ५० लाख प्रति वर्ष अनुमान करने पर पन्द्रह वर्ष में प्रति व्यक्ति आय को दूना करने का अर्थ है वर्तमान सम्पूर्ण आय को तिगुना कर देना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह प्रस्तावित किया गया कि कृषि की वास्तविक उत्पत्ति को दुगुने से कुछ अधिक और बड़े तथा छोटे उद्योगों के सम्मिलित उत्पादन को पाँच गुना कर दिया जाए।

उद्योगों को दो प्रधान वर्गों में विभाजित किया गया—(१) आधारोद्योग, (२) उपभोग-पदार्थों के उद्योग।

महत्वपूर्ण आधारोद्योगों में निम्नलिखित को योजना के आरम्भिक वर्षों में प्रधानता दी जाएगी : शक्ति—विद्युत्, खानें और धातुएँ—लोहा और इस्पात, अल्यूमिनियम, मैंगनीज, अभियान्त्रिकी—सभी भाँति के यन्त्र, यान्त्रिक औजार;

---

१. 'स्टेट एक्शन इन रेस्पेक्ट ऑव इण्डस्ट्रीज', १९२८-३५, पृ० ४२।

२. इस योजना का विशेष विवरण 'बैंकिंग और साख' वाले अध्याय में 'औद्योगिक वित्त' शीर्षक के नीचे दिया गया है।

३. विशेष विवरण के लिए देखिए, एन० दास, 'इण्डस्ट्रियल इण्टरप्राइज इन इण्डिया'।

४. इस योजना के नाम का कारण यह है कि एक-दो व्यक्तियों को छोड़कर इसके सभी लेखक बम्बई के है : सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, जे० आर० डी० टाटा, जी० डी० बिरला, सर आरदेशर दलाल, सर श्रीराम, कस्तूरभाई लालभाई, ए० डी० श्रॉफ और जॉन मथाई।

रसायन—भारी रसायन, रासायनिक खादें, रंग, प्लास्टिक, दवाएँ, यातायात—रेल के इन्जन और डिब्बे, जहाजों का निर्माण, मोटर-गाड़ियाँ, हवाई जहाज, सीमेण्ट।

उपभोग-पदार्थों के प्रमुख उद्योग, जिनका और विकास करना है, निम्नलिखित हैं: वस्त्र—सूती, ऊनी और रेशमी, शीशे का उद्योग, चमड़े की वस्तुओं का उद्योग, कागज का उद्योग, तम्बाकू का उद्योग, तेल उद्योग।

बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ ही छोटे तथा कुटीर-उद्योगों के विकास का भी प्रबन्ध किया गया था, ताकि योजना की आरम्भिक अवस्था में पूँजी, विशेषकर बाहरी पूँजी की आवश्यकता कम हो सके और लोगों को काम मिल सके।

बम्बई योजना का दूसरा भाग जनवरी, १९४५ में प्रकाशित हुआ। प्रधान योजना (मास्टर प्लान) के अधीन उद्योगों के विकेन्द्रीकरण तथा प्रादेशिक वितरण के सम्बन्ध में भी सुझाव रखे गए। कुटीर एवं लघु-प्रमाप उद्योगों के प्रोत्साहन की आवश्यकता स्वीकार की गई और राजकीय तथा व्यक्तिगत साहस के उचित सहयोग पर जोर दिया गया। बम्बई योजना के निर्माताओं के तीन प्रमुख उद्देश्य थे (क) पूर्व-स्थित आर्थिक व्यवस्था के सुव्यवस्थित विकास की आवश्यकता, (ख) केन्द्रीय नियन्त्रण की अर्थ-व्यवस्था, और अन्तिम (ग) समाज के सामाजिक और वितरणात्मक आदर्शों के अनुकूल कृषि और उद्योग तथा उत्पादन के साधनों और वास्तविक उत्पादन का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण।[1]

१९३८ ई० की राष्ट्रीय आयोजन समिति की स्थापना के बाद सरकारी और गैर-सरकारी योजनाओं की भरमार-सी हो गई। १९३९ में युद्ध की घोषणा के पश्चात् शीघ्र ही कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के छिन्न भिन्न हो जाने के बाद राष्ट्रीय आयोजन समिति का कार्य बिलकुल बन्द हो गया। पाँच वर्ष के विराम के पश्चात् सितम्बर, १९४५ में समिति की पुनः बैठक हुई।

मार्च, १९५० में भारत सरकार ने योजना-आयोग की नियुक्ति की। जुलाई, १९५१ में योजना-आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रस्तावित रूपरेखा सामने रखी। दिसम्बर १९५२ में योजना पार्लियामेण्ट के सामने अपने अन्तिम रूप में रखी गई। योजना का मुख्य उद्देश्य विकास की ऐसी प्रक्रिया प्रारम्भ करना था जो रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाए तथा जनता को अधिक सम्पन्न और अनेक रूप में जीवन के नये अवसर प्रदान करे। इस योजना के अन्तर्गत १९५१-५६ में २,०६९ करोड़ रुपये व्यय करना निश्चित किया गया। बाद में यह राशि बढ़ाकर २,३५६ करोड़ रु० कर दी गई।

यह योजना १९७७ तक प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को दूना करने के उद्देश्य की प्राप्ति के प्रति पहला कदम है। बाद के अनुमानों के आधार पर यह पता लगा कि राष्ट्रीय आय १९६७-६८ तक दूनी हो सकती है तथा प्रति व्यक्ति आय १९७३-७४ में दूनी हो सकती है। प्रथम योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय में १८.४ प्रतिशत

१. दी ईस्टर्न इकनॉमिस्ट, २६ जनवरी १९४५, पृ० ९५-९६।

तथा प्रति व्यक्ति आय मे १०८ प्रतिशत वृद्धि हुई। प्रति व्यक्ति उपभोग मे ८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। विनियोग का प्रतिशत १९५०-५१ के ५% से बढ़कर ७% हो गया।

द्वितीय पचवर्षीय योजना १५ मई, १९५६ के पालियामेट के सम्मुख रखी गई। इस योजना के चार प्रमुख उद्देश्यो मे से एक उद्देश्य भारी तथा आधारोद्योगो के विकास पर ज़ोर देते हुए तीव्र औद्योगीकरण करना था। इस योजना के अन्तर्गत ४,८०० करोड रु० का व्यय निश्चित किया गया। बाद में विदेशी विनिमय की कठिनाइयो के कारण योजना को दो भागो मे बाँट दिया गया। योजना के प्रथम भाग—पार्ट ए—के ऊपर ४,५०० करोड रुपये का व्यय निर्धारित किया गया। इसके अन्तर्गत कृषि-उत्पादन की वृद्धि मे प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित योजनाएँ, ऐसी योजनाएं जिन पर काफी व्यय हो चुका है तथा आधारभूत योजनाएँ (Core projects) थी। इन आधारभूत योजनाओ मे इस्पात के कारखाने, कोयला और लिगनाइट-सम्बन्धी योजनाएँ, रेलो तथा प्रमुख बन्दरगाहो से सम्बन्धित योजनाएँ, शक्ति-योजनाएँ आदि है।

तृतीय पचवर्षीय योजना के बारे मे विचार-विनिमय प्रारम्भ हो गया है। योजना के प्रारूप म ७,५०० करोड रु० सरकारी क्षेत्र मे तथा ४,१०० करोड रुपये निजी क्षेत्र म व्यय करन की व्यवस्था प्रस्तावित की गई है।

चौथी पचवर्षीय योजना मे कुल २१,५००—२२५०० करोड रुपया व्यय करना निश्चित हुआ है, जिसमे से १४,५००—१५,५०० सरकारी क्षेत्र मे खर्च होगा और शेष निजी क्षेत्र म होगा।

राष्ट्रीय आय १९५१-६१ मे ४४% और प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय १८.५ प्रतिशत बढी। तीसरी पचवर्षीय योजना के पहले तीन सालो म ६ ५ प्रतिशत तथा ०५ प्रतिशत बढी। १९६३-६४ मे ४५ प्रतिशत, जो कि वार्षिक आय के निर्धारित लक्ष्य ५ प्रतिशत स कम रही।

तृतीय योजना के पुन निरीक्षण करने पर यह पता चला है कि राष्ट्रीय आय १९६५-६६ मे १६,००० करोड के स्थान पर १७,४०० करोड रुपया (१९६०-६१ के मूल्य अनुसार) रह गई।

चौथी पचवर्षीय योजना मे इसे २५,००० करोड तक बढान की आशा है।

अध्याय २

भारतीय उद्योग : नवीन तथा पुरातन

१. अध्याय का क्षेत्र—भारतीय उद्योग दो वर्गों मे विभाजित किये जा सकते है . (१) कारीगरों के घरो मे हस्तचालित यन्त्रो से सम्पादित उद्योग, जिन्हे कुटीर-उद्योग कहा जा सकता है । यहाँ काम का प्रमाप छोटा, सगठन सीमित तथा उत्पादन मुख्यतया स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होता है । इस अध्याय के अन्त मे हम इन कुटीर-उद्योगो का विवेचन करेंगे । (२) शक्ति-चालित यन्त्रों से सम्पादित सुसगठित उद्योग जो कारखानो या उद्योगशालाओ मे चलाए जाते हैं । इन सगठित उद्योगो का आकार साधारण ग्रामीण कारखानों से लेकर कपडे की बडी-बडी मिलो एव अभियान्त्रिकी उद्योगशालाओ के समान होता है जहाँ हजारो मजदूर कार्य करते हैं और निर्माण एव व्यापार के लिए पूर्ण सगठन होता है।[1] कृषि से सम्बन्धित सगठित उद्योग, जैसे चाय, कहवा, नील और चीनी उद्योग का वर्णन कृषि के अध्याय मे हो चुका है।[2]

२. सूती मिल-उद्योग—भारत में वृहद्-प्रमाप के कुछ उद्योगो का विवरण नीचे दिया जा रहा है । भारत मे पहली सूती-वस्त्र मिल १८१८ मे कलकत्ता मे स्थापित हुई । बम्बई मे, जो सूती-मिल उद्योग का गढ है, पहली मिल पारसी साहस के फलस्वरूप स्थापित हुई और इसने १८५४ मे कार्य आरम्भ किया ।

वितरण के दृष्टिकोण से १८७७ का वर्ष उद्योग के विकास को एक नवीन दिशा प्रदान करता है । कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र के ठीक मध्य मे स्थित नगरो, जैसे नागपुर, अहमदाबाद और शोलापुर, मे इस वर्ष बडी तेजी से मिलो की स्थापना

---

१. भारतीय उद्योगो के हाल के वर्गीकरण में सगठित उद्योगों को पुनः दो वर्गों में विभाजित किया गया है . लघु-प्रमाप उद्योग तथा वृहद्-प्रमाप उद्योग। उदाहरण के लिए बम्बई की औद्योगिक एव आर्थिक सर्वेक्षण समिति का कहना है कि "लघु-प्रमाप उद्योगों से हमारा तात्पर्य उन उद्योगों से है जहाँ शक्ति का प्रयोग होता है, परन्तु काम करने वालो की सख्या ५० से अधिक नही होती और न विनियोजित पूजी ही ३०,००० रुपये से अधिक होती है । मोटर की मरम्मत, तेल, हाजरी, घडी-निर्माण, साबुन-निर्माण, चावल और आटे की चक्किया इसका उदाहरण है । वृहद्-प्रमाप उद्योग वे हैं जहाँ शक्ति का प्रयोग होता है परन्तु काम करने वालों की सख्या ५० से अधिक होती है तथा विनियोजित पूजी भी ३०,००० रुपये से अधिक होती है । इसका उदाहरण कपडा, कागज और शक्कर की मिलें है (रिपोर्ट-पैरा १५-१६)। आयोजन-समिति ने भी भारतीय उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया है : (१) कुटीर-उद्योग, (२) लघु-प्रमाप (मध्यम आकार वाले) उद्योग, और (३) वृहद्-प्रमाप उद्योग।"

२. देखिए, खण्ड १, अध्याय-६ ।

हुई। यह वितरण प्राकृतिक कारणो से हुआ, जैसे कच्चा माल, पर्याप्त श्रम तथा बडे-बडे विपणन केन्द्रो की सन्निकटता। रेलो के विकास के कारण ही यह सम्भव हो सका। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ मे चीन से सूती व्यापार की कमी ने बम्बई के अद्वितीय महत्व को बहुत आघात पहुँचाया। स्वदेशी आन्दोलन ने भी बुनाई व्यवसाय को बम्बई के बाहर प्रोत्साहन दिया। ब्रिटिश भारत मे कारखाना सम्बन्धी कानूनो (फैक्ट्री लेजिस्लेशन) के विकास ने उद्योग के देशी रियासतो मे स्थापित होने की प्रवृत्ति को जन्म दिया, क्योकि वहाँ कारखाना कानूनो का प्रशासन बहुत ढीला था।

१९१४ १८ के युद्ध-काल मे सूती वस्त्र-उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला। युद्ध के पूर्वी रणमचो मे सूती सामान की सैनिक आवश्यकताओ के कारण सरकार द्वारा मिलो को दिया गया प्रोत्साहन, जहाजो की कमी के कारण आयात की कमी तथा आयात किये हुए कपडे के मूल्यो की वृद्धि से उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई, यद्यपि यन्त्रो के आयात की कठिनाई के कारण विकास उतनी अच्छी तरह नही हो सका जितना कि इस कठिनाई के न होने पर होता।

[३. **सन् १९४७ के बाद सूती-मिल उद्योग**—सन् १९४७ म अविभाजित भारत मे ४२१ मिले थी। विभाजन के बाद भारत मे ४०८ मिलें ही रह गईं। १९४९ ५० मे मिलो की सख्या बढकर ४२५ हो गई।

१९५१ और १९५६ के आँकडे देखने से प्रतीत होता है कि मिल, तकली और करघा सभी की सख्या तथा सूत और कपडे के उत्पादन मे वृद्धि हुई है। सूती वस्त्र के प्रति व्यक्ति उपभोग के आँकडे भी यही प्रदर्शित करते है। १९५० ५१ मे सूती वस्त्र का प्रति व्यक्ति उपभोग ९ गज था। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्त तक सूती वस्त्र के प्रति व्यक्ति उपभोग का लक्ष्य १५ गज था। यह लक्ष्य १९५४ ही मे प्राप्त कर लिया गया। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त तक उपभोग की मात्रा बढ़कर १८ ५ गज प्रति व्यक्ति हो जाएगी ऐसा लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

नवम्बर १९५२ म कानूनगो समिति (Textile Enquiry Committee) मिलो, शक्तिचालित तथा हस्तचालित करघो के विभिन्न पहलुओ पर रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त की गई। १९५४ मे इसने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने अच्छे प्रकार के हस्तचालित तथा शक्तिचालित करघो द्वारा सूती वस्त्रो की माग की सम्भावित वृद्धि को पूरा करने की सिफारिश की। अतएव समिति ने बुनने वाली मिलो के प्रसार का समर्थन नही किया। सादे करघो के स्थान पर स्वचालित करघो की स्थापना का भी सुझाव दिया है ताकि २० वष म सादे करघो के बजाय केवल स्वचालित करघे ही प्रयोग मे रह। १२ लाख हाथ के करघो को शक्तिचालित करघो मे बदलने के लिए समिति का सुझाव था कि प्रथम छ वर्ष मे ३,००,००० हाथ के करघो को २,१३,००० अच्छे प्रकार के हस्तचालित तथा शक्तिचालित करघो मे बदल दिया जाए तथा शेष करघो को दो या तीन पचवर्षीय कालो मे बदल दिया जाए। इस प्रकार २० वर्ष की अवधि म हाथ के करघो का सम्पूर्ण उद्योग अच्छे प्रकार के हाथ के करघो तथा शक्ति-चालित करघा-उद्योग मे बदल जाएगा। समिति के मतानुसार १९६० तक उत्पादन

को हाथ के करघे या घरेलू शक्तिचालित करघों के लिए सुरक्षित रखना चाहिए। इस सम्बन्ध मे १९५५ मे प्रस्तुत की गई कार्वे कमेटी की रिपोर्ट मे भी हाथ के करघो के लिए उत्पादन सुरक्षित रखन की बात कही है।

१९५१ म प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ ने सूती वस्त्र उद्योग के इतिहास म एक नय युग का सूत्रपात किया। योजना मे ग्रामीण और लघु प्रमाप उद्योगो की सहायता की घोषणा राजकोय नीति के रूप मे की गई। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित नीति अपनायी गई—

१ उत्पादन के क्षेत्रो का सुरक्षित करना।
२ बडे पैमान के उद्योग के विस्तार की क्षमता पर रोक लगाना।
३ बडे पैमान के उद्योग पर उप-कर लगाना।
४ कच्चे माल की पूर्ति की व्यवस्था करना, तथा
५ अनुसधान, प्रशिक्षण इत्यादि का समन्वय करना।

इस नीति क अनुसार प्रथम पचवर्षीय योजना मे सूती मूल उद्योग की १९५६ के अन्त तक कपडे की उत्पत्ति ४,७०,००,००० गज तथा सूत की उत्पत्ति १६,४०० लाख पौंड तक करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। उद्योग ने यह लक्ष्य सन् १९५४ मे ही पूरे कर दिए। पचवर्षीय योजनाओं मे सूती उद्योग ने काफी उन्नति कर ली है। सूत का उत्पादन १९६२-६३ मे १८८५ मिलियन पौंड और कपडा ४६२१ मिलियन गज व्यवस्थित विभाग म था, १९६५-६६ म ५२५० मिलियन गज कपडे का उत्पादन था। १९७० ७१ के अन्त तक ६,००० मिलियन गज तक उत्पादन होन की आशा की जाती है।

सन् १९५६ मे ही सूती मिल-उद्योग के सामन एक सकट आ गया। मिलो के पास बिना बिके हुए कपडो के स्टाक इकट्ठा होन लग। इस सकट के प्रमुख कारण तीन थ—

१ उद्योग के ऊपर अधिक उत्पाद-कर लगा हुआ था।

सम्भवत सरकार दूसरी योजना के अर्थ-प्रबन्धन के लिए इस प्रकार अधिक धन इकट्ठा करना चाहती थी।

२ देश के अन्दर कपडे के उद्योग को हतोत्साहित भी किया गया। उदाहरण के लिए केन्द्रीय सरकार ने जनता द्वारा बढे हुए उत्पाद-करों को न देने के लिए खूब प्रचार किया।

३ खाद्यान्नों तथा अन्य आवश्यक पदार्थों के मूल्य बढ जान के कारण जनता की घटी हुई क्रय-शक्ति के फलस्वरूप भी सूती कपडे का क्रय कम हो गया।

उपर्युक्त सकटो के कारण अनेक मिलें बन्द हो गईं। Textile Enquiry Committee, जिसने अपनी रिपोर्ट जुलाई १९५८ मे प्रस्तुत की, के अनुसार २८ मिलें बन्द हो गई जिसका अर्थ यह हुआ कि ५,००,००० तकुए और ६,००० करघे बन्द रहे।

वाणिज्य और उद्योग के केन्द्रीय मन्त्री ने ३० नवम्बर १९५६ को लोकसभा

मे यह कहा था कि १ अक्तूबर १९५८ को भी ४० मिले बिलकुल बन्द थी तथा ७५ मिले अंशत बन्द थी। मिल बन्दी तथा पारियो (shift) की सख्या कम होने से हजारो मजदूर बेकार बैठ गए तथा उत्पादन की मात्रा मे भी बहुत कमी हो गई।

परिस्थिति के अधिक बिगडने के उपरान्त सरकार ने दिसम्बर १९५७ मे मध्यम श्रेणी के कपडो पर लगे उत्पाद-कर को कम करने की घोषणा की। मार्च और जुलाई १९५८ म सभी प्रकार क कपडे के सम्बन्ध मे दो रियायते और दी गईं। अनुमान है कि इससे उद्योग को प्रतिवर्ष २० करोड रुपय की सहायता मिलेगी।

अब हम सूती मिल-उद्योग की कुछ कठिनाइयो पर विचार करेगे।]

मिलो की ओर से देश के बाजारो की उपेक्षा तथा उपभोग-केन्द्रो से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की असफलता क अलावा बम्बई की असमर्थता के और भी कई गम्भीर कारण थे, उदाहरणार्थ अपेक्षाकृत श्रम, ईंधन, जल-शक्ति की महँगाई तथा उच्च स्थानीय कर (१९३९ से लगे हुए १० प्रतिशत के सम्पत्ति-कर को मिलाकर जो मद्य-निषेध की लागत को वसूलने के लिए लगाया गया था), मुफसिल बाजारो तथा कच्चे पदार्थों के स्रोतो से दूरी आदि। उद्योग के इस सकट ने सरक्षण के प्रश्न को सामने ला दिया।

४ वस्त्र उद्योग को सरक्षण—यह स्पष्ट हो जाने पर कि उद्योग विशेषकर बम्बई मे सन्तोषजनक स्थिति मे नही था, पहला सर्वेक्षण १९२६ मे किया गया। प्रशुल्क-मण्डल ने १९२७ मे रिपोर्ट प्रस्तुत की।

सरक्षण के सम्बन्ध मे मण्डल की मुख्य सिफारिशे इस प्रकार थी—आयात-कर ११ प्रतिशत के बजाय १५ प्रतिशत कर दिया जाए, उच्चकोटि (महीन) के सूत की कताई को आर्थिक सहायता दी जाए और वस्त्र-उद्योग के लिए आवश्यक यन्त्रो तथा मिलो के सामान को आयात-कर स मुक्त कर दिया जाए। भारत सरकार न केवल अन्तिम सिफारिश स्वीकार की। इस निर्णय का मिल-मालिको ने बहुत विरोध किया और फलस्वरूप कपास के सूत पर मूल्यानुसार ५ प्रतिशत या डेढ आना प्रति पौंड (जो भी अधिक हो) के सरक्षणात्मक कर लगा दिये गए। ये कर ३१ मार्च, १९३० तक क लिए भारतीय प्रशुल्क अधिनियम (इण्डियन टेरिफ एक्ट, १९२७) के अनुसार लगाय गए। यन्त्रो और मिलो के सामानो पर लगे कर भी हटा दिये गए।

मण्डल की सिफारिशो के अनुसार भारत सरकार न एक वाणिज्य शिष्टमण्डल (कर्मशियल मिशन) की भी नियुक्ति की। किन्तु य सभी उपाय न तो मिल-उद्योग को ही सन्तुष्ट कर सक और न जनमत को ही। उद्योग मे अवसाद बना रहा और सामान्य धारणा यह थी कि और अधिक सहायता अपेक्षित थी। अतएव कलकत्ता के कलक्टर आव कस्टम्स श्री जी० एस० हार्डी को जुलाई १९२९ मे बाह्य प्रतिस्पर्धा की उग्रता और विस्तार की जाच के लिए नियुक्त किया। श्री हार्डी की रिपोर्ट[1] के आधार पर अप्रैल १९३० मे सूती-वस्त्र-उद्योग सरक्षण-अधिनियम पास हुआ और

---

१. देखिए, रिपोर्ट ऑन एक्स्टर्नल काम्पीटिशन इन पीस गुड्स—जी० एस० हार्डी, पैरा ११।

संरक्षणात्मक करों की मात्रा बढ़ा दी गई।

५. सूती-मिल उद्योग की कुछ कठिनाइयाँ—इधर हाल मे सूती वस्त्र के निर्यात-व्यापार की कठिनाइयाँ और बढ़ गई हैं। इसका एक कारण तो यह है कि विश्व बाजार में पहुँचने वाले कपड़े की मात्रा घटती रही है। द्वितीय विश्व युद्ध से पहले प्रतिवर्ष ६०,००० लाख गज कपड़ा विश्व-बाजार म खरीदा और बेचा जाता था। अब यह मात्रा घटकर ५०,००० लाख गज प्रतिवर्ष हो गई है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि देश मे मानवीकृत रेशा का उपभोग तेजी से बढ़ रहा है। तीसरे अब अनेक देशो ने सूती कपड़े का उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है। अतएव विश्व-बाजार मे प्रतिस्पर्धा और कठिन हो गई है। भारत को पाकिस्तान की नई मशीनो से सुसज्जित मिलो के बने कपड़े की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। इधर चीन न इस उद्योग मे इतनी आश्चर्यजनक उन्नति की है कि वह विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अपना स्थान बनाने का हौसला रखता है। दक्षिण-पूर्वी एशियाई बाजारो में जापान की तुलना म चीन १०-१५ प्रतिशत कम मूल्यो पर कपड़ा बेच रहा है।[1] जापान तो अपनी प्रतिस्पर्धा-शक्ति के लिए मशहूर ही है। पुराने देशो के अतिरिक्त इन नये देशो की प्रतिस्पर्धा ने सूती कपड़े के निर्यात-व्यापार को चिन्ता का विषय बना दिया है।

निर्यात-व्यापार बढ़ाने के लिए सरकार भी चिन्तित है। सन् १९५४ मे सूती वस्त्र-निर्यात प्रोत्साहन कौंसिल की स्थापना की गई। सरकार न रियायतें तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की। इनके फलस्वरूप ही १९५९ मे अधिक निर्यात सम्भव हो सका। यो तो उद्योग के सामने १०,००० लाख गज कपड़े के निर्यात का लक्ष्य है, किन्तु अभी तक यह लक्ष्य काफी दूर है। निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक उपाय किये गए हैं। पिछली जुलाई[2] (१९५८) मे टेक्सटाइल इन्क्वायरी कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि निर्यातकों को अपनी जरूरत के अनुसार मशीन व रासायनिक रजक पदार्थों को खरीदने की सुविधा दी जाए। निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए ३,००० स्वचालित करघों की स्थापना की स्वीकृति की सिफारिश भी कमेटी ने की। सूती कपड़े के निर्यात के आधार पर मशीन, कपास व रासायनिक रजक पदार्थों के आयात के लिए उत्पादकों को छूट देने के सम्बन्ध में भी सरकार ने यथासमय घोषणा की। जनवरी १९५९ म यह घोषणा की गई कि *नवीकरण तथा पुनर्स्थापन के लिए अपेक्षित विशिष्ट साज-सामान के आयात की आज्ञा उन मिलों को दी जाएगी जो १९५४-५५-५६ के* औसत निर्यात के ७५ प्रतिशत मूल्य से अधिक निर्यात करें या जिनका निर्यात १५०० रु० प्रति करघा प्रतिवर्ष के हिसाब से अधिक हो। इसी प्रकार की छूट सूत के निर्यात के लिए भी दी गई। फरवरी १९५९ मे यह घोषणा की गई कि सूती कपड़े और सूत के निर्यातकों को निर्यात के ६६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत मूल्य के बराबर कपास आयात करने

१ A Survey of the Indian Cotton Mill Industry, p 14
(1960) Indian Cotton Mills Federation, Bombay.

२ The Indian Cotton Mill Industry, pp 27-28—R A Poddar

का अनुमति दी जाएगी। इसी माह मे सरकार ने यह घोषणा भी की कि अमेरिका और यूरोप (इंगलिस्तान को छोड़कर) को कपडा और सूत का निर्यात करने वाली मिलो को कोलतार, रजक पदार्थ, रासायनिक पदार्थ और गोंद का आयात करने की अनुमति दी जाएगी। यह आयात उनके निर्यात के (F. O. B) मूल्य के ५ प्रतिशत के बराबर ही हो सकेगा। यह इंगलिस्तान व अन्य देशो के निर्यात पर केवल ३ प्रतिशत के बराबर ही होगा। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ७५ करोड रु० प्रतिवर्ष (१०,००० लाख गज कपडा) के निर्यात का लक्ष्य रखा गया। नवम्बर १९६५ मे ही ६८७ लाख रुपये के मूल्य के कपड़े का निर्यात हुआ।

सूती मिल-उद्योग ऐसी स्पर्धा-शक्ति उसी समय प्राप्त कर सकेगा जबकि उद्योग का युक्तिकरण हो। इस उद्योग की यह दूसरी कठिनाई है कि मशीनो तथा अन्य साज-सामान पुराने और घिसे हुए है। सन् १९५२ मे सूती वस्त्र-उद्योग की वर्किंग पार्टी ने उद्योग की मशीनो का सर्वेक्षण किया। उद्योग के लगभग ५० प्रतिशत करघे १९१० के पहले के थे। २० प्रतिशत 'स्पिनिंग फ्रेम' भी १९१० से पहले के थे।

अनेक विशेषज्ञ निकायों ने, जिनमे टेक्सटाइल इन्क्वायरी कमेटी १९५८ अद्यतन है, इस मत का समर्थन किया है। सरकार ने इस समिति के विचारो का समर्थन करते हुए यह भी स्वीकार किया है कि 'हमारे निर्यात तेजी से गिरते जाएँगे जब तक कि हम स्वचालित करघो पर कपडे का निर्यात नही करते।'[१] सन् १९५७ मे भारत मे १४,१२८ स्वचालित करघे थे जबकि इसी वर्ष स्वचालित करघो की सख्या इटली मे ७६,५६७, जर्मनी मे ५८,१६७, जापान मे ६७,५३६, यू० एस० ए० मे ३५०,१०६ तथा यू० के० मे ४४,८६३ थी। इन आंकडो से नवीकरण की समस्या का तुलनात्मक रूप पता चलता है। टेक्सटाइल इन्क्वायरी कमेटी ने ३००० स्वचालित करघो की स्थापना का सुझाव दिया था जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया है। साथ ही वर्तमान करघो के स्थान पर प्रतिवर्ष २५०० स्वचालित करघो की दर से ७५०० स्वचालित करघो की स्थापना को स्वीकार करके सरकार ने व्यावहारिकता प्रदर्शित की है। नवीकरण के लिए उद्योग को लगभग ४०० करोड रुपए की आवश्यकता है। इतनी बडी राशि के लिए राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम तथा ऐसी अन्य सस्थाओ को उद्योग की पर्याप्त सहायता करनी चाहिए।

कपास इस उद्योग का प्रमुख आधार है। १९४७ मे भारत के विभाजन के बाद भारत मे कपास के उत्पादन की मात्रा काफी कम हो गई है। भारत में मध्यम और छोटी तूलिपट (staple) की कपास ही अधिकतर उगाई जाती है। अविभाजित भारत में १०९ लाख एकड भूमि मे सुधरे प्रकार की कपास उगाई जाती थी। इसमे से ४७ प्रतिशत अर्थात् ५१ लाख एकड भूमि भारत के हिस्से मे आई। इस प्रकार

---

१. The Indian Cotton Mill Industry, p. 30—R A. Poddar.

अच्छी कपास की कमी है और भारत विदेशों से औसतन ५२ लाख करोड रु० की कपास का आयात करता है।

६. प्रशुल्क-मण्डल द्वारा दूसरी जांच (१९३२)—चूंकि १९३० के अधिनियम मे प्रस्तावित सरक्षण-करो की अवधि ३१ मार्च, १९३३ तक थी, अतएव प्रशुल्क-मण्डल को भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग के सरक्षण के विषय मे पुन जाँच करने की आज्ञा अप्रैल, १९३२ मे दी गई। वस्त्र-उद्योग पर प्रशुल्क-मण्डल की रिपोर्ट के ऊपर सरकार को विचार करने का मौका देने के लिए १९३० मे लगाये गए सरक्षणात्मक करो को ३१ अक्तूबर, १९३३ तक बढा दिया गया। अन्त मे भारतीय विधानमण्डल ने २६ अप्रैल, १९३४ को १९३४ का भारतीय प्रशुल्क (वस्त्र-सरक्षण) सशोधन अधिनियम पास किया। वह अधिनियम १ मई से लागू हुआ। इसन भारत-जापान के समझौते (१९३४) तथा भारत और इगलिस्तान के वस्त्र-उद्योग के गैर-सरकारी समझौते (जिसे 'मोदी ली पैक्ट' कहा जाता है)[1] के आधार पर प्रशुल्क-मण्डल की वस्त्र-उद्योग को पर्याप्त सरक्षण देने की सिफारिश को कार्यान्वित किया। इस अधिनियम ने गैर-ब्रिटिश सूती वस्त्रो पर मूल्यानुसार ५०% आयात-कर निश्चित किया, जो कि सादे भूरे कपडो पर कम से-कम ५¼ आना प्रति पौड था।[2] इस अधिनियम की अवधि ३१ मार्च, १९३९ तक थी।

७. वस्त्र-सम्बन्धी विशेष प्रशुल्क-मण्डल (१९३५)—मण्डल ने अपनी जाँच दिसम्बर, १९३५ म समाप्त की और जून, १९३६ मे इसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने के लिए द दी गई। साथ ही भारतीय प्रशुल्क अधिनियम की धारा ४ के अन्तर्गत एक अधिसूचना द्वारा भारत सरकार न प्रशुल्क-मण्डल के सुझावो के अनुकूल लकाशायर के बने कपडो पर कर की दर मे २५ जून, १९३६ से तत्काल कमी की घोषणा की। प्रशुल्क-मण्डल की सिफारिशे निम्नलिखित थी[3]—

(१) सादे भूरे वस्त्रो पर मूल्यानुसार २५% या ४⅜ आना प्रति पौड (जो भी दर ऊँची हो) स घटाकर, कर की दर मूल्यानुसार २०% या ३½ आना प्रति पौंड (जो भी ऊँची हो) कर दी जाए।

(२) इन कपडो के अतिरिक्त किनारेदार भूरे, कलफ किय या रगीन वस्त्रो पर कर की दर २५ प्रतिशत से घटाकर मूल्यानुसार २० प्रतिशत कर दी जाए।

(३) कपास के सूत पर कर की दर पूर्ववत् रहे। लकाशायर मे निराशा प्रकट की गई कि कर म उतनी कमी नही की गई जितनी होनी चाहिए थी। दूसरी तरफ प्रमुख भारतीय व्यवसायियो ने सरकार की कर घटाने की नीति की कडी आलोचना की, क्योकि यह भारतीय उद्योग, जिसके स्वभाविक विकास का क्षेत्र बहुत

---

१. देखिए, अध्याय १३।

२. ८ जनवरी, १९३४ से ब्रिटेन क बाहर के आयात की वस्तुओं पर यही आयत की दर थी। भारत-जापान समझौता के फलस्वरूप कर की दर ७५ प्रतिशत से घटाकर ५० प्रतिशत कर दी गई।

३. रिपोर्ट ऑव दि स्पैशल टैरिफ बोर्ड ऑन दि ग्राण्ट ऑव प्रोटेक्शन टु दि इडियन कॉटन टैक्सटाइल इडस्ट्री (१९३६), पृ० १०६-१४।

सीमित था, के लिए घातक थी।

८ भारत-ब्रिटेन व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत प्रशुल्क परिवर्तन (१६३६)— ओटावा-समझौते के स्थान पर भारत और ब्रिटेन के बीच एक नये व्यापारिक समझौते के प्रश्न पर लम्बी कार्रवाइयो के दौरान मे ब्रिटिश वस्त्रो पर लगाये गए प्रवेश्य करो मे सशोधन का प्रश्न पुन प्रमुख हो उठा।[1] २० मार्च, १६३६ को हस्ताक्षरित इस नये व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत भारत से ब्रिटेन को कच्ची कपास के निर्यात को ब्रिटिश वस्त्रो के आयात से सम्बद्ध कर दिया गया और इसके फलस्वरूप ब्रिटिश वस्तुओ पर आयात-कर मे पुन कमी की गई। तदनुसार अप्रैल, १६३६ मे पास हुए भारतीय प्रशुल्क (तृतीय सशोधन) अधिनियम के अनुसार ब्रिटेन के छपे कपड़ो पर मूल्यानुसार सरक्षात्मक आयात-कर १७½% हो गया, भूरे वस्त्रो पर मूल्यानुसार १५% या २ आना ७¾ पाई प्रति पौण्ड, जो भी ऊँचा हो, और शेष वस्त्रो पर मूल्यानुसार १५ प्रतिशत हो गया। ये आधारभूत कर थे। ब्रिटेन को ३,५०० लाख गज के निम्नतम कोटा के आयात की स्वीकृति दी गई और यदि किसी भी वर्ष सूती वस्त्रो का आयात ब्रिटेन से ३,५०० लाख गज से कम हुआ तो आधारभूत करो मे २½ प्रतिशत छूट देने की व्यवस्था थी। यदि किसी वर्ष ब्रिटिश आयात भारत मे ५,००० लाख गज से अधिक हुआ तो आधारभूत करो मे वृद्धि की भी व्यवस्था थी। यदि किसी भी वर्ष इगलिस्तान का कुल आयात ४,२५० लाख गज न होता तो उस वर्ष के बाद ये बढ़े हुए कर पुन घटाकर आधारभूत करो के बराबर कर दिए जाते। ब्रिटेन के वस्त्रो पर कर की दर-निर्धारण के समय भारत की कपास के निर्यात पर भी ध्यान देना आवश्यक था।

भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग और विधान सभा ने करो के इस नये प्रबन्ध का बहुत विरोध किया, क्योकि भारतीय कपास पैदा करने वालो के सापेक्षिक लाभ पर ध्यान न देकर इस अधिनियम मे लकाशायर का अनुचित पक्षपात किया गया था और ऐसे समय मे जबकि भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग तनिक भी अच्छी अवस्था मे नहीं था, सरक्षण की दरो मे कमी करके इस अधिनियम ने उसके हितो की बलि दे दी।

उपरोक्त भारतीय प्रशुल्क (तृतीय सशोधन) अधिनियम (१६३६) ने सूती वस्त्र के लिए निश्चित सरक्षणात्मक करो की अवधि बढाकर ३१ मार्च, १६४२ तक कर दी।[2]

६ १६३६ ४५ के युद्ध-काल और बाद मे सूती वस्त्र-उद्योग—महायुद्ध के प्रारम्भ के समय सूती वस्त्र उद्योग एक निष्क्रिय अवस्था मे था।

---

१. देखिए, अध्याय १३।

२ ग्रेट ब्रिटेन के साथ हुए व्यापारिक समझौते के अनुसार ब्रिटिश कपड़ों पर आयात-कर में १७ अप्रैल, १६४० से कमी कर दी गई। भारतीय प्रशुल्क (सशोधन) अधिनियम, १६४७ के अनुसार तत्कालीन सरक्षणात्मक करों को आगम करों में परिणत कर दिया गया। १ जनवरी, १६४६ को मूल्यानुसार २५ प्रतिशत महीन वस्त्रों पर और ३ पाई प्रति गज मध्यम और मोटे कपड़ों पर एक उत्पादन-कर लगा दिया गया।

महायुद्ध के द्वितीय वर्ष से सुधार काल प्रारम्भ हुआ। वस्त्रों का आयात विशेषकर जुलाई, १६४१ मे जापान के आयात समाप्त करने के बाद से नगण्य हो गया। सरकार और पूर्वी दल द्वारा युद्ध के लिए वस्त्रों की माँग मे अपूर्व वृद्धि हुई तथा पश्चिमी और दक्षिणी अफ्रीका, मध्य-पूर्व, आस्ट्रेलिया, मलाया और डच पूर्वी द्वीप-समूह के लिए कपास से निर्मित वस्तुओ के निर्यात मे बहुत वृद्धि हुई। सूती वस्त्रों के मूल्य मे इतनी वृद्धि हो गई कि सरकार को उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए कदम उठाने को बाध्य होना पड़ा। सरकार के सहयोग से मिलों द्वारा जनता के लिए सस्ते वस्त्रों के निर्माण की एक योजना चालू की गई और सरकार ने अपनी एजेन्सियों द्वारा निश्चित मूल्य पर इन्हे बेचने का निश्चय किया। किन्तु यह योजना त्याग देनी पड़ी, क्योकि ये 'उपयोगी' वस्त्र बिक न सके और उत्पादन मे वृद्धि नही हो सकी। मई, १६४६ मे भारत सरकार द्वारा सूती वस्त्र उद्योग के लिए मध्यान्तरकालीन योजना घोषित की गई। आगामी पाँच वर्ष मे प्रतिवर्ष के लिए वस्त्र उत्पादन की सीमा ५५,००० लाख गज निश्चित की गई।

१०. जूट-उद्योग—१८६८ से १८७० तक मिलों ने 'खूब रुपया कमाया' और १५ से २५ प्रतिशत तक लाभांश दिये। परिणामस्वरूप बहुत-सी नई मिलें खोली गईं और अति उत्पादन होने लगा। फल यह हुआ कि लाभ शीघ्र ही घटने लगे। उद्योग को एक संकटकाल से गुजरना पड़ा और बहुत-सी मिलें बन्द कर दी गईं। किन्तु जूट-उद्योग का आकार बहुत बड़ा हो चुका था, यहाँ तक कि १८८१ मे बंगाल में ५,००० शक्तिचालित करघे चालू थे। १८८५ से उद्योग मे टाट के बोरों की अपेक्षा जूट के कपडो के अधिक उत्पादन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। १८७७ और १६१५ के बीच जहा बोरे बनाने के करघे २,६५० से बढ़कर १७,७५० हो गए, जूट के कपडो के करघे ६१० से बढकर २२,६०३ हो गए, अर्थात् जूट के कपडा के करघो की वृद्धि २,४०० प्रतिशत हुई जबकि बोरे बनाने के करघो मे ४३० प्रतिशत की वृद्धि हुई। प्रथम महायुद्ध मे जूट-उद्योग मे पर्याप्त प्रसार और समृद्धि हुई, क्याकि विभिन्न युद्ध-क्षेत्रों की खाइयों के लिए बालू भरने के बोरे, तिरपाल, गाडियो को ढकने के कपडे आदि युद्ध-सम्बन्धी माग की पूर्ति उद्योग को करनी पडी। सन् १६१५ १६ मे रूस पर जर्मनी के आक्रमण के कारण रूसी सन (फ्लैक्स) की पूर्ति बन्द हो गई और उसके स्थान पर भारतीय जूट का प्रयोग आवश्यक हो गया। इससे भी जूट-उद्योग को प्रोत्साहन मिला। १६१४-१८ के युद्धकाल के लाभ के फलस्वरूप अति उत्पादन होने लगा और युद्ध समाप्त होने पर उद्योग को बुरे दिन देखने पडे। एक ओर माँग कम हो गई और दूसरी ओर जूट के मूल्य और मजदूरी बढ जाने के कारण उत्पादन-लागत बढ़ गई।[1]

११ अवसाद-काल और तदनन्तर जूट उद्योग—गिरते मूल्यो, प्रमुख उपभोग-केन्द्रों पर भण्डारो की उपस्थिति, श्रम अशान्ति आदि कारणों से जूट-उद्योग को भी हानि

---

१. जूट-उद्योग के सर्वेक्षण के लिए देखिए मेरिमन, पूर्वोद्धृत भाग २, अध्याय ४।

पहुँची। इस सबके बावजूद भी इसने बम्बई के सूती मिल उद्योग की अपेक्षा युद्धोत्तर (१६२६) अवसाद की कठिनाइयों का सामना कहीं अच्छी तरह किया। यह पर्याप्त सुरक्षित कोष तथा समयानुसार कार्यावधि में कमी आदि उपायों का परिणाम था। मार्च, १६३६ में समाप्त होने वाले दस वर्ष में उत्पत्ति को कम करने की नीति का सदैव पालन किया गया था। जो मिलें संस्था की सदस्य थीं वे प्रति सप्ताह ४० घण्टे काम कर रही थीं और उनके करघों का एक निश्चित प्रतिशत बन्द रहता था। यह प्रतिशत १६३१ में १५ और १६३५ में १० था। बन्द करघों की प्रतिशत में कमी आने के कई कारण थे, यथा सीमीकरण-योजना के बाहर वाली मिलों की प्रतिस्पर्धा, व्यापारिक परिस्थितियों में सुधार तथा अन्य उत्पादन-केन्द्रों से प्रतिस्पर्धा। संस्था के बाहर की मिलों से समझौता न हो सका, अतः संस्था की सदस्य-मिलों को भी काम के घण्टों या यन्त्रों पर किसी प्रकार की रोक के बिना कार्य करने को स्वतन्त्र कर दिया गया।

सरकारी ऑर्डिनेन्स के स्थायी विधान में परिवर्तित हो जाने के डर से जनवरी, १६३६ में संस्था और बाहरी मिलों में कम घण्टे काम करने के लिए एक समझौता हो जाने से कानून द्वारा काम करने के घण्टे सीमित करने की आवश्यकता नहीं रही। जुलाई में एक पूरक समझौते के द्वारा मिलों ने २० प्रतिशत जूट के कपड़े और ७½ प्रतिशत बोरे बनाने के करघों को बन्द रखकर ४५ घण्टे प्रति सप्ताह काम करने का निश्चय किया। कच्चे जूट के मूल्य में कमी और बंगाल के जूट-उत्पादकों पर इसके बुरे प्रभाव के कारण अगस्त, १६३६ में कच्चे जूट और टाट के निम्नतम मूल्य निश्चित करने के लिए प्रान्तीय सरकार को दो ऑर्डिनेंस जारी करने पड़े।

१२ जूट मिल उद्योग पर द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव—जहाजों द्वारा बाहर भेजी जाने वाली जूट-निर्मित वस्तुओं ने पूरे दशक के लिए एक रिकार्ड स्थापित कर दिया और १२,८०,४०० टन के वार्षिक उत्पादन में से १०,६८,७२५ टन का निर्यात हुआ। जूट और जूट-निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई जो मुख्यतया परिकल्पना का परिणाम थी। काम करने के घण्टों पर लगी रोक हटा ली गई और ६० घण्टे प्रति सप्ताह के अनुसार मिलें पूर्ण उत्पादन करने लगीं तथा फैक्टरी-अधिनियम की कुछ धाराओं को भारत सरकार ने एक ऑर्डिनेंस द्वारा स्थगित कर दिया। बंगाल सरकार ने भी जूट के कृषि-क्षेत्र को सीमित करने से सम्बन्धित एक बिल पर विचार करना स्थगित कर दिया।[1]

जूट मिल संस्था ने अगस्त, १६४० में काम करने के घण्टों को कम करके ४५ घण्टे प्रति सप्ताह और मास में केवल ३ सप्ताह काम करना निश्चित किया। बालू भरने के बोरों के लिए नये आर्डरों के साथ काम करने के प्रति सप्ताह घण्टे

---

१. बाद में बंगाल विधान सभा ने अगस्त, १६४० में बंगाल जूट रेगुलेशन बिल जूट-उत्पादकों के हित में पास किया जो १६४१ में उत्पन्न होने वाली फसल पर लागू हुआ। इससे पहले मई, १६४० में सभी बाजारों में कच्चे जूट और टाट के निम्नतम और अधिकतम मूल्य निश्चित करने के लिए बंगाल सरकार ने दो ऑर्डिनेंस जारी किये।

बढ़कर पुनः ६० हो गए, पर १८ मई, १९४२ से कम होकर ये फिर ५४ घण्टे प्रति सप्ताह हो गए और १० प्रतिशत करघे भी बन्द रहने लगे। विगत युद्ध में छब्बीस मिलें सैनिक भण्डार और सामग्री के उत्पादन के लिए ले ली गईं। यद्यपि उद्योग इस भाँति अपनी उत्पादन-क्षमता के २५ प्रतिशत भाग से वञ्चित हो गया, परन्तु फिर भी यह युद्ध की माँग सहित सारी माँग की पूर्ति करने में समर्थ था।

सन् १९४७ और उसके उपरान्त विभाजन के फलस्वरूप जूट-उद्योग का (जो भारतीय गणराज्य में है) जूट-उत्पादक क्षेत्र (जो पाकिस्तान में है) से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है। भारतीय गणराज्य कच्चे जूट का सबसे बड़ा उपभोक्ता है, जबकि पाकिस्तान सबसे बड़ा विक्रेता है। विभाजन ने, विशेषकर मुद्रा-अवमूल्यन (सितम्बर, १९४९) से, जूट-उद्योग को पूर्ण रूप से अव्यवस्थित कर दिया। पाकिस्तान ने भारत को जूट निर्यात करना पूर्णतः बन्द कर दिया और प्रत्युत्तर में भारत ने (दिसम्बर, १९४९) पाकिस्तान को कोयले का निर्यात बन्द कर दिया। अविभाजित भारत में जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का केवल २५१ ही भारत के भाग में आया था। भारत कच्चे जूट के विषय में आत्मनिर्भर होने के लिए तभी से प्रयत्नशील है।

१९४७-४८ की तुलना में क्षेत्रफल तीन गुना तथा उत्पादन ढाई गुना हो गया है। जूट-उद्योग की समस्याओं के सम्बन्ध में सिफारिश प्रस्तुत करने के लिए सरकार ने श्री के० आर० पी० आयंगर की अध्यक्षता में जूट-जाँच आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने मई १९५४ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग ने कच्चे जूट के सम्बन्ध में सापेक्षिक आत्मनिर्भरता की सिफारिश की। भारत को केवल उस कोटि का जूट बाहर से मँगाना चाहिए जो यहाँ पैदा न होता हो। शेष प्रकार के जूट की पर्याप्त मात्रा देश में ही उगानी चाहिए। आयोग की अन्य प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थीं

(i) आयोग ने प्रति सप्ताह काम करने के घण्टों को सीमित करने तथा मशीनों के कुछ भाग को बन्द करने से सम्बन्धित (वर्किंग टाइम एग्रीमेण्ट) कार्यावधि समझौते को समाप्त करने की सिफारिश की, क्योंकि इस समझौते के कारण अकुशल मिलों को अवसर मिलता है तथा विदेशी मिलें लाभ उठाती हैं।

(ii) कच्चे जूट के मूल्य के सम्बन्ध में आयोग का मत था कि उसे जूट के सामान के मूल्य-स्तर की तुलना में न्यायोचित सम होना चाहिए।

(iii) आयोग ने जूट उगाने वालों के दृष्टिकोण से सहकारी समितियों व नियमित बाज़ारों के संगठन-जैसे उपाय अधिक महत्वपूर्ण ठहराए।

प्रथम योजना के अन्तर्गत जूट के उत्पादन का लक्ष्य ५१ लाख गाँठें तथा जूट के सामान के उत्पादन का लक्ष्य १२ लाख टन था। किन्तु ये लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके। १९५५-५६ में कच्चे जूट का उत्पादन ४१.६७ लाख गाँठें तथा जूट के सामान का उत्पादन १०.९३ लाख टन (१९५६ के लिए) था। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत १९६५-६६ के अन्त तक जूट के सामान के उत्पादन का १३ लाख टन तथा कच्चे जूट के उत्पादन का लक्ष्य ५० लाख गाँठें हुआ। जूट-निर्मित वस्तुओं

के उत्पादन के हाल के आँकडे निम्न हैं

जूट-निर्मित वस्तुओ का उत्पादन[1]

वर्ष	उत्पादन (लाख टन)
१९५५	१० २७
१९५६	१० ९३
१९५७	१०·३०
१९५८	१० ६२
१९५९	१० ५२
१९६५-६६	१३ ००

जूट-निर्मित वस्तुओ की माँग ससार-भर की कृषि-सम्बन्धी उत्पादन की मात्रा पर निर्भर करती है, क्योकि आन्तरिक या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनो ही मे कृषि की उत्पाद्य वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए जूट-निर्मित वस्तुओ की आवश्यकता होती है। भारत मे कृषि के अच्छे साल मे जूट-निर्मित वस्तुओ के निर्यात म कमी आ जाती है, क्योकि फसलो की वृहद् राशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाने के लिए जूट-निर्मित सामानो की आवश्यकता पडती है। इसी भाँति बाहरी माँग मे कभी भी उदाहरणार्थ आर्थिक अवसाद के समय की कमी जूट-निर्मित वस्तुओ के निर्यात पर बुरा प्रभाव डालती है।

१ मार्च १९५९ तक उद्योग के १२½% करघे बन्द थे। तदनन्तर बोरे के टाट का स्टाक बहुत मात्रा म एकत्रित हो जाने के कारण २ मार्च, १९५९ से २१ मार्च, १९५९ तक १½% करघे और बन्द कर दिये गए। २२ जून के बाद इन १½% करघो को चालू कर दिया गया। बाद मे २४ अगस्त तक के लिए २½% करघे चालू कर दिये गए। १९६३ ६४ मे जूट-उद्योग तथा व्यापार के लक्ष्यो को इस वर्ष मे उत्पादन पार कर गया। उत्पादन १३ ५४ लाख टन और निर्यात ९.१३ लाख टन हुआ, जिसका मूल्य १५७ ४२ करोड रुपया था। जूट का निर्यात १९६४-६५मे और बढकर १७९ १४ करोड पहुँच गया। परन्तु जूट की विशेष प्रकार से कच्चे माल की *समस्याओ तथा कीमतो इत्यादि का हल ढूँढने के लिए भारत सरकार ने सितम्बर* १९६४ मे जूट टैक्सटाइल्स परामर्श बोर्ड (Jute Tex- tiles Consultative Board) बनाया है और मई १९६६ म जूट मिलो को उत्पादन से एक सप्ताह से अवकाश दिया गया।

१३. जूट-उद्योग की समस्याएँ—जूट-उद्योग की एक समस्या कच्चे माल की है। यह समस्या भारत के विभाजन क परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुई है। विभाजन के परिणामस्वरूप जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्र अधिकाशत पाकिस्तान मे चले गए।

१. वर्ष का अर्थ जुलाई से लेकर जून तक है। ये आँकडे इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन की *सदस्य-मिलों व एक गैर-सदस्य मिल के है।* —*इण्डिया १९६०, पृ० ३१२।*

तब से सरकार जूट की किस्म और उत्पादन की वृद्धि के लिए बराबर प्रयत्नशील है। सन् १९५६-५७ मे जूट (१,८८३ हजार एकड) तथा मेस्टा (७३८ हजार एकड) की खेती २,६११ हजार एकड भूमि मे हुई थी। इस वर्ष जूट का उत्पादन ४,२२१ हजार गाँठें तथा मेस्टा का उत्पादन १,४७४ हजार गाँठें था। प्रारम्भ मे कच्चे माल की समस्या के समाधान के लिए जूट की खेती पर लगे प्रतिबन्ध हटा लिये गए। कच्चे जूट के मूल्य पर लगा नियन्त्रण हटा लिया गया। बेकार भूमि को खेती-योग्य बनाया गया तथा धान के कुछ क्षेत्र जूट के उत्पादन के लिए प्रयुक्त होने लगे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि अनेक ऐसे क्षेत्रो मे जूट की खेती होने लगी जो जलवायु की दृष्टि से इस योग्य नही हैं। परिणाम यह हुआ कि उत्पादन मे तो पर्याप्त वृद्धि हुई, किन्तु किस्म निम्न कोटि की ही रही। अतएव उच्च कोटि के जूट के आयात की समस्या ज्यो-की-त्यो बनी रही। फरवरी, सन् १९५३ मे भारत सरकार ने जूट की किस्म मे सुधार करने के हेतु सुझाव देने के लिए एक प्रवर समिति (एक्सपर्ट कमेटी) नियुक्त की। इस समिति की लगभग सभी सिफारिशें सरकार द्वारा मान ली गई और जूट की किस्म सुधारने पर बहुत जोर दिया जाने लगा। जूट को मुलायम या नरम करने के लिए नए तालाबो के निर्माण तथा पुराने तालाबो को पुन खोदकर तैयार करने का काम हाथ मे लिया गया। बीज के कृषि क्षेत्र स्थापित किये गए ताकि उत्पादको को अच्छा बीज मिल सके।

१९५८-५९ मे कच्चे जूट के उत्पादन म पर्याप्त वृद्धि हुई। इस वर्ष जूट का उत्पादन ५१ ८ लाख गाँठें तथा मेस्टा का उत्पादन १५·८ लाख गाँठें था। इस वर्ष ५७-५८ की तुलना मे कृषि का क्षेत्रफल १७ ४ लाख एकड से बढकर १८ ३ लाख एकड हो गया। प्रति-एकड उपज भी १९५७-५८ की २ ३३ गाँठो से बढकर २ ८९ गाँठें हो गई, किन्तु पाकिस्तान की प्रति एकड ३ ९३ गाँठो की उपज की तुलना मे यह अब भी बहुत कम है। तत्पश्चात् मूल्यो के घटन के कारण १९५९-६० मे कृषि के क्षेत्र मे कमी आ गई।[1] कच्चे माल की समस्या के हल के लिए सामान्यत कृषि का विस्तार किया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि गहन खेती, अच्छे बीज और औजारो की व्यवस्था तथा साख-सम्बन्धी सुविधाओ द्वारा अच्छे जूट के उत्पादन की मात्रा और प्रति-एकड उपज मे वृद्धि की जाए। कच्चे माल की समस्या हल करने के लिए इन सभी बातो के सम्बन्ध मे सुझाव दिये गए हैं, परन्तु कृषि-विस्तार की अपेक्षा इन पर कम ध्यान के कारण ही इस समस्या का समाधान नही हो सका है। केन्द्र और प्रान्तो के भिन्न मत होने के कारण भी कुछ कठिनाई उठती है।

पुन इस समस्या को हल करते समय हमे जूट की किस्म के सुधार पर बराबर ध्यान देना चाहिए। यों तो १९५८-५९ मे उत्पादन की मात्रा के दृष्टिकोण से भारत आत्मनिर्भरता प्राप्त कर चुका है, क्योकि उस वर्ष अपेक्षित माँग ६५ लाख गाँठें (जूट और मेस्टा) थी और उत्पादन लगभग ६७·६ लाख गाँठें (जूट और मेस्टा) था, किन्तु

---

१. देखिए, कामर्स एनुअल, नवम्बर-दिसम्बर १९५९, पृ० २०९।

पाकिस्तान से जूट का आयात बराबर हो रहा है, क्योंकि उच्चकोटि के उत्पादन मे हम अभी आत्मनिर्भर नही हो सके हैं।

जूट-उद्योग की दूसरी समस्या निर्यात से सम्बन्धित है। यह उद्योग विदेशी विनिमय अर्जित करने का प्रधान साधन रहा है।

निर्यात की कठिनाइयाँ बढने के अनेक कारण हैं। भारत का एकाधिपत्य समाप्तप्राय है। अब अनेक एशियाई (जापान, थाईलैंड, बर्मा) और यूरोपीय देशो (फ्रास, हालैंड, बेल्जियम) मे जूट-मिलो की स्थापना हो रही है। भारत के पडोस मे पाकिस्तान ही इस दिशा मे आगे बढ रहा है। कच्चे जूट की प्रचुरता तथा श्रेष्टता और नई मशीनो से सुसज्जित मिलो के कारण पाकिस्तान का जूट उद्योग एक समय प्रतिद्वन्द्वी का रूप धारण करता जा रहा है। विदेशो मे जूट के स्थानापन्न ढूँढ निकाले गए हैं। मुख्यत परिवेष्टन के लिए कागज का प्रयोग होने लगा है। इससे जूट की माँग मे कमी और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे प्रतिस्पर्धा की वृद्धि हो गई है। इधर वस्तुओ को अलग-अलग परिवेष्टित करने के बजाय सामूहिक परिवेष्टन (bulk handling) का प्रचलन होने के कारण जूट के बोरो की माँग प्रभावित हो रही है। निर्यात की समस्या का सन्तोषप्रद हल तभी हो सकता है जब कि जूट-उद्योग अपनी वस्तुओ को प्रतिस्पर्धात्मक मूल्यो पर बेच। इसके लिए यह आवश्यक है कि सरकार कर-भार स उद्योग को मुक्ति प्रदान करे। जूट-जाच आयोग ने भी ऐसी ही सिफारिश की थी। सरकार ने इस दिशा मे कदम अवश्य उठाए है, किन्तु देर से उठाने के कारण उद्योग को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे प्रतिस्पर्धा-शक्ति की हीनता के रूप मे हानि उठानी पडी। जनवरी से सितम्बर, १९५९ तक ६,७५,३६६ टन जूट के सामान का निर्यात हुआ जिसे ८४ ६७ करोड रुपये के मूल्य का विदेशी विनिमय प्राप्त हुआ। इस अवधि मे १९५८ मे ६,१४,३३७ टन जूट के समान का निर्यात हुआ जिससे ८० करोड ९० के बराबर विदेशी विनिमय प्राप्त हुआ। बोरो के निर्यात मे बहुत कमी आ गई, क्योंकि पाकिस्तान, बर्मा, थाईलैंड, फिलीपाइन, वियतनाम और मिस्र आदि देशो मे जूट-मिलो की स्थापना से प्रतिस्पर्धा बहुत बढ गई। हमारा लक्ष्य १९५५-५६ के ६,७५,००० टन के निर्यात को बढाकर १९६०-६१ तक ९,००,००० टन करना है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हमे ठोस कदम उठाने चाहिए। एक ओर हमे उत्पादित वस्तु की श्रेष्ठता पर जोर देना चाहिए (जो अशत कच्चे माल की श्रेष्ठता पर निर्भर है) तथा दूसरी ओर हमे उत्पादन मे विविधता लानी चाहिए। इसके साथ ही हमे विदेशी बाजारो मे बिक्री बढाने के उपाय करने चाहिए तथा मूल्यो के सम्बन्ध मे भी एक स्थिर नीति बरतनी चाहिए। भारत सरकार ने भारतीय जूट मिल सघ (इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन) को जूट के सामान का प्रचार और प्रसार करने के लिए १९५९-६० मे १ २५ लाख रु० का अनुदान दिया है। इस सस्था ने यू० एस० ए०, कनाडा और यू० के०—इन देशो मे एक शिष्टमण्डल भेजा है जो जूट-उद्योग के लिए बाजारो के विकास और नये बाजारो की तलाश करेगा।

३१ मार्च, १९५९ तक स्थिति यह थी कि ५५ प्रतिशत मिलो मे नये ढग के

कताई के तकुए लग चुके थे। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने २२ कम्पनियो (मिलो) को ४.५५ करोड रु० का ऋण मजूर किया। इनमे से १६ कम्पनियो को ऋण मिल भी चुका है। युक्तीकरण के परिणामस्वरूप कुछ मिलें बन्द भी हो गई, किन्तु सन्तोष की बात यह है कि इसमे बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न नही हुई, क्योकि श्रमिको को उन मिलो मे काम मिल गया जो बन्द हुई मिलो के उत्पादन के लिए उत्तरदायी थी।

१४. लोहा और इस्पात-उद्योग—इगलैण्ड की नवीन औद्योगिक व्यवस्था की ठोस नीव लोहा और इस्पात उद्योग तथा सहायक यान्त्रिक उद्योगो के सुदृढ आधार पर पडी थी, किन्तु भारतवर्ष मे क्रान्ति का पथ ऐसे विकास से नही निश्चित हुआ है। हाल तक भारतीय उद्योग पूर्णरूपेण आयात किये गए यन्त्रो, यान्त्रिक वस्तुओ और धात्विक वस्तुओ पर साधारणतया निर्भर रहे हैं।

सिंहभूमि और मानभूमि जिलो की लोहे की खानो के नव स्रोतो के प्रयोग के साथ १९१० मे बगाल कम्पनी के इतिहास मे एक नये युग का सूत्रपात हुआ। टाटा कम्पनी की स्थापना उद्योग के इतिहास मे दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण था। स्वर्गीय जे० एन० टाटा द्वारा १९०७ मे कम्पनी सिंहभूमि जिले मे सकची नामक स्थान पर स्थापित हुई और कारखाने का निर्माण १९०८ से आरम्भ हुआ। दिसम्बर, १९११ म पहली बार अशुद्ध लोहा तैयार किया गया और वर्तमान काल मे भारतवर्ष मे इस्पात का उत्पादन पहली बार १९१३ मे हुआ। १९१६ तक युद्ध की मांगो से उत्तेजना पाकर समस्त यन्त्र पूर्ण उत्पादन कर रहे थे। इस भाँति कुछ चिन्तापूर्ण समय के बाद कारखाने सुदृढ आधार पर स्थित हो गए तथा इन्होंने फिलस्तीन, पूर्वी अफ्रीका और सैलोनिका मे सैनिक रेलो के लिए वृहद् मात्रा मे रेल की पटरी और स्लीपरो की पूर्ति करने मे बहुमूल्य सहायता प्रदान की। १९१७ मे विस्तार की एक बडी योजना सामने रखी गई जो १९२४ म पूरी हो गई। कारखानो मे स्थित पहली मशीनें इस्पात का तैयार माल, जैसे रेल की पटरी, निर्माण-सम्बन्धी भारी वस्तुएँ, छडें, निर्माण सम्बन्धी हल्की वस्तुएँ, हल्की रेल की पटरियाँ और फिशप्लेटें आदि बनाती थी। १९२६ से कारखानो म स्थित नये यन्त्रो द्वारा उत्पन्न की जाने वाली अन्य वस्तुएँ प्लेटें, चद्दर (काली और धातु चढी हुई), चद्दरो की छडें और चद्दरो की स्लीपर आदि थी।[1] टाटा के साहस की सफलता ने कुछ नवीन कम्पनियो को जन्म दिया, जैसे कलकत्ता मे मेसर्स बर्न एण्ड कम्पनी, १९०८ मे आसनसोल के पास हीरापुर मे स्थापित इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, १९२३ मे भद्रावती मे प्रारम्भ किये गए मैसूर स्टेट आयरन वर्क्स इत्यादि।

१५. लोहा और इस्पात का आयात—अपने बढते उत्पादन के बावजूद भी भारत बाहरी लोहे और इस्पात पर बडी मात्रा मे निर्भर रहा। १९१४ के पहले भारत के लोहे और इस्पात का औसत आयात ८,०८,००० टन था और इसका मूल्य १२.४८ करोड रुपये था। १९१४-१८ के युद्ध-काल मे औसत आयात घटकर ४,२२,००० टन

---

१. प्रशुल्क-मण्डल की इस्पात-उद्योग पर रिपोर्ट (१९३४), पैरा १४-१५।

रह गया जिसका मूल्य १० ११ करोड रुपये था। इसी काल मे टाटा कम्पनी ने अपना उत्पादन बढाया और सरकार की युद्ध-सामग्रियो की पूर्ति की। प्रथम महायुद्ध के बाद आयात बढता गया। यह बढता आयात रेलो, अन्य सार्वजनिक कार्यों तथा निर्माण-व्यापार के वर्द्धमान उपभोग का परिणाम बताया गया। इस बढते आयात ने उद्योग को सरक्षण प्रदान करने क विषय मे एक और तर्क प्रस्तुत किया।

१६. लोहा और इस्पात-उद्योग को सरक्षण प्रदान करना—अर्थ-आयोग के सुझाव के अनुसार भारतवर्ष मे विवेचनात्मक सरक्षण की नीति पहले-पहल लोहा और इस्पात उद्योग मे कार्यान्वित की गई। प्रशुल्क-मण्डल, जो जुलाई, १९२३ मे सस्थापित किया गया था, का निष्कर्ष था कि श्रम को छोडकर उद्योग अर्थ-आयोग द्वारा दी गई सभी शर्तों की पूर्ति करता है। श्रम के सम्बन्ध मे भारत की स्थिति लाभपूर्ण नही थी, परन्तु यह किसी भी कृषि-प्रधान देश म, जहाँ औद्योगिक अनुभव तथा प्रशिक्षण प्राप्त करना शेष हो, अवश्यम्भावी है। इस कारण ही इस समय अमेरिका तथा यूरोप से कुशल निरीक्षको का आयात आवश्यक है। किन्तु यह एक अस्थायी असुविधा थी जो कालान्तर मे दूर हो जाती। मण्डल की सम्मति थी कि सरक्षण दिये बिना आगामी वर्षों मे उद्योग के विकास की कोई आशा न थी और यह भय अवश्य था कि कही उद्योग ही न ठप हो जाए।

जून, १९२४ म मण्डल की सिफारिशो का समावेश करते हुए इस्पात सरक्षण बिल (स्टील प्रोटेक्शन बिल) पास किया गया। इस्पात से तैयार कुछ वस्तुओं पर कर बढा दिया गया। भारत मे निर्मित इस्पात की भारी रेलो, फिशप्लेटो और रेल के डिब्बो को सहायता प्रदान की गई। १९२४-२७ तक का पूर्ण योग २४२ लाख रुपये था। अवधि क समाप्त होन पर कर और सहायता दोनो मे सशोधन किया जा सकता था।

इस्पात क सरक्षण के इस पहलू के लिए प्रशुल्क-मण्डल ने कुछ सिफारिशें की जो सरकार और विधान सभा द्वारा स्वीकार कर ली गई। कुछ अपवाद-सहित आयात किये हुए इस्पात पर उच्चतर कर लगाकर अभियान्त्रिक उद्योग को सरक्षण प्रदान किया गया।

१७ इस्पात उद्योग की परिनियत जाँच (१९२६-२७)—३१ मार्च, १९२७ को समाप्त होने वाल १९२४ के इस्पात-सरक्षण अधिनियम के अनुसार १९२६ मे प्रशुल्क मण्डल ने उद्योग की दशा की सावधानीपूर्वक जाँच की और कुछ विशिष्ट दिशाओ मे सरक्षण की अवधि सात वर्ष के लिए और बढा देने की सिफारिश की। अब सरक्षण उत्पादन की सहायता के लिए न होकर बढे हुए आयात-कर के रूप मे हो गया। इसका कारण यह था कि सात वर्ष तक सहायता के रूप मे सरक्षण देना बहुत महँगा होता तथा इस अवधि के बाद पुन जाँच करनी पडती कि कितना और कैसा सरक्षण अभी और आवश्यक है। तदनुसार १९२७ के दिल्ली-अधिवेशन मे एक बिल पेश किया गया जो १ अप्रैल, १९२७ से लागू हुआ। इसके अनुसार लोहे और इस्पात की विभिन्न वस्तुओ पर करो की विभिन्न दरें निर्धारित की गई, साथ ही ब्रिटिश उत्पादन की

वस्तुओं पर एक आधारभूत कर और ब्रिटेन से बाहर बनी वस्तुओं पर एक अतिरिक्त कर भी लगाया गया।

१८ लोहे और इस्पात के उद्योग के विषय में संरक्षण के अन्य कदम—भारतीय प्रशुल्क (ओटावा व्यापार समझौता) संशोधन अधिनियम, १९३२ ने, जो १ जनवरी, १९३३ से लागू हुआ, जुलाई और अगस्त, १९३२ में ओटावा में भारत सरकार और इंगलिस्तान की सरकार के बीच हुए समझौते तथा सितम्बर में लोह और इस्पात के पूरक समझौते के फलस्वरूप हुए प्रशुल्क-सम्बन्धी परिवर्तनों को कार्यान्वित किया। लोह और इस्पात की वस्तुओं की श्रेणी में केवल उन्हीं वस्तुओं को प्राथमिकता दी गई जो संरक्षण करों से मुक्त थी। १९२७ के अधिनियम द्वारा लगाये गए संरक्षण करों की कार्यावधि बढ़ाकर ३१ अक्तूबर, १९३४ कर दी गई। इसी बीच इस्पात-उद्योग (संरक्षण) अधिनियम, १९२७ के अनुसार प्रशुल्क-मण्डल ने संरक्षण के नवीकरण के प्रश्न की पूर्ण समीक्षा की। लोहा और इस्पात-कर अधिनियम, १९३४ ने प्रशुल्क मण्डल द्वारा सुझाये गए संरक्षण के उपायों को १ नवम्बर से लागू किया। मण्डल की सिफारिशों के अनुसार कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के विषय में संरक्षण-कर के स्तर में कमी और उसके फलस्वरूप प्राप्त आय में कमी होने के कारण यह आवश्यक हो गया कि आय के लिए ब्रिटिश भारत में इस्पात के पिण्डों के उत्पादन पर ४ रु० प्रति टन का उत्पादन-कर और इस्पात के पिण्डों पर समप्रभावोत्पादक कर लगा दिया जाए। यह समप्रभावोत्पादक कर मण्डल द्वारा सुझाए गए संरक्षण-करों के अलावा है और जिन वस्तुओं को संरक्षण नहीं दिया गया उन पर मूल्यानुसार लगाये हुए आगम करों का विकल्प है। जैसा कि प्रशुल्क-मण्डल का सुझाव था, पूरक समझौता १९३४ में समाप्त कर दिया गया।[1]

सब बातों का ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि १९२४ के बाद भारत सरकार की नीति लोहा और इस्पात-उद्योग के विषय में सहायक रही। राज्य के सामयिक हस्तक्षेप के बिना उद्योग युद्धोत्तर-काल की प्रतिस्पर्धा के धक्के को सहन नहीं कर सकता था, फिर भी १९२४ और १९२७ के बीच प्राप्त संरक्षण पर्याप्त नहीं था और टाटा स्टील कम्पनी किसी भाँति अपना काम चलाती थी। इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी उद्योग ने प्रशंसनीय उन्नति की, जैसा उत्पादन की वृद्धि, श्रम की कुशलता में सुधार, विदेशी कर्मचारियों की संख्या में कमी, कार्यशाला की लागत में विचारणीय कमी और श्रमिकों की दशा में भी विचारणीय सुधार, विशेषकर मजदूरी, आवास तथा जीवन की अन्य विभिन्न सुविधाओं के सम्बन्ध में उन्नति से स्पष्ट है।[2]

उद्योग के स्थायी प्रसार की झांकी उत्पादन और आयात के आंकड़ों से मिल सकती है। शताब्दी के आरम्भ में अशुद्ध लोह का उत्पादन ३५,००० टन से बढ़कर

१. वी० एन० अदारकर, 'हस्ट्री आव इण्डियन टैरिफ', पृ० २२।
२. Engineering News of India, Sept , '60, p. 301

१९३८-३९ मे १२,७६,००० टन हो गया, जिसमे से २·५६ लाख रु० के मूल्य का ५,१४,००० टन निर्यात किया गया- जिसका ग्राहक जापान था। जापान के बाद इगलिस्तान और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भारतीय अशुद्ध लोहे के ग्राहक रहे हैं। भारत मे उत्पादित अशुद्ध लोहा सब प्रकार से यूरोपीय अशुद्ध लोहे के समान है। वास्तव मे अशुद्ध लोहे का आयात अब लगभग नगण्य है। इस्पात का उत्पादन १९१६-१७ के १,३९,४३३ टन से बढकर १९२७-२८ मे ५,९९,५६५ टन हो गया और इसी अवधि मे तैयार इस्पात का उत्पादन ९८,७२६ टन से बढकर ४,२८,६५४ टन हो गया। १९३८-३९ मे इस्पात-पिण्डो का उत्पादन ९,७७,००० टन और तैयार इस्पात का उत्पादन ७,२९,००० टन था।

१९. लोहा और इस्पात-उद्योग की वर्तमान स्थिति—सितम्बर, १९३९ मे युद्ध छिड जाने से भारत के लोहा और इस्पात उद्योग को एक नवीन प्रेरणा मिली। यह १९३९ और १९३८ के उत्पादन की तुलना से स्पष्ट हो जाता है जब दोनो वर्षों मे अशुद्ध लोहे का कुल उत्पादन क्रमशः १८,३५,००० टन और १५,७५,००० टन था। इस्पात-पिण्डो और तैयार इस्पात का उत्पादन बढकर क्रमश. १०,६७,००० टन और १०,९२,६०० टन हो गया जो कि पिछले वर्ष की तुलना मे क्रमश ९·२ प्रतिशत और १४ १ प्रतिशत अधिक था। १९३९ का उत्पादन १९३२-३३ के उत्पादन का लगभग दूना था।

पहिये, टायर और धुरो इत्यादि के निर्माण के लिए जमशेदपुर मे इस्पात उत्पादन करने के नये यन्त्र स्थापित किये गए हैं, जिससे इन्जनो और डिब्बो के बडे पैमाने पर बनाने की सम्भावनाएँ हो गई हैं।

२०. मूल्य-नीति—अप्रैल, १९४६ मे युद्ध के ठेके-सम्बन्धी मूल्य-नियन्त्रण समाप्त कर दिये गए तथा वाणिज्यिक मूल्य ही निश्चित किये गए। तब से दोहरे मूल्यों की प्रथा चली आ रही है। एक विक्रय-मूल्य निश्चित किया जाता है। इस मूल्य पर स्टील बाजार मे बेचा जाता है। विक्रय से प्राप्त धनराशि एक कोष (equalisation fund) मे जमा कर दी जाती है। इस कोष मे से उत्पादकों को एक निश्चित मूल्य के अनुसार (जिसे retention price कहते हैं) अदायगी की जाती है तथा आयात करने वालो को आयात के भुगतान के लिए धनराशि दी जाती है।

२१. योजना और इस्पात-उद्योग—१९५१-५६ के औद्योगिक विकास के कार्यक्रम मे टाटा वर्क्स के आधुनिकीकरण तथा १० लाख टन पिण्ड से उत्पादन १३ लाख टन पिण्ड करने का लक्ष्य रखा गया। इसी प्रकार बर्नपुर के लिए भी उत्पादन-क्षमता की वृद्धि का लक्ष्य ३ लाख टन पिण्ड से बढाकर ५ लाख टन पिण्ड था। योजना-आयोग ने उद्योग की आर्थिक कठिनाइयो को अनुभव करके उद्योग को आर्थिक सहायता दी। टाटा तथा इण्डियन आइरन, प्रत्येक को दस करोड रु० का ब्याजरहित ऋण-मूल्य समानीकरण कोष (Price Equalisation Fund) मे से दिया। इण्डियन आइरन को योजना प्रारम्भ होने से पहले १९५० मे प्रारम्भ विस्तार-योजना के लिए ७ ६ करोड़ रु० का ऋण मिल चुका था। योजना-आयोग का अनुमान था कि १९५७ तक

तैयार स्टील की माँग २८ लाख टन हो जाएगी।

प्रथम पचवर्षीय योजना मे तीन प्रमुख उत्पादकों के तैयार स्टील का उत्पादन १०.७ लाख टन (१६५१) से बढकर १२.६ लाख टन (१६५५) हो गया। योजनावधि मे स्टील की खपत मे वृद्धि हुई और आयात १,७८,००० टन (१६५१) से बढ़कर ६,००,००० टन (१६५५) हो गया।

सन् १६५४ मे श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने स्टील की भावी माँग का अनुमान लगाने के लिए एक नये सर्वेक्षण का सूत्रपात किया। इस सर्वेक्षण के अनुसार १६६१ तक तैयार स्टील की माँग ४५ लाख टन अथवा ६० लाख टन पिण्ड होगी। अतएव मार्च १६५५ मे स्टील के कारखाने की स्थापना मे रूसी सहायता का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। अगले महीने तीसरे कारखाने की स्थापना के लिए सरकार ने ब्रिटिश मिशन को आमन्त्रित किया। तीसरे कारखाने की स्थापना के लिए दुर्गापुर चुना गया। जुलाई १६५५ मे एक पूरक समझौते द्वारा रूरकेला के कारखाने को प्रारम्भ से ही दस लाख टन की क्षमता वाला कारखाना बनाना निश्चित किया गया।

१६५६ मे सरकारी क्षेत्र के तीनो कारखानो ने कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्होने ७,७०,००० टन पिग आइरन (भट्टी से निकला लोहा) तथा १,५०,००० टन स्टील (अर्द्धनिर्मित) का उत्पादन किया। १६५८ की तुलना मे निजी क्षेत्र के दो कारखानों के उत्पादन मे ४,५०,००० टन स्टील और ५,००,००० टन पिग आइरन (भट्टी से निकले लोह) की वृद्धि हुई।

लोहे और इस्पात के तीन प्रमुख उत्पादकों (टाटा आइरन एण्ड स्टील क०, इण्डियन आइरन एण्ड स्टील क०, जिसमे स्टील कारपोरेशन ऑफ बगाल विलयित है तथा मैसूर आइरन एण्ड स्टील वर्क्स) की प्रसार-योजनाओं के बाद भी इस्पात के उत्पादन मे अपेक्षित वृद्धि सम्भव नही है। यदि सब कुछ ठीक रहे तो १६६३ तक ४५ लाख टन तैयार स्टील के उत्पादन का लक्ष्य पूरा हो सकता है।[1]

लोहा तथा इस्पात बिजली की तरह औद्योगिक उन्नति के लिए एक बहुत आवश्यक चीज है। इस प्रकार पचवर्षीय योजनाओं मे इसको बहुत महत्त्व का स्थान दिया गया है। पहली पचवर्षीय योजना के अन्त तक तैयार इस्पात का उत्पादन १३ लाख टन था जो अधिकतर निजी क्षेत्र के कारखानो मे हुआ। दूसरी पचवर्षीय योजना मे निजी क्षेत्र के इस्पात कारखानो को बड़ा करने के अतिरिक्त तीन नये इस्पात के कारखाने खोले गए (दस लाख टन क्षमता वाले)। तीसरी पचवर्षीय योजना मे तैयार इस्पात के उत्पादन का लक्ष्य ६८ लाख टन रखा गया। १६६५-६६ मे इस्पात का उत्पादन ५५ लाख टन तक रहा। चौथी पचवर्षीय योजना मे इस्पात (अर्द्धनिर्मित) १.६५ करोड टन का लक्ष्य रखा गया है जो कि तीन सरकारी कारखानो के उत्पादन को बढाने तथा एक चौथे कारखाने को बोकेरो (Bokaro) मे खोलने पर। चौथी पचवर्षीय योजना मे एक पांचवें सरकारी स्टील कारखाने के खोलने का भी

१. २१ जून १६६० को डिफेन्स स्टाफ कालिज, वैलिंगटन के समक्ष श्री बहादुर खेड़ा के भाषण से।

विचार है। इसके अतिरिक्त टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी को अपनी उत्पादन शक्ति को २० लाख टन से ३० लाख टन और १० लाख टन से १३ लाख टन की अनुमति दे दी है।

सितम्बर १९६३ मे जापान की ५ विशेष फर्मों की सहायता से दुर्गापुर मे ६० हजार टन शक्ति के अलाय (Alloy) तथा औजार स्टील को पैदा करने वाला कारखाना खोला गया। चौथी पचवर्षीय योजना मे इस कारखाने की उत्पादन शक्ति तीन गुना बढाई जायेगी। इसी प्रकार भद्रावती के स्टील कारखाने को भी अलाय के रूप मे बदला जा रहा है। यूगोस्लाविया सरकार की सहायता से उदयपुर मे भट्टी से निकलने वाले लोहे (Pig Iron) का कारखाना खोला गया है। महेन्द्रगढ (पजाब) मे भी इस प्रकार का कारखाना खोलने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने दो स्टेनलैस स्टील (Stainless Steel) के कारखाने खोलने का विचार है—एक मद्रास मे और दूसरा वलवा (गुजरात) मे।

अक्तूबर १९६३ की डॉ० के० एन० राज की रिपोर्ट के अनुसार इस बात पर जोर दिया गया कि अभाव प्रधानता इस्पात के सभरण पर सरकार का नियत्रण हटा दिया जाय और प्रधानता इस्पात पर नियन्त्रण रखा जाय। इसका विशेषतया सरकार की मूल्य नीति पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा और उद्योग को प्रोत्साहन मिलेगा। फिर भी इन बातो के होते हुए भारत विश्व के अच्छे औद्योगिक देशो से पीछे है। (प्रति व्यक्ति इस्पात का उपभोग भारत मे १६ पोंड है जबकि अमरीका मे १२३७ पौंड है।)

लोहा और इस्पात उद्योग के युद्धकालीन विकास से अभियान्त्रिकी उद्योग का विकास घनिष्ठ रूप स सम्बद्ध है। इसके निम्नलिखित अति महत्त्वपूर्ण पहलू है—

(१) युद्ध सामग्री की फैक्ट्रियाँ—रक्षा-विभाग-योजना के अन्तर्गत युद्ध-सामग्री की फैक्ट्रियो का बहुत अधिक विकास और अभिनवीकरण हुआ है। इसकी सिफारिश चैटफील्ड समिति ने भी की थी। बन्दूको, गोलो और विस्फोटको के उत्पादन की वृद्धि के साथ भारत पूर्व और मध्यपूर्व के देशा का आयुधागार बन गया।

१९६२ के चीनी आक्रमण तथा विशेषकर १९६५ के पाकिस्तानी आक्रमण के पश्चात युद्ध-सामग्री की फैक्ट्रियो को बहुत सहायता दी जा रही है।

(२) अभियान्त्रिक तथा यान्त्रिक औजार (मशीन टूल्स)—युद्ध सामग्री के लिए अपेक्षित विशिष्ट मशीनो से लेकर बरमा (एक प्रकार का औजार) और खराद-जैसे साधारण औजारो और सभी यान्त्रिक औजारो के निर्माण मे युद्ध-काल मे कुछ-न-कुछ उन्नति हुई, किन्तु मिल, जहाज, मोटरगाड़ियाँ, हवाईजहाज आदि के लिए आवश्यक भारी यन्त्रो के निर्माण मे बहुत कम सफलता हुई।

युद्ध से अभियान्त्रिक सामग्रियो और भण्डारो के निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस सामग्री और भण्डार के कुछ उदाहरण निम्न हैं—स्टील पाइपे, छादक (शेड), क्रेन, पेट्रोल और पानी एकत्र करने की टकियाँ, लारियाँ, हथियारबन्द कारे रेल के डिब्बे, रेलवे भण्डार, बिजली का भण्डार, इस्पात के तारो के रस्से, अग्नि से

लड़ने वाले औजार इत्यादि।

यान्त्रिक औजार—स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत सरकार ने देश के यान्त्रिक औजारो के कारखानो को प्रोत्साहन दिया है, कई प्रकार की मशीनो तथा यन्त्रो के कारखान सरकारी क्षेत्र मे खोले गए हैं और देश मे दो-सौ करोड रुपये (२०० करोड) का वार्षिक उत्पादन है। एक सेन्ट्रल मशीन टूल इन्स्टीट्यूट (Central Machine Tool Institute) बगलौर मे डीसाईन, ट्रेनिंग, अनुसधान-कार्यो के लिए खोली गई है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान मशीन टूल और हैवी इलेक्ट्रिकल इण्डिया लिमिटेड (Heavy Electrical India Ltd) के खुल जाने के कारण इस प्रकार की चीजो का उत्पादन बढ जायेगा। उदाहरणतया १९६०-६१ मे ७ करोड रुपये के मुकाबले मे १९६५-६६ मे ३० करोड रुपये का उत्पादन हुआ और चौथी पचवर्षीय योजना क अन्त तक भारी बिजली के साज-सामान का उत्पादन १९६५-६६ के २० करोड के अन्तर मे ३८ करोड रुपया वार्षिक हो जाएगा।

२२. सहायक उद्योग—जमशेदपुर (पहले के सकची) क पडोस मे स्थापित गौण उद्योगो के विकास पर भी दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। प्रसार-योजना के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओ मे कुछ निम्नलिखित हैं—स्टील ट्यूब, टिन प्लेट, कलई का सामान, तार, कील, रेल के डिब्बे, ढले हुए लोहे के स्लीपर, चाय और जूट मिल के यन्त्र, कृषि के औजार, धातु चढी हुई वस्तुएँ, लोहे और इस्पात की ढली वस्तुएँ, भारी रसायन, गन्धकीय अम्ल, क्षारीय अम्ल, रासायनिक खादे, चूना, अमोनियम सलफेट इत्यादि।

सरकारी क्षेत्र मे स्थापित इन कारखानो के लागत-सम्बन्धी अनुमानो की काफी आलोचना हुई है। सच तो यह है कि १९५५ के अन्त म सविदाओ को जल्दी मे तैयार किया गया और इसलिए पार्लियामेण्ट म पेश होने से पहले लागत-सम्बन्धी अनुमानो पर विस्तार से विचार नही हो सका। दूसरे, इन योजनाओ-सम्बन्धी विस्तृत रिपोर्ट प्राप्त होने पर अनेक भूलो तथा अपेक्षित समायोजनो की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। इस कारण भी अधिक व्यय हुआ। तीसरे, द्वितीय योजना प्रारम्भ होन के समय इस आकार की योजनाओ के कुशल सचालन क लिए आवश्यक और उपयुक्त व्यक्ति उपलब्ध ही नही थे। अन्त मे, जिस गति से द्वितीय योजना के इन कार्यक्रमो को चालू किया गया, उससे विदेशी परामर्श और ठेको की निर्भरता अत्यधिक बढ गई। तृतीय पचवर्षीय योजना मे हर प्रकार से भारतीय प्रसाधनो के प्रयोग पर ही जोर दिया जाएगा।

२३. उद्योग की समस्याएँ—उद्योग की एक समस्या कच्चे माल के सम्बन्ध मे है। यद्यपि हमारे यहाँ कच्चे लोहे के निक्षेप बहुत हैं (लगभग २,१०,००० लाख टन प्रथम श्रेणी का लोहा), किन्तु कोकिंग कोयला के निक्षेप का अनुमान लगभग २०,००० लाख टन ही है। यदि इस बात को ध्यान मे रखा जाए कि एक टन स्टील बनाने मे १.५ टन कोकिंग कोयला की आवश्यकता होती है तो दीर्घकाल को ध्यान मे रखते हुए भविष्य अवश्य ही अन्धकारपूर्ण है। अल्पकाल मे भी इस्पात उद्योग तथा अन्य

उत्पादकों के लिए पर्याप्त कोकिंग कोयला मिलना कठिन है। टाटा ने कोयले के प्रक्षालन (धुलाई) के लिए दो प्रक्षालनालय स्थापित किये हैं। ईंधन अनुसंधान संस्थान, धनबाद में इस दिशा में खोज-कार्य हो रहा है और आशा है कि समस्या का हल सम्भव हो सकेगा। अन्य देशों में भी इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं कि अभिधमन भट्टी की आवश्यकता ही न रहे और इस प्रकार समस्या का अन्त ही हो जाए।

इस समय सभी इस्पात के कारखानों के लिए चूना-पत्थर एक ही क्षेत्र सुन्दरगढ़ (उड़ीसा) से आता है केवल भिलाई को पास में स्थित नन्दिनी की पत्थर की खान से कोयला मिलता है। दुर्गापुर-स्थित इस्पात के कारखाने को बिहार के शाहाबाद जिले से चूना-पत्थर मिल सकता है।

भारतीय इस्पात उद्योग अब नई विधियों का प्रयोग भी कर रहा है। रूरकेला में इस्पात बनाने की नई विधि L—D विधि (Process) का प्रयोग कर रहा है। यह विधि आस्ट्रिया में १९४९ में विकसित की गई और पहला वाणिज्यिक कारखाना १९५२ में शुरू हुआ। इस विधि की विशेषता यह है कि पूँजी की लागत और चालू व्यय में बचत होती है।

एक दूसरी नवीनता अभिधमन भट्टी में जाने से पहले खनिज कूटने और उसके सरुंजन की है जिसे अंग्रेजी में ove-crushing and sintering कहते हैं। इससे अभिधमन भट्टी का काम हलका हो जाता है और उसकी कुशलता बढ़ जाती है। टाटा के यहाँ इसका प्रयोग होता है तथा सरकारी क्षेत्र के तीनों कारखानों में भी इस विधि का प्रयोग होगा।

२४ चमड़ा सिझाने और चमड़े का उद्योग[1]—भारत में चमड़ा और खाल बहुतायत से मिलती है। गाय की खाल, जो 'ईस्ट इण्डिया किप्स' के नाम से ज्ञात है, बकरी का चमड़ा, भैंस की खाल और भेड़ का चमड़ा इत्यादि भारत के कृषि-उद्योग के उपोत्पादन माने जा सकते हैं। १९१४ १८ के युद्ध के पूर्व भारत ने कच्ची खाल का निर्यात बहुत मात्रा में, विशेषकर जर्मनी और आस्ट्रेलिया को किया, जिनका मूल्य १९१३ में ॥ १७ करोड़ रुपये था। उसी वर्ष ३ ४ करोड़ रुपये के मूल्य का कच्चा चर्म विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका को निर्यात किया गया। बाहरी देशों में इसकी बड़ी माँग थी और ऊँचे दाम दिये जा रहे थे।

कानपुर में जब सरकारी साज और जीन का कारखाना (हारनेस एण्ड सैडलरी फैक्ट्री) १८६० में खोला गया तभी से उत्पादन की दिशा में एक नया कदम उठाया गया। कुछ ही दिन बाद श्रीयुत एलन और कूपर ने आर्मी बूट एण्ड इक्विपमेण्ट फैक्ट्री खोली और सरकार से उन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता मिली। आदमजी

२

१. खाल उप-कर जाँच समिति के अनुमान से भारत के लिए इस सम्पूर्ण उद्योग का कुल मूल्य ४० या ५० करोड़ रुपये के लगभग है। इससे अनेक व्यक्तियों को रोजी मिलती है तथा भारत के दलित वर्गों की आर्थिक उन्नति का वह एक साधन है।—रिपोर्ट आन दि हाइड्स सेस इन्क्वायरी कमेटी, १९३०, पैरा १५८।

पीरभाई ने बम्बई मे स्योन नामक स्थान पर वेस्टर्न इण्डिया आर्मी एण्ड इक्विपमेण्ट फैक्ट्री स्थापित की। कुछ और फैक्ट्रियाँ विभिन्न केन्द्रो पर खोली गई जहाँ तैयार माल के उत्पादन का प्रयास किया गया। यद्यपि यूरोप की सिझावशालाओ (टैनरीज) और चमडे का काम करने वाली फैक्ट्रियो मे यन्त्रो का पर्याप्त उपयोग होता है परन्तु भारतीय सिझावशालाओ मे यह अभी हाल तक उपयोग मे नहीं लाया गया। १९१४ के पहले सिझाये हुए चर्म और खालो का निर्यात-व्यापार मुख्यत दक्षिणी भारत म सीमित था, जहाँ दालचीनी के प्रकार के वृक्ष (कैसिया आरिकुलाटा) की छाल, जो मद्रास मे अवेरम और बम्बई मे तरवार नाम से ज्ञात है, मिलती है। मद्रास मे सिझावशालाओं की सख्या सबसे अधिक है।[1]

१९१७-१८ मे ४ ८६ करोड रुपये के मूल्य की ३,६१,६७४ हण्ड्रेडवेट सिझाई हुई खालो का निर्यात हुआ, जबकि १९१३ मे १ ७५ करोड रुपयों की १,६४,७६३ हण्ड्रेडवेट खालें ही बाहर भेजी गई थीं। ईस्ट इण्डिया किप्स क निर्यात-व्यापार के अतिरिक्त, युद्ध-काल मे भारतीय सिझावशालाओ म चमडे के सभी तरह के सैनिक सामान तथा बूटो के उत्पादन मे वृद्धि की। इस भाँति शस्त्रास्त्र-परिषद् के निर्देशानुसार सरकार ने सिझाव-उद्योग को बहुत प्रोत्साहन दिया। निर्मित बूटो और जूतो का वार्षिक उत्पादन युद्ध-समाप्ति पर युद्ध के पहले के वर्षों से बीस गुना अधिक था।

१९१४ के बाद बहुत तीव्र प्रगति हुई और भारतीय क्रोम चमडे की खालो को ग्रेट ब्रिटन मे लाभदायक बाजार प्राप्त हुआ। भारत मे क्रोम सिझाव उद्योग के विकास के सम्बन्ध मे बहुत-सी कठिनाइयो का अनुभव हुआ है, जैसे रासायनिक ज्ञान और महँगी यान्त्रिक सामग्रियो की अपेक्षा रखने वाली उच्च प्राविधिक विधाएँ। भारतीय गायो की खाल और बकरियो के चर्म को एक पर्याप्त मात्रा इस श्रेणी के कार्य क लिए विशेष रूप से उपयुक्त है और उद्योग के आशाजनक विकास का अनुमान किया जाता है। भारतीय सिझाव उद्योग की एक औद्योगिक जांच १९३९ मे औद्योगिक अनुसधान ब्यूरो (इण्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यूरो) ने की। इसका उद्देश्य सिझाव की प्रविधि के स्तर मे सुधार करना और इस भाँति अच्छी किस्म के तैयार चमडे के निर्यात-व्यापार को विकसित करना था।

२५. सिझाव उद्योग को सरक्षण—१९१९ मे १८९४ के भारतीय प्रशुल्क-अधिनियम का सशोधन हुआ और खाल तथा चर्म पर १५ प्रतिशत का निर्यात-कर लगाया गया। जो खालें और चर्म साम्राज्य के अन्य भागो को भेजी जाती थी और वहीं सिझाई जाती थी, उन पर १० प्रतिशत की छूट दी गई। कर सरक्षणार्थ लगाया गया था, परन्तु भारतीय प्रयोगशालाएँ देश की कुल पूर्ति का अल्पाश ही प्रयोग कर सकती थी। अतएव छूट का समर्थन इस आधार पर किया गया कि वह भारतीय खालो के सिझाव को जर्मनी से हटाकर ब्रिटिश साम्राज्य की ओर ले जाएगा और इस प्रकार साम्राज्य क सिझाव के लिए सहायक सिद्ध होगा। किन्तु यह प्रयोग किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति

१. माथेसन, पूर्व उद्धृत, भाग २, अध्याय ५, पृष्ठ ६४-५।

मे असफल रहा। भारत सरकार ने १९२३ मे कर को ५ प्रतिशत कर दिया और १० प्रतिशत छूट को समाप्त कर दिया। ५ प्रतिशत कर को वित्त-आवश्यकताओ के लिए आवश्यक बतलाकर न्यायोचित ठहराया गया। कर-जाँच समिति (टैक्सेशन इनक्वायरी कमेटी) के बहुमत ने अर्थ-आयोग से सहमत होकर इसकी शीघ्र समाप्ति की राय दी, किन्तु उन चर्मों पर कर के पूर्ववत् रहने का भी मत दिया जिनकी विश्व-बाजार मे अच्छी साख थी और जिन पर कर से कोई हानिकारक प्रभाव पड़ने का भय नही था।

द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्तर्गत बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिए उद्योग का और अधिक विस्तार हुआ। युद्ध के आर्डरो की पूर्ति के लिए यन्त्रो और अधिक श्रम का प्रयोग हुआ। जनवरी, १९४२ मे सरकार ने सगठित सिझावशालाओ के सारे उत्पादन को ले लिया।

खादी और ग्रामीण उद्योग आयोग के इस उद्योग-सम्बन्धी विकास कार्यक्रम का लक्ष्य मरे हुए जानवरो के उपोत्पाद का पूर्ण उपयोग तथा बडे पैमाने पर लोगो को काम देना है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत उद्योग की छोटी-छोटी इकाइयो की प्राविधिक क्षमता के स्तर को ऊपर उठाने का लक्ष्य भी सम्मिलित है। अतएव कार्यक्रम के अन्तर्गत सिझाव-केन्द्र, निर्माण-केन्द्र, प्रशिक्षण-केन्द्र आदि स्थापित करने की व्यवस्था है। आयोग की सहायता करने के लिए इस उद्योग और व्यापार के प्रतिनिधियो से निर्मित एक परामर्श समिति भी है। १९५३-५४ से १९५५-५६ तक विभिन्न विकास-कार्यक्रमो पर ३१ ७८ लाख रु० व्यय किया गया। इस अवधि मे १५५ चर्मापनयन (चमडा उतारना) केन्द्र, ५६ आदर्श सिझावशालाएँ तथा ४० अस्थिचूर्ण (bone-crushing) केन्द्र स्थापित किये गए। १७९ व्यक्तियो को चर्मापनयन की सुधरी विधि का प्रशिक्षण दिया गया। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास-कार्यक्रम के अन्तर्गत विस्तार की अपेक्षा सुधार पर अधिक जोर दिया गया। खादी आयोग ने द्वितीय योजना के अन्तर्गत इस उद्योग के विकास के लिए जो योजना बनाई है उसमे ३,५०० चर्मापनयन केन्द्र और ३५० सिझाव-केन्द्रो की स्थापना तथा ३५,००० मोचियो (जूता बनाने वालो) को सहकारी समितियो के अन्तर्गत लाने की व्यवस्था की गई है। योजनावधि उत्पादन-केन्द्रो पर निर्मित विभिन्न सामानो के विक्रय के लिए ५० विपणन-केन्द्र सगठित करने का लक्ष्य भी है।

सन् १९५४ मे जब उद्योग की स्थिति का पुनर्वीक्षण किया गया था तो यह पाया गया कि सगठित (बडे पैमाने) क्षेत्र की सिझावशालाओ की ५० प्रतिशत क्षमता का उपयोग नही हो रहा था। सरकार न उद्योग की सहायता के लिए उन कच्ची खालो और चमडो का निर्यात बन्द कर दिया जिनकी पूर्ति कम थी तथा स्टर्लिंग क्षेत्र से इनका आयात सुलभ कर दिया। चमडे और चमडे के सामान के आयात पर सख्त प्रतिबन्ध लगा दिये गए। इस उद्योग की समस्या कच्चे माल के सम्बन्ध मे चमडा, खाल और wattle bark से सम्बन्धित है। जहाँ तक चमडे और खाल का सम्बन्ध है, वे पाकिस्तान से मँगाई जाती हैं। wattle bark के लिए मद्रास की सरकार ने

२१,००० एकड़ भूमि में wattle के रोपण के लिए कदम उठाए है। अनुमान किया जाता है कि १९६०-६१ तक सिझाये हुए चमड़े की मांग २३० लाख तथा सिझाव हुई खाल की मांग २६० लाख होगी।

२६ रासायनिक उद्योग—एक आधुनिक राज्य में रासायनिक उद्योगों का ऐसे प्रमाण पर विकास करने के लिए कि वे राज्य के आर्थिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाएँ—जैसा कि इंगलैंड, जर्मनी और अमरीका में है—यह आवश्यक है कि कुछ आवश्यकीय पदार्थ बहुत सस्ती दरों पर उपलब्ध हों। ये आवश्यक पदार्थ क्रमानुसार भारी रसायन, विशेषकर गन्धकीय (सल्फ्यूरिक) और उद्नीरिक (हाइड्रोक्लोरिक) अम्ल, चूना, कास्टिक सोडा, सोडियम कार्बोनेट, क्षारीय (नाइट्रिक) अम्ल इत्यादि हैं। देशी साधनों से उत्पन्न अन्य रसायनों के निर्माण में इनका उपयोग होता है। विभिन्न प्राकृतिक उत्पादनों या ऐसे उत्पादनों से बने पदार्थों के परिशोधन में भी इनका उपयोग होता है। अतएव स्थिर और खनिज तेलों के शोधन में गंधकीय (सल्फ्यूरिक) अम्ल और क्षारों की बड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है। अन्य दो आवश्यक पदार्थ (१) गरम करने, धात्विक क्रियाओं और शक्ति के लिए इंधन तथा (२) रासायनिक स्थिर यन्त्र हैं।[1]

इम्पीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज तथा टाटा एन्ड सन्स के प्रबन्ध के अन्तर्गत सोडा एश, कास्टिक सोडा और बाद में इसी प्रकार के अन्य रसायनों के उत्पादन के लिए दो कम्पनियों की स्थापना एक नवीन आकर्षक विकास है।[2] १९४८-४९ में सरकार द्वारा भारी मात्रा में सोडा ऐश और कास्टिक सोडा के आयात की अनुमति के कारण गृह-उद्योग को गहरा धक्का लगा।

यदि विभिन्न खनिज पदार्थों को केवल उचित रूप से प्रयोग में लाया जाए तो भारत में भारी रसायन के लिए कच्चे माल की कमी नहीं है। शुल्वेय (सल्फाइड) की खान, शोरा (यव क्षार—साल्ट पीटर), फिटकरी, चूने का पत्थर, मैगनसियम इत्यादि के रूप में उसकी सम्पत्ति का पहले ही संकेत किया जा चुका है। गंधकीय अम्ल के निर्माण में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हो चुकी है जो सभी रासायनिक उद्योगों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदार्थ है, यहाँ तक कि इसके उत्पादन को किसी देश की सम्पत्ति आंकने की कसौटी कहा जाता है। १९३९-४५ के युद्ध के पहले उद्योग को बलिमान यूरोपीय सिंडीकेटों के साथ तीव्र प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी थे।[3]

रसायन उद्योग के अन्य आवश्यक पदार्थ ईंधन और यन्त्र हैं। ईंधन-सम्बन्धी परिस्थिति की समीक्षा पहले ही की जा चुकी है और यह दिखाया जा चुका है कि भारत की कोयले की खानें किसी भांति असमान रूप से वितरित है। *विद्युत्-चालित*

---

१. इण्डस्ट्रियल हैण्डबुक, पृ० ५८।

२ रिव्यू ऑव दि ट्रेड ऑव इण्डिया, १९३८-३९, पृ० १०५।

३ देखिए, रिपोर्ट ऑव दि टैरिफ बोर्ड आन दि हैवी केमिकल इण्डस्ट्री (१९२९), पैरा ७२।

धात्विक उद्योग और विद्युत्-चालित रासायनिक उद्योग के विकास के लिए सस्ती विद्युत-शक्ति की पूर्ति के विषय मे प्रयत्न करना आवश्यक है।

२७. रसायन-उद्योग पर युद्ध का प्रभाव—द्वितीय महायुद्ध ने रसायन-उद्योग को एक नवीन प्रोत्साहन दिया और आयात, जो बहुत कम किये जा चुके है, को स्थानापन्न करने के प्रश्न को इसने पुन प्रमुखता प्रदान की। रासायनिक एव औषधीय पदार्थों के निर्माता, जो नवम्बर १९३९ मे कलकत्ता मे हुए एक सम्मेलन मे मिल चुके थे, रासायनिक पदार्थों को नई विधियो से उत्पादित करने की सम्भावनाओ का पता लगा रहे है। भारत सरकार ने हाल ही मे भारी रसायनो के उत्पादन के लिए सरकारी यन्त्र स्थापित करने की स्वीकृति दे दी है। पहले आयात होने वाली बहुत अधिक सख्या मे विभिन्न दवाइया अब देश मे तैयार हो रही हैं। भारतीय कच्चे (क्रूड) तेलो से उड्डयन स्पिरिट (एविएशन स्पिरिट) का निर्माण हो रहा है, जबकि बाइक्रोमाइट का उत्पादन भी भली-भाति हो रहा है। गन्धकीय अम्ल और अमोनियम सल्फेट का उत्पादन १५ प्रतिशत बढ गया है, जबकि सरकार ने श्वेतन-क्षोद (ब्लीचिंग पाउडर) के निर्माण की दिशा मे कदम उठाया है। वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् वनस्पति एव सश्लिष्ट (सिंथेटिक) रजक द्रव्यो के निर्माण की सम्भावनाओ पर विचार कर रही है। अन्य उद्योगो की भाँति इस उद्योग के लिए भी एक विकास-परिषद् सगठित की गई है। यह परिषद् उद्योग के विकास के लिए प्रयत्नशील रहेगी।

विकास-परिषद् की दूसरी बैठक जुलाई, १९६० मे मद्रास मे हुई। इस बैठक मे परिषद् ने निम्न सिफारिशे की—

कच्ची तथा नमक लगी हुई खालो और चमडे के आयात को मुक्त एव सामान्य अनुज्ञापद्धति (Open General licence) के अन्तर्गत रखा जाए। यू० एस० ए०, जापान और स्वीडन—इन देशो के प्रति निर्यात की वृद्धि के लिए सिझाई हुई भारतीय खालो और चमडो पर से आयात-कर हटवाने के लिए भारत सरकार प्रयत्न करे। Wattle Bark and Wattle extract से आयात-कर हटाने के लिए सरकार से पुन अनुरोध किया जाए।

विकास परिषद् ने इस सम्बन्ध मे भी अपनी सहमति प्रकट की कि प्रमुख केन्द्रो पर कच्चे चमडे और खालो के सग्रह के लिए (Cold Storage) शीत सग्रहागारों की व्यवस्था की जाए।

तीसरी योजना-सम्बन्धी कार्यक्रम पर अगली बैठक मे विचार करने का निर्णय किया गया।

२८. भारी रसायन-उद्योग तथा दवाइयाँ—भारी रसायन-उद्योग आधारोद्योग है जिसकी सामग्रियाँ लगभग सभी उद्योगो मे प्रयुक्त होती हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए यह अनिवार्य है तथा उद्योग और कृषि-सम्बन्धी रासायनिक अनुसन्धान का आधार है। सात वर्ष की अवधि के सरक्षण के उपरान्त इस्पात-उद्योग की भाँति इस उद्योग की भी पुन जाँच होने वाली थी। सुपरफासफेट के निर्माण के लिए एक सहायता की स्वीकृति मिलने वाली थी। इसका उपयोग कृत्रिम खाद के रूप मे होता है। भारत मे वृहद्

प्रभाव रासायनिक उद्योग की स्थापना के उद्देश्य से सरकार ने रेलवे किराये में कमी होने की स्वीकृति प्रदान की ।[1] काफी विलम्ब के बाद भारी रसायन-उद्योग (संरक्षण) अधिनियम १९३१ ने प्रशुल्क-मण्डल की कुछ सिफारिशों को कार्यान्वित किया । कर-मुक्त वस्तुओं की सूची से मैगनेशियम क्लोराइड को हटाकर इस पर तथा कुछ अन्य भारी रसायनों पर विभिन्न दर से संरक्षण-कर लगा दिये गए । केवल मैगनेशियम क्लोराइड, जिसका संरक्षण मार्च, १९३९ तक था, तथा आवश्यकता पड़ने पर इस पर कर बढ़ भी सकता था, के अलावा अन्य वस्तुओं पर लगाये गए कर ३१ मार्च, १९३३ तक के लिए थे । अधिनियम द्वारा लगाये गए अन्य कर ३१ मार्च, १९३३ को समाप्त हो गए ।

सन् १९५५ में भारी रसायन उद्योग की विकास-परिषद् (Development Council) की स्थापना की गई । सन् १९५७ में इसे पुनर्गठित किया गया और इसका नाम क्षारीय तथा सम्बन्धित उद्योगों की विकास परिषद् रख दिया गया । परिषद् का एक महत्त्वपूर्ण कार्य क्षमता के मानदण्ड (Norms of Efficiency) प्रस्तावित करना है । इस निमित्त एक उपसमिति की स्थापना की गई । इस समिति ने परिषद् के समक्ष क्षमता-सम्बन्धी विस्तृत सुझाव प्रस्तुत किये । विद्युदिक (electrolytic), कास्टिक, सोडा एवं उद्योग के क्षमता-सम्बन्धी मानदण्डों को इस समिति ने पुनर्वीक्षित किया, विशेषत नमक तथा शक्ति और वाष्प की खपत के दृष्टिकोण से ।

योजनाओं के लक्ष्यों के अनुसार उत्पादन ठीक रूप से होता रहा । १९६५-६६ में लक्ष्य और उत्पादन में कुछ अन्तर रहा ।

भारत सरकार ने दिल्ली तथा अलवाई (Keral) में २ D.D.T. के कारखाने खोले हैं, जिनके उत्पादन को बढ़ाने के लिए १ १० करोड़ रुपया और खर्चा जाएगा । इसके अतिरिक्त पीपरी (पूना) में पेन्सिलीन तथा स्ट्रैपटोमाईसीन इत्यादि बनाने के कारखाने खोले हैं ।

देश में रसायनों के उत्पादन की वृद्धि के परिणामस्वरूप आशा की जाती है कि निम्न रसायनों का आयात १९६० तक बन्द हो जाएगा (१) पोटेशियम क्लोरेट, (२) हाइड्रोजन पैरॉक्साइड, (३) कास्टिक सोडा, (४) कैलसियम कार्बाइड और प्रेसिपिटेटिड कैलशियम कार्बोनेट ।

२९. तेल पेरने का उद्योग—*वाष्प या अन्य यान्त्रिक शक्ति से काम करने वाली मिलों की संख्या में, खासकर सरसों, अरण्डी और मूँगफली के तेल के विषय में, गत वर्षों में* काफी वृद्धि हुई है । तेल और खली के स्वत निर्माण के स्थान पर तिलहन का निर्यात अनुचित और अनार्थिक है, क्योंकि इससे वह निर्माताओं के लाभ, पशुओं के भोजन तथा अच्छी खाद से वञ्चित रह जाता है । इसके अतिरिक्त वनस्पति तेलों के और भी अनेक महत्त्वपूर्ण उपयोग हैं और सभ्य समाज के आर्थिक जीवन में उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण

१. रिपोर्ट ऑव दि टैरिफ बोर्ड ऑन हैवी कैमिकल इण्डस्ट्री (१९२९), पैरा ७४ ।

स्थान है। वनस्पति तेल और चरबी साबुन और ग्लिसरीन बनाने, भोजन पकाने तथा मशीनो मे तेल लगाने (लुब्रीकेटिंग) के लिए आवश्यक है। १९१४-१८ के युद्ध के बाद मे भारतीय मिल-उद्योग को बड़े पैमाने पर विकसित करने की सम्भावना पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध ने इसे नवीन प्रोत्साहन दिया और निर्यात मे कमी आ जाने के कारण विकास की आवश्यकता अब और अधिक बढ़ गई है। १९६०-६१ तक औद्योगिक तथा विविध उद्देश्यो के लिए वनस्पति तेलो की कुल माँग २,७८,००० टन होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है।

३०. कागज-निर्माण—१८८५ मे दकन पेपर मिल कम्पनी बनाई गई और उसने १८८७ से पूना मे काम चालू किया। उत्तरी भागो मे वर्तमान काल की सबसे महत्त्व-पूर्ण कागज मिल रानीगज म है। यह १८८९ मे बनाई गई तथा बगाल पेपर मिल कम्पनी द्वारा १८९१ मे चालू की गई थी। पजाब पेपर मिल्स कम्पनी को सहारनपुर क निकट अपनी मिल के लिए भाबर घास के सम्बन्ध मे बहुत छूट (रिआयत) प्राप्त है। आसाम मे एक नई कम्पनी की स्थापना को गई है और चिटगाँव मे बाँस से लुगदी बनाने के लिए एक नई फैक्ट्री खोली गई। १९३८-३९ मे भारत मे कुल ११ कागज की मिलें थी बम्बई मे चार, बगाल मे चार, उत्तर प्रदेश मे एक, मद्रास मे एक और त्रावनकोर मे एक। कागज के निर्माण के लिए तब से नई-नई कितनी ही सस्थाएँ प्रारम्भ हुई। इनमे मैसूर पेपर मिल्स, जिसने भद्रावती मे १९३९ से कार्य प्रारम्भ किया तथा निज़ाम के राज्य मे सिरपुर पेपर मिल्स (१९४२) विशेष रूप से उल्लेख-नीय है। गत युद्ध से कागज-उद्योग को बहुत लाभ हुआ है जैसा कि उसकी उत्पादन की वृद्धि स प्रकट है—१९३८ म कागज़ का उत्पादन ४८,५३१ टन था जबकि १९४४ म बढ़कर १,०३ ८८४ टन हो गया।[1] कागज के मूल्य मे भी ३०० प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई।

अभी हाल के वर्षों तक कागज बनाने वालो का मुख्य कच्चा माल सबाई घास थी, जो उत्तर भारत मे बहुतायत से उत्पन्न होती है। कागज बनाने मे भारतीय लकड़ी का उपयोग अभी नही हुआ है और लुगदी का आयात यूरोप से होता है। सस्ते कोटि के कागज़ के लिए जूट की रद्दी और रद्दी कागज प्रयोग मे आते हैं। बाँस की लुगदी स कागज बनाने वाली पहली कम्पनी इण्डियन पेपर पल्प कम्पनी थी। सबाई घास अन्य वनस्पतियो के साथ यत्र-तत्र गुच्छो मे उगती है और इस पर प्रतिकूल मौसम का कुप्रभाव भी पड़ता है। बाँस की प्रति एकड़ उपज घासो से अधिक है और उत्पाद की लागत कम है। वन-अनुसधान केन्द्र (फारेस्ट रिसर्च इस्टीट्यूट) द्वारा किये गए अनु-सधानो क फलस्वरूप बाँस के कागज़ की लुगदी के उद्योग से बहुत आशाएँ हो गई हैं। उद्योग अभी तक कुछ असुविधाओ, जैसे रसायनो की ऊँची लागत, कोयला ढोने की ऊँची दर, और स्कैंडिनेविया, जर्मनी, इगलैंड, आस्ट्रिया, जापान और सयुक्त राज्य अमेरिका से कठोर प्रतिस्पर्धा आदि से ग्रस्त रहा है। १९३९ मे युद्ध आरम्भ होने के

१. इस्टर्न इकानमिस्ट, १९ जुलाई, १९४६, पृ० १११।

वाद—अस्थायी रूप ही मे सही—यह प्रतिस्पर्धा अधिकांशत समाप्त हो गई।

३१ कागज उद्योग को सरक्षण—१९२५ मे बाँसी कागज-उद्योग (बैम्बू पपर इण्डस्ट्री) (सरक्षण) अधिनियम पास किया गया जिसमे उद्योग को सुदृढ आधार प्रदान करने के हेतु ३१ मार्च, १९३२ तक सात वर्ष के लिए एक आना प्रति पौण्ड का सरक्षण कर लगाने की व्यवस्था थी। प्रशुल्क-मण्डल के सुझाव के अनुरूप बाँसी कागज उद्योग (सरक्षण) अधिनियम (१९३२) ने ३१ मार्च, १९३९ तक के लिए सरक्षण-कर का पुन नवीकरण कर दिया। बाँस की लुगदी के उत्पादन और उपयोग को निश्चित रूप से प्रोत्साहन देने के लिए इसी अधिनियम न आयात की हुई लुगदी पर ४५ रु० प्रति टन के हिसाब से एक नया सरक्षण-कर लगा दिया। ३१ मार्च, १९३९ के बाद भी कागज-उद्योग को सरक्षण देन का प्रश्न १९३७-३८ मे प्रशुल्क-मण्डल की जाँच का विषय था। भारत सरकार न मण्डल द्वारा प्रस्तावित दर से नीची दर पर उद्योग के लिए सरक्षण जारी रखने का निश्चय किया[1] और अपन निर्णय को भारतीय प्रशुल्क (द्वितीय सशोधन) अधिनियम, १९३९ पास करके कार्यान्वित किया। सरक्षण तीन वर्ष के लिए दिया गया, किन्तु बाद मे इसकी अवधि मार्च, १९४७ के लिए बढा दी गई तथा इसी वर्ष सरक्षण-कर समाप्त कर दिया गया।[2] कागज की लुगदी पर ३० रु० प्रति टन या मूल्यानुसार २५ प्रतिशत का कर (जो भी अधिक हो) लगाया गया। कागज पर सरक्षण-कर ११ पाई प्रति पौण्ड के स्थान पर ९ पाई प्रति पौण्ड निश्चित किया गया।

१९३९ से आयात के कम हो जाने तथा जहाजरानी की कठिन परिस्थितियो के कारण बडी कठिनाई अनुभव की जान लगी। देश मे उत्पन्न विभिन्न प्रकार के कागज १९४४ के पेपर कण्ट्रोल आर्डर क अन्तर्गत (मितव्यय) कर दिए गए और उत्पादन का बडा प्रतिशत सरकारी उपभोग के लिए निश्चित कर दिया जाने लगा। इससे नागरिक उपभोग के लिए कागज की कमी, विशेषकर विश्वविद्यालयो तथा अन्य शिक्षण-सस्थाओ के लिए, गम्भीर कठिनाई बन गई। देश मे कागज क उपभोग के सम्बन्ध मे पेपर पैनल (१९४७) का अनुमान (१९५१ क लिए) २,२०,००० टन था। १९५६ मे उपभोग की मात्रा ३,२०,००० टन अनुमानित की गई है। इस अनुमान मे न्यूज़प्रिण्ट शामिल नही है। योजना-आयोग के अनुसार १९५५-५६ तक उपभोग की मात्रा २,००,००० टन हो जाएगी। न्यूज़प्रिण्ट क सम्बन्ध में उपभोग का अनुमान १९५५-५६ के लिए १,००,००० टन था।

सन् १९५६ में लुगदी और कागज-उद्योग की योजना बनाने तथा विभिन्न प्राविधिक पहलुओ पर सरकार को परामर्श देने के लिए एक पैनल (Panel) सगठित किया गया। इस निकाय ने चार उप-समितियाँ बनाईं, जो क्रमश (१) कागज मिल

---

१. कागज और कागज की लुगदी के उद्योगों पर प्रशुल्क-मण्डल की रिपोर्ट (१९३८), पैरा ७१ देखिए।

२. मार्च, १९४७ में आयात किये हुए कागज पर मूल्यानुसार ३० प्रतिशत कर लगना है।

की मशीनरी के निर्माण की योजना बनाने, (२) प्राविधिक सामग्री और आँकड़ो के एकत्र एव आदान-प्रदान करने, (३) कागज की मांग का अनुमान लगाने तथा (४) देश मे कच्चे माल के स्रोतो का अनुमान लगाने के लिए है। कच्चे माल की उप-समिति ने देश मे बाँस की उपलब्धि का सर्वेक्षण किया है तथा नयी मिलो की स्थापना के उपयुक्त अधिकता वाले क्षेत्रो की ओर सकेत किया है। मशीनरी उप-समिति के कार्यो के परिणामस्वरूप ५-१० टन प्रतिदिन कागज मिलो की मशीनरी की तीन योजनाएँ तथा ५०-६० टन प्रतिदिन लुगदी और कागज मिल की मशीनरी की दो योजनाएँ स्वीकृत कर ली गई हैं।

१९५८ के २,५३,००० टन की तुलना मे १९५९-६० मे कागज और पट्ठे का उत्पादन बढकर ३,००,००० टन हो जाएगा, ऐसा अनुमान है। यह वृद्धि उद्योग की उत्पादन-क्षमता की वृद्धि का परिणाम है।

कागज बनाने के उद्योग ने १९५० के पश्चात् तेजी से प्रगति की है। कागज तथा पट्ठे का उत्पादन १०९ लाख टन (१९५०) से बढकर ४८० लाख टन (१९६४) हो गया। अब तक देश के उत्पादन की क्षमता ६८ लाख टन है जबकि तीसरी योजना का लक्ष्य था ७ लाख टन। इस प्रकार अखबारी कागज (न्यूजप्रिंट) का उत्पादन नीपा (मध्य प्रदेश) के कारखाने मे आरम्भ किया गया (जनवरी १९५५)। अब इसकी उत्पादन शक्ति ३० हजार टन से ७५ हजार टन तक बढाने का सुझाव है। इसके अतिरिक्त दो और निजी क्षेत्र म कारखाने खोले जा रहे है। तीसरी योजना मे न्यूजप्रिन्ट का लक्ष्य १५० लाख टन रखा गया था, जो कि करीब-करीब पूर्ण हुआ। चौथी पच-वर्षीय योजना मे कागज तथा पट्ठे का लक्ष्य १३५० लाख टन है और न्यूजप्रिन्ट का १६५ लाख टन है।

३२ शीशा-निर्माण—प्राचीन उद्योग के कोई चिह्न अवशिष्ट नही हैं और अब निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सोलहवी शताब्दी मे यह एक भलीभाँति स्थापित उद्योग के रूप मे विद्यमान था। किन्तु उस समय भी यह उद्योग चूडियो तथा कुछ सीमा तक छोटी बोतलो और फ्लास्को के निर्माण मे प्रयुक्त निम्न कोटि की सामग्री के उत्पादन से अधिक विकसित नही हो सका था। आज की भाँति उस समय भी देश मे चूडियो की बडी माँग थी। १८९२-९३ से बीच आधुनिक प्रकार की शीशे की पाँच फैक्ट्रियाँ खोली गई।

ऐसा प्रतीत होता है कि शीशा-उद्योग के प्रति भारतीय विशेष रूप से आकृष्ट है, क्योकि पिछली असफलताओ के बावजूद भी १९०६-१३ के स्वदेशी काल मे भारतीय साहसोद्यमियो द्वारा छोटे पैमाने पर सोलह फैक्ट्रियाँ खोली गई। किन्तु सन १९१४ मे उनमे से केवल तीन ही चालू थी और कोई भी व्यापारिक लाभ नही उठा रही थी। यद्यपि पूना जिले मे पयसा कोष की सहायता से तलगाव फैक्ट्री विचित्र और अव्यापारिक ढग से अपना काम चला रही थी।

उद्योग की वर्तमान अवस्था मे उसे दो स्पष्ट भागो मे विभाजित किया जा सकता है (१) देशी कुटीर-उद्योग (चूडी बनाने का) और (२) आधुनिक फैक्ट्री

उद्योग। यो तो देशी उद्योग सम्पूर्ण भारत में बिखरा हुआ है, किन्तु यह उत्तर प्रदेश के फिरोजाबाद और दक्षिण के बेलगाँव में विशेष रूप से केन्द्रित है। फिरोजाबाद में चूड़ी बनाने वालों की एक बड़ी बस्ती है और चूड़ी की लगभग ६० फैक्ट्रियाँ हैं। किन्तु जापान से आयात की हुई 'रेशमी' चूड़ियाँ देश में तैयार वस्तुओं की गम्भीर प्रतिद्वन्द्वी रही हैं।

युद्धकाल (१९१४-१८) में अस्त्र-शस्त्र-मण्डल द्वारा स्वीकृत विशिष्ट प्रकार के शीशों की माँग के कारण मिले प्रोत्साहन के फलस्वरूप बहुत-सी फैक्ट्रियाँ शीशे की नलियों, फ्लास्कों, बीकरों, पेट्री तश्तरियों और टैस्ट-ट्यूबों के उत्पादन में सफल रहीं और इण्डियन मेडिकल सर्विस द्वारा नियन्त्रित वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की माँग की पूर्ति के लिए भी कुछ फैक्ट्रियाँ आरम्भ की गईं।

१९३९-४५ के युद्ध के दौरान उद्योग ने परिमाण तथा उत्पादन की विविधता दोनों ही दिशाओं में पर्याप्त उन्नति की।

३३ शीशे का आयात और उत्पादन—१९१४-१८ के युद्ध-काल में चूड़ियों और लैम्प के सामानों का आयात कम हो गया और उनका स्थान आंशिक रूप से भारतीय सामान ने ले लिया। १९२९-३० में आयात का मूल्य २५२ लाख रुपये था और ये मुख्यतया जापान, इंगलिस्तान, जर्मनी, बेल्जियम और चैकोस्लोवाकिया से आते थे। इससे प्रकट है कि भारतीय उद्योग उस समय भी अपनी शैशवावस्था में ही था। आयात का मूल्य १९२९-३० के २५२ लाख रुपये से घटकर १९३१-३२ में १२२ लाख रुपये रह गया। १९३७-३८ में वह बढ़कर १५२ लाख रुपये हो गया, किन्तु १९३८-३९ में घटकर पुनः १७५ लाख रुपये रह गया। आयात-व्यापार में जापान का स्थान अब भी सर्वप्रथम था।

उद्योग की स्थापित सामर्थ्य ३,९२,२८४ टन प्रतिवर्ष है। यह १९५८ की तुलना में ११.५ प्रतिशत अधिक है। १९५९-६० और १९६०-६१ में क्रमश: १८,४४५ टन प्रतिवर्ष तथा १५,४८० टन प्रतिवर्ष की क्षमता और बढ़ जाएगी। उद्योग के उत्पादन में अब विविधता आ रही है। नई वस्तुओं में रंगी हुई शीशे की चादरें, मोटरों और हवाईजहाजों के लिए शीशा (safety glass), शीशे की पिचकारियाँ आदि हैं।

इस समय शीशे के कारखानों (रजिस्टर्ड) की संख्या १३१ है। इन कारखानों की वार्षिक क्षमता २,८९,००० टन प्रतिवर्ष है। इस क्षमता में ३५,००० टन चूड़ी-उद्योग का उत्पादन सम्मिलित नहीं है। इन १३१ कारखानों में १२ करोड़ रु० की पूँजी लगी हुई है तथा ३०,००० श्रमिक काम करते हैं और १६-१८ करोड़ रु० के मूल्य का वार्षिक उत्पादन होता है। १९५८ में १३१ कारखानों में से ८४ कारखाने चालू थे, २५ अस्थायी रूप से तथा २२ स्थायी रूप से बन्द थे। इनके प्रधान केन्द्र, बम्बई, जबलपुर, इलाहाबाद, नैनी, बहजोई, अम्बाला, कलकत्ता थे। उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद और नैनी को कच्चे पदार्थ और ईंधन की पूर्ति की सन्निकटता के कारण बम्बई-जैसे अन्य केन्द्रों की तुलना में कहीं अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं।

इस उद्योग के सम्बन्ध मे श्रम-सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुत गम्भीर है। तेलगाँव मे पयसा फण्ड ग्लास वर्क्स ने शीशा धोकने वालो को प्रशिक्षित करने की दिशा मे उपयोगी काम किया है और युद्ध की परिस्थितियो मे उद्योग का प्रसार केवल उन व्यक्तियो की उपलब्धि के कारण हो सका जो तेलगाँव के थे, यद्यपि वहाँ के प्रशिक्षण मे बहुत-सी वाञ्छनीय बातो का अभाव है। रेल-सम्बन्धी सुविधाएँ भी आवश्यक हैं।

३४. शीशा-उद्योग को संरक्षण—भारत सरकार का निर्णय, जो अत्यधिक विलम्ब से जून, १६३५ मे घोषित हुआ, प्रशुल्क-मण्डल की खोज के विरुद्ध था। उन्होने सरक्षण के तर्क को इस आधार पर अस्वीकार किया कि देश मे कच्चे माल (सोडा ऐश) की पूर्ति का अभाव एक ऐसी कठिनाई है जो उद्योग के अन्य लाभो से पूरी नही की जा सकती। उन्होने अपने अन्तिम निर्णय को उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया जब तक कि सोडा ऐश के नवीन साधनो की पूरी खोज न हो जाए। इस बीच उन्होने तीन वर्ष की अवधि के लिए आयात किये हुए सोडा ऐश पर कर मे छूट देकर कुछ सहायता देने का निर्णय किया। भारत सरकार के इस निर्णय ने शीशा उत्पादको मे बहुत निराशा उत्पन्न की और यह निर्णय सामान्य रूप से आलोचना का विषय रहा। प्रशुल्क-मण्डल का मत यह था कि भारत मे सोडा ऐश के पर्याप्त साधन न होते हुए भी इस आधार पर शीशा-उद्योग का सरक्षण पाने का अधिकार समाप्त नही हो जाता।[1] प्रशुल्क-मण्डल के अनुसार शीशे की चादर के उत्पादन मे पर्याप्त सुधार की गुजाइश है।

सन् १६५० मे शीशे की चादर (sheet glass) को सरक्षण प्रदान किया गया जो बाद मे दिसम्बर, १६६० के लिए बढा दिया गया। सन् १६५० मे सरक्षण-कर मूल्यानुसार ४५ प्रतिशत निश्चित किया गया, किन्तु जनवरी, १६५५ मे इसे बढाकर ७० प्रतिशत कर दिया गया। वह दर दिसम्बर, १६६० तक लागू रहेगी।

३५ सीमेण्ट-उद्योग—भारत मे १६१४ के पूर्व भी सीमेण्ट की बहुत अधिक खपत थी और प्रतिवर्ष लगभग १,८०,००० टन का आयात होता था। १६१८ के बाद सीमेण्ट की माँग तीव्रता [redacted] बढ गई और यह माँग प्रतिवर्ष १०,००,००० टन से भी अधिक हो गई। पुलो तथा भारी भवन-निर्माण के सभी भाँति के कार्यो मे लौह-ककडी का प्रयोग शीघ्रता से बढ रहा है। यह भी कहा जाता है कि अब इस्पात-युग के बजाय सीमेण्ट और लौह-ककडी का जमाना आ रहा है।

उद्योग मुख्यत सरकार के सरक्षण से ही विकसित हुआ जो १६१४-१८ के युद्ध मे उत्पादन का बहुत बडा भाग खरीदती थी। दोनो युद्धो के बीच के अभिवृद्धि-काल मे अनेक कम्पनियो का प्रवर्तन हुआ। तीन पुरानी कम्पनियो का उत्पादन दूना हो गया और सात नई कम्पनियाँ खोली गईं, जिनमे से छ कम्पनियो ने १६२३ तक कार्य करना आरम्भ कर दिया। १६३०-३१ मे आयात और कम हुआ तथा १,१२,००० टन रह गया, जिसमे से इगलिस्तान ने ६३,२०० टन की पूर्ति की।

१. प्रशुल्क-मण्डल (शीशा-उद्योग) की रिपोर्ट, पैरा ३१।

अन्य प्रधान साधन जापान, जर्मनी, इटली और बेलजियम थे। १९३८-३९ मे सीमेण्ट के आयात मे और कमी हुई और १० लाख रु० के मूल्य के २१,००० टन सीमेण्ट का आयात हुआ। १९४०-४१ मे ६ लाख रुपये का ४२०० टन आयात हुआ। इस सम्बन्ध मे देश अब लगभग आत्मनिर्भर हो गया। १९३२-३३ मे भारत मे ५,९३,००० टन सीमेण्ट का उत्पादन हुआ जो १९३७-३८ मे लगभग दूना हो गया। भारतीय सीमेण्ट ब्रिटिश सीमेण्ट से खराब नही और यूरोप के सस्ते सीमेण्ट से भली भाँति स्पर्धा करता है। भारत के एसोशिएटेड सीमेण्ट कम्पनीज ऑव इण्डिया लिमिटेड नामक एक प्रभावशाली सयोजन का निर्माण प्रगति की दिशा मे एक बडा कदम था। दस प्रधान कम्पनियो के इस आश्चर्यजनक सयोग ने उद्योग के प्रौद्योगिक और वाणिज्यिक सगठन मे सुधार ला दिया है।[1] जहाँ एक ओर १९३९-४५ के युद्ध ने उत्पादन-लागत बढा दी वहा दूसरी ओर निर्यात के लिए पर्याप्त माँग के द्वार भी खोल दिए। सीमेण्ट-उद्योग पर उत्पादको के दो समूहो का प्रभुत्व है—एसोशिएटेड कम्पनी और डालमिया, जिनके उत्पादन का योग कुल उत्पादन का ८५ प्रतिशत है। गत वर्षों मे सीमेण्ट की माँग बहुत बढ गई है और उद्योग की उत्पादन-क्षमता बढाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

इस समय देश मे सीमेण्ट की ३२ फैक्ट्रियाँ हैं। १९५८ के अन्त मे उद्योग की उत्पादन-क्षमता ७०.५ लाख टन थी तथा १९५९ के अन्त मे ८३.५ लाख टन थी। १९५८ और १९५९ म सीमेण्ट का उत्पादन क्रमश ६०.६ लाख टन और ६८.२ लाख टन था।

सन् १९५८ मे ४०,६०२ टन सीमेण्ट का निर्यात किया गया तथा १९५९ मे १,७६,९०२ टन सीमेण्ट का निर्यात किया गया।

प्रशुल्क-मण्डल ने देखा कि उद्योग को कच्चे माल की सुविधाएँ प्राप्त थी, किन्तु कोयले की खानो से दूर होने के कारण ईंधन के सम्बन्ध मे बडी कठिनाई थी। बाजार के विषय मे मण्डल का कहना है कि काठियावाड की फैक्ट्रियो को छोडकर भारतीय सीमेण्ट फैक्ट्रियो के लिए देश के अन्दर के बाजार स्वभावत सरक्षित बाजार हैं, क्योकि वे किसी भी बन्दरगाह से ३०० मील से अधिक दूरी पर स्थित हैं। अन्यत्र भारतीय सीमेण्ट को विदेशी सीमेण्ट से प्रतिस्पर्धा करनी पडती है। किन्तु, भारत की सीमेण्ट का प्रधान बाजार सुदूरवर्ती आन्तरिक भाग मे न होकर बम्बई और कलकत्ता के बन्दरगाहो क समीप है, अतएव भारतीय फैक्ट्रियो को बन्दरगाहो से दूर होन के कारण यहाँ असुविधा है।[2]

१९२४ मे मण्डल न इस आधार पर सरक्षण देने से इन्कार कर दिया कि उद्योग अति-उत्पादन मे ग्रस्त था और मूल्य आयात के बजाय भारतीय उत्पादको की

---

१. तब से एक इकाई (कटनी सीमेण्ट कम्पनी) बन्द हो गई है, परन्तु दो नई कम्पनियों ने काम करना आरम्भ कर दिया है।

२. प्रशुल्क-मण्डल की (सीमेण्ट-उद्योग) १९२५ की रिपोर्ट देखिए, पैरा ८-१२।

आन्तरिक प्रतिस्पर्धा से निश्चित होता था। किन्तु उनका विचार था कि शीघ्र ही स्थिरता आ जाएगी। सीमेण्ट की फैक्ट्रियो के कोयले के क्षेत्रो और बन्दरगाहो से अधिक दूर होने के कारण उत्पन्न हुई कठिनाई को दूर करने के लिए मण्डल ने एक विधान बनाने की सिफारिश की, जिससे सरकार बन्दरगाहो के निश्चित अर्द्धव्यास की परिधि के अन्दर भारतीय फैक्ट्रियो द्वारा भेजे जाने वाले सीमेण्ट को सहायता प्रदान कर सके।

डालमिया, भारत और रोहतास के लिए ५४·५० रु० प्रति टन, एस० सी० सी० के लिए ५८·०० प्रति टन तथा यू० पी० की चुर्क सीमेण्ट फैक्ट्री के लिए ५७ ०० रु० प्रति टन तथा इसी प्रकार अन्य फैक्ट्रियो के लिए विभिन्न मूल्य निर्धारित किये। सरकार ने इन सिफारिशो को पहली जुलाई, १९५८ से लागू करने का निश्चय किया क्योंकि ३० जून, १९५८ तक सीमेण्ट कण्ट्रोल आर्डर के अन्तर्गत निश्चित मूल्य लागू थे। यह भी निश्चय किया गया कि ये मूल्य जून, १९६१ तक लागू रहेगे। यद्यपि प्रत्येक उत्पादक को मिलने वाले मूल्यो मे कुछ-न-कुछ वृद्धि हुई है किन्तु उपभोक्ताओ के रेल-केन्द्रो पर सीमेण्ट ११७·५० रु० प्रति टन के भाव से ही मिलता रहेगा। पिछले दो वर्षो से सीमेण्ट के सम्पूर्ण उत्पादन के विक्रय को राज्यीय व्यापार निगम ही सम्हाल रहा है तथा उपभोक्ताओ को उपर्युक्त एक ही मूल्य पर सीमेण्ट देना, निगम द्वारा अपने पारिश्रमिक को ½ प्रतिशत से घटाकर ¼ प्रतिशत कर देने के कारण ही सम्भव हुआ है।

सीमेण्ट का उत्पादन १९५०-५१ मे २७ लाख टन से बढकर ६४ लाख टन (१९६३-६४) मे हो गया। १९६५-६६ मे १ करोड १० लाख टन उत्पादन हुआ जबकि तीसरी पचवर्षीय योजना का लक्ष्य १ ३२ करोड टन था। १९७०-७१ तक उत्पादन ३ करोड टन तक बढा देने का लक्ष्य है। भारत सरकार ने सीमेण्ट कारपोरेशन ऑफ इण्डिया के नाम की एक कम्पनी बनाई है जो सीमेण्ट के अनुसन्धान सर्वेक्षण तथा उत्पादन को बढाने की चेष्टा करेगी।

३६ दियासलाई-उद्योग[1]—१८९५ मे स्थापित अहमदाबाद की गुजरात इस्लाम मैच फैक्ट्री को छोडकर, १९२१ तक दियासलाइयो का निर्माण व्यावसायिक स्तर पर सफलतापूर्वक नही होता था। वित्त के उद्देश्य से १९२२ मे एक रुपया आठ आना प्रति ग्रॉस (ग्रॉस=बारह दर्जन) या मूल्यानुसार, १०० प्रतिशत से भी अधिक आयात-कर लगा देने से गत वर्षो मे उद्योग का पर्याप्त विस्तार हुआ है। प्रतिवर्ष सात करोड ग्रॉस खपत के होने के कारण उद्योग को एक विशाल घरेलू बाजार प्राप्त है। श्रम सस्ता है और सरल यन्त्रो के सचालन मे भली भाँति पटु है। आयात-कर लग जाने के कारण स्वीडन के विशाल सयोजन (कम्बाइन) द्वारा, जो ससार की ७० प्रतिशत माँग का नियन्त्रण करता है, भारत मे दियासलाई की फैक्ट्रियो को

---

१. कोयला और नमक-उद्योग का विवरण प्रथम खण्ड के दूसरे अध्याय में दिया गया है और चीनी तथा चाय-उद्योग उसी भाग के छठे अध्याय में दिये गए हैं।

स्थापना उद्योग का महत्त्वपूर्ण विकास है। इस विदेशी व्यापारिक संस्था का भारतीय उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने के कारण दियासलाई के भारतीय निर्माताओं ने इसका पर्याप्त विरोध किया। १९२८ मे प्रशुल्क-मण्डल ने सरक्षण के सम्बन्ध मे रिपोर्ट देते हुए कहा कि दियासलाई के मूल्य का नियमन आन्तरिक स्पर्धा द्वारा होता है तथा उपभोक्ता को वे यथासम्भव सस्ती मिल जाती हैं और इसलिए उद्योग बिना सहायता के ही अन्य देशों की प्रतिस्पर्धा का सामना करने मे समर्थ है। किन्तु उन्होंने सिफारिश की कि एक रुपया आठ आना प्रति ग्रॉस का चालू आयात-कर अनिश्चित काल के लिए एक सरक्षण-कर मे बदल दिया जाए, ताकि उद्योग को आश्वासन प्राप्त हो सके कि अब तक प्राप्त सुरक्षा से वह एकाएक ही वञ्चित नहीं कर दिया जाएगा। इनका मत था कि स्वीडिश मैच कम्पनी भारत मे उद्योग के प्रसार के सम्बन्ध में उपयोगी काम करती रही है। परन्तु उन्होंने कम्पनी को रुपये की पूँजी और भारतीय सचालकों की नियुक्ति द्वारा भारत की राष्ट्रीय एव राजनीतिक चेतना के अनुरूप पुनर्निर्माण करने की राय दी। उन्होंने कम्पनी की देख रेख करने की आवश्यकता भी स्वीकार की ताकि वह अपने बृहद् साधनों द्वारा एकाधिकार न स्थापित कर ले।[1]

प्रशुल्क-मण्डल के सुझाव के अनुरूप विधान सभा ने दियासलाई उद्योग (सरक्षण) अधिनियम (बिल) सितम्बर, १९२८ मे पास किया, जिसके अनुसार एक ग्रास डिबियों पर (जिनमें एक दियासलाई मे १०० सलाइयाँ होनी थी) १ रु० ८ आ० का कर निर्धारित किया गया।[2]

इस समय भारत मे दियासलाई के उत्पादन की इकाइयाँ २४२ के लगभग है। इनमे से वेस्टर्न इण्डिया मैच कम्पनी द्वारा प्रबन्धित पाँच इकाइयाँ यन्त्रीकृत हैं, २५ इकाइयाँ अंशतः यन्त्रीकृत हैं। इस समय (१९५९-६०) उद्योग (विकास और नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत (regd) दियासलाई की ९१ फैक्ट्रियाँ हैं तथा इस वर्ष इनका उत्पादन ५० ग्रॉस डिब्बियों के ६३७ हजार बक्से होंगे। गत वर्ष ऐसे ६२६ हजार बक्सों का उत्पादन हुआ। शेष कुटीर-उद्योग की इकाइयाँ हैं। रामनद जिले में सतुर, सिवकासी तथा तिनेवेली जिले मे कोविलपट्टी कुटीर-उत्पादन के प्रधान केन्द्र हैं। देश की आवश्यकताओं को पूरा करने के अतिरिक्त उद्योग थोड़ा-सा निर्यात करने में भी समर्थ हो गया है।

दियासलाई-उद्योग एक कुटीर-उद्योग की तरह सगठित किया जा सकता है और इससे गाँववालों, विशेषकर महिलाओं को बड़ी सरलता से रोजी मिल सकती है।

---

1 मण्डल का मत था कि फैक्ट्रियों के बृहद् उत्पादन को दृष्टि में रखते हुए कुटीरोद्योग आधार पर दियासलाई का उत्पादन बिलकुल असम्भव है। प्रशुल्क-मण्डल (दियासलाई-उद्योग) की रिपोर्ट (१९२८), पैरा १३१-२ देखिए।

२. १९३४ में दियासलाइयों पर उत्पादन-कर लगाने तथा आयात-कर के परिवर्तन का विवरण १२वें अध्याय में देखिए।

दियासलाई-उद्योग आकार और उत्पादन के अनुसार ए०, बी० और सी० वर्गों मे विभाजित है। कुटीर-उद्योग के रूप मे खादी और ग्राम उद्योग आयोग एक नये वर्ग—'डी' वर्ग की फैक्ट्रियो के विकास की ओर अग्रसर है। इस प्रकार की फैक्ट्रियो के उत्पादन की अधिकतम मात्रा २५ ग्रॉस डिब्बियाँ प्रतिदिन हैं तथा इनमे ४० व्यक्ति काम पर लगाये जा सकते हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत दियासलाई के कुटीर-उद्योग के विकास के लिए १००० 'डी' वर्ग की फैक्ट्रियाँ स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया है। इनकी उत्पादन-क्षमता २६२·५ लाख ग्रास डिब्बियाँ है तथा लागत का अनुमान १.१ करोड़ रु० है।

कुटीर-उद्योग

३७. लघु प्रमाप उत्पादन के बने रहने के कारण—मुख्य आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययताओ के त्याग के बिना ही वाष्प के स्थान पर विद्युत् के बढते हुए प्रयोग ने उत्पादन की इकाइयो को छोटा करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। पुन. प्रत्येक उन्नतिशील समाज मे बहुत-सी कलापूर्ण तथा विलास की सामग्रियाँ होती है जिनका प्रमाणीकृत उत्पादन नही हो सकता। इसके अतिरिक्त सभ्यता के भौतिक उपस्करो के अनेक सुधार छोटे-छोटे कारखानो को जन्म देते हैं और इस प्रकार लघु प्रमाप उद्योग चलते रहते है। अन्तिम नये उद्योग जब तक वे प्रयोग-रूप मे होते हैं, पहले छोटे पैमानो पर ही आजमाए जाते है और सफल होने पर ही बडे पैमाने पर सगठित किये जाते है।[1] इस भाँति पश्चिम के अत्युन्नत देशो मे भी बृहद् प्रमाप उद्योगो के साथ-ही-साथ बहुत से लघु प्रमाप उद्योग भी फूलते-फलते है। जापान की आर्थिक व्यवस्था मे लघु-प्रमाप और कुटीर-उद्योगो का महत्त्वपूर्ण योग सर्वविदित है।

३८. भारत मे कुटीर-उद्योग और औद्योगीकरण—भारत मे विशेषकर वर्तमान परिस्थितियो मे, निकट भविष्य के औद्योगिक विस्तार की विशेषता से देश-भर मे लघु प्रमाप उद्योगो की वृद्धि होगी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत की औद्योगीकरण-सम्बन्धी प्रगति प्राचीन प्रणाली के सभी उद्योगो को यथास्थित रहने देगी और उनकी शक्ति मे कमी न आएगी। नवीन उद्योगो के पालनो के पास सदव ही कुछ प्राचीन प्राणहीन उद्योग पडे रहेगे और यह अवश्य होगा कि वेगमान औद्योगीकरण आज भी विद्यमान कुछ दस्तकारियो के लिए हानिकर होगा। आर्थिक सक्रान्ति ने किस भाँति देश के विभिन्न उद्योगो को प्रभावित किया है, इसका सक्षिप्त विवरण पहले ही दिया जा चुका है।[2] *भारत की वर्तमान परिस्थितियो मे केवल इसी उपाय* से अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोजगार और सम्पत्ति के न्यायोचित वितरण के आदर्श की उपलब्धि हो सकती है। बृहद् प्रमाप उत्पादन के बिना अधिकतम उत्पादन सम्भव

१. श्री राधाकमल मुकर्जी, 'दि फाउण्डेशन्स ऑव इण्डियन इकनॉमिक्स', पृ० ३६० ।

२. खण्ड १, अध्याय ५, पैरा २१, २२, २५ तथा रिपोर्ट ऑन दि सर्वे ऑव कॉटेज इण्डस्ट्री, मद्रास प्रेसीडेंसी, १९२९ भी देखिए।

नही, किन्तु आधुनिक उद्योगो की प्रगति कितनी भी तीव्र क्यों न हो, सम्भवत. भारत की विशाल जनसख्या को यह पूर्ण रोजगार नही दे सकती। अतएव छोटे पैमाने के उद्योगो को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। बड़े उद्योगो के विपरीत, जो धन को कुछ हाथो मे ही केन्द्रित करते हैं, छोटे उद्योग धन के समान वितरण का मार्ग प्रशस्त करते है।

भारत के कुटीर-उद्योग निम्नलिखित तीन भागो मे विभाजित किये जा सकते हैं—

(१) हाथ की कताई जैसे कुछ पुराने उद्योग लुप्तप्राय हो गए है, किन्तु जैसा हम पहले ही देख चुके हैं,[1] कृषि के सहायक उद्योग के रूप मे अब भी हाथ की कताई के उद्योग के विकास की सम्भावना है। (२) कुछ अन्य उद्योग हैं जिनके उत्पादन यन्त्रोत्पादित वस्तुओ से स्पर्धा कर रहे हैं और इनकी दशा त्रिशकु-जैसी है। जो इन उद्योगो मे लगे हुए हैं वे अपने पैतृक पेशे को छोड़ने की अनिच्छा या फैक्ट्रियो मे काम की कठोर दशाओ के कारण उन्हे नही छोड़ते। यह भी हो सकता है कि उनमे लगे रहने के लिए कारीगर अर्थ-प्रबन्धक सौदागर द्वारा बाध्य किए जाते हो, ताकि वह अनिश्चित काल तक उनका शोषण करता रहे और अपना धन प्राप्त कर ले।[2] (३) तीसरी श्रेणी उन कुटीर-उद्योगो की है जो आन्तरिक और निवारणीय त्रुटियो से मुक्त हैं तथा वर्तमान दशाओ मे भी जीवित रहने योग्य हैं। उदाहरण के लिए, वे उद्योग जो खेती से सम्बन्ध रखते हैं और जिनमे सरल औज़ारो की आवश्यकता पड़ती है इसी प्रकार के हैं। उन्हे फैक्ट्री म उत्पादित वस्तुओ से डरने का कोई कारण नही है। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ कारीगरो न नवीन दशाओ के अनुरूप अपने को सफलता-पूर्वक ढाल लिया है और उत्तम कोटि के कच्चे पदार्थ तथा अच्छे औज़ारो का प्रयोग सीख लिया है। बुनकर मिल के सूत का रगरेज कृत्रिम रगो का, पीतल और ताँबे के कारीगर धातु की चादरो का तथा लुहार सुविधाजनक भागो मे धर्त किये हुए लोहे का उपयोग करने लगे हैं। प्रत्येक दशा म उत्पादन की लागत कम हो जाने से कारीगरो को सुविधा हो गई है और उनका बाजार बहुत बढ़ गया है। निचले बगाल मे कुछ जिलो में बुनकर फ्लाई शटिल का उपयोग करने लग गए हैं और हाल ही मे मद्रास के तटवर्ती ज़िलो मे बड़ी अधिक सख्या मे बुनकरो ने इसे अपनाया है। साथ ही अन्य स्थानो पर भी यह धीरे-धीरे प्रयोग मे आ रहा है। दर्जी आवश्यक रूप से सिलाई की मशीनो का प्रयोग करते हैं और शहरो के कारीगर शीघ्र ही यूरोप या अमेरिका मे बने औज़ारो को अपना लेते हैं।[3] फलस्वरूप गाँव के सामुदायिक सगठन म कारीगरो में से कुछ अब भी अपना प्राचीन ख्यात स्थान अक्षुण्ण बनाये हुए हैं तथा पहले ही

---

१. भाग १, अध्याय ८, पैरा ११ देखिए।

२. कुटीर-उद्योगों के आर्थिक और अन्य कठिनाइयों-सम्बन्धी विस्तृत विवरण के लिए बॉम्बे इकनॉमिक एण्ड इण्डस्ट्रियल सर्वे कमेटी की रिपोर्ट देखिए, पैरा १०६—४२।

३. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, पैरा २५५।

बतलायी गई विधि से अपना पारिश्रमिक प्राप्त करते हुए गाँव के लोगो की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति प्राचीन काल की भाँति ही कर रहे है।[1] किन्तु गाँव की आत्म-निर्भरता पर अधिकाधिक आक्रमण होता जा रहा है और जब यह लुप्त हो जाएगी तो इन कारीगरो की दशा के प्रतिस्थापन की आवश्यकता होगी।

अब तक इस देश मे आधुनिक उद्योग की प्रगति मन्द रही है। लगभग सभी शहरो या गाँवो की जनसख्या का बडा शताश विभिन्न कुटीर-उद्योगो मे लग मजदूरो का है। उनकी सख्या अब भी सगठित उद्योगो मे लगे मजदूरो से बहुत अधिक है।[2]

३६ सूती (हस्तचालित) करघा-उद्योग—सामान्यतया करघा उद्योग के महत्त्व और व्यापकता पर ध्यान नहीं दिया जाता। सूती वस्त्र प्रशुल्क-मण्डल ने १६५२ में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट मे १६,८४ ६५० करघो की सख्या का अनुमान लगाया था, जबकि १६३१ की गणना के अनुसार सूत और रेशम कातने और बुनने के काम म लगे लोगो की सख्या २५,७५,००० थी।[3] यद्यपि पिराडं का यह कथन है कि 'उत्तमाशा अन्तरीप (कैप ऑव गुड होप) से लेकर चीन तक स्त्री और पुरुष सिर से पाँव तक भारतीय करघो से उत्पन्न वस्त्र पहनते हैं,' अब सत्य नही है और उद्योग की वर्तमान दशा सन्तोषजनक होने से अत्यन्त दूर है, परन्तु फिर भी यदि इसको समुचित ढग से सगठित करने के लिए उपयुक्त कदम उठाए जाएँ तो इसके सम्मुख अब भी एक महान् भविष्य है। इस समय देश के विभिन्न भागो मे २७ ५८ लाख हस्तचालित करघे रजिस्टर्ड हैं।

गरीब लोग, विशेषकर ग्रामीण, करघे के कपडे को इस कारण पसन्द करते है कि ये मिल के बने हुए कपडो की तुलना मे कही अधिक मजबूत और टिकाऊ होते हैं। अनेक विशिष्ट प्रकार क वस्त्रो का उत्पादन, जिनका उपयोग मन्दगामी भारतीय रिवाजो द्वारा अनुमोदित है, मिले नही कर सकती। यद्यपि उनकी कुल माँग बहुत अधिक है, किन्तु प्रत्येक प्रकार के लिए माग इतनी कम है कि उनका फैक्ट्री म उत्पादन आर्थिक दृष्टिकोण से विचारणीय ही नही है। १६१४-१८ के युद्ध-काल मे आयात किये गए कपडे के ह्रास को पूरा करने मे भारतीय मिलो की असमर्थता तथा युद्ध-समाप्ति के बाद के मिल के बने कपडो के बहुत ऊँचे मूल्य ऐसे कारण थे जिन्होंने बुनकरो को बहुत मदद दी। १६२२ के बाद विदेशी (विशेषकर जापान से) और भारतीय मिलो की बढी हुई प्रतिस्पर्धा से बुनकरो को अधिक हानि हुई, यद्यपि अधिक कुशल और साहसी व्यक्तियो ने रेशम की बुनाई तथा गोटे की कढाई का काम अपना

१. खण्ड १, अध्याय ५, पैरा ?४ देखिए।

२. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, पैरा २५५ देखिए।

३. विभिन्न राज्यों में सूती करघा उद्योग की तत्कालीन दशा के उत्कृष्ट विवरण के लिए सैण्ट्रल बैंकिग इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट का पैरा ?६६ देखिए। स्टेट एक्शन इन रिस्पैक्ट आव इण्डस्ट्रीज, १६२८-३५, अध्याय ३ भी देखिए। बम्बइ राज्य के हाल के सर्वेक्षण के लिए (१६४०) देखिए, बम्बई की आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट, पैरा ७०-३।

लिया। करघे के बुनाई-उद्योग ने अद्भुत जीवन-शक्ति और ग्रहणशीलता का प्रदर्शन किया है।

अपने घरों में काम करने वाला बुनकर फैक्ट्री के मजदूर से अधिक घण्टे काम करता है और उसे कोई पारिश्रमिक दिए बिना ही घर के कामकाज से फुरसत होने पर परिवार की स्त्रियों से सहायता मिल जाती है। १९४१ के आरम्भ में ही भारत सरकार ने हाथ के करघे की बुनाई के उद्योग को मदद देने के लिए आवश्यक उपायों को निश्चित करने के उद्देश्य से आँकडों के सकलन हेतु एक तथ्य-निर्देशक समिति (फैक्ट-फाइण्डिग कमेटी) (करघे और मिलों की) नियुक्त की। इस समिति की रिपोर्ट में स्पष्ट है कि मध्यस्थों की एक श्रृंखला द्वारा लाभ के बडे अंश को हथिया लेने के कारण उद्योग की उत्पादन-लागत ऊँची और बुनकर की आमदनी अनुचित रूप से कम है।

महात्मा गाधी की प्रेरणा से अखिल भारतीय कर्तक सस्था (ऑल इण्डिया स्पिनर्स एसोसिएशन) ने करघा-उद्योग के उत्थान के लिए बहुमूल्य काम किया। इस सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों के कार्यों को आर्थिक सहायता देकर भारत सरकार ने भी १९३४ से सक्रिय प्रोत्साहन की नीति अपनायी।

उद्योग की दशा को सुधारने के उद्देश्य से अखिल भारतीय (हस्तचालित) करघा परिषद् की हाल ही में स्थापना हुई है जिसमें बुनकरों, प्रान्तीय सरकारों तथा उद्योग में रुचि रखने वाले राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है। परिषद् के इस सुझाव को सरकार ने स्वीकार कर लिया है कि उद्योग को सूत की पूर्ति का आश्वासन मिलना चाहिए और युद्धोत्तरकालीन विकास योजना के पहले पाँच वर्ष में लगाए गए तकुओं के उत्पादन में से आधा सुरक्षित रखकर इसकी मात्रा बढानी चाहिए। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत कपडे के उत्पादन में १७,००० लाख गज की वृद्धि होगी। वृद्धि की इस मात्रा में १०,००० लाख गज़ कपडे के उत्पादन का उत्तरदायित्व हस्त-चालित करघा-उद्योग पर है। इसमें से ७००० लाख गज कपडा मिल के सूत से तथा २००० लाख गज अम्बर चरखा के सूत से बनाने की व्यवस्था है।

अखिल भारतीय (हस्तचालित) करघा परिषद् के अध्यक्ष ने एक निर्यात-अभिवर्द्धन समिति की स्थापना की। इस समिति में १४ सदस्य हैं। १९५९ के पहले *छः महीनों में १५१ ३ लाख गज कपड़े का निर्यात किया गया जिसका मूल्य २५६ ५* लाख रु० था, जबकि १९५८ में इतने समय में १६५ ६ लाख गज कपडा बाहर भेजा गया जिसका मूल्य २३७ ६ लाख रुपया था। निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए सहकारी क्षेत्र के भीतर और बाहर के सभी निर्यातकों को वस्त्र-रसायन, सूती सूत, रजक पदार्थ (coaltar dyes) के आयात के लिए निम्न दर पर अनुज्ञा देने की व्यवस्था की गई है।

(१) गजों में निर्यात किये जाने वाले कपडे पर प्रति १०० गज पर दस रुपये।

(२) वजन से निर्यात किये जाने वाले कपडे पर प्रति २५ पौंड पर ७ ५० रुपये।

इस योजना के अन्तर्गत कोलम्बो, अदन, सिंगापुर, क्वालालाम्पुर तथा बैंकाक मे इम्पोरियम खोले गए है। १९५९-५६ मे इस योजना के अन्तर्गत २४.४८ लाख रु० की बिक्री हुई। सूती खादी हाथ करघे को प्रोत्साहन मिला और खादी १९६२-६३ मे ६'७ करोड रुपया थी। तीसरी योजना के अन्त तक खादी का कुल उत्पादन १०० से ११० मिलियन गज हो गया। चौथी योजना का लक्ष्य ५००० मिलियन गज सब प्रकार के खादी के कपडे का लक्ष्य है।

४०. ऊनी उद्योग—किसी-न-किसी रूप मे ऊनी वस्तुओ का उत्पादन देश के सब भागो मे पाया जाता है, क्योकि भेड हर स्थान पर पाया जाने वाला जानवर है। उनकी किस्म प्रत्येक स्थान पर भिन्न है। मैदानी भेडो की तुलना मे पहाडी भेडो का ऊन सामान्यतया अच्छी किस्म का होता है। ऊनी करघा-उद्योग ४०,००० लोगो को आंशिक समय के लिए काम देता है।

मुगल काल मे ऊनी कालीनो का निर्माण उत्कृष्टता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। कालीनो की माँग, विशेषकर शाही दरबारो और अमीरो के यहाँ से होती थी। अतएव उद्योग के स्वाभाविक स्थान राजधानी के प्रमुख नगर थे, यद्यपि मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के बाद यह अन्य केन्द्रो मे स्थापित हो गया। साम्राज्य के पतन ने व्यवहारत कालीनो की स्थानीय माँग को समाप्त कर दिया, किन्तु ब्रिटिश शासन के स्थापित हो जाने के बाद इसका स्थान बाहरी माँग ने ले लिया। यद्यपि बाहरी माँग ने कारीगरो के आर्थिक विनाश को रोकने मे मदद की, परन्तु वस्तुओ की उत्कृष्टता के ह्रास के लिए यही उत्तरदायी थी। इसने बाहर से भेजे गए नमूनो के आधार पर सस्ती वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। वर्तमान काल मे भारत मे कालीन की बुनाई लगभग पूर्णतया विदेशी माँग पर निर्भर है, जिसमे पूर्ण उत्पादन के ९० प्रतिशत भाग की खपत होती है।

ब्रिटिश काल के पूर्व शॉलो के निर्माण मे भारत ने, विशेषकर काश्मीर और पजाब ने, बडी ख्याति प्राप्त की थी और मुगल विशेष रूप से इसके विकास मे रुचि लेते थे। १८३० के अकाल से उद्योग को ऐसा गम्भीर धक्का पहुँचा जिससे यह पुन पनप न सका तथा काश्मीर राज्य मे लगाये गए अनेक करो से इसकी कठिनाइयाँ और बढ गई। यूरोप से निर्यात व्यापार का विकास, जो उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे शुरू हुआ, उद्योग के पतन को रोकने मे सहायक सिद्ध हुआ और अनुमान किया जाता है कि किसी समय इसमे १५,००० मजदूर काम करते थे। किन्तु १८७१ के फ्रास-जर्मन युद्ध के कारण इसकी यूरोपीय माँग एकदम कम हो गई। यह आकस्मिक रोक अस्थायी प्रकृति की भी नही थी, क्योकि यूरोप मे शॉल शीघ्र ही फैशन से बाहर हो गए और युद्ध के बाद भी व्यापार मे पुनरुत्थान का अनुभव नही हुआ। इस परिणाम मे योग देने वाला अन्य कारण स्कॉटलैण्ड मे पैसले नामक स्थान पर शॉलो के निर्माण का आरम्भ था।

१९३९-४५ के युद्धकाल मे सेना के लिए कम्बलो की विशाल माँग के कारण ऊनी (हस्तचालित) करघा-उद्योग को बहुत लाभ हुआ, चूंकि इगलैड द्वारा दिये गए

आर्डरो को पूरा करने के लिए ऊनी मिलें अपनी पूर्ण क्षमता तक कार्य कर रही थी, अतएव (हस्तचालित) करघे की वस्तुओ का स्थानीय बाजार बहुत बढ गया। युद्ध-काल की यह समृद्धि अल्पकालीन सिद्ध हुई, किन्तु उद्योग के लिए सहकारी उत्पादन और विपणन अब भी नवीन सगठन और क्रियाओ की आशा दिलाते है।

४१. कच्चा रेशम और रेशम का निर्माण—भारत मे कच्चे रेशम के उत्पादन मे जो भी सफलता मिली है वह देश के उन भागो—जैसे बगाल, काश्मीर और मैसूर—तक ही सीमित है जहाँ शहतूत के पेड और श्रम प्रचुरता से उपलब्ध है।

मोटे तौर पर सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम तीन-चतुर्थांश मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रमुख रूप से कच्चे रेशम के व्यापार की ओर आकृष्ट थी। बाद मे कम्पनी ने अनुभव किया कि भारत-निर्मित रेशमी वस्तुओ को इगलैण्ड भेजने म और अधिक लाभ सम्भव था। उन्होंने इस नीति को ऐसी सफलता से अपनाया कि इगलैण्ड के बुनकर भयभीत हो उठे। ब्रिटिश बुनकरो के विरोध तथा अन्य कारणो से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पुन कच्चे रेशम के व्यापार की नीति अपना ली। कच्चे रेशम के उत्पादन को प्रश्रय देने और रेशमी उत्पादन को हतोत्साहित करने की नीति का देशी बुनाई-उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पडा।[1]

सक्षेप मे, अभी हाल के वर्षो मे कच्चे रेशम और रेशम की बुनाई के उद्योग ह्रासोन्मुख रहे हैं। भारत के कच्चे माल का निर्यात केवल घट ही नहीं गया है वरन् उसका रूप भी बदल गया है। वर्तमान समय मे अधिकतर रेशम का कोवा बाहर भेजा जाता है। भारत मे रेशम लपेटने (रीलिंग) का काम इतनी बुरी तरह किया जाता है कि अन्य देश भारत से कोवे लेकर सूत लपेटने का काम स्वय करना पसन्द करते हैं। भारत मे आयात किये गए रेशम की बढती लोकप्रियता का भी यही कारण है। भारतीय बुनकर स्वय देशी माल की अपेक्षा जापान या चीन के एक-समान लपेटे सूतो को अधिक पसन्द करते हैं। भारतीय रेशम की किस्म को उन्नत करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। बगाल का कृषि-विभाग रेशम पैदा करने की शिक्षा देने के लिए दो विद्यालय चला रहा है। आसाम काश्मीर और मैसूर के भारतीय राज्यो मे भी रेशम-उत्पादन को प्रोत्साहन देने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। १६३५ मे भारत सरकार ने राजकीय रेशम-उत्पादन समिति (इम्पीरियल सेरीकल्चरल कमेटी) की स्थापना की और उसकी सिफारिश के अनुसार ६३,००० रुपये की मदद विभिन्न प्रदेशो को प्रदान की गई, ताकि वे रेशम-उत्पादन के लाभ के लिए बगाल, आसाम, मद्रास, बिहार और उडीसा तथा बर्मा मे योजनाएँ कार्यान्वित करने मे समर्थ हो सकें।[2] योजनाओ का लक्ष्य रोगमुक्त बीजो से उत्पादन बढाना और रेशम के कीडो के रोग के विषय के प्रश्नो के अनुसन्धान मे सहायता देना है। भारत सरकार ने १ अप्रैल, १६३५ से ३१

१. निर्यात व्यापार के आँकडों द्वारा रेशम-उद्योग का ह्रास बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। १८८६ में निर्यात हुए रेशमी-उत्पादन का मूल्य ३२,६६,००० रु० था, १६४१-४२ में केवल २,६६,००० रु० था।
२. देखिए, 'इण्डिया इन १६३४-३५,' पृ० २५।

मार्च, १६४० तक पाँच वर्ष के लिए १००,००० रुपये की वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया। गत वर्षो मे कृत्रिम रेशम के सूत का आयात बढता रहा। आयात व्यापार की सभी शाखाओ मे जापान का प्रमुत्व था, किन्तु उस देश मे कृत्रिम रेशम-उद्योग मे अवसाद और चीन-जापान युद्ध के आरम्भ होने के बाद कच्चे माल की प्राप्ति की कठनाइयो के फलस्वरूप इटली ने १६४० म युद्ध मे उतरने से पहले ही जापान को प्रथम स्थान से च्युत कर दिया।

१६४८ मे केन्द्रीय रेशम परिषद् अधिनियम पास किया गया। इसके अन्तगत १६४६ मे भारत सरकार ने केन्द्रीय रेशम परिषद् की स्थापना की। इस परिषद् पर भारत मे रेशम-उद्योग को विकसित करने का उत्तरदायित्व है। उद्योग के विकास की सही नीव डालने के लिए परिषद् ने रेशम की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण राज्यो मे अनुसधान पर जोर दिया। विदेशो से विशेषज्ञ भी बुलाये गए। उदाहरणार्थ, १६५७ ५८ मे श्री ओहइ कारासवा, जो एशिया की रेशम उत्पादन और रेशम उद्योग समिति के प्रमुख मन्त्री है, को आमन्त्रित किया गया। इन्होने रेशम के कीडो को पालने के सम्बन्ध मे प्रयोग किये।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तगत परिषद् के कार्यक्रम का उद्देश्य उद्योग को आत्मनिर्भर बनाने का है। द्वितीय योजना मे रेशम-उत्पादन और रेशम उद्योग के लिए ६ ५ करोड रु० की व्यवस्था की गई। बाद मे राशि घटाकर ४ ४८ करोड रु० कर दी गई। प्रथम पचवर्षीय योजना की १ ३ करोड रु० की नगण्य राशि की तुलना मे द्वितीय योजना के अन्तर्गत उद्योग पर काफी ध्यान दिया गया है। जनवरी से लेकर जून, १६५६ तक कच्चे रेशम का उत्पादन १२,७७,३२१ पौड था, जबकि इसी अवधि मे १६५८ मे १२,७१,८७४ पौड का उत्पादन हुआ था। राज्यीय व्यापार निगम ने अप्रैल से दिसम्बर १६५६ तक ५६,८३,१६१ रु० के मूल्य के ३,३२,८६० पौंड कच्चे रेशम का आयात किया। कते हुए रेशमी सूत का भी आयात किया गया और १ ५० लाख रु० की अनुज्ञाएँ (licences) प्रदान की गई।

अप्रैल, १६४० मे रेशम और रेशम से बनी वस्तुओ पर लगाये हुए सरक्षण-करो को दो वर्ष के लिए बढा दिया गया। भारतीय रेशम-उद्योग के पाच वर्ष के सरक्षण और आयात-कर मे सर्वत्र वृद्धि के लिए १६३८ के प्रशुल्क-मण्डल द्वारा की गई सिफारिशो को १६४२ मे अपनाया गया और सरक्षण-कर पाँच वर्ष के लिए बढाकर २५ प्रतिशत + १४ आना प्रति पौंड + कुल कर का $\frac{1}{2}$ कर दिये गए।

इधर हाल मे रेशम-उत्पादन उद्योग के सम्बन्ध मे प्रशुल्क-आयोग ने सरकार को अपनी रिपोर्ट १६५२ मे दी। १६५३-५४ मे प्रशुल्क आयोग ने १ जनवरी १६५४ से पांच वर्ष के लिए सरक्षण बढा देने की सिफारिश की। सरकार ने इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया, किन्तु करो की दरो मे कोई परिवर्तन नही किया।

तीसरी पचवर्षीय योजना मे २३ लाख किलोग्राम मलबरी सिल्क तथा अन-मलबरी सिल्क (Non-Mulberry) सिल्क का लक्ष्य था। सरकार ने मार्च १६६४ मे राँची तथा लक्खा (मध्य प्रदेश) मे टस्सर सिल्क सर्वेक्षण स्टेशन बनाये हैं।

४२. अन्य कुटीर-उद्योग—पहले भाग के पाँचवें अध्याय मे विभिन्न कुटीर-उद्योगो की वर्तमान दशा का सकेत पहले ही किया जा चुका है (खण्ड १, अध्याय ५), जबकि तेल पेरने, चमडा सिझाने, शीशा बनाने और दियासलाई बनाने के उद्योग के विवरण मे हमने इनकी कुटीर-शाखाओ पर विचार किया है। कृषि के गौण उद्योगों की दशा और उनके भविष्य पर भी कृषि-सगठन के अन्तर्गत (खण्ड १, अध्याय १) विचार हो चुका है। अन्य अनेक कुटीर-उद्योग भी हैं, उदाहरणार्थ कढाई का काम, लकडी का सामान, धातु और छुरी काँटा, सोने और चाँदी के तारो का उद्योग, बरतन, साबुन बनाना, टोपी बनाना, खिलौने और मूर्ति-निर्माण, गुटके बनाना आदि को लिया जा सकता है।

४३ कुटीर-उद्योगो को सहायता की विधियाँ—कारीगरो की अज्ञानता और निर्धनता के कारण यह आवश्यक है कि उनको मदद देने की एक सर्वाङ्गीण योजना बनाई और कार्यान्वित की जाए। इस दिशा मे प्रकट रूप से पहला कदम अधिक अच्छी सामान्य शिक्षा देना है जिसके द्वारा कुछ दस्तकारी और औद्योगिक कारीगरी को शिक्षा देने का प्रयास किया जाए। बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने सिफारिश की कि प्रारम्भिक शिक्षा, विशेषकर गांवो मे दस्तकारी के माध्यम से दी जाए। इसके अतिरिक्त विशेष औद्योगिक स्कूलो मे, विशेषकर उद्योग-सचालक द्वारा नियन्त्रित स्कूलो म, भी कारीगरो की शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। औद्योगिक आयोग ने भी सिफारिश की थी कि अधिक तीव्र बुद्धि के कारीगरो के प्रशिक्षण के लिए सरकार की सहायता मे प्रदर्शनार्थ हस्तचालित करघे के कारखाने खोले जाएँ और बुनाई के स्कूलो से एक वाणिज्य विभाग सम्बन्धित कर दिया जाए, ताकि इस भाँति प्रशिक्षित साहसी कारीगर स्वय अपनी छोटी करघा-फैक्ट्री खोल सकें। जेल और सुधारात्मक स्कूलो की विशेषता उनम रहने वालो को काष्ठशिल्प, बेंत और बाँस के काम-जैसी औद्योगिक दस्तकारियो की शिक्षा दना है, ताकि छूटने पर कैदी कारीगरो की तरह जीवन प्रारम्भ कर सकें। बिहार और उडीसा मे प्रदर्शक उन्नत औजारो का घूम-घूमकर प्रदर्शन करते हैं। ये प्रदर्शन कुटीर-उद्योग विद्यालय (कॉटेज इडस्ट्रीज इस्टीट्यूट) पर निर्भर हैं जो अपने विभिन्न विभागो मे प्रयोगात्मक कार्य करता रहता है और करघो, रग, अन्य सामान इत्यादि की पूर्ति का प्रबन्ध करता है तथा बुनकरो को नये कपडो तथा नये नमूनो से परिचित कराता है। भागलपुर रेशम विद्यालय द्वारा ऐसी ही सेवाएँ रेशम-उद्योग के लिए की जाती हैं और पटना प्रदश के दक्षिण मे गया की प्रयोगात्मक कम्बल फैक्ट्री प्राचीन कम्बल-उद्योग के लिए ऐस ही प्रयत्न कर रही है। मध्य प्रदेश म उद्योग विभाग बुनकरो मे अच्छे प्रकार की स्लेज़ के प्रयोग का प्रचार कर रहा है। औद्योगिक प्रशिक्षण के लिए औद्योगिक परामर्श और सुविधाएँ प्रदान करके तथा कारीगरो को नवीन तर्ज और उन पर काम करन के लिए नमून देकर उन्हें बहुत मदद दी जा सकती है तथा उनकी बिक्री बढाई जा सकती है। बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने कुटीर-उद्योगो से सम्बन्धित समस्याओ के अध्ययन के लिए कुटीर-उद्योग उपसचालक के अधीन एक राजकीय कुटीर-

उद्योग अनुसन्धान विद्यालय की स्थापना की सिफारिश की। यह विद्यालय केवल औजारों तथा उत्पादन की विद्यमान विधियों में सुधार का ही प्रयत्न नहीं करेगा, वरन् नवीन कुटीरोद्योगों के आरम्भ करने की सम्भावनाओं की भी खोज करेगा।

दस्तकारी में लगे मनुष्यों को आवश्यक पूँजी प्रदान करने के उद्देश्य से औद्योगिक आयोग ने सिफारिश की कि उद्योगों के सचालक द्वारा कुछ दशाओं में छोटे ऋण दिये जाने चाहिएँ या यन्त्र और औजार 'किराये पर खरीद की पद्धति' पर प्रदान करने चाहिएँ ताकि अन्त में वे कारीगर की सम्पत्ति हो जाएँ। जर्मनी के खिलौने के उद्योग और जापान के कुटीर-उद्योग अपनी सफलता के लिए उन व्यावसायिक संगठनों के अस्तित्व के ऋणी थे जो उनकी उत्पादित वस्तुओं को खरीदकर देश विदेश में विक्रय करते थे। इस समय भारत में विदेशी बाजार तो उपेक्षित हैं ही, परन्तु घरेलू बाजार का भी भलीभाँति विकास नहीं किया जा रहा है। बम्बई के स्वदेशी-भण्डार 'देश में बनी वस्तुओं को देश के भीतर वितरित करने वाली सक्रिय और सफल एजेंसी' के उत्तम तथा अनुकरणीय उदाहरण हैं। बम्बई के उद्योग विभाग ने कुटीर-उद्योगों के उत्पादनों को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से बम्बई में एक विक्रय-गोदाम (सेल्स डिपो) खोल रखा है। इसी लक्ष्य से बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने सामयिक प्रदर्शनियों के प्रबन्ध तथा स्थायी संग्रहालयों के निर्माण की सिफारिश की थी।[1]

१६३४ के छठे औद्योगिक सम्मेलन में करघे से बनायी हुई वस्तुओं के विक्रय के प्रश्न पर विचार किया गया और उसके बाद मद्रास, बम्बई, मध्य प्रान्त और बरार, बिहार और उड़ीसा आदि की प्रान्तीय सरकारों ने सहकारी प्रयत्नों के आधार पर अनेक आशाप्रद योजनाएँ अपनायी। बम्बई में मुख्य-मुख्य केन्द्रों पर आठ जिला सहकारी संस्थाएँ बनायी गई है। प्रत्येक संस्था की अपनी दूकान है जो सामान भेजने के लिए कुछ अग्रिम लेती है और करघा-बुनकरों की बनायी हुई वस्तुएँ कमीशन के आधार पर बेचती है। एक विक्रय-अधिकारी और एक वस्त्र-डिज़ाइनर की भी नियुक्ति की गई है।[2] बम्बई की आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने भी सिफारिश की थी कि प्रत्येक जिले में एक स्थानीय परामर्शदात्री समिति की सहायता से जिला उद्योग-अधिकारी के आधीन एक जिला औद्योगिक संस्था होनी चाहिए।[3]

४४ कुटीर-उद्योगों की राजकीय सहायता के हाल के उपाय—भारत सरकार कुछ वर्षों से कुटीर-उद्योगों, विशेषकर सूती (हस्तचालित) करघा-उद्योग रेशम पैदा करने के उद्योग के उत्पादन में मनोयोग से लगी हुई है। जुलाई, १६३४ में हुए छठे अन्तर्प्रान्तीय उद्योग सम्मेलन ने देश के प्रधान कुटीर उद्योग—करघा-उद्योग—के

१. रिपोर्ट, पैरा २०८।

२. विभिन्न विक्रय-योजनाओं के सम्बन्ध में अन्य विवरण के लिए देखिए, 'स्टेट एक्शन इन रिस्पेक्ट आव इंडस्ट्रीज' १६२८-३५, पृ० २६-६; और बम्बई आर्थिक और औद्योगिक संचय समिति की रिपोर्ट, पैरा १५६।

३. रिपोर्ट, पैरा २०६ और २१२।

विकास के लिए विभिन्न प्रान्तीय सरकारो द्वारा प्रस्तुत की गई योजनाश्रो पर विचार किया। सरकार ने सम्मेलन मे हस्तचालित करधा-उद्योग के विकास के लिए पाँच वर्ष तक ५ लाख रुपया प्रतिवर्ष खर्च करने की घोषणा की।[1] इस भाँति विभिन्न प्रान्तो मे चालू की गई योजनाएँ विभिन्न प्रकार की हैं। इन योजनाश्रो मे उन्नत उत्पादन-विधियो मे बुनकरो का प्रशिक्षण, हाथ के करघे की वस्तुश्रो को बेचने के लिए विक्रय-गोदाम श्रौर बुनकरो की सहकारी समितियो की स्थापना, तथा नवीन तर्जों, नये नमूनो श्रौर उन्नत श्रौज़ारो का प्रचलन भी शामिल है। प्रान्तो को अनुदान उनके व्यय श्रौर सूत की खपत के आधार पर दिया जाता है। सातवें उद्योग सम्मेलन ने भी करघे के यन्त्रो तथा वस्त्रो के प्रदर्शन क पक्ष मे निश्चय किया है।[2] हम रेशम उत्पन्न करने के उद्योग को सरक्षण श्रौर प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार द्वारा अपनाये गए उपायो की समीक्षा कर चुके हैं।

१९३७ मे स्थापित कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारो न कुटीर-उद्योगो को पुनरुज्जीवित करने की ओर विशेष ध्यान दिया। इण्डियन नेशनल कांग्रेस के तत्त्वावधान मे १९३५ मे स्थापित अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सघ (ऑल इण्डिया विलेज इण्डस्ट्रीज एसोसिएशन) ने भी देश की आर्थिक योजना म कुटीर-उद्योग के महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया। कुटीर श्रौर लघु प्रमाप उद्योगो को प्रभाव-पूर्ण ढग से विकसित करने के लिए १९४८ मे अखिल भारतीय कुटीर-उद्योग परिषद् की स्थापना की गई। बाद मे इसके स्थान पर अखिल भारतीय दस्तकारी परिषद् (१९५२ मे) तथा अखिल भारतीय खादी श्रौर ग्रामोद्योग परिषद् (१९५३ मे) की स्थापना की गई। १९५७ मे एक अधिनियम के अन्तर्गत सरकार ने 'खादी ग्रामोद्योग आयोग' की स्थापना की। पहले की इस नाम की परिषद् पुन गठित कर आयोग क लिए परामर्श-निकाय क रूप म परिवर्तित कर दी गई। मुख्यत हस्तचालित करघा-उद्योग की समस्याओ को हल करने के लिए अखिल भारतीय (हस्तचालित) करघा-परिषद् की स्थापना भी १९५२ मे की गई।

नवम्बर १९५३ मे श्राय फाउण्डेशन आयोजन दल ने छोटे पैमाने के उद्योगो के सम्बन्ध मे अपनी रिपोर्ट मार्च, १९५४ मे प्रस्तुत की। सरकार ने निम्न सिफारिशो को यथाशीघ्र कार्यान्वित करने का निश्चय किया।

(१) चार प्रादेशिक प्राविधिक सस्थाश्रा (रीजनल टेक्नॉलॉजिकल इन्स्टीट्यूट्स) की स्थापना,

(२) विपणन-निगम (मार्केटिंग सर्विस कॉरपोरेशन) की स्थापना, तथा

(३) लघु-प्रमाप उद्योग निगम की स्थापना।

फोर्ड फाउण्डेशन दल की सिफारिशो के अनुरूप भारत सरकार ने स्माल स्केल इण्डस्ट्रीज बोर्ड, ऑफिस ऑफ दी डेवलपमेण्ट कमिश्नर फॉर स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज, नेशनल स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज कॉरपोरेशन आदि की स्थापना की, ताकि मध्यम-प्रमाप

१. स्टेटमेण्ट इन रिस्पेक्ट आव इडस्ट्रीज, १९२८-३५, पृष्ठ ७०।

२. अक्तूबर १९३५ में दिल्ली में हुए उद्योग सम्मेलन के सातवें अधिवेशन की कार्रवाई।

उद्योग द्वारा औद्योगीकरण की योजना कार्यान्वित की जा सके। उद्योग के प्रकार-आकार, विपणन आदि के सम्बन्ध में सरकार ने डॉ० यूजीन स्टेलो को एक परामर्श-दाता के रूप में आमन्त्रित किया। विपणन-निगम की स्थापना तथा अन्य सम्बन्धित समस्याओं के लिए न्यूयार्क यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर लिकन क्लार्क को भी आमन्त्रित किया गया था।

११ जून, १६५५ को सरकार ने लघु प्रमाप उद्योगों को 'प्रसार सेवा' प्रदान करने के लिए चार प्रादेशिक संस्थाओं की स्थापना के निर्णय की घोषणा की। ये संस्थाएँ कलकत्ता, बम्बई, फरीदाबाद और मदुराई में स्थापित की जाएँगी। प्रत्येक संस्था में ३० से अधिक अधिकारी होंगे, जो अधिकतर प्राविधिक विशेषज्ञ होंगे। प्रत्येक संस्था सादी मशीनों और अच्छे औजारों का प्रयोग दिखाने के लिए आदर्श कार्यशालाएँ स्थापित करेगी तथा उनका प्रचार करेगी।

उदाहरणार्थ, केन्द्रीय सरकार यन्त्र-सम्बन्धी व्यय का ७५% तथा भूमि और जमीन-सम्बन्धी व्यय का ५०% अनुदान के रूप में देती है, यदि आदर्श कार्यशालाओं आदि के लिए राज्य सरकार इनकी सिफारिश कर दे।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कुटीर-उद्योगों को औद्योगिक सहकारी समितियों के संगठन द्वारा विकसित करने की नीति अपनायी गई है। जैसे कुटीर-उद्योग और बड़े पैमाने के उद्योग में प्रतिस्पर्धा हो, वहाँ एक सामान्य उत्पादन योजना (common production programme) अपनाने की सिफारिश की गई है।

पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजना में २१८ करोड़ रुपया ग्राम तथा कुटीर-उद्योगों पर व्यय किया गया। तीसरी पंचवर्षीय योजना में २६४ करोड़ रुपया इसके लिए निर्धारित किया गया। इस प्रकार इन कुटीर-उद्योगों का अंशदान राष्ट्रीय आय में १६५०-५१ में ६१० करोड़ से बढ़कर १६६२-६३ में १२१० करोड़ रुपया हो गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना में मूल आधार इन कुटीर-उद्योगों के लिए इस प्रकार है कि प्रत्येक श्रमिक (Artisan) को उत्पादन के बढ़ाने में उसका हाथ हो तथा स्वामित्व में उनका स्थान बढ़े। इस विकेन्द्रीकरण की नीति को बढ़ाने के लिए १० सुझावों की एक आर्थिक नीति बनाई गई है। चौथी पंचवर्षीय योजना में सरकारी क्षेत्र में ४५० करोड़ रुपया तथा ४०० करोड़ रुपया निजी क्षेत्र में खर्चा जाएगा।

४४ योजना एवं औद्योगिक उन्नति—पहली दोनों पंचवर्षीय योजनाओं में, विशेष रूप से दूसरी योजना में उद्योगों की भिन्न-भिन्न शाखाओं में बहुत उन्नति हुई। तीन नये लोहे तथा इस्पात के कारखाने सरकारी क्षेत्र में खोले गए तथा निजी क्षेत्र के कारखानों की उत्पत्ति का दुगुना कर दिया गया। इसके अतिरिक्त बिजली, भारी मशीनों, इंजीनियरिंग तथा सीमेण्ट बनाने की मशीनों का राष्ट्र में पहली बार उत्पादन आरम्भ हुआ। रासायनिक तथा उसकी शाखाओं में बहुत उन्नति हुई। यूरिया, अमोनियम फासफेट, पैन्सलीन का उत्पादन शुरू हुआ। साइकिल, कपड़े सीने की मशीनें तथा टेलीफोन इत्यादि उद्योगों का उत्पादन तेजी से बढ़ा। इन दस वर्षों में

मगठित औद्योगिक उत्पादन दुगुना हो गया (औद्योगिक सूचाक १०० जो कि १९५१ मे था १९६१ मे १९४ हो गया) यह ठीक है कि कुछ क्षेत्रो मे कमियाँ भी रह गई (लोहे और इस्पात मे, रासायनिक खाद उद्योग, भारी मशीनो के कारखानो मे)। दूसरी पचवर्षीय योजना से यह सुझाव मिलता है कि विशेष रूप से प्रारम्भिक तथा आधार-सम्बन्धी उद्योगो पर ज़ोर दिया जाए तथा तक्नीकी क्षमता इस प्रकार बढे कि आने वाली योजनाओं मे आर्थिक व्यवस्था आत्मनिर्भर हो जाए। इस प्रकार तीसरी योजना मे ये प्रधानताएँ रखी गई—

(१) जो कार्य दूसरी योजना मे कार्यान्वित नहीं हुए उन्हे पूर्ण रूप से किया जाए।

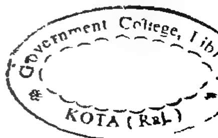
(२) मशीनो, तकनीकी, रासायनिक खाद के उद्योगो को बढा दिया जाए तथा विशेष स्थान दिया जाए (*Diversify*)।

(३) औद्योगिक उन्नति के लिए कच्चे माल तथा मध्यम किस्म की सामग्री तथा खनिज तेलो की उत्पादन-शक्ति बढाई जाए।

(४) उन उद्योगो को अच्छा स्थान दिया जाए जो प्रतिदिन प्रयोग होने वाली वस्तुओं का उत्पादन करते है, जैसे कि दवाइयाँ, कपडा, तेल, कागज़ तथा चीनी आदि।

इस प्रकार तीसरी पचवर्षीय योजना मे खनिज तथा उद्योगो की उन्नति के लिए २,९९३ करोड रुपया निर्धारित हुआ। यह आशा की गई कि वार्षिक औद्योगिक प्रगति ११ प्रतिशत बढेगी। तीसरी योजना के मध्य मूल्याक (Mid Term Appraisal) से यह पता चला है कि निर्धारित लक्ष्य पूरे नही हो सके।

चौथी पचवर्षीय योजना मे प्रगति का कार्य एक प्रधानता के रूप मे सुचारु रूप से हो। जो उद्योगो की वर्तमान स्थायी शक्ति है उसका ठीक प्रकार से प्रयोग हो। निजी क्षेत्र मे विशेष रूप से उपभोक्ता वस्तुओ तथा मध्यम वर्ग की वस्तुओ के उत्पादन पर ज़ोर दिया जाए। चौथी पचवर्षीय योजना मे औद्योगिक उन्नति पर ५,६०० करोड रुपया खर्च किया जाएगा जिसमे से निजी क्षेत्र मे २,४०० करोड रुपया होगा। चौथी पचवर्षीय योजना मे इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि प्रोजेक्ट्स को ठीक प्रकार से चलाया जाए और समयानुसार पूर्ण कर लिये जाएँ। और जो त्रुटि डिज़ाइन बनाने तथा इजीनियरिंग के क्षेत्रो मे है, उसे दूर किया जाए जिससे राष्ट्र आत्म-निर्भर हो सके।



अध्याय १६

औद्योगिक श्रम

१. श्रम सम्बन्धी बढती हुई समस्याएँ—हमारे औद्योगीकरण की गति धीमी होने के कारण यद्यपि यहाँ श्रम-समस्या यूरोपीय देशो के समान कठिन नही है, परन्तु उनके जैसी होने मे अब देर भी नही है। १९१४-१८ के महायुद्ध के साथ आए नव-जागरण ने श्रमिक-वर्ग को उनके महत्त्व तथा अधिकारो के प्रति अधिक सजग बना दिया है। लीग ऑफ नेशन्स भी स्वीकार कर चुकी है कि भारतवर्ष ससार के आठ प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रो मे एक है। अब सरकार और जनता दोनो ही राष्ट्रहित मे, कुशल और सन्तुष्ट श्रम के महत्त्व को अनुभव करने लगी हैं। मई, १९२९ मे माननीय जे० एच० ह्विटले की अध्यक्षता मे 'राजकीय श्रम-आयोग' (रॉयल कमीशन ऑन लेबर) की नियुक्ति इस बात की पुष्टि थी। आयोग की सिफारिशे सरकार की श्रमनीति का आधार मानी जा चुकी है और हाल के श्रम-सम्बन्धी कानूनो को उन्होने काफी प्रभावित किया है।[1] बम्बई सरकार का यह कार्यक्रम अखिल भारतीय श्रमनीति के आधार-रूप मे स्वीकृत हो चुका है। काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने श्रम-सम्बन्धी कानूनो के क्षेत्र मे बहुत ही क्रियाशीलता दिखाई है। नवम्बर, १९३९ मे उनके पद-त्याग के बाद इस दिशा मे शिथिलता आना अवश्यम्भावी था। पर इधर द्वितीय महायुद्ध ने श्रम-समस्या को पुन प्रमुखता प्रदान की, क्योकि श्रमिक-वर्ग ने इस बार प्रथम महायुद्ध की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप मे सगठित होकर मँहगाई तथा अन्य रियायतो की सफल माँग की है।

२. औद्योगिक श्रम की पूर्ति और उसका देशान्तर-गमनीय स्वभाव—कारखानो के क्षेत्र का लालन-पालन पश्चिमी देशो के श्रमिक की श्रेष्ठता के लिए बहुत-कुछ उत्तरदायी है, पर इस देश के कारखानो का श्रमिक तो प्राय प्रवासी होता है और शायद ही कभी गाँव से सम्बन्ध-विच्छेद करता हो। पर यह भी कहना ठीक नही कि भारतीय कारखाने का प्रतिनिधि श्रमिक असल मे खेतिहर है जो अस्थायी रूप से कृषि-कार्य छोडकर अपनी आय बढाने के लिए शहर मे आता है। अधिकाश मजदूरो का शीघ्र ही गाँव को लौटना तथा एक कारखाने मे अधिक दिन न टिकना अवश्य ही इस बात का द्योतक है कि वे कृषि कार्य अल्पकाल के लिए ही छोडते हैं। खेती से आर्थिक

---

१. १९३१ में प्रकाशित ह्विटले-आयोग के प्रतिवेदन का निर्देश इस परिच्छेद में 'श्र० आ० प्र०' के द्वारा तथा उसके पृष्ठों का निर्देश अको द्वारा किया गया है। इस प्रकार 'श्र० आ० प्र० ४' का अर्थ श्रम आयोग प्रतिवेदन पृष्ठ ४ है।

लाभ प्राप्त करने वाले श्रमिकों की संख्या का प्रायः जो अनुमान किया जाता है वास्तव में वह उतनी नहीं है। बहुतों का कृषि में प्रायः अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही होता है, उदाहरणार्थ, वे या तो किसी संयुक्त कृषक-परिवार के सदस्य होते हैं या उनका कोई घनिष्ठ सम्बन्धी कृषि-कार्य करता है। अधिकांश औद्योगिक श्रमिक गाँवों में ही पैदा होते हैं तथा उनका पालन-पोषण भी वहीं होता है। अब तो कारखानों में काम करने वाले बच्चों की उम्र की निम्नतम सीमा बढ़ जाने से यह प्रवृत्ति और भी बढ़ रही है। बहुत-से श्रमिक अपना परिवार गाँवों में ही रखते हैं। शहर में अपने पति के साथ आने वाली पत्नी भी प्रसव के समय प्रायः गाँव ही चली जाती है। हमारे उद्योगों के विकास के साथ ही गाँव से आने वाले मजदूरों की संख्या तेजी से बढ़ती ही जा रही है। आर्थिक दृष्टिकोण से उपयुक्त होने पर ही वे गाँव जाते हैं।

श्रमिकों के गाँव से शहर आने के कारणों पर दृष्टिपात करने पर हम देखेंगे कि कृषि पर पड़ने वाली विपत्ति का पहला असर भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों पर ही पड़ता है, अतः उन्हें गाँव छोड़कर कारखानों, नौका-निर्माण स्थानों, बगीचों तथा रेल, सिंचाई आदि सरकारी निर्माण-कार्य वाले स्थानों में अधिक वेतन के लिये काम ढूँढ़ने-हेतु जाना पड़ता है। उनके इस प्रवास-कार्य में संयुक्त परिवार-प्रणाली इस अर्थ में सहायक होती है कि परिवार के कुछ सदस्य अपने घर तथा खेत से सम्बन्ध विच्छेद किये बिना ही उसे परिवार के अन्य व्यक्तियों की देख-रेख में छोड़कर गाँव से चले जाते हैं। कभी कभी कृषक गाँव के साहूकार से वचन या भूमि और पशु खरीदने के लिए पर्याप्त धन कमाने के उद्देश्य से शहरों में नौकरी तलाश करते हैं। फिर कभी अपनी जीविका और भावी जीवन को उत्तम बनाने की आशा से निम्न श्रेणी के ग्रामीण श्रमिक (जो कि दलित-वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं) शहरों और कस्बों को चले जाते हैं। चूँकि उनके नगर जाने का प्रधान कारण कष्ट है न कि महत्त्वाकांक्षा, अतः हम यह कह सकते हैं कि गाँवों से नगरों का प्रवास करने वाले लोग सबसे कम कुशल और अत्यन्त निरुपाय ग्रामीण होते हैं।

३. देशान्तर-गमन के प्रभाव—देशान्तर-गमन के परिणामस्वरूप कारखानों में काम करने वालों के कितने ही वर्ग अपने को एकदम अपरिचित रीति-रिवाजों और परम्पराओं के मध्य पाते हैं। यह भी हो सकता है कि वहाँ भाषा भी दूसरी हो। पुरानी प्रथाओं और मान्यताओं के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। "वे सब बन्धन, जो ग्रामीण जीवन को सन्तुष्ट रूप प्रदान करते हैं, ढीले पड़ जाते हैं नवीन सम्बन्ध शीघ्रता से नहीं स्थापित हो पाते। फलतः जीवन अधिकाधिक वैयक्तिक हो जाता है।" जलवायु के अत्यधिक परिवर्तन, दोषपूर्ण भोजन, स्थानाभाव के कारण अत्यधिक भीड़-भाड़, सफाई का अभाव तथा पारिवारिक जीवन से विच्छेद होने के बाद पुनः मिलने का प्रलोभन, इन सबका संयुक्त प्रभाव श्रमिक के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा पड़ता है। कुछ दुर्व्यसनों के कारण श्रमिक के नैतिक जीवन का और भी पतन होता है। शराब और जुआ इन दुर्व्यसनों के उदाहरण हैं जो कि गाँवों में अपेक्षाकृत अज्ञात हैं। ग्रामीण श्रमिक का काम कभी-कभी होता है और काम के बीच उसे लम्बे-लम्बे विश्राम लेने

की आदत रहती है। इसके विपरीत औद्योगिक श्रमिक होने पर अनुशासित जीवन मे उसे नियमित रूप से लगातार कई घटे काम करना पडता है, इससे उसके स्वास्थ्य और मानसिक शक्ति पर भी बुरा प्रभाव पडता है। उसके बार-बार गाँव लौटने तथा अन्य कारणो से मालिक और श्रमिक के बीच सम्पर्क की घनिष्ठता नष्ट हो जाती है और उनमें प्रभावपूर्ण सगठन का भी अभाव हो जाता है। श्रमिक जब लम्बी अनुपस्थिति के बाद लौटता है तो यह निश्चित नही होता कि उसे काम मिलेगा ही। पुन काम मिलने की कठिनाइया उसे साहूकार, मजदूरो के ठेकेदार, शराब बेचने वाले आदि की दया पर आश्रित कर देती है।[1]

जिस प्रकार गाँवो के आर्थिक भार को नगर-प्रवास हल्का कर देता है, उसी प्रकार गाँव नगरो की वृत्तिहीनता के प्रति एक प्रकार की सुरक्षा (बीमा) प्रदान करते हैं। ग्रामीण और नागरिक जीवन का सयोग दोनो (नगरो और गाँवो) के लिए हित-कर होता है। इससे ग्रामीण जीवन मे बाहरी दुनिया का थोडा-सा ज्ञान आ जाता है तथा पुरानी जर्जर प्रथाओ की शृखला तोडने मे सहायता मिलती है। इसी प्रकार नागरिको को भारतीय जीवन की वास्तविकताओ का सूक्ष्म ज्ञान होता है। इन सब बातो को ध्यान मे रखकर श्रम-आयोग का सुविचारित मत यह था कि इस समय गाँवो से सम्बन्ध की कडी को बनाए रखना लाभदायक है और उद्देश्य यह होना चाहिए कि समाप्त करने के बजाय इसे सुनियमित और प्रोत्साहित किया जाए। (देखिए श्र० आ० प्र० १७-२०)

४. औद्योगिक श्रम का प्रभाव—हम भारतीय औद्योगिक श्रम की कमी और मँहगेपन की ओर सकेत कर चुके है।[2] इस अभाव के वास्तविक कारण बम्बई-जैसे नगरो मे गृह और निवास की भयकर परिस्थिति, कम मजदूरी और रहन-महन का ऊँचा व्यय तथा मजदूरो को भरती करने के लिए सुव्यवस्थित सगठन का अभाव है। इन सबके अतिरिक्त समय-समय पर प्लेग और इनफ्लुएंजा तथा अकाल से होने वाली अधिक सख्या म मृत्यु भी श्रम की कमी को और बढा देती है। श्रम का देशान्तर गमनीय स्वभाव इस कमी का अनुभव और तीव्र कर देता है। कुशल श्रम का एक प्रकार से अभाव ही है। इसका कारण यह है कि यहा आधुनिक उद्योगो के लिए श्रमिको के प्रशिक्षण की सुविधाओ का अभाव है। प्राविधिक एव व्यापारिक अनुभव से युक्त मिस्त्री अथवा फोरमैन-वर्ग के अभाव का कारण साधारण शिक्षित-वर्ग की हर प्रकार के हाथ के काम के प्रति अरुचि भी है।

५ भरती करने का ढग—अब भी अधिकाश मिलो के प्रबन्धक सीधे सीधे ही आवश्यक श्रम की भरती नहीं करते। कुछ हालतो मे ठेकेदारो द्वारा गाँवो मे घूम घूमकर भरती करना आवश्यक हो सकता है। उदाहरणार्थ, आसाम के चाय के बगीचो मे ऐसा ही होता है, परन्तु अब साधारणतया ऐसा नही होता। लेकिन अब भी सामान्यत

१. देखिए बी० हर्स्ट, 'लेबर एण्ड हाउसिंग इन बाम्बे', आमुख-लेखक श्री स्टैनली रीड, पृ० ५-६।
२. देखिए खण्ड १, अध्याय ३, सैक्शन २४।

मध्यस्थो (जॉबर) या फोरमैन के माध्यम से ही श्रमिको की भरती होती है। जहाँ पर विभागाध्यक्ष यूरोपियन हैं वहाँ उनके और मजदूरो के बीच भारतीय मध्यस्थ (जॉबर) एक अनिवार्य कडी है। उसकी महत्ता का एक कारण यह भी है कि नियोक्ता श्रम-सघो से दूर रहते हैं। यह कभी-कभी हडताल के नेता का भी काम करता है।[1] उसके कुछ कार्य पाश्चात्य श्रम-सघ के अधिकारियो की भाँति हैं। वह अनेक प्रकार से श्रमिको के लिए अनिवार्य बन जाता है। वह उन्हे धन देता है, झगडो मे मध्यस्थ का काम करता है और कुटुम्ब-सम्बन्धी मामलो मे राय देता है। चूँकि सभी श्रमिक उसी के द्वारा भरती किये जाते हैं, अत नवीन श्रमिक स्थायी अथवा अस्थायी किसी भी प्रकार का काम पाने का एक-मात्र उपाय उसे घूस देना समझते हैं। कलकत्ता की जूट-मिलो मे दस्तूरी के नाम पर घूसखोरी खूब फैली हुई है और सरदार द्वारा इधर-उधर से वसूल की गई रकमो से उसकी आय कभी-कभी मासिक मजदूरी की पाँचगुना तक हो जाती है, यहाँ तक कि तनख्वाह देने वाले छोटे-छोटे क्लर्क भी इस प्रकार की आमदनी करते हैं। भरती करने वाला एजेण्ट प्राय ऐसा प्रबन्ध करता है कि श्रमिक काम छूटने के भय से उसे कुछ-न-कुछ देने पर सदैव मजबूर होता है। स्त्रियो को भी, विशेषकर विधवा होने पर, ओवरसियरो द्वारा मजदूरो पर लगाये गए भार मे भाग बँटाना पडता है।[2]

श्रम-आयोग की सिफारिशो के अनुसरण म कितने ही बडे बडे सगठनो, जैसे ई० डी० सासून एण्ड कम्पनी तथा बर्मा शैल कम्पनी आदि, ने मजदूरो की भरती और कल्याण के लिए 'विशेष श्रम-कल्याण अधिकारी' नियुक्त किए हैं। बम्बई के मिल-मालिक सघ ने 'बदली-नियन्त्रण-पद्धति' जारी की है जिसमे केवल कार्ड रखने वालो को ही रिक्त स्थान पर रखा जाता है। कितने ही जूट-मिलो ने श्रम-नियोजनालय (ब्यूरो) स्थापित किए हैं जिनका एक प्रधान काम श्रमिको की भरती है।

कानपुर श्रम-जाँच समिति (कानपुर लेबर इन्क्वायरी कमेटी) ने श्रमिको की नियुक्ति से मिस्त्रियो को बिलकुल अलग करने का सुझाव रखा और सरकारी नियन्त्रण मे श्रम-विनिमय की स्थापना पर जोर दिया जो कि फैक्टरियो की माँग पर प्रार्थियो को नौकरी देंगे।[3] उत्तर भारत नियोक्ता सघ, कानपुर ने इन्ही आधारो पर एक वृत्ति-विनिमयालय (एम्प्लायमेण्ट एक्सचेञ्ज) स्थापित किया है। यह वाञ्छनीय होगा कि नियमित छुट्टियाँ मिलें और छुट्टियो मे भत्ता देना भी शुरू किया जाए, ताकि मध्यस्थो (जॉबर) की शक्ति क्षीण हो जाए और एक सन्तुष्ट एवम् कुशल श्रम-शक्ति का निर्माण हो।[4]

जनवरी, १९४० मे हुए श्रम-मन्त्री सम्मेलन मे भारतीय श्रमिको को सवेतन

---

१. भारत के विभिन्न भागों में 'जॉबर' के भिन्न-भिन्न नाम है, यथा सरदार, मुकद्दम, मिस्त्री आदि।
२. देखिए, जे० एच० केल्मैन, लेबर इन इण्डिया, पृ० १०८-९।
३. रिपोर्ट, पैरा १३९-४०।
४. भ० श्रा० प्र०, २३-२७।

छुट्टी देने के प्रश्न पर भी विवाद हुआ। सम्मेलन ने इस प्रश्न पर केन्द्रीय अधिनियम का पक्ष लिया।

भरती करने के ढग को अधिक युक्तियुक्त बनाने की कोशिश की जा रही है। सरकार ने प्रमुख औद्योगिक केन्द्रो पर रोजगार-सेवा (Employment Service) की स्थापना द्वारा नियोक्ताओ के लिए अपनी आवश्यकतानुसार श्रमिको को भरती करने का अवसर दिया है। अनेक राज्यो मे Decasualization Schemes चालू है। उत्तर प्रदेश मे इनके अन्तर्गत १९५८ मे ६,८९१ व्यक्ति रोजगार के लिए रजिस्टर किए गए तथा ८,५९२ को रोजी मिली। अन्य राज्यो मे भी इस प्रकार की योजनाएँ चालू है।

६ पारिश्रमिक देने की अवधि—बम्बई की प्राय सभी मिलो मे वेतन माहवारी दिया जाता है। यह अगले महीने की ८ तारीख को दिया जाता है। इस प्रकार भरती होने के बाद नये मजदूर को वेतन के लिए छ सप्ताह तक प्रतीक्षा करनी पडती है। मासिक वेतन देने से काम छोडने वाले श्रमिक को यह आवश्यक हो जाता है कि वह एक महीने पहले सूचना दे। कितने ही श्रमिक इस नियम की अज्ञानता मे बिना सूचना दिए ही काम छोड देते हैं और इस प्रकार एक महीने के वेतन से हाथ धो बैठते हैं। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि श्रम की अवधि जितनी ही लम्बी होगी, पारिश्रमिक मिलने मे उतनी ही देर भी होगी। कलकत्ता की जूट-मिलो मे साप्ताहिक पारिश्रमिक मिलता है, अत केवल एक सप्ताह की ही मजदूरी रुकी रहती है। अहमदाबाद मे मजदूरी दो सप्ताह बाद मिलती है अर्थात् १४ या १६ दिन बाद।

१९३६ मे पास किये गए पारिश्रमिक देने के अधिनियम के अनुसार (१) मजदूरी की अवधि एक महीने से अधिक न रखी जाए,[1] (२) सब मजदूरी सिक्को या करेंसी नोटो मे दी जाए, (३) १००० से अधिक कर्मचारियो के रेलवे या अन्य किसी भी औद्योगिक कारखाने मे प्रत्येक व्यक्ति की मजदूरी ७वे दिन के समाप्त होने के पूर्व मिल जानी चाहिए और अन्य रेलवे तथा औद्योगिक कारखानो मे मजदूरी की अवधि के अन्तिम दिन से दसवे दिन तक अवश्य मिल जानी चाहिए।

पारिश्रमिक भुगतान (सशोधन) अधिनियम १९५७ मे पास किया गया और पहली अप्रैल १९५८ से यह अधिनियम लागू किया गया। सशोधित नियम के अन्तर्गत ४०० रु० प्रतिमाह तक पाने वाले व्यक्ति है, जबकि १९३६ के अधिनियम के अन्तर्गत २०० प्रतिमाह तक पाने वाले व्यक्ति ही थे।

७ मजदूरी मे से कटौती—१९५७ के सशोधित अधिनियम के अनुसार नियोक्ता,

---

१. श्रम सदस्यों द्वारा प्रस्तावित उपयक्त अधिनियम का सशोधन, जिसमें १५ दिन से ७ दिन पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था थी, बहुमत न प्राप्त कर सका। इसका प्रधान कारण मासिक वेतन पाने वालों का विरोध था। उनका कहना था कि मकान का किराया और खर्च के बिल महीने पर आएँगे और उन्हें तनख्वाह सप्ताह पर मिलेगी, तब तक वह समाप्त हो जाएगी—'इण्डियन इअर बुक' १९४४-४५, पृ० ५१५।

सरकार, परिनियत आवास परिषद् इत्यादि द्वारा दिये गए रहने के मकान के लिए कटौती, बीमा चुकाने के लिए कटौती, तथा सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदने के लिए कटौती। १९५७ के संशोधित अधिनियम के अनुसार सेवा-नियम (Service Rules) के अन्तर्गत किये गए जुर्माने कटौती में सम्मिलित नहीं होंगे।

जुर्माना—किसी भी वृत्ति-प्राप्त व्यक्ति पर जुर्माना उसी दशा में किया जा सकता है जबकि हानि या भूल केवल भली प्रकार अधिसूचित कार्यों के सम्बन्ध में उस स्थान पर हो, जहाँ काम होता है। पन्द्रह वर्ष से नीचे के किसी भी व्यक्ति पर जुर्माना नहीं किया जा सकेगा।

इस अधिनियम के परिणामस्वरूप जुर्माना करना प्राय बन्द-सा हो गया है, परन्तु नियोक्ताओं ने अधिनियम से बचने के कितने ही तरीके निकाल लिए है। उदाहरण के लिए, वे मजदूरों को बिना वेतन के छुट्टी पर जाने के लिए विवश करते हैं तथा मजदूरी की भेदात्मक दरें प्रारम्भ करते हैं।

८. काम के घंटे और भ्रमणशील प्रवृत्ति—भारत के नियोक्ता की हमेशा से यह शिकायत रही है कि भारतीय श्रमिक लगातार स्थिर रूप से काम नहीं करता। वह अनेक बहाने बनाकर इधर-उधर समय बिताया करता है। काम करने वाले अपनी मशीनों से अनुपस्थित रहते है जिनके बदले दूसरे आदमियों को लगाना पड़ता है। १९०८ के भारतीय फैक्ट्री आयोग (इण्डियन फैक्ट्री कमीशन) के अनुसार "यद्यपि भारतीय श्रमिक थोड़ी देर तक काफी शक्ति और कुशलता से काम कर सकता है, परन्तु स्वभावत वह काम को काफी देर तक फैलाए रहना चाहता है तथा उसकी प्रवृत्ति आराम के साथ काम करने और परिश्रम करने की अनिच्छा होने पर विश्राम लेने की होती है।" काम के घण्टों में कमी, सफाई की दशा में सुधार, कारखानों में हवादानों का प्रबन्ध, उचित निरीक्षण आदि से घूमने की आदत कम हो जाएगी और श्रम की कुशलता बढ़ जाएगी। उदाहरण के लिए, कलकत्ता की जूट-मिलों में भ्रमण की आदत कम है क्योंकि वहाँ श्रमिकों के काम करने की पारी (शिफ्ट) कम घण्टों की है। यही हालत अभियन्त्रण की दुकानों की है जहाँ काम के घण्टे आठ से अधिक नहीं हैं।

१९४८ के कारखाना-अधिनियम के अन्तर्गत काम करने के घण्टे ४८ प्रति सप्ताह तथा ९ घण्टा प्रतिदिन निश्चित किये गए है। काम का अधिकतम फैलाव किसी दिन १०½ घण्टे तक हो सकता है किन्तु इसमें बीच में आराम के लिए दिया गया मध्यान्तर भी शामिल है। बच्चों के लिए कार्यावधि ४½ घण्टा प्रतिदिन रखी गई है और कार्यावधि का अधिकतम फैलाव ५ घण्टे तक हो सकता है। जहाँ कार्यावधि की उपर्युक्त सीमाओं का उल्लघन किया जाता है, वहाँ अधिनियम में यह व्यवस्था है कि (अ) प्रत्येक श्रमिक के काम के घण्टे प्रतिदिन १० घण्टे से अधिक नहीं और प्रति सप्ताह ५० घण्टे से अधिक नहीं होना चाहिए तथा (ब) किसी भी दिन काम का फैलाव १२ घण्टे से अधिक नहीं होना चाहिए। जो व्यक्ति निश्चित अवधि से अधिक काम करेंगे उन्हें उस समय के लिए सामान्य मजदूरी की दूनी दर में पारिश्रमिक दिया

जाएगा ।

९. **मिलो मे काम करने की कठोर परिस्थिति**—हवा और प्रकाश का प्रबन्ध कपडे की मिलो मे पर्याप्त कठिनता प्रस्तुत करता है। बम्बई जैसे शहरो मे मिले कई मजिलो मे होती है। अन्तिम मजिल को छोडकर शेष मजिलो मे छत स प्रकाश नही आ सकता। जितने भी प्रयोग किये गए हैं उनसे मालूम हुआ है कि गरमी मे पर्याप्त रूप से हवादान न होने से कुशलता मे २० प्रतिशत तक कमी हो जाती है। नमीकरण एक अन्य कठिन समस्या है। भारत की जलवायु स्वत नम नही है। कपडे की बुनाई के लिए इसी प्रकार की जलवायु आवश्यक है। कपडे क धागे को टूटने से बचाने के लिए कारखानो मे कृत्रिम उपायो से नमी रखना आवश्यक हो जाता है। जब इस प्रकार का नमीकरण अन्दर भाप पहुँचाकर तथा गन्दे पानी क प्रयोग से किया जाता है ता यह काम करने वालो के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। भारत सरकार ने इस विषय के एक विशेषज्ञ की नियुक्ति की है जिसका काम नमीकरण की सर्वोत्तम विधि बताना है।

जलपान गृहो की अत्यन्त आवश्यक्ता है जिसम स्त्री पुरुष दोनो वर्गों के लोग जा सक। पीन के लिए शुद्ध जल की पूर्ति, स्नान-सम्बन्धी व्यवस्था—जो कि एक गरम देश मे अत्यन्त आवश्यक है—स्वच्छ शौचालय आदि अन्य बाते है जिन पर श्रमिक की सुविधा और कुशलता बढाने के दृष्टिकोण से अभी तक नियोक्ताओ ने पर्याप्त ध्यान नही दिया है। विभिन्न क्षेत्रो के श्रमिको की सुरक्षा और कल्याण के लिए अधिनियमो द्वारा भी काम करने की परिस्थितियो मे सुधार करन का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए, भारतीय डॉक श्रमिक अधिनियम १९३४ (Indian Dock Labourers Act, 1934), जा १० फरवरी १९४८ से लागू हो सका, के अन्तर्गत कार्य के स्थान पर मेडबन्दी और उचित प्रकाश, तथा उन स्थानो की पहुँच को सुरक्षित करने की व्यवस्था है। १९५३ म इस अधिनियम म पुन सशोधन किय गए।

१०. **भारतीय कारखानो मे अनुपस्थिति**—भारतीय श्रमिको के एक बडे भाग (प्रतिशत) की अनुपस्थिति कारखानो के काम को अत्यन्त ही कठिन बना देती है। मिल मालिको का कथन है कि बोनस तथा मजदूरी बढन या मिलन से अनुपस्थिति बहुत बढ जाती है। भारतीय श्रमिक जीवन-यापन के लिए पर्याप्त धन मिल जाने पर सन्तुष्ट हो जाता है। अनुपस्थिति की मात्रा (जो बम्बई मे ८ से १२ प्रतिशत तक है) मौसम के अनुसार भी बदलती रहती है। यह मानसून के समय तथा विवाहादि अवसरों पर अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है अर्थात् मार्च स जून तक बहुत अधिक होती है तथा दिसम्बर और जनवरी म सबसे कम रहती है।

उपस्थिति के लिए भत्ते (अलाउन्स) देकर कुछ सफलता प्राप्त की गई है। टैक्सटाइल टैरिफ बोर्ड (वस्त्र प्रशुल्क-मण्डल) ने श्रम सचय के निर्माण पर जोर दिया है। इससे अस्थायी 'बदली वालो' की आवश्यक्ता न पडेगी और छुट्टी देने के काम म भी सरलता होगी (रिपोर्ट, पैरा ६०)।

एक कारखाने से दूसरे कारखान म श्रम के आने-जाने से भी अनुपस्थिति अधिक

होती है।[1] बम्बई, मद्रास और नागपुर जैसे औद्योगिक केन्द्रों में औसतन मिल-कर्मचारी १½ वर्ष में प्राय: सब-के-सब बदल जाते हैं। इस प्रकार कर्मचारियों की कुशलता घटने के साथ ही-साथ उत्पादन-लागत भी बढ़ जाती है।

११ औद्योगिक श्रम की कार्यक्षमता—सर क्लीमेंट सिम्पसन के अनुमान के अनुसार, लकाशायर की मिल का एक श्रमिक २ ६७ भारतीय श्रमिकों के बराबर काम करता है। डॉ० गिलबर्ट स्लेटर के मतानुसार, इन गणनाओं में भारतीय श्रमिक की अकुशलता अधिक बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित की गई है। भारत और इंगलैंड में एक करघे (लूम) को चलाने के लिए लगाए गए श्रमिकों की सख्या से परिस्थिति का यथार्थ अकन नहीं होता। भारत में अधिक व्यक्ति लगाए जाने का कारण यह है कि इनके उत्पादन का मूल्य दिए गए पारिश्रमिक की अपेक्षा अधिक होता है। इंगलैंड में पारिश्रमिक अधिक होने के कारण श्रमिकों की सख्या में मितव्ययता करनी पड़ती। डॉ० स्लेटर भी यह स्वीकार करते हैं कि यद्यपि भारतीय श्रमिक की अकुशलता अधिक बढ़ा चढ़ाकर प्रदर्शित की जाती है परन्तु इसका अस्तित्व असदिग्ध है। इंगलैंड के श्रमिकों की अपेक्षाकृत कहीं अच्छी शारीरिक गठन, लगातार काम करने की शक्ति, अनुशासनबद्धता के कारण इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे भारतीय श्रमिक की अपेक्षा अधिक कुशल हैं। उपयुक्त प्रकार के गणितात्मक अनुमानों को अपमान में सावधानी से काम लेना चाहिए। भारतीय मिलों के कम उत्पादन का उत्तरदायित्व केवल भारतीय श्रमिक पर ही नहीं रखा जा सकता। इसका आंशिक कारण प्रबन्ध की अकुशलता भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त कपास की खराबी के कारण भी सूत बराबर टूटा करता है परिणामस्वरूप अधिक आदमी काम में लगाने पड़ते हैं। यह भी शिकायत है कि लकाशायर के मिल मालिकों की तरह भारत के मिल मालिक अद्यतन मशीनों का उपयोग नहीं करते।

उद्योग-आयोग के मतानुसार निम्नतम मजदूरी के बावजूद भारतीय श्रमिक का उत्पादन पाश्चात्य श्रमिकों से सस्ता नहीं पड़ता। १९०८ में डा० नैयर ने कहा कि "यदि लकाशायर का एक श्रमिक भारत के २ ६७ के बराबर है तो लकाशायर में काम करने वाले की मजदूरी ४ पौंड या ६० रु० है, जबकि मद्रास के एक मजदूर की मजदूरी १५ रु० है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समान व्यय करने पर अंग्रेज मिल-मालिक की तुलना में भारतीय मिल-मालिक लगभग दूना काम करा लेते हैं।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि वस्तुत भारतीय श्रमिक अधिक कुशल है। किन्तु अब

---

१. काम के घण्टों और पारिश्रमिक-सम्बन्धी असन्तोष के कारण एक कारखाने से दूसरे कारखाने में बदली होती रहती है। प्रामाणिक मजदूरी के अभाव में कारखाना छोड़ने की भावना और प्रबल होती है—(आर० के० दास फैक्ट्री लेबर इन इंडिया, पृ० ४४-५)। मध्यस्थ (जाबर) के कारण भी इस काम में काफी बुराइयां पैदा हो गई हैं। इन्हें दूर करने के लिए सरकारी वृत्त ब्यूरो को काम में लाया जाएगा।

तो यह सर्वमान्य है कि पाश्चात्य श्रमिक की तुलना मे भारतीय श्रमिक अकुशल है।[1]

१२ भारतीय श्रम की अकुशलता के कारण—अकुशलता के कुछ स्थायी कारण हैं, परन्तु कुछ अस्थायी और उपचार-योग्य कारण भी है। प्रथम प्रकार के कारणो मे भारत की जलवायु का नाम लिया जा सकता है जो कि अधिक ऊँची कार्यक्षमता के प्रतिकूल है। उदाहरण के लिए, यदि हम कपास के उद्योग के बारे मे सोचें तो भारत की मिलो की अपेक्षा लकाशायर की ठण्डी और प्राणदायी जलवायु बहुत ही अनुकूल है। इस प्रकार लकाशायर अधिक लाभप्रद स्थान पर स्थित है। भारत की उष्ण जलवायु को ध्यान मे रखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि काम के घण्टे अब भी काफी लम्बे हैं और इस कथन म पर्याप्त सत्य है कि भारतीय श्रमिक की ढील डालने और विश्राम लन की आदत स्वास्थ्य-रक्षा का एक उपाय है जिसे वह अचेतन रूप से अधिक कठोर परिश्रम से अपनी शारीरिक रक्षा के लिए अपनाता है। यह निर्विवाद है कि भारतीय श्रमिक की शारीरिक शक्ति एक अग्रेज की अपेक्षा कम है। इसके दो प्रधान कारण है—(१) बीमारी के कारण होने वाली हानियाँ, (२) भोजन मे कमी। जैसा कि स्पष्ट है भारत के गावो मे भी मलेरिया, प्लेग, हैजा, काला अजार, हुक वर्म जैसी बीमारिया होती है, परन्तु घनी आबादी वाले औद्योगिक क्षेत्रो मे उनका प्रभाव कही अधिक है। अंधेरी और घनी बसी कोठरियो (स्लम्स) मे बीमारियाँ पलती है। इन स्थानो म उनके प्रसार की आदर्श दशाएँ होती है।

जहा तक भोजन की कमी का सवाल है, वह समस्त भारत से सम्बन्धित है और इसका विस्तृत विवेचन अध्याय ४ म किया जाएगा।

१३ आवास (हाउसिंग) की परिस्थितियाँ—अधिकाश औद्योगिक नगरो मे ऐसी घनी आबादी और सफाई की दुर्व्यवस्था है जिस पर विश्वास नही किया जा सकता। बहुत अंशो म यह श्रम की अकुशलता के कारण है। उन औद्योगिक क्षेत्रो मे, जहाँ कारखान नगर से कुछ दूर स्थित है, मजदूरो की आवास सम्बन्धी समस्या अपेक्षाकृत सरल है। यही स्थिति कलकत्ता के औद्योगिक क्षेत्रो में भी है। इन स्थानो मे बम्बई की अपेक्षा कम दाम पर भूमि मिल जाती है। यहाँ मजदूरो के घर झोपडियो की कतारे हैं जिन्हे बस्ती कहा जाता है। ये झोपडे मिल-मालिको द्वारा नही बनाये गए हैं और मिलो म काम करने वालो को उचित किराए पर दिए जाते है। कुछ स्थानो, जैसे कानपुर कलकत्ता और अहमदाबाद, म बुद्धिमान् नियोक्ताओ ने स्वय श्रमिको के लिए रहने के स्थान बनवाए है ताकि वे श्रम-बाजार पर प्रभाव स्थापित कर सकें

१- श्री (अब हिज एक्सेलेन्सी सर) एच० पी० मादी ने, जो कि बम्बई मिल-मालिक सघ के चेयरमैन थे, अपनी मौखिक गवाही में श्रम-आयोग के समक्ष श्रम-कुशलता के निम्न आकडे दिये 'जापान में एक बुनने वाला ६ करघे देखता है, उसकी कुशलता ६५% है। चीन म एक बुनने वाला ४ करघे देखता है, उसकी कुशलता ८०% है। बम्बई में एक बुनने वाला २ करघे देखता है, उसकी कुशलता ८०% है। चीन और जापान की गणना के आधार पर एक बुनने वाला बम्बई में चीन, जापान की अपेक्षा २००% और ३००% अधिक पाता है।'

और उस प्रकार के श्रम को प्राप्त कर सके जिस पर प्रधान रूप से कपास की मिलें चलती है।[1] अन्य औद्योगिक केन्द्रों की अपेक्षा अहमदाबाद में मजदूरों के रहन की व्यवस्था अधिक खराब है। प्राय सभी औद्योगिक केन्द्रों में घनी आबादी की समस्या बढ़ती गई है, क्योंकि औद्योगिक विकास के लिए स्थान चुनने पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखा जाता। इस दुर्व्यवस्था का यही कारण है। श्रमिक वर्ग में से अधिकांश चालों में रहते हैं जोकि प्राय एक कमरे की होती है, लेकिन इनमें दो से अधिक कमरे नहीं होते। इन चालों का प्रधान उद्देश्य सस्ते-से-सस्ते में अधिक-से-अधिक श्रमिकों को निवास-स्थान देना है।[2]

१४ आवास की कठिनाइयों और स्वच्छता की कमी के दुष्परिणाम—"अच्छे घरों का अर्थ है, गृह-जीवन की सम्भावना, सुख और स्वास्थ्य, बुरे घरों का अर्थ है, गन्दगी, शराबखोरी, बीमारी, आचारहीनता, व्यभिचार और अपराध। इनके लिए अस्पताल, जेल और पागलखानों की आवश्यकता होती है, जहाँ समाज के भ्रष्ट और पतित लोगों को छिपाया जाता है जो स्वयं समाज की लापरवाही के ही परिणाम हैं।" अपूर्ण और गन्दे मकान भी औद्योगिक अशान्ति का कारण है। ये सब बुराइयाँ न्यूनाधिक मात्रा में बम्बई में पाई जाती हैं। इनमें से एक सबसे बड़ी बुराई अधिक संख्या में शिशु मृत्यु है जो बम्बई की गन्दी बस्तियों (स्लम्स) में पाई जाती है। मृत्यु-संख्या निवास के कमरों के विपरीत अनुपात में है। उदाहरण के लिए, १९३६ में एक कमरे वाले निवास स्थानों में मृत्यु संख्या ७८३ प्रतिशत थी।[3] सबसे गन्दे स्थानों में मृत्यु-दर २९८ प्रति-हज़ार थी जबकि साधारण दर २०० से २५० प्रति हज़ार ही थी।[4] अन्त में चाल के जीवन की भयंकर दशाएँ तथा गोपनीयता के अभाव के कारण लोग अपने कुटुम्ब को नहीं ला पाते, जिससे श्रम की कुशलता और स्थिरता पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। श्रम जाँच समिति (लेबर इनवेस्टीगेशन कमेटी) इस परिणाम पर पहुँची कि शिक्षा और औषधि-सम्बन्धी सहायता की भाँति सरकार को औद्योगिक आवास का भी उत्तरदायित्व सँभालना चाहिए।

१५ सुधरे आवासों के लिए प्रयास—१९२० तक नगरपालिका (म्युनिसिपैलिटी) ने भी अपने कर्मचारियों के लिए २,६०० मकान बनवाए और २,२०० के लिए स्वीकृति दी। पोर्ट ट्रस्ट ने ५,००० व्यक्तियों के लिए मकान बनवाए। इधर नगर की जन-संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ रही थी, परन्तु मिल-मालिकों ने अपने मज़दूरों के आवास के लिए कोई प्रयास नहीं किया। घनी आबादी से बचने के लिए तथा अच्छी आवास-

१. श्रमिक नियोक्ताओं द्वारा दी गई आवास-सुविधाओं से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाते। कारण यह है कि इसमें उनकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचती है, क्योंकि हड़ताल और मिल-बन्दी के समय वे उन आवासों से निकाल दिये जाते हैं। उनके अन्य कार्यों की, जिन्हें नियोक्ता अनुचित समझता है, निगरानी भी अवश्य होगी। बी० शिवराव, 'इण्डस्ट्रियल वर्कर इन इण्डिया'।

२ हर्स्ट—पूर्वोद्धृत, पृ० २०, श्रम-आयोग १, रिपोर्ट, पैरा -४१ भी देखिए।

३. रिपोर्ट आफ़ दि रेण्ट इन्क्वायरी कमेटी, बम्बई, १९३९, पैरा २६।

४. अ० आ० प्र०, २७१।

व्यवस्था के लिए उद्योग आयोग ने कुछ अपवादसहित नई फर्मों की स्थापना के लिए स्वीकृति देना बन्द करने की सिफारिश की।[१] औद्योगिक विकास के लिए एक विशिष्ट क्षेत्र चुनने, रेलवे के कारखाने नगर से उचित दूरी पर स्थापित करने, रेलवे, सरकार और सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा अपने नौकरों को निवास-स्थान देने, उपनगर-निर्माण के लिए संचार-साधन के आयोजन तथा नगर में स्थित आवासों में रहने की संख्या का निश्चित प्रमाप तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा निर्माण योजना बनाने और कार्यान्वित करने की सिफारिशें भी की। १९१४-१८ के युद्ध के उपरान्त बम्बई सरकार द्वारा इस समस्या को सुलझाने के लिए सुविस्तृत योजना तैयार की गई। इसके लिए ६ करोड़ के विकास-ऋण तथा बम्बई आने वाली सभी कपास पर १ रु० प्रति गाँठ के हिसाब से नगर-कर (टाउन ड्यूटी) लगाकर आवश्यक धन इकट्ठा किया गया। किन्तु इस प्रकार बनी कितनी ही चालें, विशेषकर 'वोरली' की चालें, लगभग दस साल तक खाली पड़ी रहीं। इनमें रहने के लिए मजदूरों के आकर्षित न होने के निम्न कारण थे—वहां तक पहुँचने की कठिनाइयां, बाजार-सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव, उनका सीमेण्ट से बना होना—जिसके कारण वे गरमी में अधिक गरम तथा जाड़े में अत्यन्त ठण्डी रहती हैं—किराये की ऊँची दर तथा प्रकाश-सम्बन्धी व्यवस्था और पुलिस-सुरक्षा का अभाव। इन दोषों को दूर करने के लिए कुछ प्रयास किये गए हैं।

कानपुर, नागपुर, अहमदाबाद, मद्रास इत्यादि स्थानों में अधिक सुविधाजनक परिस्थितियां हैं। यहां पर मिल-मालिकों ने कर्मचारियों के हित पर अधिक ध्यान दिया है। इससे दोनों दलों को लाभ हुआ है। इस सम्बन्ध में एम्प्रेस मिल्स, नागपुर और टाटा के जमशेदपुर के लोहे और इस्पात के कारखानों के प्रबन्धकों द्वारा किये गए आवास-सम्बन्धी स्तुत्य प्रयत्नों की चर्चा करना उचित है। इस समय कर्मचारियों के मकान की समस्या को हल करने में प्रधान कठिनाइयां निर्माण के लिए उचित स्थलों का अभाव, श्रम तथा भवन-निर्माण सामग्री की ऊँची कीमतें और अभाव हैं।

श्रम आयोग ने अनेक प्रकार के सुझाव पेश किये—(१) भूमि प्राप्त करने के अधिनियम को इस प्रकार संशोधित किया जाए ताकि मिल-मालिक कर्मचारियों के हेतु मकान बनवाने के लिए भूमि प्राप्त कर सकें। अतएव १९३३ में स्वयं भारत सरकार ने इस अधिनियम को संशोधित किया। (२) प्रान्तीय सरकारें उद्योग और नगर-क्षेत्रों का सर्वेक्षण कर आवास-सम्बन्धी आवश्यकताओं का पता लगाएं और सब दलों के सहयोग के लिए व्यावहारिक योजनाओं पर परस्पर-परामर्श का प्रबन्ध करें। (३) सरकार को एक निम्नतम मानदण्ड स्थापित करना चाहिए जिसमें घनफल, स्थान, हवादारी, प्रकाश आदि की उचित व्यवस्था हो। (४) जहाँ आवश्यक हो नगर आयोजन अधिनियम पास किये जाएं। (५) प्रत्येक इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट पर वैध-रूप से श्रमिक-वर्ग के लिए भवन-निर्माण का उत्तरदायित्व रखा जाए। (६) सरकारी आवास-समितियों को प्रोत्साहन दिया जाए। (७) स्वास्थ्य, सफाई और आवास से सम्बन्धित उपनियमों को संशोधित एवं अद्यतन बनाया जाए और उन्हें कठोरता के

१. यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया और बम्बई खास में नई मिलें नहीं बनायी जातीं।

साथ लागू किया जाए। (श्रम आयोग रिपोर्ट, अध्याय १५)[1]

कानपुर श्रम जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट (पैरा २११-१२) में सिफारिश की कि प्रान्तीय सरकार को ५० लाख ऋण लेना चाहिए और ५ वर्ष तक १० लाख प्रतिवर्ष इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट को श्रमिकों के लिए १२,००० मकान बनवाने के लिए दें। १६३८ में बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त किराया जाँच समिति (रेण्ट इन्क्वायरी कमेटी) ने एक दस वर्षीय आवास-योजना अपनाने की सिफारिश की, जिसमें राज्य की सहायता से नगरपालिकाओं द्वारा छोटे-छोटे और सस्ते मकानों के निर्माण का सुझाव रखा गया था। समिति ने यह भी सुझाव रखा कि १०,००० या इससे अधिक श्रमिकों को रखने वाला नियोक्ता कम-से-कम २५ प्रतिशत श्रमिकों के लिए आवास की व्यवस्था करे।[2]

तीसरी पंचवर्षीय योजना में मकानों तथा शहरों की उन्नति पर २२७ करोड रुपया रखा गया, चौथी योजना में ६८० करोड रुपया। निजी क्षेत्र में ११५० करोड रुपया रखा गया और चौथी योजना में १८७० करोड रुपया रखा जाएगा।[3]

औद्योगिक आवास सम्बन्धी आधुनिक प्रयत्न—श्रमिकों के आवास के लिए इधर हाल में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये गए हैं। अप्रैल १६४८ में केन्द्रीय सरकार ने १० वर्ष में श्रमिकों के लिए १० लाख मकान बनाने का निर्णय किया। अप्रैल १६४६ में *श्रमिकों के आवास के लिए अपेक्षित पूँजी के आधार पर एक नई योजना* बनायी गई। इसके अन्तर्गत ⅔ पूँजी केन्द्रीय सरकार तथा ⅓ पूँजी प्रान्तीय सरकार या उसके द्वारा प्रस्तावित नियोक्ता देता। यह योजना भी सफल नहीं हुई क्योंकि राज्य सरकारों से उचित सहयोग नहीं मिल सका।

राज्यीय सरकारों, नियोक्ताओं और श्रमिकों के प्रतिनिधियों से परामर्श करने के बाद भारत सरकार ने सितम्बर, १६५२ में आर्थिक सहायता प्राप्त औद्योगिक आवास-योजना (सब्सिडाइज्ड इण्डस्ट्रियल हाउसिंग) को अन्तिम रूप दिया। यह *१६४६ की योजना का संशोधित रूप था।*

१६६६ के अन्त तक इस योजना के अन्तर्गत ६४,५४६ मकान बन जायेंगे। इसके लिए तीसरी योजना में २६ ८ करोड रुपया रखा गया था।

१,०५,२७७ घरों में से ७६,००० घर अर्थात् ७५% १६५८ के अन्त तक बन चुके थे। स्वीकृत राशि में से १६०१ ४७ लाख रुपये की रकम १६५८ के अन्त तक दी जा चुकी थी। १६५७ में आवास-मन्त्रियों के दूसरे सम्मेलन की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए सहकारी समितियों को दिये जाने वाले ऋण की मात्रा ५० प्रतिशत से बढ़ाकर ६५ प्रतिशत तथा निजी नियोक्ताओं को दी जाने वाली ऋण की मात्रा ३७½ प्रतिशत

---

१. नगरपालिकाओं द्वारा आवास-सुधार में एक कठिनाई यह है कि वे विशेष रूप से स्थान के मालिकों द्वारा प्रभावित और परिचालित होते हैं।

२. रिपोर्ट ऑफ दि रेण्ट इन्क्वायरी कमेटी (बम्बई), १६३६, पैरा ८५-७।

३. रिजर्व बैंक रिपोर्ट।

से बढाकर ५० प्रतिशत कर दी गई। अक्तूबर, १९५८ में आवास-मन्त्रियों का तीसरा सम्मेलन दार्जिलिंग में हुआ। इसकी सिफारिशें सरकार के विचाराधीन है।

सभी राज्यीय सरकारें औद्योगिक आवास के कार्यक्रम में आगे बढ रही है। विभिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में आवश्यक विधान भी पास किये जा चुके हैं, उदाहरणार्थ, बाम्बे हाउसिंग एक्ट, मैसूर लेबर हाउसिंग एक्ट, १९४९, मध्य प्रदेश हाउसिंग बोर्ड एक्ट, १९५० तथा यू० पी० शुगर एण्ड पावर अलकोहल इण्डस्ट्रीज लेबर वेलफेयर एण्ड डेवलपमेण्ट एक्ट, १९५१। इसके लिए आवश्यक धन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अनुदान, नियोक्ताओं के अंशदान तथा काम करने वालों से प्राप्त किराये द्वारा मिलता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के १३ लाख घरों की तुलना में द्वितीय योजना के अन्तर्गत १९ लाख घर बनाने की व्यवस्था है। १९५८ में योजना के प्रारम्भ में प्रस्तावित १२० करोड़ रुपये की राशि घटाकर ८४ करोड रुपये कर दी गई। द्वितीय योजना के अन्तर्गत आवास-सम्बन्धी निम्न योजनाएँ चालू है.

(क) आर्थिक सहायता प्राप्त औद्योगिक आवास-योजना, (ख) गन्दी बस्तियों (स्लम्स) को हटाने की योजना, (ग) निम्न आय वाले वर्ग की आवास-योजना, (घ) रोपण-उद्योग के श्रमिकों की आवास-योजना, (च) ग्रामीण आवास-योजना तथा (छ) मध्यम आय वाले वर्ग की आवास-योजना। इनमें से (क), (ख) और (ग) औद्योगिक श्रमिकों से सीधे-साधे सम्बन्धित है।

पहली योजना की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। गन्दी बस्तियों को हटाने की योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार राज्यीय सरकारों को सहायता देती है। राज्यीय सरकार म्युनिसिपल या अन्य स्थानीय निकायों को गन्दी बस्तियों के हटाने तथा उनमें रहने वालों को पुन बसाने के लिए सहायता देती है।

नवम्बर, १९५८ तक २०.५५ करोड रुपये की लागत की १६१ ऐसी योजनाएँ आन्ध्र प्रदेश, आसाम, बिहार, बम्बई, केरल, मध्य प्रदेश, मैसूर, उडीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल से प्राप्त हुई। दिसम्बर, १९५८ तक १०३ योजनाएँ मंजूर हो चुकी थी, जिनके अन्तर्गत १८,८४८ घर बनाने तथा ६,७४३ खुले हुए प्लाट का विकास सम्मिलित था।

१६. मजदूरी की दर—कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की प्रतिव्यक्ति वार्षिक (औसत) मजदूरी-सम्बन्धी आँकडे विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों से पारिश्रमिक भुगतान अधिनियम १९३६ के अन्तर्गत एकत्रित किये जाते है। इन आँकडों के आधार पर निष्कर्ष निकालते समय सावधानी बरतने की जरूरत है। १९३६ के पारिश्रमिक भुगतान अधिनियम के अन्तगत मजदूरी से अभिप्राय द्रव्य में प्रदर्शित करने योग्य उस सभी राशि से है जो काम के बदले में पूर्व-निर्धारित शर्तों के अनुसार मिले। इस राशि में निम्न सम्मिलित नहीं है—(क) मकान, प्रकाश, पानी इत्यादि का मूल्य, (ख) नियोक्ता द्वारा पेन्शन कोष अथवा पूर्वोपाय कोष के लिए दिया गया अंशदान, (ग) सफर का भत्ता या इस हेतु दी गई रियायतें, (घ) विशेष व्यय पूरा करने के लिए दी गई राशि, और (च) निकाले जाने पर प्राप्त राशि (gratuity)।

यह कहना बडा कठिन है कि अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तुत पारिश्रमिक-सम्बन्धी आँकडे कहाँ तक एकरूप होते है। कारखानो को निम्न पाँच मदो के अन्तर्गत सूचना देनी होती है।

(१) आधार मजदूरी (Basic wages), (२) नकद भत्ते, जिसम महगाई का भत्ता भी शामिल है, (३) रियायत या छूट या द्राव्यिक मूल्य, (४) बोनस तथा (५) बकाया (arrear)। तीसरी मद मे भिन्नता की पर्याप्त गुजाइश है क्योंकि द्राव्यिक मूल्य निकालने के लिए कोई सर्वमान्य आधार नही है। इसके अलावा सभी कारखाने यह सूचना प्रस्तुत नही करत। सूचना देने वाले कारखानो की सख्या प्रतिवर्ष अलग-अलग होती है। अतएव इनके आधार पर प्रति-व्यक्ति वार्षिक पारिश्रमिक पूर्णत तुलना योग्य नही होता।

सरकार की उदार श्रम नीति के कारण पारिश्रमिक म वढने की स्पष्ट प्रवृत्ति है। सन् १६५८ के विभिन्न निर्णयो और समझौतो का परिणाम सम्बन्धित उद्योगो मे किसी-न-किसी रूप म पारिश्रमिक की वृद्धि ही रहा है। उदाहरणार्थ पश्चिमी बगाल के सूती वस्त्र उद्योग मे जून १६५८ के निर्णय के अनुसार बेसिक मजदूरी २८ १७ रुपय तथा महँगाई भत्ता ३२ ५० रुपये और इस प्रकार कुल मासिक मजदूरी ६० ६७ रुपय हो गई, जबकि १६४८ के औद्योगिक ट्रिब्युनल ने २० रु० २ आ० ५ पा० की बेसिक मजदूरी तथा ३० रु० का मँहगाई भत्ता निश्चित कर कुल मासिक मजदूरी ५० रु० २ आ० ५ पा० निर्धारित की थी। बढते हुए मूल्यो को दृष्टि मे रखने पर मजदूरी की वृद्धि पर आश्चर्य नही किया जा सकता।

वास्तविक वेतन म वढोतरी हुई, यद्यपि कीमते बढी है, इसका पता हम निम्न तलिका से चलता है—

	१६५७	१६६३
(१) आम सूचाक वेतन का	१७०	१६५
(२) भारतीय श्रमिक सघ उपभोक्ता कीमतो का सूचाक	१२८	१५४
	—	—
(३) वास्तविक वतन का सूचाक	१३४	१२६

१७. रहन-सहन का निम्न स्तर—भारतीय कृषक की अकुशलता का एक प्रधान कारण उसके रहन-सहन के स्तर की निम्नता भी है। पूर्ण कुशलता के लिए आवश्यक जीवन यापन स्तर से भारतीय श्रमिक का स्तर बहुत नीचा है। इस आमदनी से सन्तोष-जनक जीवन-स्तर कायम रखना प्राय असम्भव सा ही है। काम करने वाला स्वास्थ्य-वर्धक भोजन नही खरीद सकता, चाह वह अपनी आय कितनी ही बुद्धिमानी से खर्च करे। हम रहने के मकानो के सम्बन्ध मे दयनीय अवस्था का विवरण पहले ही कर आए हैं। देश की गरम आबहवा को ध्यान मे रखते हुए उसक कपडे बहुत ही कम हैं। शिक्षा पर होने वाला व्यय प्राय नही के बराबर है। उसके फर्नीचर है कुछ

लकडी के टूटे सन्दूक, लोहे की चद्दर के बक्स, बांस के डडे, देशी कम्बल और कागजों पर बने कुछ पौराणिक चित्र।

भारत सरकार श्रमिक-परिवारो के रहन-सहन-सम्बन्धी सर्वेक्षण ५० प्रमुख औद्योगिक केन्द्रो मे कर रही है। सर्वेक्षण-कार्य अगस्त-सितम्बर, १९५८ मे प्रारम्भ किया गया। अनेक राज्य भी पारिवारिक बजट-सम्बन्धी जाँच कर रहे हैं।

१९६१ की जनगणना के अनुसार १.९ करोड मकान शहरो मे है और प्रति गृह के हिस्से मे १.९३ कमरे आते हैं। प्रति कमरा घर के सदस्य २.९ हैं। खाद्य के उपभोग पर ६१.४ प्रतिशत आय-भाग खर्चा जाता है। कोयले और बिजली पर ६.१ प्रतिशत, कपडे पर ६.२ प्रतिशत।

१८. शराबखोरी पर व्यय—कारखानो मे काम करने वालो मे शराबखोरी बडी ही तीव्र गति से फैल रही है। लगभग कुल आय का ४ प्रतिशत शराब पर खर्च होता है। यह सख्या परिवार-बजट की साक्षी पर दी जा रही है। भगी जैसे निम्न *श्रेणी के श्रमिको के मामले मे यह सख्या १० प्रतिशत तक पहुँच जाती है।* पुरुष श्रमिक (स्त्रियाँ शायद ही कभी पीती हैं) अपने दिन के कठोर श्रम को भूलने के लिए शराब की शरण लेता है। शराब पीने की अभिलाषा और गन्दे निवास-स्थान, काम करने की अस्वास्थ्यकर परिस्थिति, दरिद्रता तथा भोजन की कमी मे कुछ अनिवार्य-सा सम्बन्ध है। यदि शराब पर खर्च किया जाने वाला धन अच्छा भोजन खरीदने मे व्यय किया जाए तो भोजन की कमी कुछ अश मे घट जाए। श्रमिक न केवल दरिद्र है वरन् वह अपनी आय को अच्छी तरह व्यय करने मे भी अयोग्य है। शराबखोरी पर होने वाला व्यय उसकी दरिद्रता को और बढाता है तथा दरिद्रताजन्य परिस्थितियाँ शराबखोरी को और बढाती हैं।

स्वतन्त्र भारत के सविधान मे शराबखोरी को पूर्णतया समाप्त करने के लिए कहा गया है। दिसम्बर, १९५४ मे नियुक्त मद्य-निषेध जाँच-समिति की यह महत्त्वपूर्ण सिफारिश कि मद्य-निषेध की योजनाओ को विकास-योजनाओ का अग बना देना चाहिए, ३१ मार्च १९५६ को ससद का समर्थन प्राप्त कर चुकी है। सभी राज्य इस दिशा मे प्रयत्नशील है। बम्बई मद्य-निषेध अधिनियम, १९४९ के १९५९ के सशोधन ने सम्पूर्ण बम्बई राज्य मे (चन्दा जिले के विशेष रूप से उल्लिखित स्थानो को छोडकर) मद्य-निषेध की घोषणा कर दी।

१९. ऊँची मजदूरी का पक्ष—नियोक्ताओ का कथन है कि यदि मजदूरी अधिक दी जाती है तो उसका अधिकाश शराबखोरी मे खर्च हो जाता है और श्रमिको की सुस्ती बढ जाती है। श्रमिको की कार्यकुशलता मे वृद्धि नही होती और न उनका जीवन-यापन का स्तर ही ऊँचा उठता है। प्रो० पीगू इस आक्षेप का निवारण निम्न शब्दो मे करते हैं—

"इसमे सन्देह नही कि गरीबो की मनोवृत्ति अपने वातावरण के अनुकूल ढल जाती है और अचानक आमदनी बढ जाने से अवश्य ही अनेक बेवकूफी के खर्च किये जाएँगे, जिनसे स्वभावत. आर्थिक सुख की अधिक वृद्धि या कुछ भी वृद्धि नही होती।

किन्तु यह वृद्धि कुछ अधिक दिन तक कायम रहे तो यह दशा समाप्त हो जाएगी। और यदि यह वृद्धि क्रमिक होगी तो यह वेवकूफी की दशा शायद आए ही नहीं। लेकिन यह कहना कि गरीब आदमियों की फिजूलखर्ची और वेवकूफी इतनी अधिक है कि उसकी आय में वृद्धि ही अवाञ्छनीय है, क्योंकि उससे आर्थिक सुख-समृद्धि की वृद्धि ही नहीं होगी, नितान्त भ्रामक है।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा की दशा भी पारिश्रमिक को समता की ओर ले जाने में भयानक बाधा डाल रही है। यह तो मानना पड़ेगा कि कम-से-कम अल्पकाल के ही लिए कोई भी देश अपने श्रमिकों से भरपूर परिश्रम लेकर काफी लाभ उठा सकता है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सभी देश इसी नीति का अनुसरण करेंगे। यह कहा जा सकता है कि अत्यन्त घोर परिश्रम से अर्जित व्यापार में स्थायी लाभ नहीं होगा, क्योंकि अन्त में इस प्रकार के श्रम का परिणाम यह होगा कि कार्यक्षमता घट जाएगी। इसके विपरीत कोई भी सभ्य देश यह नहीं भूल सकता कि उत्पादन-वृद्धि के आर्थिक आदर्श के समान ही महत्त्वपूर्ण आदर्श मानव-जीवन को उच्चतर बनाना है।

२० **निम्नतम वैध मजदूरी**[2]—जनेवा में हुए १९२८ के ११वें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में एक ऐसे यन्त्र के निर्माण और कायम रखने पर जोर दिया, जिसके द्वारा विशिष्ट व्यापार और उद्योग में लगे कर्मचारियों के लिए एक न्यूनतम वेतन का मानदण्ड निश्चित किया जाए। यह ऐसे उद्योगों, विशेषकर गृह-उद्योगों, से सम्बन्ध रखता है जिनमें वेतन का कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है और जिनमें पारिश्रमिक काफी नीचा है। श्रम आयोग का सुझाव है कि न्यूनतम पारिश्रमिक-निर्धारक यन्त्र की स्थापना से पहले ऐसे उद्योगों को चुनना होगा जिनके सम्बन्ध में यह निश्चित धारणा है कि उनमें वेतन की दशा शोचनीय है और विस्तृत गवेषणा वाञ्छनीय है। इन गवेषणाओं के आधार पर यह निश्चित किया जाए कि क्या न्यूनतम पारिश्रमिक निर्धारण व्यवहार्य और वाञ्छनीय है? इस प्रकार के निर्णय के पश्चात् व्यय पर विशिष्ट रूप से आँख रखनी होगी, क्योंकि नियोक्ताओं की उदासीनता और कर्मचारियों के अज्ञान के कारण इन नियमों के पालन में बड़ी असुविधा और शिथिलता होती है। यदि बिना भयंकर परिणामों के वाञ्छनीय उद्देश्य प्राप्त करना है तो गति को धीमा करना होगा।[3]

१९३८ में नियुक्त बिहार श्रम जाँच-समिति ने जून, १९४० में रिपोर्ट दी तथा अन्त में श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए १५० सिफारिशें कीं। १९४७ के केन्द्रीय वेतन आयोग की रिपोर्ट ने ऊँची श्रेणी से लेकर नीची श्रेणी के सरकारी

---

१ ए० सी० पीगू, 'इकनामिक्स आफ वेलफेयर'।

२. देखिए, इण्डियन जर्नल आफ इकनामिक्स, कॉन्फ्रेन्स नम्बर १९५०, मजदूरी विधान तथा भारतीय दशाओं से इसका सम्बन्ध, वी० आर० सेठ और एम० पी० सक्सेना।

३. श्र० आ० प्र०, २१३-१४।

कर्मचारियो के लिए वेतन का एक नया ढाँचा स्वीकार करने की सिफारिश की है। इसके प्रस्ताव के अनुसार न्यूनतम वेतन ३० रुपये माहवार से कम न होना चाहिए और अधिकतम वेतन २००० रुपये माहवार से अधिक नही होना चाहिए।

१९४८ मे न्यूनतम मजदूरी अधिनियम पास किया गया। यह अधिनियम केन्द्रीय और राज्यीय सरकारो से अनुसूचित उद्योगो मे नियत अवधि के भीतर कर्मचारियो की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की अपेक्षा रखता है। अधिनियम के अन्तर्गत कर्मचारी (employee) से अभिप्राय किसी भी किराये या पुरस्कार के बदले काम पर लगाये कुशल या अकुशल, हाथ के या दफ्तर आदि के काम मे लगे व्यक्तियो से है। १००० से कम संख्या मे कर्मचारियो को रखने वाले रोजगारो की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना आवश्यक नही है। अधिनियम के अन्तर्गत पुरुष, वयस्क, बच्चा और प्रशिक्षार्थी, सभी के लिए विभिन्न पेशो, स्थानो अथवा काम की प्रकृति के अनुसार (क) न्यूनतम समय दर, (ख) न्यूनतम कार्यानुसार दर, (ग) गारण्टी की हुई समय दर तथा (घ) निश्चित समय से अधिक काम की दर अर्थात् अधिसमय दर निर्धारित करने की व्यवस्था है। न्यूनतम मजदूरी (संशोधन) अधिनियम, १९५७ ने अनुसूचित रोजगारो मे न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने की तिथि बढ़ाकर दिसम्बर १९५९ कर दी। संशोधन अधिनियम ने यह व्यवस्था भी की है कि जिन अनुसूचित उद्योगो मे निर्धारण के ५ वर्ष बाद तक मजदूरी का पुनर्वीक्षण (रिव्यू) नही हुआ है, वहाँ मजदूरी का पुनर्वीक्षण किया जाए।[1] १९६१ मे इसमे थोड़ा और परिवर्तन लाया गया।

२१ ऋणिता—भारत के अधिकांश श्रमिक अपने क्रियाशील जीवन में ऋणी रहते हैं। ऐसा अनुमान किया गया है कि कितने ही उद्योग-केन्द्रो मे लगभग दो-तिहाई श्रमजीवी ऋणी हैं और उनका ऋण तीन महीने मे मिलने वाले पारिश्रमिक के बराबर है। श्रम आयोग ने सुझाव रखा था कि ३०० रु० प्रति मास से कम पाने वाले सब श्रमजीवियो के वेतन को कुर्की से मुक्त कर देना चाहिए और पूर्वोपाय कोष (प्राविडेण्ड फण्ड) के प्रति अंशदान से भी श्रमिको को मुक्त कर देना चाहिए। भारत सरकार ने इसी आधार पर व्यवहार-विधि-संहिता (सिविल प्रोसीजर कोड) को संशोधित किया, ताकि एक निश्चित सीमा के नीचे के वेतन कुर्की से मुक्त रहे। यह भी सुझाव रखा गया है कि ऋण के सम्बन्ध मे औद्योगिक श्रमिको की गिरफ्तारी और जेल की सजा बन्द कर दी जाए। गिरफ्तारी और जेल की सजा केवल उन हालतो मे दी

---

१. अधिनियम के अन्तर्गत अनुसूचित उद्योग इस प्रकार हैं : ऊनी कालीन, शाल बुनने के कारखाने, चावल, आटा या दाल की चक्कियाँ, तम्बाकू (बीड़ी बनाना सम्मिलित है) बनाने के कारखाने, रोपण, तेल मिल, स्थानीय अधिकारी, सड़क बनाना या निर्माण-कार्य, पत्थर तोड़ना या पीसना, लाख-निर्माण, अभ्रक के कारखाने, सरकारी मोटर परिवहन, चिमड़ाशालाएँ और चर्म-निर्माण के कारखाने तथा कृषि। सरकार को यह अधिकार है कि वह अधिनियम को अन्य उद्योगों पर भी लागू कर सकती है। फलत: अनेक राज्यों में यह अधिनियम अन्य उद्योगों पर भी लागू किया गया है।

जाए जबकि श्रमिक कर्ज चुकाने योग्य होकर भी उसे अदा नहीं करता। श्रमिकों के अप्राप्य कर्ज को समाप्त करने में सरसरी विधि का उपयोग करना चाहिए और कर्ज की अदायगी को श्रमिक के वेतन के साथ इस प्रकार सन्तुलित करना चाहिए ताकि उसे चुकाने में अधिक कठिनाई का सामना न करना पड़े। कर्जदार श्रमिकों की सुरक्षा के लिए कानपुर श्रम जांच समिति ने मध्य प्रदेश के कर्जदार सुरक्षा नियम (१९३७) के आधार पर उपाय अपनाने का प्रस्ताव किया।[1] इस अधिनियम के अनुसार किसी कर्जदार के साथ बुरी तरह से व्यवहार करना दण्डनीय अपराध है। बंगाल में अधिक सीमित अधिनियम प्रचलित है। सरकारी ऋण इस समस्या का अधिक स्थायी समाधान है।[2]

भारत में श्रम-विधान

२२ भारत में श्रम-विधान का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ क्षेत्र—भारत में श्रम विधान इंगलैण्ड-जैसे औद्योगिक देश के समान महत्वपूर्ण नहीं है। कारण यह है कि यहाँ यान्त्रिक शक्ति का प्रसार और प्रभाव-क्षेत्र सीमित है। उद्योगीकरण के दुर्गुणों को दूर करने के लिए दृढ़तापूर्वक सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता है, चाहे इसमें उद्योगीकरण में थोड़ी बाधा हो पहुँचे। अब तक हम यूरोपीय देशों के अनुभव से लाभ उठाने में असफल रहे हैं। अज्ञानता का बहाना किये बिना ही हमने अपने बीच अनेक दुर्गुण ही रहन दिए हैं, जैसे स्लम वाले शहरों का बनना, शिशु-श्रम का शोषण, काम के अधिक लम्बे घण्टे, सफाई की कमी, सुरक्षा का अभाव इत्यादि। इन्हें दूर करने का हम अब प्रयास कर रहे हैं।

२३ श्रम विधान की एकरूपता की आवश्यकता—१९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार स्थापित प्रान्तीय स्वतन्त्रता के साथ ही प्रान्तों में लोकप्रिय मन्त्रिमण्डलों का शासन प्रारम्भ हुआ। इन्होंने श्रम की स्थिति के सुधार पर जोर दिया। इससे अनेक प्रान्तीय सरकारों के श्रम अधिनियम में एकरूपता का अभाव भी स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा। एकरूपता का अभाव निश्चित रूप से औद्योगिक प्रगति के लिए घातक है, विशेषकर उन प्रान्तों के लिए जो औद्योगिक विकास में आगे बढ़े हुए हैं। इस प्रश्न पर श्रम-मन्त्रियों और राज्य-प्रशासकों (स्टेट एडमिनिस्ट्रेटर्स) के प्रथम सम्मेलन में विचार किया गया। सम्मेलन ने निश्चय किया कि केन्द्रीय सरकार चार प्रमुख विषयों पर कानून बनाए (औद्योगिक झगड़े, सवेतन छुट्टियाँ, श्रम और उद्योग-सम्बन्धी आंकड़ों का संकलन और पारिश्रमिक देने के अधिनियम का संशोधन), जिन पर प्रान्तों और श्रम मन्त्रियों के दूसरे सम्मेलन द्वारा विचार किया जाए।

२४. भारत में फैक्ट्री विधान का प्रारम्भ—बम्बई में कपास-उद्योग की प्रगति से लंकाशायर के निर्माण करने वालों की ईर्ष्या जाग उठी। उन्होंने आन्दोलन खड़ा किया,

---

१. रॉयल कमि॰, रिपो॰, पृ॰ २३७।
२. इकॉ॰, भाग १, अध्याय १०, सेक्शन ११।

जिसका दिखावटी उद्देश्य तो भारत के श्रमिको को लाभ पहुँचाना था, किन्तु अन्तिम उद्देश्य भारत के उद्योगपतियो के मार्ग मे बाधाएं खडी करना था। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप १८७५ मे बम्बई सरकार ने कारखाना आयोग की नियुक्ति की। फलस्वरूप १८८१ मे प्रथम फैक्ट्री अधिनियम पास हुआ।

प्रथम कारखाना अधिनियम के पास होते ही उसमे परिवर्तन करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। किन्तु लकाशायर के हितो के दबाव के कारण राज्य-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) ने हस्तक्षेप किया और १८९१ मे एक और भी कठोर अधिनियम पास किया गया। यह कानून कम से-कम पचास व्यक्तियो द्वारा शक्ति-परिचालित कारखानो तक लागू होता था। परन्तु स्थानीय सरकारो को इसे बीस व्यक्तियो वाले कारखानो पर भी लागू करने का अधिकार था। बच्चो के लिए निम्न और ऊर्ध्व-आयु की सीमाएँ क्रमश ९ और १४ हो गई। उनके काम के घण्टे किसी भी दिन ७ से ज्यादा नही हो सकते और वह भी ५ बजे प्रात से ८ बजे सायकाल के बीच मे ही हो सकते थे। औरतें किसी भी कारखाने मे ८ बजे के बाद और ५ बजे से पहले काम नही कर सकती थी।

२५ **१९११ का कारखाना अधिनियम (फैक्ट्री एक्ट)**— १९११ का फैक्ट्री एक्ट पास हुआ। इसके अन्तर्गत ४ महीने से कम समय तक काम करने वाले मौसमी कारखाने भी आ गए। इसमे आयु प्रमाणपत्र अनिवार्य कर दिया और सूत की मिलो मे काम करने वाले बाल श्रमिको की कार्यावधि ६ घण्टे कर दी गई। इस अधिनियम द्वारा कपास से बिनौला निकालने और उसे दबाने के काम को छोडकर औरतो का रात मे काम करना बन्द कर दिया गया। प्रथम बार प्रौढ पुरुषो के घटे वैध रूप से नियमित किये गए, जिसके अनुसार कपास की मिलो मे १२ घटे दैनिक काम करने की व्यवस्था की गई। जिन कारखानो मे पारी-प्रथा (शिफ्ट सिस्टम) है उन्हे छोडकर कपास के कारखानो मे कोई भी व्यक्ति प्रात ५ बजे से पहले और रात्रि मे ७ बजे के बाद काम पर नही लगाया जा सकता—ये सीमाएं विशेष रूप से औरतो और बच्चो के लिए थी। अन्त मे स्वास्थ्य और सुरक्षा की व्यापक व्यवस्थाएँ की गई तथा फैक्ट्री का निरीक्षण और अधिक प्रभावपूर्ण बना दिया गया।

२६. **१९२२ का कारखाना अधिनियम**— १९१९ मे वाशिगटन मे हुए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन की मान्यताओ को स्वीकार करने के कारण भारत मे श्रम-विधान सम्बन्धी अन्य परिवर्तन आवश्यकीय हुए। १९२२ के कारखाना अधिनियम (फैक्ट्रीज एक्ट) के अनुसार २० से अधिक व्यक्तियो द्वारा शक्ति से परिचालित सभी कारखाने अधिनियम की परिधि मे आ गए। स्थानीय सरकारो को स्वतन्त्रता दी गई कि वे इसे दस से अधिक व्यक्तियो वाले कारखानो पर भी लागू कर सकती थी, चाहे उनमे विद्युत्-शक्ति का उपयोग होता हो या नही। काम करने वाले बच्चो की निम्नतम आयु १२ और उच्चतम १५ वर्ष कर दी गई। इनके काम के घटे छ तक सीमित कर दिए गए। बच्चे और औरते सुबह ५½ बजे से पहले और शाम के ७ बजे के बाद काम पर नही लगाये जा सकते थे। प्रौढ पुरुषो के काम के घटे ६० घटे प्रति सप्ताह और ११ घटे

प्रतिदिन से अधिक नही हो सकते थे। सप्ताह ६ दिन से अधिक का नही हो सकता था। सभी वर्ग के श्रमिको के लिए मध्यान्तर और विश्राम का आयोजन किया गया। ६ घटे के बाद १ घटे का विश्राम आवश्यक घोषित किया गया : इसे श्रमिको की प्रार्थना पर ½ घटे के दो विश्रामो मे विभाजित किया जा सकता है, यदि लगातार ५ घटे से अधिक काम न किया जाता हो। निरीक्षण की पद्धति मे और सुधार कर दिया गया। पूरे समय तक काम करने वाले निरीक्षको की नियुक्ति की गई। सुरक्षा और स्वास्थ्य से सम्बन्धित धाराएँ और व्यापक बना दी गई। स्थानीय सरकारो को प्रकाश और कृत्रिम नमीकरण के मानदण्ड स्थिर करने के अधिकार दिये गए।

२७. १९३४ का कारखाना अधिनियम, १९४६ का संशोधन तथा १९४८ का अधिनियम—१९२२ के अधिनियम मे १९२३, १९२६ और १९३१ मे संशोधन करके कितनी ही प्रशासकीय कठिनाइयाँ दूर कर दी गईं। कुछ मामूली सुधार भी किये गए। १९३४ में एक नवीन अधिनियम पास किया गया। श्रम-आयोग की सिफारिश पर पास किया गया यह अधिनियम १ जनवरी, १९३५ मे लागू किया गया। यह अधिनियम

(१) वर्ष-भर चालू रहने वाले और मौसमी कारखानो मे भेद स्थापित करता है।

(२) १५ और १७ वर्ष की आयु वालो के एक तृतीय किशोर-वर्ग की स्थापना करता है, जिन्हे वयस्को के काम के उपयुक्त न समझा जाने पर बच्चा समझा जाएगा।

(३) मौसमी कारखानो मे काम करने वालो के लिए ११ घण्टे प्रतिदिन और ६० घण्टे प्रति सप्ताह की सीमाएँ अब भी लागू है। किन्तु वर्ष-भर चालू रहने वाले कारखानो के श्रमिको के सम्बन्ध मे सीमाएँ १० घण्टे प्रतिदिन और ५४ घण्टे प्रति सप्ताह कर दी गईं। बच्चो के लिए सर्वत्र ५ घण्टे प्रतिदिन की व्यवस्था है।

(४) प्रथम बार प्रसार का सिद्धान्त व्यवहार मे लाया गया, अर्थात् लगातार काम करने की सीमा पुरुषो के सम्बन्ध मे १३ और बच्चो के सम्बन्ध मे ७½ घण्टे कर दी गई।

(५) कृत्रिम नमीकरण की वर्तमान धाराएँ और व्यापक बना दी गईं। इस अधिनियम द्वारा स्थानीय सरकारो को एक निरीक्षक नियुक्त करने का अधिकार दिया गया, जिसका कार्य सब कारखानो के प्रबन्धको को हवा म ठण्डक बढाने का प्रबन्ध करने का निर्देश देना और पालन कराना था।

(६) भलाई के लिए भी कुछ व्यवस्थाएँ की गई है। उदाहरण के लिए कारखानो मे विश्राम के लिए समुचित व्यवस्था, जिनमे स्त्री और बच्चो के लिए कमरे सुरक्षित रहे और प्राथमिक सहायता की व्यवस्था आदि।

(७) स्थानीय सरकारो को यह अधिकार दिया गया है कि वे कार्य-समर्थना के सम्बन्ध मे नियम बनाएँ और उन बच्चो को कारखानो मे काम न करने दे जो काम करने के अयोग्य प्रमाणित किये गए हैं।

(८) निरीक्षको को यह अधिकार दिया गया है कि वे प्रबन्धको से कारखानो

के निर्माण के ऐसे दोष दूर करने के लिए कहे जिनसे काम करने वालो को खतरा पहुंचता हो।

(६) निर्धारित समय से अधिक समय तक काम करने की सीमाएँ निर्धारित कर दी गई है। उसका वेतन भी नियमित है। इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश भारत मे वर्ष-भर चालू रहने वाले कारखानो मे ४८ घण्टे का सप्ताह होता है। प्रान्तीय सरकारो को यह अधिकार दिया गया है कि यदि वे चाहे तो जनता के हित मे इस सीमा को बढा सकती है।

१६४८ का फैक्ट्रीज़ एक्ट १ अप्रैल १६४६ मे लागू किया गया। इसके अन्तर्गत दस या दस से अधिक व्यक्तियो द्वारा परिचालित शक्ति का प्रयोग करने वाले तथा बीस या बीस से अधिक व्यक्तियो द्वारा चालित परन्तु शक्ति का प्रयोग न करने वाले सभी कारखाने आ जाते हैं। राज्यो की सरकारें व्यक्तियो की संख्या तथा शक्ति के प्रयोग के प्रति निरपेक्ष होकर इस कानून की धाराओ को जहाँ उचित समझे लागू कर सकती हैं। ये नियम केवल वही लागू न होगे जहाँ एक व्यक्ति बाहरी मज़दूरो को लगाए बिना केवल अपने परिवार की सहायता से काम कर रहा हो। अब मौसमी और वर्ष भर चलने वाले कारखानो वाला भेद हट गया है।

राज्य की सरकारो को कारखानो की रजिस्ट्री और अनुज्ञा देने के सम्बन्ध मे नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। इस नियम के अनुसार कारखाने के मालिक को कारखाना लेते समय कारखानो के प्रधान निरीक्षक के पास उसका पूर्ण विवरण भेजना चाहिए।

२८ बम्बई की दुकानो और वाणिज्यिक संस्थापन-सम्बन्धी अधिनियम (१६३६) (दि बॉम्बे शॉप्स एण्ड कमर्शियल एस्टाब्लिशमेण्ट्स एक्ट)—बम्बई की कांग्रेस सरकार ने एक नया श्रम-विधान प्रारम्भ किया। इस विषय मे इसने अन्य प्रान्तो की अगुआई की। वाणिज्य और उपभोक्ताओ की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए इसका उद्देश्य दुकानो, रेस्तराँ, थियेटरो और अन्य संस्थानो मे काम के घण्टो का नियन्त्रण करना है। इसका उद्देश्य काम के लम्बे घण्टो—११ से १५ घण्टो तक—और छुट्टियो की अपर्याप्त व्यवस्था तथा विश्राम की कमी का निराकरण करना है। जहाँ तक दुकानो का सम्बन्ध है, काम के अधिकतम घण्टे ६½ हैं। ५ घण्टे के काम के बाद ½ घण्टे का विश्राम और सप्ताह मे १ दिन की छुट्टी आवश्यक है। बम्बई के कानून मे १६४६ मे संशोधन किया गया।

१६५८ मे विभिन्न राज्यो मे निम्न अधिनियम पास किये गए—राजस्थान का दुकान और वाणिज्यिक संस्थापन अधिनियम, मध्य प्रदेश का दुकान और वाणिज्यिक संस्थापन अधिनियम, पजाब का दुकान और वाणिज्यिक संस्थापन अधिनियम। इनके अलावा केरल और मैसूर मे दुकानो और वाणिज्यिक संस्थापनो मे कार्य की दशाओ को सुधारने तथा तत्सम्बन्धी विधान को संशोधित करने के लिए बिल प्रकाशित किये गए ताकि जनमत का संग्रह हो सके। उड़ीसा की सरकार ने १६५६ मे पास किये गए उड़ीसा के दुकान और वाणिज्यिक संस्थापन अधिनियम की धारा १२ और १४

को संशोधित किया। इनका सम्बन्ध कटौती तथा हटाने से पूर्व कर्मचारी को नोटिस देने से था। १९५८ में मद्रास आहार-प्रदान (केटरिंग) संस्थापन अधिनियम पास हुआ। इस नियम के लागू होने के पश्चात् आहार-प्रदान संस्थापन साप्ताहिक छुट्टी अधिनियम १९४२, कारखाना अधिनियम १९४८ तथा मद्रास के दुकान और वाणिज्यिक संस्थापन अधिनियम १९४७ से मुक्त हो गए।

२९. चाय के जिलों के प्रवासी श्रम अधिनियम १९३२ (दि टी डिस्ट्रिक्ट्स एमीग्रेंट लेबर एक्ट)—बाग लगाना औद्योगिक श्रम से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, परन्तु इसकी कुछ अपनी समस्याएँ हैं जो विशेष रूप से आसाम के चाय के बगीचों के लिए श्रमिकों की भरती से सम्बन्धित हैं। चाय के बगीचे लगाने वाले श्रमिकों की नियुक्ति-सम्बन्धी मामले उपर्युक्त अधिनियम द्वारा नियन्त्रित होते हैं। १९३२ का अधिनियम श्रम-आयोग की सिफारिशों पर आधारित है। यह सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत (जिसमें संथाल परगना भी शामिल है) में लागू होता है। १९३२ के नियम का प्रथम उद्देश्य नियुक्ति पर नियन्त्रण करना, सहायता-प्राप्त प्रवासियों को आसाम के चाय बगीचों की ओर भेजना तथा यह देखना था कि उनके ऊपर अनुचित प्रतिबन्ध न लगाए जाएँ। भारत सरकार के नियन्त्रण में स्थानीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि वे सहायता-प्राप्त प्रवासियों के ऊपर नियन्त्रण रखें। नियोक्ताओं को प्रमाण-प्राप्त बगीचों के सरदार अथवा अनुज्ञा-प्राप्त भरती करने वालों के अलावा अन्य किसी माध्यम द्वारा भरती करने से रोका गया। १६ साल से नीचे के व्यक्तियों को प्रवास में सहायता देना प्रबंध घोषित किया गया, जब तक कि वे अपने माता-पिता या अभि-भावकों के साथ न हों। जहाँ तक फिर से लौटने का सम्बन्ध है, प्रत्येक प्रवासी श्रमिक आसाम में आने के तीन वर्ष बाद लौटने का अधिकारी है, भले ही किसी नियोक्ता ने उसे पुनः नौकर रख लिया हो। तीन साल के पहले भी लौटना सम्भव था, परन्तु यह ऐसी दशा में ही हो सकता था जबकि प्रवासी का स्वास्थ्य खराब हो रहा हो, या उसे समुचित काम न मिला हो, या उसकी मजदूरी रोक ली गई हो, या और कोई पर्याप्त कारण हो।

फलतः केन्द्रीय सरकार ने १९३३ में चाय के बगीचों के प्रवासी श्रम नियम बनाए। सन् १९५४ में एक अधिसूचना द्वारा इन्हें संशोधित किया गया। इन संशोधनों में श्रम का पूर्णतया भारतीय रेल मार्ग द्वारा आसाम भेजना, भरती करने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था, श्रमिकों के वापस जाने के अधिकारों की रक्षा आदि बातें सम्मिलित थीं। १९५१ के लेबर एक्ट के अनुसार चाय कहवे के बगीचों में काम करने वाले मजदूरों की मकानों तथा वस्त्रों की देख-रेख, शिक्षा तथा मनोरंजन के साधन बनाए गए। इस अधिनियम को १९६१ में संशोधित किया गया जिससे मालिक देयता से छुटकारा न पा सकें।

३०. खानों के लिए श्रम-विधान—कपड़े के उद्योग की अपेक्षा खानों में श्रमिकों के सम्बन्ध में श्रम-विधान काफी धीरे-धीरे प्रारम्भ हुआ। १९०१ में पहला भारतीय खान अधिनियम (इण्डियन माइन्स एक्ट) पास हुआ और निरीक्षकों की नियुक्ति हुई।

१९०१ के अधिनियम (जो कि १९२३ मे सशोधित किया गया था) के अनुसार भारत सरकार को जो अधिकार मिले थे उनका उपयोग करते हुए उसने १९२९ मे नियम बनाए, जिनका उद्देश्य उसी समय से खान के अन्दर औरतो का काम करना बन्द कर देना था। वे केवल इन अधिनियमो से मुक्त खानो, जैसे बगाल, बिहार, उडीसा तथा मध्यप्रान्त की कोयले की खानो और पजाब की नमक की खानो, मे काम कर सकती थी। उपर्युक्त खानो को भी धीरे-धीरे इन नियमो की मुक्ति से अलग करने की व्यवस्था थी, ताकि १ जुलाई १९३९ तक औरतो का खानो के अन्दर काम करना एकदम बन्द हो जाए। युद्धकालीन उत्पादन की विशेष आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए खान के अन्दर औरतो के काम करने पर जो प्रतिबन्ध लगाया गया था वह १९४३ मे कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया, परन्तु फरवरी, १९४६ मे फिर से लागू कर दिया गया। १९२३ के अधिनियम मे काम के दैनिक घण्टो के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की व्यवस्था नही थी। १९२८ (मार्च) मे एक सशोधन-नियम पास किया गया। इसके अनुसार किसी भी खान के कर्मचारियो के एक ही समूह द्वारा किसी भी खान मे १२ घण्टे से अधिक काम नही कराया जा सकता था। यह व्यवस्था भी की गई कि मालिक कार्यालयो के सामने काम के घण्टो को निर्धारित करने वाले नोटिस लगाएँ। १९३५ के सशोधन अधिनियम द्वारा निम्न परिवर्तन हुए।

कोई भी व्यक्ति खान मे एक हफ्ते मे ६ दिन से अधिक काम नही कर सकता। खान के ऊपर काम करने वाला कोई भी व्यक्ति हफ्ते मे ५४ घण्टे से अधिक काम नही कर सकता। एक दिन मे १० घटे से अधिक कोई भी व्यक्ति काम नही करेगा। कार्य काल इस प्रकार होगा कि विश्राम काल को लेकर वह एक दिन मे १२ घटे से अधिक नही होगा। उसे ६ घटे लगातार काम करने के बाद १ घटे का विश्राम अवश्य मिलेगा। खान के अन्दर काम करने वाले व्यक्ति को एक दिन मे ९ घटे से अधिक काम नही करना होगा। खान के अन्दर एक ही प्रकार का काम ९ घटे से अधिक नही किया जाएगा। यदि बारी-बारी से काम करने की पद्धति हो तो उसे अपवाद माना जा सकता है, किन्तु इसमे भी एक बार मे ९ घण्टे से अधिक काम नही होगा। खान के अन्दर १५ साल से कम उम्र के बच्चो को काम करने की मनाही है।

१९३७ मे एक विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति हुई जिसका काम दुर्घटनाओ के कारणो की जाँच करना था। समिति का कोयलो की खानो का विवरण उद्धृत करने योग्य है—"सक्षेप मे एक खेल के रूपक का उपयोग करने पर यह कहा जा सकता है कि कोयले की खान का काम भारतवर्ष मे एक दौड के समान है, जिसमे लाभ हमेशा प्रथम रहा है। बेचारी सुरक्षा 'द्वितीय', अच्छी पद्धतियाँ 'नाम के लिए दौडने वाली' तथा राष्ट्रीय हित एक 'मृत अश्व' के समान रहा है, जिसका नाम तो दर्ज कर लिया गया किन्तु जो दौड न सका।"

१९४८ मे नये फैक्ट्री कानून पास हो जाने के बाद खानो मे काम करने वाले श्रमिको से सम्बन्धित विधान को सशोधित करना आवश्यक हो गया। इस उद्देश्य से ८ दिसम्बर, १९४९ को खानो मे काम करने वाले श्रमिको के विधान

मे सशोधन करने के लिए एक बिल पेश किया गया जो १५ मार्च, १९५२ को पास होकर १ जुलाई, १९५२ से लागू किया गया। जम्मू और काश्मीर को छोडकर यह कानून सारे भारत पर लागू है। इस कानून के अन्दर खानो की परिभाषा और विशद रूप से दी गई। मजदूरो की सुरक्षा तथा भलाई के विषय मे भी विशद व्यवस्थाएँ की गई। इस कानून के अनुसार खान के ऊपर काम करने वाले श्रमिको का काम ९ घण्टे प्रतिदिन तथा ४८ घण्टे प्रति सप्ताह कर दिया गया। खान के भीतर काम करने वाले श्रमिको की अवधि ८ घण्टे प्रतिदिन तथा ४८ घण्टे प्रति सप्ताह कर दी गई। स्त्रियाँ खानो के ऊपर शाम के ७ बजे से प्रात ६ बजे तक काम नही करेंगी। केन्द्रीय सरकार इस सम्बन्ध मे थोडा-बहुत परिवर्तन कर सकती है, परन्तु वह रात्रि के १० बजे और प्रातः ५ बजे के बीच स्त्रियो और वयस्को का काम करना वैध नही कर सकती। इस कानून मे सवेतन छुट्टियो की भी व्यवस्था है।

खानो मे काम करने वाले मजदूरो की भलाई के लिए एक प्रकार का कोष खोला गया है जो ५६ सस्थाओ, ६१ वयस्को की शिक्षा के लिए तथा ५६ स्त्रियो की भलाई के लिए कुछ आराम-गृह चला रहा है। इसकी वार्षिक आमदनी ३ ५ करोड है। इसी प्रकार १९६१ के एक्ट के अनुसार (Iron Ore Mines Labour Welfare Cess) इनमे काम करने वालो की हालत को कोयले और मायका जैसा बनाया गया।

३१. रेलवे के श्रमिको से सम्बन्धित अधिनियम—रेलवे के सभी कारखाने १९२२ के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत आते हैं। भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सभा के प्रति अपने परिनियत कर्त्तव्यो को पूरा कर सका। इसके अनुसार कोई भी रेलवे कर्मचारी, एक सप्ताह मे ६० घण्टे से अधिक काम न करेगा। ऐसा रेलवे कर्मचारी, जिसका काम स्थायी नही है, ८४ घण्टे से अधिक काम नही करेगा। उपर्युक्त व्यवस्थाओ से अस्थायी छूट प्राप्त हो सकती है (१) ऐसी कठिन परिस्थिति मे जबकि रेलवे के काम मे कोई भयकर बाधा उपस्थित हो गई हो, (२) या कार्यभार अत्यन्त अधिक हो। परन्तु ऐसी दशा मे अधिक समय तक काम करने का वेतन मिलेगा। सप्ताह मे लगातार २४ घण्टे का विश्राम आवश्यक था। इसमे कभी-कभी, उदाहरणार्थ उपर्युक्त परिस्थितियाँ आने पर, व्यतिक्रम हो सकता है। गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को रेलवे श्रम के निरीक्षको की नियुक्ति का अधिकार था, ताकि वह इस बात का पता लगा सके कि कानून की धाराओ का पालन हो रहा है या नही।

३२ सन् १९२३ का श्रमिक क्षतिपूर्ति कानून (सशोधित रूप मे)—प्राय सभी पाश्चात्य देशो म इस बात को वैध स्थान प्राप्त हो गया है कि यदि श्रम क नियमित घण्टो के बीच किसी कर्मचारी को काम करते समय किसी प्रकार की शारीरिक हानि पहुँचे तो उसे क्षतिपूर्ति दी जाए। भारत मे क्षतिपूर्ति दने के विचार की प्रगति धीमी रही है। १९२३ के अधिनियम के पूर्व दुर्घटना से मृत्यु हो जाने पर १८८५ के घातक दुर्घटना अधिनियम (फेटल एक्सीडेण्ट्स एक्ट) के अन्तर्गत नियोक्ता पर मुकदमा दायर किया जा सकता था, परन्तु इस अधिनियम का शायद ही कभी प्रयोग किया गया हो। इसके अतिरिक्त नियोक्ता का उत्तरदायित्व भी अनिश्चित था।

१९२३ के अधिनियम का सिद्धान्त यह था कि दुर्घटना से घायल हुए कर्मचारियों को मुआवज़ा दिया जाएगा, यदि दुर्घटना काम करते समय हुई हो। कुछ हालतों में बीमारियों के लिए भी मुआवज़ा (क्षतिपूर्ति) दिया जाता था।

१९३३ के अधिनियम के अन्तर्गत रेलवे, ट्रामवे, कारखाने, खानें, सामुद्रिक व्यक्ति, बन्दरगाह, सडकों या इमारतों, सुरंगो और पुलो की मरम्मत या निर्माण या उन्हे गिराने के काम मे लगे व्यक्ति, सामुद्रिक कार्य, तार, टेलीफोन से सम्बन्धित काम या बिजली के तार उखाडना या खोदना, नौ-सेना, प्रकाश-स्तम्भ, चाय, कॉफी, रबर या सिनकोना के बगीचे, विद्युत् या गैस बनाने के स्टेशन, सिनेमा कर्मचारी, वेतन-प्राप्त मोटरो के ड्राइवर तथा जमीन के नीचे बहने वाली नालियों की सफाई करने वाले कर्मचारी आदि सभी आते हैं। इन सभी कामो मे लगे हुए प्रशासकीय या बाबूगीरी (क्लेरीकल) ढंग के काम करने वाले तथा ३०० रुपये से अधिक वेतन पाने वाले लोग इसमे शामिल नहीं हैं।

वास्तविक आश्रितो को ही मुआवजा मिलेगा, जैसे पत्नी या अवयस्क (नाबालिग) पुत्र। दूसरे वे लोग, जो इस परिस्थिति मे नहीं हैं, जैसे पति या माता-पिता आदि। ऐसी व्यवस्था की गई है कि घातक दुर्घटनाओं से आश्रितो का हित अच्छी तरह सुरक्षित रहे। यह भी प्रबन्ध है कि ये दुर्घटनाएँ आयुक्तो के सामने भी लाई जाएँ, जो प्रान्तीय सरकारो द्वारा कानून के अन्दर नियुक्त किये जाते है।

इस अधिनियम का प्रशासन और झगडो का निर्णय इन्ही आयुक्तो को सौंपा गया है जिन्हे बहुत अधिकार दिये गए हैं। क्रिया-पद्धति सीधी है और अपील करने के अवसर सीमित हैं। इस प्रकार के विधान की सफलता के लिए कुशल डॉक्टरो द्वारा चोट की ठीक-ठीक जांच और रिपोर्ट की आवश्यकता है, साथ ही सरकार द्वारा निष्पक्ष जजो की नियुक्ति भी आवश्यक है ताकि श्रमिक अपना उचित प्राप्य (लाभ) पा सके। भारतीय श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति, कानून के अन्दर प्राप्य आर्थिक सहायताओं के विषय मे अज्ञान तथा श्रमिको के पक्ष को मुआवजे के लिए प्रस्तुत कर सकने वाले व्यक्तियों का अभाव—इन सब कारणो से यह विधान कठिनता से लागू हो पाता है। १९४६ के मुआवज़ा (संशोधन) विधान ने मुआवज़ा पाने वालो की वेतन की सीमा ३०० रु० से बढ़ाकर ४०० रु० कर दी है और इनके बीच की आमदनी के लिए मुआवजे की दर भी निर्धारित कर दी है।

यह कहा जा सकता है कि नियोक्ताओं के भय के विपरीत इस मुआवज़ा अधिनियम से उत्पादन लागत में वृद्धि नहीं हुई है, परन्तु सुरक्षा का स्तर काफी ऊँचा हो गया है। इस अधिनियम मे पुन संशोधन करने के लिए २४ सितम्बर १९५८ को राज्यसभा मे एक बिल पेश किया गया। इस बिल मे निम्न संशोधनो की व्यवस्था है (क) क्षतिपूर्ति के लिए वयस्क और अल्पवयस्क का भेद मिटाना, (ख) सात दिन के प्रतीक्षा काल को घटाकर तीन दिन करना तथा जहाँ कार्य-योग्य न रहने का समय अट्ठाईस या और अधिक दिन हो, अयोग्य होने के दिन से क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था करना तथा (ग) अनुसूची I, II, III के क्षेत्र का विस्तार करना।

३ सामाजिक बीमा—औद्योगिक श्रमिक की सुरक्षा के लिए सामाजिक सुरक्षा का सिद्धान्त औद्योगिक दृष्टि से विकसित जर्मनी और ब्रिटेन-जैसे सभी देशों में स्वीकार किया गया है। इसमें श्रमिकों को होने वाली कठिनाइयों, जैसे बीमारी, वृत्तिहीनता, वृद्धावस्था आदि, से बचाने की व्यवस्था है। बम्बई की कांग्रेस सरकार ने सामाजिक बीमा के विकास की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की तथा इस बात पर भी विचार किया कि बीमारी के समय में भी वेतन दिया जाए। यह इस आशा से किया गया कि इनसे बीमारी के बीमे का मार्ग प्रशस्त होगा।[1]

गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल ने १९४४ में एक श्रम जाँच समिति (लेबर इन-वेस्टिगेशन कमेटी) नियुक्त की। इसने ३६ उद्योगों की विस्तृत तथ्य स्थापक जाँच की। इस समिति द्वारा प्राप्त तथ्यों ने नीति-निर्धारण को पुष्ट आधार प्रदान किया। सामाजिक बीमा की योजनाओं के सम्बन्ध में विचारणीय महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उद्योग इस प्रकार से पड़े हुए भार को कहाँ तक सह सकता है? यह वाञ्छनीय है कि सामाजिक बीमा की योजनाएँ अन्य देशों की योजनाओं के समान अंशदायी हों और श्रमिक, नियोक्ता तथा सरकार तीनों ही अपना-अपना न्यायोचित भार वहन करें।

श्रमिक राज्यीय बीमा अधिनियम (एम्प्लाईज़ स्टेट इंश्योरेंस एक्ट), जोकि अप्रैल, १९४८ में पास किया गया, में इस बात की व्यवस्था है कि बीमारी और काम के समय लगी चोट आदि के सम्बन्ध में अनिवार्य राज्यीय बीमा हो तथा ४०० रु० माहवार से कम पाने वाली स्त्रियों को प्रसूति-सहायता प्राप्त हो, चाहे वे हाथ का काम करती हों या बाबूगीरी (क्लर्की)। राज्य सरकारों को अस्पताल द्वारा देख-रेख और दवा का व्यय संभालना होगा। बीमारी के लिए नकद सहायता एक वर्ष में अधिक-से-अधिक आठ सप्ताह मिलेगी। काम में लगने वाली चोट से उत्पन्न अयोग्यता के समय अयोग्यता-सहायता (डिसेबलमेण्ट बेनीफिट) प्राप्त होगी। कुछ दशाओं में विधवाओं, पुत्रों और पुत्रियों को 'आश्रितों की सहायता' देने की भी व्यवस्था की गई है।

१९५१ के संशोधन के अनुसार नियोक्ताओं का अंशदान उनके द्वारा दी जाने वाली कुल मजदूरी का $\frac{3}{4}\%$ निश्चित कर दिया तथा $\frac{1}{2}\%$ इसके अलावा निश्चित किया। इस प्रकार नियोक्ताओं का अंशदान अब $1\frac{1}{4}\%$ है।

इस स्कीम को १०० से अधिक केन्द्रों में लागू किया गया है और १७ लाख मज़दूरों को बीमा से लाभ पहुँचाया गया है। तीसरी योजना में ३० लाख मज़दूरों को लाभ पहुँचेगा।

३४ भारत में औद्योगिक झगड़ों का इतिहास—१९१७ से पहले भारत में हड़तालें प्राय नहीं होती थीं। १९०५ में बम्बई में कई हड़तालें हुईं, जिनका कारण बिजली का प्रचार था, जिससे काम बहुत अधिक समय तक सम्भव था। १९१९-२० में जब

---

१. लेबर गज़ट (बम्बई), अगस्त १९३७, पृ० ९२।

बम्बई मे कपास की मिलो के १,५०,००० श्रमिको की बडी हडताल हुई, तब से स्थिति विशेष रूप से सकटापन्न हुई। इन हडतालो के सहायक कारणो मे काम के लम्बे घण्टे, आवास की बुरी परिस्थितियाँ, चोट के खिलाफ मुआवजे की अव्यवस्था, सरदारो (फोरमैन) द्वारा श्रमिको के साथ होने वाला दुर्व्यवहार तथा एक वर्ग की हडताल की अन्य वर्ग की हडतालो के साथ सहानुभूति आदि का नाम लिया जा सकता है।

१९१९-२१ मे हडताल की स्थिति अधिक भयकर हो गई। परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक केन्द्रो मे हडतालो की एक लहर आ गई। १९२६-२७ अपेक्षाकृत शान्त वर्ष थे। १९२८ मे औद्योगिक अशान्ति पुन. उत्पन्न हो गई और कितनी ही बडी-बडी हडतालें हुई। उदाहरण के लिए, बम्बई की कपास की मिलो की बडी हडताल (अक्तूबर, १९२८) का नाम लिया जा सकता है। १९२९ मे पूर्व वर्ष की औद्योगिक हलचल जारी रही तथा साम्यवादी प्रभाव स्पष्टत लक्षित हुए। बम्बई मे फिर एक सम्पूर्ण हडताल रही। इन तूफानी वर्षों के बाद कुछ समय तक देश-भर मे शान्ति रही। १९२९-३३ के आर्थिक अवसाद मे मजदूरी मे कटौती हुई और कुछ हडतालें भी हुई। बम्बई की सरकार ने प्रान्त मे मजदूरी मे कटौती के प्रश्न पर वैभागिक जाँच प्रारम्भ की। १९३४ मे इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसी समय अर्ध-साधारण हडताल, जो बम्बई की मिलो मे चालू थी, समाप्त कर दी गई। इस जाँच का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम बम्बई सरकार द्वारा ट्रेड डिसप्यूट्स कसीलियेशन एक्ट पास किया जाना था। इसकी समीक्षा आगे सेक्शन ३७ मे की गई है। इस अधिनियम के पास होने के तीन वर्ष बाद तक बम्बई नगर की कपास की मिलो मे हलचल न रही। १९३७ मे बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर और मद्रास-जैसे औद्योगिक केन्द्रो मे फिर श्रम-अशान्ति प्रारम्भ हो गई। इसका कारण औद्योगिक एव व्यापारिक समुत्थान के आधार पर ऊँचे वेतन की माँग तथा कटौती की पूर्ति और अशत साम्यवादियो द्वारा भडकाया जाना था। श्रमिक वर्ग मे फैला हुआ भीषण असन्तोष, यद्यपि पहले वर्ष मे ही उनकी दशा सुधारने के नियम पास हो चुके थे, १९३७-३८ मे हुई बडी हडतालो के रूप मे प्रकट हुआ।

३५. १९३९ के पश्चात् औद्योगिक झगडे—१९३९ मे झगडो की औसत सख्या ४०६ थी। यह उस समय तक की उच्चतम सख्या थी।[1] बम्बई मे झगडो की सख्या १९४२ मे और भी अधिक अर्थात् ६९४[2] थी। युद्ध के उपरान्त श्रम-अशान्ति का प्रधान कारण *मूल्यो तथा जीवन-स्तर मे वृद्धि थी जो कि प्रधानतया मुद्रास्फीति के कारण* थी। मजदूरी और कीमतो के बीच होने वाली दौड मे मजदूरी सदैव पीछे रह गई। इस स्थिति पर तभी काबू पाया जा सकता है जबकि कीमतें नियन्त्रित और स्थिर

---

१. बम्बई का श्रम गजट, जून १९४०, पृ० ८९६।

२. सन १९४६ में अगस्त के महीने तक केवल बम्बई नगर में ही ३०० से अधिक हडतालें हुई। अन्य श्रम-केन्द्र भी इसी प्रकार प्रभावित थे।

कर दी जाएं। यद्यपि अनेक उद्योगो मे अभूतपूर्व लाभ हुए परन्तु सामान्य रूप से श्रमिको की दशा गिरती ही गई। हडतालो का भूत सवार हो गया और देश मे श्रम-असन्तोष की लहर सी आ गई। इसका कारण राजनीतिक एव सामाजिक भी है और अशत साम्यवादियो की क्रियाएँ भी हैं, लेकिन प्रधान कारण कीमतो और मजदूरी के बीच की गहरी खाई ही है।[1]

३६. **ग्रौद्योगिक झगडो की रोक-थाम**—ग्रौद्योगिक झगडो को निपटाने के लिए स्थापित यन्त्र की विवेचना करने से पूर्व उन्हे रोकने के सम्बन्ध मे दो शब्द कह देना उचित होगा। इन्हे रोकने के लिए नियोक्ताओ और श्रमिको का दृढ सगठन पहली आवश्यक वस्तु है। भारत मे नियोक्ता प्राय अच्छी तरह सगठित हैं, लेकिन श्रमिको की दशा ऐसी नहीं है, अत मजबूत श्रम-सघो की आवश्यकता है। दोनो पक्षो के सुदृढ सघो (जो अपने-अपने पक्ष के लिए अच्छी तरह बोल सकते हैं) के निर्माण से यत्र-तत्र होने वाली हडतालें और काम-बन्दी रुक जाएगी। साथ ही हडताल करने के पहले ही मांगो की रूपरेखा तैयार हो जाएगी न कि हडताल करने के बाद, जो भारतीय हडताल की प्रधान विशेषता है। अहमदाबाद की कपडे की मिलो के झगडो मे मध्यस्थता करन के लिए एक स्थायी मध्यस्थ परिषद् (आरबीट्रेशन बोर्ड) की स्थापना की गई है।

अब हम झगडो को तय करने के लिए मध्यस्थता और समझौते के तरीको की विवेचना करेंगे। १६१४-१८ के बाद हुए अनेक झगडो से उन्हे सुलझाने और जांच करने के लिए उचित साधन की आवश्यकता स्पष्ट हो गई। इस ओर सबसे पहला कदम मद्रास सरकार ने उठाया। १६२१ मे बगाल सरकार द्वारा नियुक्त तथा १६२२ मे बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त समितियो ने बहुत अच्छा प्रारम्भिक काम किया और झगडो के निवारण और मध्यस्थता के सम्बन्ध मे विस्तृत सिफारिशे पेश की। भारत सरकार ने समस्या की अखिल भारतीयता पर जोर दिया। लेकिन श्रम सघ बिल (ट्रेड यूनियन बिल) पास होने से पूर्व इसे अपरिपक्व माना गया। श्रम सघ बिल १६२६ म कानून बन गया और अगले वर्ष स लागू कर दिया गया। व्यापार विग्रह अधिनियम (ट्रेड डिसप्यूट्स एक्ट), जो १६२६ मे पास किया गया था और प्रारम्भ मे केवल आगामी ५ वर्ष तक लागू रहता, १६३४ मे स्थायी बना दिया गया।

सन् १६४० से भारत सरकार ने एक नवीन परामर्शदात्री सस्था को जन्म दिया और उसे पूर्णता प्रदान की। इसका नाम भारतीय श्रम सम्मेलन (त्रिदलीय श्रम सम्मेलन)[2] था।

---

१. १६५८ में १६५७ की तुलना में औद्योगिक झगडों की सख्या में कमी हुई। १६५७ में औद्योगिक झगडों की सख्या १६३० थी, जबकि १६५८ में १५२४ थी। इसके बावजूद भी झगडों से सबधित व्यक्तियों की सख्या तथा काम के दिनों में काम से अलग रहने वालों की सख्या में ४.४ प्रतिशत तथा २१ ३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। १६५८ के प्रथम अर्द्ध-वर्ष की तुलना में दूसरे अर्द्ध-वर्ष में औद्योगिक अशान्ति का जोर कम रहा। इसका कारण नियोक्ताओं तथा श्रमिकों के सगठनों द्वारा अनुशासन-सम्बन्धी मर्यादाओं (कोड ऑफ डिसिप्लिन) को स्वीकार करना था।

२. ट्रिपार्टाइट लेबर कॉन्फरेन्स।

३७. व्यापार विग्रह विधान (ट्रेड डिसप्यूट्स लेजिस्लेशन)—(१) सन् १९२९ का व्यापार विग्रह अधिनियम—यह अधिनियम अंग्रेजी कानून के अनुसार है। इसमें अनिवार्य मध्यस्थता की व्यवस्था नहीं है। ब्रिटेन की तरह झगड़ों के निर्णय में जनमत को एक निश्चित साधन माना गया है और निहित विचार यह है कि निश्चित प्रश्नों पर विवाद हो और निष्पक्ष (मध्यस्थ) न्यायाधिकरण (ट्रिब्यूनल) द्वारा उन पर मत प्रकट किया जाए, ताकि भली प्रकार सूचित जनमत का निर्माण हो सके। इस विधान में जांच-न्यायालय (इनक्वायरी कोर्ट्स) और समझौता परिषदों (कसीलियेशन बोर्ड्स्) के निर्माण की व्यवस्था है।

(क) जांच किस प्रकार की होगी—प्रान्तीय सरकार या गवर्नर-जनरल तथा जहाँ नियोक्ता गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल के अधीन किसी विभाग या रेलवे कम्पनी का अध्यक्ष है, वहाँ गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को झगड़ों को तय करने के लिए एक जांच-न्यायालय या समझौता बोर्ड (कसीलियेशन बोर्ड) स्थापित करने का अधिकार है। आवेदन देने वाले व्यक्ति दोनों दलों के बहुमत का प्रतिनिधित्व करते हैं।[1] (ख) जांच न्यायालय का निर्माण—इसमें एक निष्पक्ष सभापति, अन्य ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति जिन्हें नियुक्ति-अधिकारी योग्य समझे अथवा एक स्वतन्त्र व्यक्ति हो सकता है। (ग) समझौता बोर्ड का विधान अलग है। इसमें एक सभापति, दो या चार अन्य सदस्य जिन्हें नियुक्ति-अधिकारी योग्य समझे या एक ही स्वतन्त्र व्यक्ति होगा। सभापति एक स्वतन्त्र व्यक्ति होगा तथा अन्य व्यक्ति भी स्वतन्त्र होंगे या बराबर संख्या में नियुक्त ऐसे व्यक्ति होंगे जो दोनों पक्षों की सिफारिशों पर उनका प्रतिनिधित्व करते होंगे। (घ) क्रियाविधि—ऐसे बोर्ड का काम झगड़ों के गुण-दोषों का विवेचन तथा वे सब काम करना होता है जिनसे दोनों दलों के झगड़े शान्तिपूर्वक तथा न्यायोचित ढंग से तय हो जाएँ और उन्हें (दलों को) इसके लिए पर्याप्त समय मिल जाए। असफल होने पर इसे अपनी कार्यवाही का पूर्ण विवरण नियुक्ति-अधिकारी के पास भेजना पड़ता है जिसमें बोर्ड द्वारा उठाये गए कदम, उसकी जांच के परिणाम और सिफारिशें भी होती हैं। नियुक्ति-अधिकारी को इसकी मध्यवर्ती (इण्टेरिम) या अन्तिम रिपोर्ट यथाशीघ्र प्रकाशित करनी पड़ती है। (च) जनोपयोगी सेवाओं में हड़ताल—जनोपयोगी सेवाओं से सम्बन्धित अधिनियम का द्वितीय भाग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जनोपयोगी सेवा का अर्थ यह है—(१) गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा जनोपयोगी घोषित कोई भी रेलवे सेवा। (२) कोई भी तार, टेलीफोन और डाक की सेवाएँ। (३) कोई भी व्यापार या व्यवसाय जो जनता के लिए प्रकाश और पानी की व्यवस्था करता है। (४) जन-स्वास्थ्य और स्वच्छता की कोई भी सेवा। इन सेवाओं में मासिक वेतन पर नियुक्त श्रमिक यदि अपने नियोक्ता को हड़ताल करने से पहले एक महीने के अन्दर कम-से-कम १४ दिन की अग्रिम सूचना न दें तो उन्हें विशेष दण्ड दिया जाता है। इसी प्रकार यदि

---

१. श्रम आयोग ने अधिनियम के अन्तर्गत तदर्थ न्यायालयों के स्थान पर स्थायी न्यायालयों की स्थापना-सम्बन्धी सम्भाव्यता की जांच करने की सिफारिश की। (श्र० आ० प्र०, पृ० ३४६)

जनोपयोगी सेवाओ के नियोक्ता पूर्व-सूचना दिये बिना ही उन्हे स्वय बन्द करते है तो उन्हे विशेष दण्ड दिया जाता है (इनका दण्ड अधिक होता है)। अपराध को प्रोत्साहन देने वालो का साधारण अपराधी सशोधन अधिनियम (क्रिमिनल अमेण्डमेण्ट लॉ) के अनुसार सजा मिलगी। (छ) अवैध हड़तालें—१६२७ के ब्रिटिश व्यापार विग्रह अधिनियम (ब्रिटिश ट्रेड डिसप्यूट्स एक्ट) के अनुसार अवैध हड़तालो के सम्बन्ध म और भी व्यवस्थाएँ हैं। ऐसी हड़ताल या मिल-बन्दी को अवैध करार दिया जाता है।

इस विधान के अनुसार नियोक्ता और श्रमिको के सगठन का अस्तित्व पहले से ही मान लिया जाता है। इसका उद्देश्य इस प्रकार क सगठन का विकास करना, यत्र-तत्र होने वाली हड़तालो को रोकना तथा इस बात मे सहायता करना है कि माँगे हड़ताल होने से पहले ही व्यवस्थित रूप धारण कर लें (न कि हड़ताल होने के बाद)। अधिनियम के अन्तर्गत सहानुभूति मे की गई हड़तालें अवैध होगी। इसके विपक्ष म कहा गया है कि सरकार इस आधार पर किसी भी हड़ताल को अवैध घोषित कर सकती है। लेकिन इसके प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि इगलैण्ड की त्रिगुट हड़ताल (ट्रिपल स्ट्राइक) (१६२६) जैसी हड़तालें देश के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं। कानून की अन्य धाराओ के समान इस धारा का भी केवल इसी आधार पर विरोध नही किया जा सकता है कि इसका दुरुपयोग हो सकता है। यह भी कहा गया है कि हड़तालो को अवैध घोषित करने वाली धाराएं श्रमिको के आधारभूत अधिकारो मे हस्तक्षेप करती हैं और श्रम-सघ आन्दोलन का शैशव-काल मे ही गला घोट देंगी तथा मजदूरो के मन म अविश्वास उत्पन्न करेगी। यह भी कहा जाता है कि अधिनियम मे जनोपयोगी सेवाओ और अवैध हड़तालो से सम्बन्धित भाग अनावश्यक हैं। समाज-सुरक्षा, जैसे पानी की पूर्ति, प्रकाश तथा सफाई आदि, मे एकाएक की गई हड़तालें पहले से ही दण्ड-विधान (पीनल कोड) के अन्तर्गत दण्डनीय हैं। साधारण जनोपयोगी सेवाओ मे होने वाली हड़तालो (उदाहरण के लिए, डाक, तार टेलीफोन या रेलवे) के सम्बन्ध मे इतनी सख्ती न बरतनी चाहिए।

अगस्त, १६३७ से लोकप्रिय मन्त्रिमण्डलो की स्थापना के बाद अधिनियम का प्रायः उपयोग किया जा रहा है, विशेष रूप से मद्रास प्रान्त मे। जाँच न्यायालय और समझौता परिषद् की नियुक्ति-सम्बन्धी कार्यविधि भाराक्रान्त प्रतीत हुई। परिणामस्वरूप बम्बई की सरकार ने १६३४ मे नवीन अधिनियम पास किया।

(२) श्रम-आयोग ने सिफारिश की थी कि प्रत्येक प्रान्तीय सरकार समझौते के लिए एक या एकाधिक अफसर रखे। मद्रास के श्रमायुक्त, पजाब के उद्योग-सचालक-मध्य प्रान्त के सांख्यिकीय सचालक, सहायुक्त और उद्योग-सचालक को समझौता अफसर के अधिकार दिये गए हैं।

(३) १६३४ का बम्बई व्यापार विग्रह समझौता अधिनियम (दि बॉम्बे ट्रेड डिसप्यूट्स कसीलियेशन एक्ट)—इसमे एक श्रम-आयुक्त की नियुक्ति की व्यवस्था भी की गई जो पदेन प्रधान समझौताकार होता है। इसम श्रमाधिकारी और सह समझौताकार की भी व्यवस्था थ श्रमिको के हितो की रक्षा के लिए १६३४ म एक श्रम-

अधिकारी की नियुक्ति हुई। मिल-मालिक संघ ने भी सरकारी श्रमाधिकारी और प्रमुख समझौताकार की कार्यवाहियों में अपनी मिलों का प्रतिनिधित्व करने के लिए श्रमाधिकारियों की नियुक्ति की।[1]

(४) **बम्बई औद्योगिक विग्रह अधिनियम** (१६३८)—१६३४ के अधिनियम के स्थान पर बने १६३८ के इस नियम का उद्देश्य हड़ताल या मिल-बन्दी से पहले समझौते और मध्यस्थता के सभी अस्त्रों का पूरा उपयोग करना है।

इस अधिनियम में उन संघों की रजिस्ट्री की व्यवस्था है जो नियोक्ताओं द्वारा स्वीकार किये जा चुके हैं या सदस्यता की कुछ शर्तों को पूरा करते हैं। रजिस्ट्री स संघों को मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करने के अनेक अधिकार मिल जाते हैं। श्रमाधिकारी और समझौताकार (कसीलियेटर) प्रान्त के विभिन्न क्षेत्रों या उद्योगों के लिए नियुक्त किये जा सकते हैं। ऐसी व्यवस्था की जाएगी ताकि मज़दूरों की माँगों, शिकायतों या उनकी सेवा की शर्तों में किये गए परिवर्तनों पर पूरा विचार किया जा सके। हड़ताल और मिल-बन्दी उस समय तक अवैध मानी जाएगी जब तक कि वाद-विवाद और विचार-विनिमय के सभी साधनों का प्रयोग न कर लिया जाए। समझौते की कार्रवाई के दो महीने बाद हड़ताल या मिल-बन्दी के अधिकार का उपयोग करना चाहिए।

यदि दोनों पक्ष किसी समझौते पर नहीं पहुँचते तो समझा जाएगा कि व्यापार-विग्रह प्रारम्भ हो गया है और सरकारी समझौताकार झगड़े को शान्त करने का प्रयास करेगा। यदि समझौताकार भी असफल रहता है अथवा सरकार आज्ञा देती है तो समझौता-परिषद् नियुक्त की जाती है।

ऐसे उद्योगों और केन्द्रों में, जहाँ नियोक्ता और श्रम-संघों में झगड़े का फैसला मध्यस्थों को सौंप दिया गया है, सरकारी कार्यवाही प्रारम्भिक दशा में और हो सका तो अन्त तक नहीं की जाएगी। फिर भी सभी समझौतों और परिनिर्णयों (अवार्ड्स) की रजिस्ट्री अवश्य होगी।

अधिनियम के अन्तर्गत एक रजिस्ट्रार की नियुक्ति हुई है जिसका काम संघों की रजिस्ट्री, उनकी ग्राह्यता का निर्णय, समझौतों, परिनिर्णयों, सूचनाओं तथा अन्य रिपोर्टों का लेखा रखना है।

एक महत्त्वपूर्ण विषय में अधिनियम एकदम नवीन है। इसमें हाईकोर्ट के जज या जज होने योग्य वकील की अध्यक्षता में एक औद्योगिक न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था है। यह न्यायालय स्वैच्छिक मध्यस्था में निर्णायक का काम करेगा और इस अधिनियम के अन्तर्गत उठ खड़े होने वाले अन्य झगड़ों के लिए भी न्यायालय का काम करेगा। यह मिल-बन्दी और हड़तालों की अवैधता का निर्णय करेगा तथा समझौतों और परिनिर्णयों की व्यवस्था करेगा। ऐसे न्यायालय की स्थापना हो चुकी है।

सन् १६३८ का बम्बई उद्योग-विग्रह अधिनियम देश में श्रम-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण और सर्वाग्र अधिनियम है। इस विधान की आलोचना में कहा जाता है कि यह

---

१ ऐसे ही श्रमाधिकारी बंगाल, उत्तर प्रदेश, मद्रास और बिहार में भी नियुक्त हुए हैं।

आवश्यकता से अधिक मस्त और कामगरों के हड़ताल घोषित करने के स्वतन्त्र अधिकार का विरोधी है। इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि यह हड़ताल करने के अधिकार को समाप्त नहीं करता बल्कि इसके उपयोग को तब तक टालता रहता है जब तक कि सभी शान्तिपूर्ण तरीके, जिनसे व्यापारिक विग्रह का समझौता किया जा सकता है, समाप्त न हो जाएँ।

इस अधिनियम की दूसरी आलोचना यह है कि आन्तरिक संगठन के मूल्य को आँकने के लिए कुछ भी नहीं करता, जिससे श्रमिकों के सहयोग में बाधक मनोवैज्ञानिक अन्तर दूर किये जा सकते हैं। इसका आधारभूत विचार सामूहिक सौदे (कलेक्टिव बार्गेनिंग) का प्रचलन है, जिसमें एक ओर नियोक्ता और दूसरी ओर सगठित श्रमिक-समाज होता है।[1]

सन् १९३९-४५ के युद्ध-काल में और भी कानूनी व्यवस्थाओं की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो न केवल पर्याप्त रूप से लचीली ही हों बल्कि झगड़ों के समझौते के निश्चित उपाय भी प्रस्तुत करें। १९४२ में भारत सरकार द्वारा पास किये गए भारत-सुरक्षा नियम ८१ 'अ' का यही मूल सिद्धान्त था। इससे श्रमिकों की हड़ताल करने की स्वतन्त्रता बहुत सीमित हो गई। १९४१ का आवश्यक सेवा (स्थापन) अध्यादेश (असेंशियल सर्विसेज मेण्टिनेंस एक्ट) भी इसी प्रकार का था। इसका उद्देश्य श्रमिकों को सरकार द्वारा आवश्यक घोषित की गई सेवाओं को छोड़ने से रोकना था।

(५) **बम्बई औद्योगिक सम्बन्ध अधिनियम (१९४६)** का उद्देश्य १९३८ के औद्योगिक विग्रह अधिनियम को स्थानान्तरित करना है, जिसकी प्रायः सभी धाराएँ पूर्ववत् रखी गई हैं तथा कुछ नई धाराएँ भी जोड़ी गई हैं। अनुभव से सिद्ध हुआ है कि मध्यस्थता तथा समझौतों और निर्णयों से पर्याप्त सफलता मिली है तथा श्रमिकों को भी लाभ हुआ है।

औद्योगिक विग्रह अधिनियम (१९४७)—यदि समझौताकार मैत्रीपूर्ण ढंग से समझौता नहीं करा सकता तो मामला समझौता-परिषद् के हाथ में चला जाता है, जिसमें एक स्वतन्त्र सभापति और दो से चार तक अन्य सदस्य होते हैं। यह आशा की जाती है कि परिषद् अपना काम दो महीने में समाप्त करेगी। यदि परिषद् समझौता कराने में सफल होती है तो यह समझौता छः महीने या दोनों दलों द्वारा स्वीकृत अवधि में से उस समय तक के लिए लागू किया जाता है जो अधिक लम्बा हो। इसमें एक जाँच न्यायालय की नियुक्ति की भी व्यवस्था है जो कि सौंपे गए विवादास्पद प्रश्न की छानबीन करता है। न्यायालय में एक या अधिक स्वतन्त्र व्यक्ति होते हैं। इसे उचित सरकार को अपनी जाँच छः महीने के अन्दर देनी होती है। उच्च न्यायालय (हाईकोर्ट) के न्यायाधीशों द्वारा निर्मित एक औद्योगिक मध्यस्थ न्यायालय (इण्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल) का निर्णय छः महीने या दोनों पक्षों को मंजूर किसी अन्य अवधि—

1. देखिए, इण्डियन जर्नल आफ इकनॉमिक्स, कॉन्फरेन्स अंक, १९४०, में श्री पी० एन० लोकनाथन का 'इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट लेजिस्लेशन' नामक लेख।

इन दोनो मे जो भी अधिक हो—तक मान्य होगा। समझौते की कार्रवाई के समय हड़ताल या मिल-बन्दी की इजाजत नही है।

सौ या सौ मे अधिक व्यक्तियो को काम मे लगाने वाले औद्योगिक कारखानो या सस्थापनो (एस्टाब्लिशमेण्ट) मे श्रम-समितियो (वर्क्स कमेटी) को स्थापित करने की व्यवस्था है। इनमे नियोक्ताओ और श्रमिको के प्रतिनिधि होगे। श्रमिको के प्रतिनिधियो की सख्या (जोकि रजिस्ट्रीशुदा श्रम-सघो की सलाह से चुने जाएँगे) कम-से-कम नियोक्ताओ की सख्या के बराबर होगी। इन समितियो का काम श्रमिको और मालिको के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना और उन्हे ऐसे अनौपचारिक ढग से मिलने-जुलने देना है कि वे एक-दूसरे से मिलकर रोजमर्रा के झगडे तय कर सके। *अधिनियम मे अनिवार्य मध्यस्थता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।* इसके विरुद्ध यह कहा गया है कि यह श्रमिको की सामूहिक सौदा करने की शक्ति को नष्ट करता है और इस प्रकार नियोक्ताओ के विरुद्ध प्रयोग मे लाए जाने वाले सबसे शक्तिशाली अस्त्र अर्थात् हड़ताल को छीन लेता है। प्रत्युत्तर मे कहा जाता है कि समस्त राष्ट्र के हित को ध्यान मे रखते हुए सरकार द्वारा अनिवार्य मध्यस्थता लागू करना उचित है। यह भी कहा जाता है कि व्यवहार मे उसूलन समझौते के प्रयोग और ऐच्छिक मध्यस्थता की भी व्यवस्था है। सरकार के अनिवार्य मध्यस्थता पर हठ करने की नीति से दोनो दल अधिक विवेकपूर्ण ढग तथा सरलता से समझौता कर सकेंगे।

सन् १९४७ की धाराओ को पूरा करने के लिए दिसम्बर, १९४९ मे इण्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स (बैंकिंग एण्ड इन्श्योरेंस कम्पनीज) एक्ट पास किया गया। सन् १९४७ के केन्द्रीय कानून को कुछ राज्य सरकारो ने भी सशोधित किया है, उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश (१९५१), मैसूर (१९५३)। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो के कानूनो के अन्तर्गत किये गए निर्णयो की अपील की व्यवस्था करने के लिए २० मई, १९५० म इण्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स (एपीलेट ट्रिब्यूनल) एक्ट पास किया गया। जम्मू और काश्मीर को छोडकर यह कानून सारे भारत मे लागू है। अपील सुनने के लिए एक न्यायालय (अपील ट्रिब्यूनल) की स्थापना हो चुकी है। इस न्यायालय के तीन स्थान हैं—बम्बई, कलकत्ता और लखनऊ। १९४६ के इण्डस्ट्रियल अधिनियम का १९६१ तथा १९६३ मे सशोधन किया गया। चीनी आक्रमण के बाद नवम्बर १९६२ मे इण्डस्ट्रियल अस्थायी विराम रेजोल्यूशन (Industrial Truce Resolution) द्वारा इन झगडो को मिटाने की कोशिश की गई। फिर भी १९६३ मे १४७१ औद्योगिक झगडे हुए जिसमे ३२,६८,५२४ श्रमिक दिनो की हानि हुई।

३८. भारत मे श्रम-सघ आन्दोलन—श्री बी० पी० वाडिया के नेतृत्व मे मद्रास मे १९१८ मे ही श्रम-सघो का सगठन किया गया था। मद्रास से श्रम-सघ आन्दोलन बम्बई पहुँचा। १९१७ मे प्रारम्भ होने वाली औद्योगिक अशान्ति के परिणामस्वरूप कितने ही श्रम-सघ स्थापित किये गए। ये सब अस्थायी थे और उद्देश्य पूरा होते ही—चाहे वह मजदूरी की वृद्धि हो या कुछ और—विनष्ट हो गए। ये हड़ताल-

समितियाँ-सी थी जिनमे कुछ अफसर और कुछ चन्दा देने वाले सदस्य थे।[1] परिस्थिति धीरे धीरे सुधर रही है। आन्दोलन की प्रारम्भिक दशा मे आर्थिक कष्ट के एकमात्र सूत्र से श्रमिक बँधे रहते थे। यह बन्धन आर्थिक स्थिति के सुधार के साथ ही कमजोर होता जाता था। बाद मे आन्दोलन मे शक्ति आती गई। इसे १९२६ के श्रम-सघ अधिनियम द्वारा काफी बल मिला। भारत के व्यापार-सघ आन्दोलन को प्रारम्भ से ही एक अखिल भारतीय सस्था—अखिल भारतीय श्रम सघ काग्रेस (ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस)—का सहयोग प्राप्त हुआ, जिसके अधिवेशन १९२० से होते आ रहे हैं।

१९४८ के अन्तिम तथा १९४९ के प्रारम्भिक महीनो मे ट्रेड यूनियन काग्रेस से कितने ही सघ अलग हो गए। ट्रेड यूनियन काग्रेस अब कम्यूनिस्टो के अधिकार मे है। इधर हाल मे काग्रेस के सिद्धान्तो का अनुसरण करते हुए अहमदाबाद मे भी एक सघ बनाया गया। इसका नाम भारतीय राष्ट्रीय श्रम-सघ काग्रेस (इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस) है और यह धीरे-धीरे शक्ति सग्रह कर रही है। श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व मे समाजवादियो ने हिन्दू मजदूर पचायत नाम का एक शक्तिशाली सगठन बनाया है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की स्थापना से भारत मे केन्द्रीय श्रम सघ स्थापित होने मे शीघ्रता हुई। जेनेवा सम्मेलनो मे भारतीय प्रतिनिधियो की उपस्थिति से भारतीय श्रम आन्दोलन पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क मे आ गया।

१९४० म अखिल भारतीय श्रम सघ काग्रेस मे कुल १९१ सघ थे तथा इससे सम्बद्ध सदस्यो की सख्या ३५४,५४१ थी। १९४६-४७ मे रजिस्ट्रीशुदा श्रम-सघो की सख्या १,७२५ थी जिनमे से ९९८ ने अपना लेखा पेश किया। उनकी सदस्यता १,३३१,९९२ थी। स्त्रियो की सदस्यता कुल सदस्यता के ४ प्रतिशत से भी कम थी। १९५७ ५८ मे (जम्मू और काश्मीर, मैसूर और मनीपुर को छोडकर) भारत मे ९,६४४ श्रम-सघ थे। इनमे से ५,३१९ श्रम-सघो ने अपना लेखा प्रस्तुत किया। इनकी सदस्यता २५,९५,५१६ पुरुषो तथा ३,१०,९६४ स्त्रियो की है। ये सब सघ शक्ति और सामर्थ्य मे समान नही हैं। लगभग आधे सघ तो सरकारी नौकरियो से सम्बद्ध व्यक्तियो के थ।

३९. भारत मे श्रम-आन्दोलन की कठिनाइयाँ—सबसे प्रधान कठिनाई भारतीय श्रमिको की परिवर्तनशीलता है (देखिए, सेक्शन ३)। द्वितीय, बम्बई तथा कलकत्ता-जैसे उद्योग केन्द्रो म काम करने वाले व्यक्तियो मे इतनी विभिन्नता है कि वे अलग-अलग भाषाएँ बोलते है और इसलिए एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट नही होत। जहाँ पर प्रवासी श्रमिको की सख्या कम है, जैसे अहमदाबाद मे, वहाँ व्यापार-सघ काफी सुदृढ हैं। तीसरे, बहुत-से श्रमिक नियमित चदा तथा सघ अनुशासन से भी घबराते हैं।

---

१. देखिए, हर्ट, पूर्वोघृत, पृ० १०१।

यही वजह है कि सघो मे नाम लिखे गए व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत कम है। साधारण मजदूर इतना गरीब होता है कि थोडा-सा भी चन्दा देना उसे भारी मालूम होता है। चौथे, अधिकाश मजदूर निरक्षर होते है। परिणाम यह होता है कि उन्हे अपने वर्ग से नेता नही मिल पाते। इसी वजह से भारतीय श्रम सघ आन्दोलन की यह विशेषता है कि इसके नेता अधिकतर मध्य वर्ग के व्यक्ति रहे है, जैसे पेशेवर वकील या अन्य ऐसे व्यक्ति जिन्हे राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्र मे कोई विशिष्टता प्राप्त नही हुई है।[1] इसके अतिरिक्त उनके हित कितने ही सघो मे विभक्त होते है और उनका कानूनी पेचीदगी-सम्बन्धी ज्ञान भी अत्यन्त सीमित होता है। अन्य बाधा वास्तविक जनतन्त्रीय आदर्श का अभाव है जो कि श्रम सघो के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्त मे, सफल श्रम-सघ वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति पर भी निर्भर करते है ताकि श्रमिको के लिए अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जा सके।[2] यदि श्रमिक वर्ग के नेता वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था को विनष्ट करने पर तुले होगे तो उनका प्रभाव इस आन्दोलन को कमजोर ही बनाएगा।

४०. १६२६ का श्रम-सघ अधिनियम—१६२० मे मद्रास उच्च न्यायालय ने एक निर्णय दिया, जिसमे श्रम-सघ के कर्मचारियो तथा सगठनकर्ताओ को श्रमिको को नियोक्ताओ के साथ अधिक मजदूरी के लिए समझौतो को हडताल करके तोडने के लिए प्रभावित करने से रोका गया। इससे भारतीय श्रम-सघो की रजिस्ट्री और सुरक्षा के लिए विधान की आवश्यकता प्रतीत हुई। रजिस्ट्रीशुदा सघो को अपना नाम और उद्देश्य निश्चित करना होता है। इन्हे सदस्यो की सूची रखनी पडती है और अपने धन कोष की जाँच करानी होती है। यह धन कुछ निश्चित विषयो पर सदस्यो के हित के लिए व्यय किया जाता है। रजिस्ट्रीशुदा श्रम सघ के कम-से-कम आधे पदाधिकारी उसी उद्योग के होने चाहिएँ। इन प्रतिबन्धो के साथ ही कानून ने सभी श्रम-सघो के कर्मचारियो को श्रम-सघ के वैधानिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किये गए कामो मे अपराध की जिम्मेदारी से छूट दे दी है। उनके ऊपर षड्यन्त्र का दोष नही लगाया जा सकता है। अधिनियम मे ऐसी व्यवस्था है कि (१) किसी रजिस्ट्रीशुदा सघ कर्मचारी के खिलाफ व्यापारिक झगडे को अग्रसर करने के लिए किये गए किसी काम का मुकदमा दीवानी कचहरी मे इस आधार पर दायर नही किया जा सकता कि वह नौकरी के खिलाफ भडकाता है या व्यापार अथवा व्यवसाय या दूसरे की नौकरी या अपनी सम्पत्ति को प्रयोग करने के अधिकार मे हस्तक्षेप करता है। दीवानी

---

१ जैसा कि ब्रिटिश श्रम-सघ आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में हुआ था जबकि श्रम-सघ अपने नेतृत्व के लिए राबर्ट ओवेन, फ्रांसिस प्लेस, किंग्सले, लडलो और फ्रेडरिक हेरिसन आदि व्यक्तियों पर निर्भर थे। इसी प्रकार भारतीय आन्दोलन अपने प्रारम्भिक दिनों में प्रायः मध्य-वर्ग के लोगों पर ही निर्भर था। इसी वर्ग से अध्यक्ष और सचिव मिलते थे। इस विषय पर रोचक आलोचनाओं के लिए देखिए, अ० आ० प्र०, पृष्ठ ३२४-२५ और ३२८-२६।

२. अहमद मुख्तार, ट्रेड यूनियनिज्म एण्ड लेबर डिमप्यूट्स इन इण्डिया।

कचहरी मे (२) किसी भी रजिस्ट्रीशुदा श्रम-सघ के खिलाफ इस आधार पर भी कोई मुकदमा दायर नही किया जा सकता कि कोई कर्मचारी व्यापारिक विग्रह को अग्रसर कर रहा है, जब तक कि यह न साबित हो जाए कि वह सघ की कार्यकारिणी को बिना बताए या उसके प्रकट आदेशो के विरुद्ध काम कर रहा है। रजिस्ट्रीशुदा श्रम-सघ सदस्यो के नागरिक एव राजनीतिक हितो की पूर्ति के लिए कोष इकट्ठा कर सकता है किन्तु इसके लिए चन्दा पूर्णतया ऐच्छिक होता है। १९६३ मे श्रम सघो की सख्या २,६२५ थी और सदस्यों की सख्या २२,०८,२१९ थी।

औद्योगिक कल्याण[1]

४१. कल्याण-कार्य की प्रकृति—सरकार, श्रमिको, नियोक्ताओ या सामाजिक सस्थाओ द्वारा ऐसे प्रयत्न किए जा सकते हैं। एक दृष्टिकोण से ऐसे प्रयत्नो को मानवता का कार्य कहा जा सकता है जिसका उद्देश्य औद्योगिक जनता का हित होता है। सकुचित और केवल उपयोगितावादी अर्थ मे तथाकथित कल्याण-कार्यो को कुशलता-कार्य भी कहा जा सकता है। इसका श्रमिक के शारीरिक स्वास्थ्य और कुशलता पर सीधा प्रभाव पडता है।

४२ कल्याण कार्य का विभाजन—कल्याण-कार्य के दो प्रधान भाग है (१) कारखाने के अन्दर के कल्याण कार्य तथा (२) कारखाने के बाहर के कल्याण-कार्य। जहाँ तक कारखाने के अन्दर काम की दशाओ के सुधारने का सवाल है इसके विषय मे सरकार, नियोक्ताओ तथा अन्य साधनो द्वारा किये गए प्रयत्नो का विवेचन अध्याय मे पहले ही किया जा चुका है।

बीते युग के नियोक्ताओ की ओर से श्रमिको के अवकाश का सदुपयोग करने के प्रश्न पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। जो प्रयत्न किये गए वे औषधि-सम्बन्धी सहायता या शिक्षा और आवास की सहायता के रूप मे थे। वर्तमान समय मे बढती हुई औद्योगिक अशान्ति के कारण इस पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। मई, १९२६ मे भारत सरकार ने सभी प्रान्तीय सरकारो से काम पर न होने के समय श्रमिको की रहने की दशा सुधारने के लिए किये गए प्रयत्नो के आँकडे एकत्रित करने के लिए कहा। यह जाँच अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन के छठे सम्मेलन की सिफारिश पर की गई। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन ने विभिन्न सरकारो से इस बात की प्रार्थना की कि वे श्रमिको के खाली समय के उपयोग से सम्बन्धित अद्यतन सूचना दें।

बम्बई के कुछ उदार नियोक्ताओ द्वारा प्रदर्शित रुचि के अतिरिक्त कितने ही नियोक्ताओ ने अन्य औद्योगिक केन्द्रों, विशेषकर नागपुर, मद्रास, जमशेदपुर और कानपुर, मे श्रम-कल्याण-कार्य की योजनाएँ प्रारम्भ की हैं। बकिंघम कर्नाटिक मिलो

---

१. इन विषय पर श्रम-आयोग की रिपोर्ट का चौदहवां अध्याय देखिए।

द्वारा भूतकाल मे किया गया कल्याण-कार्य सभी को ज्ञात है। नागपुर की इम्प्रेस मिल ने श्रमिको के हित की देख-भाल का काम वाई० एम० सी० ए० (नवयुवक ईसाई सघ) को सौंप दिया है। जमशेदपुर के टाटा आइरन और स्टील कम्पनी के सचालको का कहना है कि कम्पनी के प्रारम्भ से ही श्रम के प्रति उनका रुख तथा श्रमिको के लिए सफाई, सुरक्षा, शिक्षा, जल-वितरण, आवास, जल-निकासी, अस्पताल तथा अन्य सार्वजनिक सेवाओं की व्यवस्था भारत मे बेजोड है और भारतीय जनता के सभी मतो के व्यक्तियो ने उसे सहर्ष स्वीकार किया है। कानपुर मे ब्रिटिश इण्डिया कारपोरेशन ने कल्याण कार्य अधीक्षक की व्यवस्था की है जो कि श्रमिको के रहने के लिए बनाई गई दो बस्तियो की देख-रेख करता है। बम्बई कारपोरेशन, पोर्ट ट्रस्ट-जैसी नगरपालिकाओ और रेलो-जैसी जनोपयोगी सेवाओ ने भी अपने कर्मचारियो के हित के लिए काम किया है।

प्रान्तीय स्वशासन के अन्तर्गत कितनी ही सरकारो ने नियोक्ताओ द्वारा किये गए कल्याण और आमोद-प्रमोद की क्रियाओ को पूरा करने के लिए स्वय कल्याण-योजनाएँ प्रारम्भ की है। उदाहरणार्थ, बम्बई की सरकार ने बम्बई के औद्योगिक क्षेत्रो तथा राज्य के अन्य नगरो मे कल्याण-केन्द्र खोले है।[1]

४३ **कल्याण-कार्य के मद**—(१) **शिक्षा**—औद्योगिक श्रमिको की शिक्षा से सम्बन्धित दयनीय दशा की चर्चा की जा चुकी है।[2] टाटा-जैसे कुछ उदार नियोक्ताओ ने श्रमिको की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया है। उनके और उनके बच्चो के लिए दिन और रात्रि की पाठशालाएँ खोली गई हैं। बम्बई के समाज सेवा सघ और ईसाई नवयुवक सघ ने भी औद्योगिक श्रमिको की शिक्षा के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण काम किया है। इन्होने स्कूल और रात्रि पाठशालाओ के अतिरिक्त पाठ गृहो और पुस्तकालयो की भी व्यवस्था की है। (२) **औषधि सहायता**—भारत के बडे कारखानो मे औषधि-सहायता की सुविधाएँ सामान्यत प्राप्त हैं, किन्तु लेडी डॉक्टरो द्वारा स्त्रियो की आवश्यकताओ की पूर्ति बहुत कम पाई जाती है। (३) **प्रसवकालीन लाभ**—स्त्रियो और उनके बच्चो के हित के लिए पाश्चात्य देशो मे प्रसवकालीन लाभ और बच्चा होने के कुछ दिन पूर्व और पश्चात् तक काम न करने देने की प्रथा है। चूंकि भारत मे स्त्रियाँ गृह-सेवक का भी काम करती है, अत यहा भी यह व्यवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाती है। १६१६ के वाशिंगटन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने औरतो को काम मे लगाने के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव पास किया। इसमे प्रसवकालीन लाभ के प्रश्न पर भी विचार किया। यह आशा नही की जाती थी कि भारत इस प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लेगा, फिर भी भारत सरकार को इस प्रश्न की छानबीन करने के लिए आमन्त्रित किया गया ताकि वह दूसरे सम्मेलन को अपनी रिपोर्ट दे सके। प्रस्तुत की गई जाँचो से यह सिद्ध हुआ कि बहुत थोडे-से ही नियोक्ताओ ने इस प्रकार

---

१. इण्डियन इअर बुक, १६४०-४१, पृ० ५५६।

२. देखिए, अध्याय १, सेक्शन ६।

का काम प्रारम्भ किया है। प्रान्तीय सरकारों ने ऐसी ऐच्छिक योजनाओं को प्रोत्साहित करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। जून, १९२४ में भारत सरकार द्वारा की गई अन्य जांचों से भी स्पष्ट हो गया कि भारत के तीन प्रधान और संगठित उद्योगों—जूट, चाय और कोयला—में प्रसवकालीन लाभ की निश्चित योजनाएँ चालू थीं। आसाम के चाय के बगीचों, आसाम-रेलवे तथा व्यापार कम्पनी, बिहार और उड़ीसा की खानों और बम्बई के कारखानों में भी इस प्रकार की योजनाएँ चल रही थीं। इनमें विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हैं, जैसे गर्भावस्था में कुछ समय की छुट्टी, दूध तथा दूध पिलाने वाली बोतलों का निर्मूल्य वितरण। इन सबके अतिरिक्त बम्बई में प्रसूति-गृह भी हैं। बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त लेडी डॉक्टर बेर्नर्स ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट में टाटा मिल-समूह द्वारा दी गई प्रसवकालीन सुविधाओं का रोचक विवरण दिया है। कम-से-कम ११ महीने काम कर चुकने वाली स्त्री को बच्चा पैदा होने के एक महीने पहले और एक महीने बाद की तनख्वाह भत्ते के रूप में दी जाती है, यदि वह किसी लेडी डॉक्टर द्वारा गर्भावस्था के आठ महीने पूरे होने का प्रमाण-पत्र पेश करे और यह आश्वासन दे कि वह मजदूरी पर अन्यत्र काम न करेगी।

१९३४ में संशोधित अधिनियम द्वारा बच्चा पैदा होने के चार सप्ताह तक काम करना अवैध घोषित किया गया। आठ आने प्रतिदिन के हिसाब से प्रसवकालीन लाभ बच्चा पैदा होने के चार सप्ताह पहले और बाद तक मिलेगा, बशर्ते कि वह नियोक्ता को इस बात की सूचना देने की तिथि के नौ महीने पहले से काम कर रही हो और सूचना देने के एक महीने बाद ही बच्चा पैदा होने को हो। यदि इस छुट्टी की अवधि में वह कहीं और काम करेगी तो उसे यह लाभ नहीं मिलेगा। १९३८ में यह अधिनियम सभी औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाली स्त्रियों पर लागू कर दिया गया। १९५८ में प्रसवकालीन लाभ अधिनियम मध्य प्रदेश में तथा १९५७ में केरल में भी पास किया गया। १९३५ में मद्रास में भी बम्बई-जैसा एक अधिनियम पास किया गया, जिसमें १९५८ में संशोधन किया गया। आसाम का अधिनियम ही कारखानों और चाय के बगीचों, दोनों में लागू होता है। शेष सभी अधिनियम केवल कारखानों पर ही लागू होते हैं। सभी प्रसवकालीन लाभ विधानों के आधारभूत सिद्धान्त एक ही हैं, अर्थात् बच्चा पैदा होने के कुछ समय पूर्व और पश्चात् स्त्रियों को नकद आर्थिक सहायता दी जाए, प्रसव के बाद उन्हें अनिवार्य रूप से कुछ समय तक विश्राम करने दिया जाए और यदि वे बच्चा पैदा होने की सूचना देती हैं तो पहले भी करने दिया जाए। सभी अधिनियमों में लाभ मिलने के लिए एक निश्चित अवधि की नौकरी या काम आवश्यक है।

(४) **आमोद-प्रमोद**—आमोद प्रमोद का महत्त्व स्वयं इतना स्पष्ट है कि उस पर विशेष बल देने की आवश्यकता नहीं है। श्रमिकों के नीरस जीवन में थोड़ी भी हरियाली लाने वाली कोई भी चीज स्वागत योग्य है। श्रमिक को ऐसे काम में लगाना आवश्यक है ताकि उसका फालतू समय शराबखोरी और नशे में व्यतीत न हो तथा औद्योगिक केन्द्रों में औद्योगिक काम के प्रति उसका आकर्षण बढ़ जाए और

वह बिना हिचक के वहाँ बस जाए। बम्बई सरकार के कल्याण-केन्द्र की स्थापना के प्रयत्न भी स्तुत्य है। इन क्रियाओं के फलस्वरूप सिनेमा, मेजिक लेण्टर्न की सहायता से भाषण, संगीत-सम्मेलन, नाटक, अखाड़े, दंगल आदि के आयोजन का नाम लिया जा सकता है। (५) **आवास**—इस समस्या का विवेचन इस अध्याय में पहले ही हो चुका है।[1] (६) **सहकारी समितियाँ**—सहकारी आन्दोलन के विवरण में इसका पूरा वर्णन हो चुका है।[2] (७) **अन्न-वस्त्र की दूकानें**—कुछ मिलों में श्रमिकों को सस्ती दर पर अन्न-वस्त्र बेचने के लिए दूकानें भी खोली गई हैं, जिससे वे धोखेबाज बनियों के चंगुल से बच सकें। इस समस्या का सन्तोषजनक निदान सहकारी स्टोर खोलने से ही हो सकता है। (८) **चाय की दूकानें और केण्टीन**—चाय और स्वास्थ्यजनक खाद्य की आवश्यकता प्रतीत होने पर भी हमारी मिलों में इनका प्रबन्ध नहीं के बराबर है।

ऊपर बताए गए फैक्ट्री एक्ट के आधुनिकतम संशोधन में कल्याण-कार्य के लिए अनेक धाराएँ हैं, जिनमें विश्राम के लिए सुन्दर विश्राम-गृहों का निर्माण, ५० से अधिक स्त्रियों को नौकर रखने वाली फैक्ट्रियों में उनके बच्चों के लिए कमरों की व्यवस्था तथा प्राथमिक सहायता के उपस्कर की व्यवस्था आदि का नाम गिनाया जा सकता है। श्रमिकों को वृद्धावस्था में काम आने के लिए १९५२ में श्रमिक प्रोवीडेन्ड फन्ड पास हुआ जो जनवरी १९६५ के अन्त तक ९६ इन्डस्ट्रीज और अन्य संस्थाओं में लागू हुआ। इसकी सदस्य-संख्या ३६ लाख हो चुकी है और तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक मजदूरों को लाभ पहुँचायेगी। इस योजना के अन्त तक इस संघ के पास ७०० करोड़ रुपये की साख हो जायेगी।

१. देखिए, सेक्शन १३-१५।
२. देखिए, खण्ड १, अध्याय १०, सेक्शन ११

अध्याय १७

राष्ट्रीय आय

१ राष्ट्रीय आय के अनुमान : दादाभाई नौरोजी का अनुमान—दादाभाई नौरोजी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पॉवर्टी एण्ड दी ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में पहली बार भारत की राष्ट्रीय आय आँकने का गम्भीर प्रयास किया। यह अनुमान १८६७-७० के सरकारी आँकड़ों पर आधारित है। डॉ० नौरोजी ने जिन सिद्धान्तों का अनुसरण किया, उनकी व्याख्या वह निम्न शब्दों में करते हैं—"मैंने प्रान्त की एक या दो मुख्य उत्पत्तियों को उस प्रान्त की कुल उत्पत्ति का प्रतिनिधि मान लिया है। मैंने प्रत्येक ज़िले की जोती जाने वाली सम्पूर्ण भूमि, प्रति एकड़ उत्पादन एवं उसके मूल्य को लिया है, अब साधारण गुणा और जोड़ से कुल उत्पादन की मात्रा और मूल्य मालूम हो जाता है। इससे प्रति एकड़ औसत उत्पादन और सम्पूर्ण उत्पादन का मूल्य भी सही-सही मालूम हो जाता है।" इस आधार पर काम करते हुए वह इस परिणाम पर पहुँचे कि कृषि-उत्पादन का कुल मूल्य २७७,०००,००० पौंड है। इसमें से ६% वह बीज के लिए घटा देते हैं। इसके बाद २६०,०००,००० पौंड बचा। नमक, अफीम, कोयला और व्यापार में होने वाले लाभ का मूल्य प्राय १७,०००,००० पौंड, निर्मित वस्तुओं का मूल्य १५,०००,००० पौंड, लगभग इतना ही मछली, दूध, गोश्त इत्यादि का मूल्य तथा ३०,०००,००० पौंड अन्य बातों के लिए रख लेने पर इन सबका योग ३४०,०००,००० पौंड होता है। जनसंख्या को १७०,०००,००० मानने पर ब्रिटिश भारत की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ४० शिलिंग या २० रुपये हुई। जेल में दी जाने वाली खुराक और प्रवासी कुलियों को दिये जाने वाले राशन के आधार पर वह इस नतीजे पर पहुँचे कि यह केवल जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक आय—३४ रु०—से भी कम है। "चूँकि राष्ट्रीय आय दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं थी, अतएव देश की उत्पादक पूँजी धीरे-धीरे प्रतिवर्ष व्यय होती गई और देश की बढ़ती गरीबी के साथ उत्पादन-शक्ति का ह्रास होता गया।"

डॉ० वी० के० आर० वी० राव का मत है कि दूध, मछलियाँ तथा मांस के सम्बन्ध में दादाभाई नौरोजी का अनुमान कम है। दूध, मांस और मछलियों का उत्पादन कृषि का चतुर्थांश है। इस प्रकार इन साधनों से प्राप्त आय ६५० लाख पौंड होगी न कि १५० लाख पौंड। उद्योगों पर अवलम्बित जनसंख्या कृषि-जनसंख्या के ६% से अधिक है तथा कृषि-जनसंख्या की तुलना में औद्योगिक श्रमिकों की आय भी अपेक्षाकृत अधिक है। अतएव निर्माणों से प्राप्त आय १५० लाख पौंड के बजाय ६०० लाख पौंड होनी चाहिए। इसी प्रकार प्रशासन, परिवहन, पेशों और गृह-सेवकों

के लिए भी कुछ जोडना होगा। इन संशोधनो के बाद राष्ट्रीय आय २० रु० प्रति व्यक्ति से बढकर २३ या २४ रु० प्रति व्यक्ति हो जाएगी।[1]

२. राष्ट्रीय आय १८७५ से १९११ तक—दादाभाई नौरोजी के बाद, १८८२ मे दूसरी जाँच अर्ल क्रोमर (उस समय, मेजर ईवलिन बेरिंग) तथा सर (उस समय मिस्टर) डेविड बारबर ने की और उनके परिणाम इस प्रकार थे—

कृषि-आय	रु० ३५०,००,००,०००
गैर-कृषि-आय	रु० १७५,००,००,०००
योग	रु० ५२५,००,००,०००

१९४,५३६,००० व्यक्तियो मे बाँट देने पर, जो तत्कालीन जनसख्या थी, प्रति व्यक्ति औसत आय २७ रुपये हुई।

१९०१ की जनगणना के अनुसार जनसख्या २३,१०,००,००० थी। इस आधार पर एक अच्छे वर्ष मे प्रति व्यक्ति आय १८ रु० ८ आना ११ पाई होती। दुर्भिक्ष वर्ष १८९९-१९०० के लिए डिग्बी द्वारा अनुमानित आय १२ रु० ६ आने थी।

दुर्भिक्ष आयोग के लिए आकलित आँकडो के आधार पर कृषि-आय को ४५०,००,००,००० रु० मानकर लार्ड कर्जन ने उपर्युक्त कथनो के उत्तर मे अपना अनुमान प्रस्तुत किया। १८८० की गणना के अनुसार कृषि-आय १८ रु० प्रति व्यक्ति थी। उसी क्षेत्र की अद्यतन जनगणना की सख्याओ को लेकर यह अनुमान लगाया गया कि कृषि-आय १८ रु० से बढकर २० रु० हो गई। यह मानने पर कि गैर-कृषि-आय भी उसी अनुपात मे बढी होगी, १९०० मे भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय १८८० के २७ रु० के बजाय ३० रु० हुई। लार्ड कर्जन ने स्वीकार किया कि आँकडे निर्विवाद नही थे। लेकिन उन्होने यह भी कहा कि १८८० की सख्याएं भी अनुमानित ही थी और यदि एक तर्क के समर्थन के लिए एक सख्या प्रयुक्त की जा सकती है तो उसी प्रकार दूसरी सख्या का प्रयोग किया जा सकता है। उन्होने यह भी स्वीकार किया कि गणना के आधार पर निर्दिष्ट आर्थिक दशा की प्रगति न तो महत्त्वपूर्ण ही थी और न सतोषजनक ही। लेकिन इससे यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि हम आगे बढ रहे है, पीछे नही लौट रहे हैं।

१९०२ मे एफ० जे० अर्टकिंसन ने एक लेख 'स्टेटिस्टिकल रिव्यू ऑफ दि इनकम एण्ड वेल्थ ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' लिखा जो लन्दन मे रॉयल स्टेटिस्टिकल सोसाइटी के सामने पढा गया। उन्होने सम्पूर्ण जनसख्या को तीन वर्गों मे विभाजित किया—(१) कृषि जनसख्या, (२) गैर कृषीय जनसख्या (गरीब), (३) गैर-कृषीय जनसख्या (धनी)। पहले वर्ग की आय क्षेत्रफल, उत्पादन और कीमतो के आँकडो पर निर्धारित की गई। दूसरे वर्ग की आय प्रत्येक वर्ग के श्रमिको की सख्या को

---

१. देखिए, वी० के० आर० वी० राव, 'इण्डियन नेशनल इन्कम', १९२५-२९, पृ० १७-२२।

उनकी पारिश्रमिक दर से गुणा करके प्राप्त की गई। तृतीय वर्ग में सरकारी नौकरों के लिए सरकारी अनुमान (सिविल एस्टिमेट्स) और पेशेवर लोगों के लिए आय-कर को प्रयोग में लाया गया। इस आधार पर अर्टकिसन ने अनुमान लगाया कि १८७५ में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ३० ५ रु० तथा १८९५ में ३९ ५ रु० थी। इनमें से बीज, घिसाव आदि के लिए कुछ नहीं घटाया गया। इस प्रकार अन्तिम परिणाम में अतिरंजन का दोष आ गया और डॉ० राव ने इसमें सुधार करना आवश्यक समझा तथा अनुमान को ३९ रु० ८ आने से घटाकर ३१ रु० ८ आ० कर दिया।[1]

३. वाडिया और जोशी का अनुमान—१९१३-१४ की राष्ट्रीय आय का अनुमान श्री पी० ए० वाडिया और श्री जी० एन० जोशी ने लगाया है।[2] हम उनकी जांच का परिणाम संक्षेप में नीचे दे रहे हैं। कृषि-उत्पादन का मूल्य १०,७२,६६,९३,२८२ रु० रखा गया। इसमें से बीज और खाद के लिए प्रतिशत घटाया गया। अतएव वास्तविक कृषि-आय ८,५८,३६,९४,६२६ रु० हुई। खनिज पदार्थों का मूल्य १४,४०,९५,००० रु० अनुमान किया गया। इसमें २० प्रतिशत घिसाव और मजदूरी से सम्बन्धित खनन का व्यय घटाया गया। (गणना में आगे खनिज-उत्पादन निर्माण (मेनूफेक्चर्स) में जोड़ लिया गया है।) इस तरह वास्तविक मूल्यांकन ११,५२,७६,००० रु० हुआ। जहाँ तक निर्मित वस्तुओं (मेनूफेक्चर्स) के मूल्य-निर्धारण का प्रश्न है, इसे कच्चे माल का $\frac{1}{5}$ अर्थात् २० प्रतिशत माना गया। इसका मूल्य (२०४,७६,९५,०००—५)= ४०, ९५,३३,००० रु० हुआ। लेखकगण ऊपर बतायी गई पद्धतियों से इस कुल आय में से कई चीज़े घटाकर निम्न आलेख प्रस्तुत करते है जो कि १९१३-१४ की कुल राष्ट्रीय आय में से घटाई गई राशि प्रदर्शित करता है—

(१) गृह-व्यय	२००,००,००० पौण्ड
(२) सरकार की ओर से विदेशी पूँजी का विनियोग	८०,००,००० पौण्ड
(३) भारत में लगी विदेशी पूँजी पर लाभ	३९०,००,००० पौण्ड
(४) भारत में नई विदेशी पूँजी का विनियोग	५०,००,०००[3] पौण्ड
(५) सरकारी अफसरों, यूरोपीय नौकरों आदि द्वारा भारत से बाहर भेजा जाने वाला द्रव्य	१००,००,००० पौण्ड
	८२०,००,००० पौण्ड
	=१२३,००,००,००० रु०

इस आय को ब्रिटिश भारत की जनसंख्या में विभाजित करने पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ४४ रु० ५ आ० ६ पा० आती है। १९११ की जनगणना के अनुसार ब्रिटिश भारत की जनसंख्या २४,४१,८९,७१६ थी। इसमें तीन वर्ष की सम्भावित वृद्धि

१. पूर्व उद्धृत, पृ० ८८-३९।
२. 'दि वैल्थ ऑफ इण्डिया', पृ० ९७-११२।
३. वाउली राबर्टसन की रिपोर्ट के लेखकों का कहना है कि इस मद का मूल्य दो बार घटाया गया है।

के लिए १०,००,००० जोड दिया गया है।

४. शाह और खबाटा का अनुमान—के० टी० शाह और के० जे० खम्बाटा के अनुमान का साराश इस प्रकार है[1]—

मदें	युद्ध-पूर्व काल १६००-१४	युद्ध-युद्धोत्तर काल १६१४ २२	कुल अवधि १६००-२२	वर्ष १६२१-२२
	करोड रुपयो मे			
कृषि-उत्पादन	१०१४.८	१६८६.५	१२५७.१	२१५५.८
बीजो के लिए घटाया गया	२०	३५	२५	५८
वास्तविक कृषि उत्पादन	६६४.८	१६५१.५	१२३२.१	२०६७.८
वन-धन	१०	२०	१४	२८
मछलियाँ	१.२	२.५	१.६	३.२
निर्मित वस्तुएँ	८०	१५०	१०६	१८६
खनिज पदार्थ	१०	२१.६	१४	२८.७
मकान इत्यादि	१०	१६.४	१२	२०.३
योग	११०६	१८६२	१३८०	२३६४

इस प्रकार प्रति व्यक्ति कुल आय
—१६००-१४—३६ रु०
—१६१४-२२—५८½ रु०
—१६००-२२—४४½ रु०
—१६२१-२२—७४ रु०

५ फिण्डले शिराज का अनुमान—१६२०-२१ और १६२१-२२ के लिए फिण्डले शिराज के अनुमान मे कृषि-उत्पादन क्रमश १,७१,४६४ लाख रु० तथा १,६८,३४१ लाख रु० तथा गैर-कृषि-उत्पादन ८८३ करोड रु० रखा गया। इस आधार पर १६२१ और १६२२ के लिए प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय क्रमश १०७ रु० तथा ११६ रु० हुई। शिराज ने बताया कि १८८१ से १६११ तक की अवधि मे किये गए सब अनुमानो मे यह मान लिया गया था कि कृषीय और गैर-कृषीय आय दोनो वर्गों मे उनकी सख्या के अनुपात से विभाजित है। यह गणना तब तक ठीक थी जब तक देश का औद्योगिक विकास अपनी शैशवावस्था मे था। लेकिन इधर हाल मे कुछ शीघ्रता से परिवर्तन हुए है, अतएव कुल गैर-कृषीय उत्पादन पर पहुँचने के लिए कुछ और जोडना आवश्यक हो गया है। इसके लिए ७५ करोड रु० जोडना उपयुक्त होगा और इसे जोडने पर कुल ८८३ करोड रुपये हुए। शिराज के अनुमान के विरुद्ध एक स्पष्ट आलोचना यह है कि कृषि-उत्पादन-गणना मे उन्होने बीज इत्यादि को घटाने की आवश्यकता समझी।

१. के० टी० शाह और के० जे० खबाटा, 'दि वेल्थ एण्ड टेक्सेबल केपेसिटी ऑफ इण्डिया', पृ० १६६-२००।

६ वी० के० आर० वी० राव का अनुमान—डॉ० राव ने १९३१-३२ के लिए राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया है। उनके अनुसार वास्तविक आय (ब्रिटिश भारत की) १,६०,००० लाख और १,८०,००० लाख रु०.के बीच है और प्रति व्यक्ति आय ६५ रु०। इसमे भूल संशोधन के लिए ६% जोडा या घटाया जा सकता है। नीचे की सारणी मे विस्तृत वर्णन दिया गया है—

	मूल्य दस लाख रुपयो मे	भूल की सीमा, प्रतिशत
कृषि-उत्पादन का मूल्य	५,९२७	—
पशु " "	२,६८३	=१०
मछली और शिकार "	१२०	=२०
जगल के उत्पादन "	९२	—
खनिज " "	१८०	—
आय कर पर लगी हुई आय	२,१९१	—
" से मुक्त आय (उद्योगो मे लगे श्रमिको की)	२,१००	=१७
" " " " रेलवे, पोस्ट, टलीग्राफ	५९०	—
व्यापार मे लगे लोगो की आयकर से मुक्त आय	१,२३३	=१५
शिक्षा इत्यादि मे " " " " "	४१६	=१५
रेलवे, पोस्ट, टेलीग्राफ को छोडकर परिवहन मे लगे लोगो की आयकर से मुक्त आय	२८३	=२०
गृह-सेवाओ मे लगे श्रमिको का आय-कर	३२५	=२०
विविध मदो से मुक्त आय	७८०	=१०
योग	१६,८९०	= ६

डॉ० राव अपने अनुमान को इस आधार पर अधिक सही बताते है कि उन्होंने प्राप्य आँकडो को मास, दूध की उत्पत्ति, उद्योग मे लगे हुए लोगो की आय, स्थानीय अधिकारियो की सेवाओ इत्यादि के सम्बन्ध मे की गई तदर्थ (एड हॉक) जाँचो द्वारा पूर्ण किया है।[1]

७ ईस्टर्न इकनामिस्ट का अनुमान—ईस्टर्न इकनामिस्ट ने अपने वार्षिक अक (३१ दिसम्बर, १९४८) मे १९३९-४० से १९४७-४८ के लिए राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध मे निम्न सख्याएँ दी—

---

१. ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीय आय (१९३१-३२), पृ० ४ और १८५-६।

ब्रिटिश भारत की आय (१६३६-४० से १६४७-४८ तक)
(दस लाख रुपयों में)

	१६३६-४०	४०-४१	४१-४२	४२-४३	४३-४४	४४-४५	४५-४६	४६-४७	१६४७-४८
कृषि तथा अन्य सम्बन्धित पेशों से आय	६५२७	१०३६५	११०४८	१७४०२	२११२८१	२२६३८	२२२४५	२५६६१	२१२६३
उद्योगों से आय	३७६०	४०६२	६०७०	६५६०	१२४००	११२२०	१०३३८	६३८१	६८००
अन्य मदों से	६०२६	६१२६	६२६२	६७७२	८६५१	८६५१	६७६६	६७६८	८३१८
कुल आय	१६३४३	२०५८३	२३३६०	३३७३४	४२३३-	४२७०१	४२३८२	४४८७२	३६४२१

जीवन-निर्वाह-व्यय देशनाक की सहायता से व्यवस्थित (द्रव्य आय से भिन्न) वास्तविक आय में परिवर्तन निम्न तालिका में प्रदर्शित किये गए है—

वास्तविक आय १६३६-४० में ६७ रु० प्रति व्यक्ति थी, १६४७-४८ में घट कर ६२ रु० हो गई। इसके अतिरिक्त इस आय का कुछ भाग उपभोग पर नही व्यय किया गया, वरन् पौण्ड पावना के निर्माण में खर्च हुआ। वह बात निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाएगी जो कि उपभोग (खाना और कपड़े) की कमी प्रदर्शित करती है।

खाना और कपड़ा प्रति व्यक्ति उपभोग

	१६३६-४०	१६४०-१	१६४१-२	१६४२-३	१६४३-४	१६४४-५	१६४५-६	१६४६-७	१६४७-८
प्रति व्यक्ति भोजन का उपभोग	३८८	३६६	३४८	३७८	३७१	३७०	३४०	३५८	३५७
प्रति व्यक्ति कपड़े का उपभोग (गजों में)	१६	१६	१४	१०	१४	१४	१२	१२	११

८. व्याख्या तथा तुलना की कठिनाइयाँ—इन परिणामों की तुलना करते समय पाठक को बहुत-सी बातों का ध्यान रखना होगा। पहली बात तो यह है कि वे विभिन्न तिथियों और वर्षों की है, अतएव इस बीच हुए मूल्यों के अन्तर का खयाल रखना होगा। मूल्यों में ८०% वृद्धि की मान्यता पर १६१३-१४ का ४५ रु० १६२१-२२ के ८१ रु० के बराबर होगा। दूसरी बात यह है कि गणना में लिया गया क्षेत्र हर गणना में एक ही नहीं है। उदाहरणार्थ शाह और खबाटा ने केवल ब्रिटिश भारत ही नहीं, अपितु भारतीय रियासतों का भी शामिल कर लिया है। अतएव इस गणना और उस गणना के बीच, जोकि केवल ब्रिटिश भारत तक सीमित है, तुलना करते

समय हमे शाह-खम्बाटा की प्रति व्यक्ति आय को बढाना पडेगा, क्योंकि ब्रिटिश भारत रियासतो की अपेक्षा थोडा अधिक धनी और आर्थिक दृष्टि से विकसित है। हमे अपनायी गई पद्धतियो से उत्पन्न अन्तर भी ध्यान मे रखना होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं, शिराज कुछ भी नही घटाते जबकि अन्य गणनाओ मे थोडा बहुत घटाया गया है। राष्ट्रीय आय के तत्त्वो के सम्बन्ध मे भी मतभेद है, जबकि शिराज पशो मे हुई आमदनी को जोडता है अन्य गणनाएँ ऐसा नही करती।[1] अतएव विभिन्न अनुमानो की तुलना करते समय हम दी गई वास्तविक सख्याओ को ध्यान मे न रखकर उन सख्याओ को ध्यान म रखना चाहिए जो सबके द्वारा एक ही पद्धति अपनाने पर होती। एक और ध्यान देने की बात यह है कि बाद की गणनाएँ अधिक वैज्ञानिक आधार पर हैं। जसा कि शिराज ने कहा है, यदि उसके विस्तृत तरीके के स्थान पर पुरानी पद्धति का अनुसरण किया जाए तो कृषि और अन्य पशो स होने वाली आय का मूल्य काफी कम होगा।

इन गणनाओ से आर्थिक समृद्धि के सम्बन्ध म परिणाम निकालते समय भी काफी सावधानी से काम लेना होगा। यहाँ केवल प्रति व्यक्ति औसत आय को ही ध्यान मे नही रखना होगा बल्कि राष्ट्रीय आय किन अगो से मिलकर बनी है इसका भी ध्यान रखना होगा। भारत-जैसे देश के लिए यह महत्त्वपूर्ण होगा कि आय का कितना भाग खाद्य-सामग्री के रूप मे है, क्योकि यदि खाद्य-सामग्री जैसी जीवन की आवश्यकताओ मे कमी है तो अन्य प्रकार की आय मे वृद्धि उतने महत्त्व की नही होगी। यदि सेवाओ को राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत लना है तो यह ध्यान रखना होगा कि क्या हमारी परतन्त्रता के युग मे कुछ सेवाओ का बहुत बढा-चढाकर मूल्य कम नहीं किया जाता था ?

कभी-कभी तो दरिद्रता की तसवीर इसलिए बढा चढाकर खीच दी जाती है कि वे समझते हैं कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय एक औसत कुटुम्ब की आय का प्रतिनिधित्व करती है। यदि हम जनता को जरूरत से ज्यादा खुशहाल समझते हैं तो हम दूसरी दिशा मे गलती करते हैं, क्योकि ऐसा करने मे हम यह भूल जाते हैं कि आय का वितरण असमान है। कुछ लोगो की आय औसत से बहुत ज्यादा और बहुतो की औसत से बहुत कम है। विद्वत्तापूर्ण पशो और जमीदारियो मे अपेक्षाकृत अधिक आय है। छोटे-मोटे व्यापारियो की आय मध्यम श्रेणी की है। नगरो मे आधी आय आबादी के दशमाश लोगो के हाथ मे है। पढे-लिखे, पशे वाले तथा बडे-बडे जमीदारो की आमदनी काफी ज्यादा है। ऐसे लोगो का ३८%, जिनकी आय २,००० रु० से ज्यादा है, कुल आय के १७% का अधिकारी है, जबकि १% व्यक्तियो के पास कुल आय का १०% है।

शाह और खम्बाटा की गणना के अनुसार १ प्रतिशत या आश्रितो को

---

१. शिराज अपने खास अनुमान में खुले रूप से सेवाओं को शामिल नहीं करता, लेकिन अपनी गैर-कृषीय आय की जाँच एक तालिका द्वारा करता है जिसमें सेवाएँ सम्मिलित हैं।

सम्मिलित करने पर अधिक-से-अधिक ५% व्यक्ति देश की एक-तिहाई सम्पत्ति का उपभोग करते हैं और देश की सम्पत्ति के एक-तिहाई से कुछ अधिक लगभग ३५% आय का उपभोग एक-तिहाई जनसंख्या (आश्रितों को मिलाकर) करती है और तत्कालीन ब्रिटिश भारत के शेष लगभग ६०% व्यक्ति देश मे उत्पन्न सम्पत्ति के ३०% का उपभोग करते हैं। हमारे पास ये विश्वास करने के आधार हैं कि दूसरे और तीसरे वर्गों से प्राथमिक वर्ग की (कृषि की) ओर प्रवाह हो रहा है, साथ ही श्रमिको की द्राव्यिक एवं वास्तविक आय मे भी वृद्धि हुई है। यह भी सच है कि कुछ उद्योगो मे श्रम की उत्पादकता घट जाने से उनकी वास्तविक आय १३% कम हो गई है। उत्पादकता के ह्रास का कारण अंशत तो मशीनो की दुरवस्था तथा अंशत काम के घण्टो का घट जाना भी है। १९४३ के बाद से वास्तविक मुनाफा भी घट रहा है।[1]

यह भी ध्यान देने की बात है कि एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त मे भी प्रति व्यक्ति आय मे अन्तर पडता है।[2] व्यावसायिक फसले बोने वाले तथा अधिक उद्योगीकृत प्रान्तो मे आय अधिक है, जैसे बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त और बरार, जबकि उडीसा, उत्तर प्रदेश और मद्रास अपेक्षाकृत गरीब है।

९. अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाएँ—सर जोशिया स्टॉम्प का कथन है कि "जिन देशो की तुलना करनी है उनके निवासियो का निश्चित वस्तु के प्रति एकसा ही दृष्टिकोण होना चाहिए तथा उनके पारस्परिक मूल्यो का मानदण्ड भी समान होना चाहिए। इस बात मे जहाँ तक देशो मे विभिन्नता होगी, तुलना सारहीन होगी।'[3] भारत और इगलैण्ड-जैसे देशो की एक ही सख्याओ के मूल्य मे बडा अन्तर होगा। कारण यह है कि न केवल इन देशो के मूल्य का मानदण्ड विभिन्न है, अपितु भिन्न बाह्य परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की आवश्यकताओ को जन्म देती हैं।

१०. गहन परीक्षण—व्यक्तिगत रूप म की गई जाँचो, जैसे बम्बई म डॉ० मैन द्वारा की गई जाँच तथा मद्रास मे डॉ० स्टेलर द्वारा की गई जाचो, के अतिरिक्त ग्रामीण और नागरिक विभाग, पजाब आर्थिक जाँच परिषद् (पजाब बोर्ड ऑफ इकनामिक इन्क्वायरी) के तत्त्वावधान मे कई सर्वेक्षण किये गए। भारतीय केन्द्रीय कपास समिति ने भी कुछ वर्ष हुए, कपास उगाने वालो की आर्थिक और विपणन परिस्थितियो के सम्बन्ध मे आठ जाचें की। भारतीय आर्थिक जाँच समिति द्वारा प्रस्तावित नमूने

---

१. ईस्टर्न इकनामिस्ट, वार्षिक अक १९४८, पृ० ११२३-६।

२. वकील और मुरजन, पूर्वोद्धृत, ३५६-७।

३. तुलना कीजिए, "दो देशों की आर्थिक तुलना बड़ा ही सन्दिग्ध विषय है। मकान, कपडे और खान-पान में भी तुलना नहीं की जा सकती, अ-पारिश्रमिक आय का महत्व भी घटता-बढ़ता है। एक देश में कुछ ऐसी चीजें खरीदी जाती हैं जो दूसरे देश में बेकार होंगी या उन्मुक्त रूप से प्रकृति के दान के रूप में मिलती होंगी। हमें औद्योगिक वर्गों की तुलना नहीं करनी चाहिए—जैसे इन्जीनियरिंग, छपाई, मकान-निर्माण इत्यादि में लगे लोगों की, क्योंकि काम के तरीके और परिस्थितियों में बड़ा अन्तर होता है। इन बातों को ध्यान में रखे बिना तुलना अर्थहीन है। —ए० एल० बाउली, 'नेचर एण्ड परपज ऑव दि मेजरमेण्ट ऑव सोशल फेनामेना', इकनामिक इनक्वायरी रिपोर्ट में उद्धृत, पृ० ११७।

की यह पहली गहन जाच थी तथा इसमे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान भरा है।[1] इन सब जाँचो से भारतीयो की आर्थिक दशा के सम्बन्ध मे उपर्युक्त निष्कर्षों की पुष्टि होती है।

११. क्या भारतीय दरिद्रता घट रही है ?—घोर निर्धनता को एक निर्विवाद सत्य के रूप मे स्वीकार करने पर प्रश्न यह उठता है कि यह घट रही है या बढ रही है या स्थिर है। अब दरिद्रता केवल कुछ प्रारम्भिक आवश्यकताओ की अतृप्ति ही नही बल्कि इस युग की नवीनतम वस्तुओ मे भाग न पा सकने का नाम हो गया है। हालांकि आज पाश्चात्य देशो मे पचास साल पहले की अपेक्षा जनता को अच्छा भोजन, कपडे और मकान प्राप्त है, किन्तु उसका असतोष पहले से कही तीव्र है। कुछ लोगो के मतानुसार भारत मे भी वैसा ही परिवर्तन हो रहा है और असन्तोष आर्थिक अवस्था मे सुधार का परिणाम है। ऊपर दिये गए विविध अनुमान अपनी अपूर्णता के बावजूद इतनी बात तो स्पष्ट करते ही है कि भारत की आर्थिक अवस्था की गति सुधार की ओर है। इस बात की पुष्टि इससे भी हो जाती है कि भारतीय औद्योगिक तथा कृषि श्रमिक की भावना मे एक प्रकार की स्वच्छन्दता के दर्शन होते है। १६३६-४५ के युद्ध-काल के पूर्व इस पर भी विश्वास किया जा सकता था कि भारत मे प्रति व्यक्ति भोजन और कपडे के उपयोग की मात्रा बढ रही है। सरकारी अधिकारियो का निश्चित मत था कि देश की आर्थिक दशा सुधर रही है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाएगा—"जहाँ तक साधारण कसौटी का उपयोग किया जा सकता है यह कहा जा सकता है कि भारतीय भू-धारक, व्यापारी, रैयत और दस्तकार की दशा आज से पचास वर्ष पूर्व की अपेक्षा सुधरी हुई है। वह चीनी, नमक, तम्बाकू तथा आयात-विलासिताओ (इम्पोर्टेड लक्सरीज़) का पहल की पीढी की तुलना मे अधिक मात्रा म उपभोग कर रहा है। जहा घर-घर जांच की गई है वहाँ पता चला है कि साधारण ग्रामीण अपने पिता की अपेक्षा अच्छा खाना खाता और अच्छे कपडे पहनता है। पीतल या अन्य धातु के बरतनो न पुराने मिट्टी के बरतनो का स्थान ले लिया है और उसके घर मे पहल की अपेक्षा अधिक कपडे है।"[2] इस प्रकार की तसवीर की सत्यता पर गैर-सरकारी लोगो ने मतभेद और कुछ छोटी छोटी बातो पर तो खुले आम सन्देह प्रकट किया। उदाहरण क लिए, ग्रामीणो का अधिक भोजन सर्वमत से स्वीकृति न पा सका। अन्य बातो के साथ यह बताया गया कि विशेषकर कस्बो के समीप के गांवो का आहार-स्तर बहुत ही गिरा हुआ है। दूध का, जो कि एक शाकाहार-प्रधान देश म प्रधान खाद्य है, नितान्त अभाव होता जा रहा है और उसी उपयोगिता के आहार-रूप मे और कोई

---

१. देखिए, कपास उगाने वालों का आर्थिक एव विक्रय में की गए आठ जाचों पर साधारण रिपोर्ट, १६२८।

२. 'रिजल्ट्स ऑफ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन इन दि पास्ट फिफ्टी इयर्स', १६०६, पृ० २६। एल० सी० ए० नाउल्स द्वारा 'इकनामिक डेवलपमेण्ट ऑफ दि ब्रिटिश ओवरसीज एम्पायर' में उद्धृत (१७६३-१६१४) भाग १, पृ० २७५।

पदार्थ उसका स्थान नही ले पाया है। यह मान लेने पर भी कि थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है यह तो सच ही है कि भारत पाश्चात्य देशो, विशेषकर इगलैंड, की तुलना मे एक क्षण भी खडा नही हो सकता, जब कि हम वहाँ की दरिद्रता मे कमी, मृत्यु की दर तथा गरीबी से उत्पन्न बीमारियो मे घटती, शिक्षा का प्रसार, आमोद-प्रमोद के साधनो मे वृद्धि, अधिक अच्छी सफाई और मकान की दशाओ को देखते है। पश्चिम मे भी धन के वितरण मे बडी असमानता है, किन्तु आर्थिक समृद्धि का भी विस्तृत प्रसार है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। जीवन की अच्छी वस्तुओ की अधिकता और आमदनी मे साधारण रूप से वृद्धि ने सर्वसाधारण की क्रयशक्ति की क्षमता के अन्तर्गत अनेक ऐसी वस्तुएँ ला दी हैं जो पहले बहुत थोडे-से धनी लोगो का एकाधिकार थीं।

१२. अधिक सही आँकड़ो की आवश्यकता—भारत की आर्थिक दशा से सम्बन्धित समस्याओ के सुलझाने या निर्धारित करने के लिए जो त्रुटियाँ और अव्यवस्थाएँ आ जाती है उनका प्रधान कारण है सही आँकडो का अभाव। घोर निर्धनता को छोड़-कर और सब विषयो से हम लोग प्राय अन्धकार मे हैं। ठीक आँकडो के प्राप्त हो जाने पर अनेक अनुमानित मान्यताओ का सहारा न लेना होगा और हमारी गणना अधिक सही और विश्वसनीय होगी। इससे देश की अनेक दुरवस्थाओ के कारणो का ठीक-ठीक पता लगेगा तथा उन्हे सुलझाने मे बडी सहायता मिलेगी। प्रशासन की कितनी ही कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी। १९२५ की भारतीय आर्थिक जाँच समिति ने इस सम्बन्ध मे (लन्दन) 'टाइम्स' का उपयुक्त मत उद्धृत किया है। १९२१ मे हुए साम्राज्य आँकडा सम्मेलन (एम्पायर स्टेटिस्टिक्स कॉन्फ्रेन्स) के सम्बन्ध मे 'टाइम्स' का मत है कि "युद्ध से पूर्व जर्मनी मे स्टेटिस्टिकल ब्यूरो अविराम गति से उन आँकडो का सकलन करने मे सलग्न था जिनसे देश के भविष्य-निर्माण मे किंचित भी सहायता मिल सकती थी। अब जो युग प्रारम्भ हो गया है उसमे जो राष्ट्र आँकडो के द्वारा की गई व्याख्या से सुसज्जित है वे उनसे प्रस्तुत किये गए लाभो का पूरा उपयोग कर सकते हैं तथा उस राष्ट्र की अपेक्षा निश्चित ही अच्छे हैं जो केवल अनुभवजन्य ज्ञान पर निर्भर है।"[1] इस समय एकत्रित आँकडे विशेषज्ञो के निर्देशन से रहित एव असम्बद्ध है। वस्तुत: वे सरकारी वैभागिक कार्रवाई के उपोत्पाद हैं, उनका उद्देश्य जनता को सामाजिक और आर्थिक महत्त्व की बातो की जानकारी कराना नही होता।

यह बात सच है कि भारत मे आँकडो के एकत्र करने के मार्ग मे अनेक बाधाएँ है। पहले तो देश का विशाल आकार ही काम को व्ययशील और कठिन बना देता है। दूसरे, जनता कस्बो और नगरो मे केन्द्रित न होकर गाँवो मे बिखरी पडी है। तीसरे, जनता की अशिक्षा और अज्ञान के कारण आँकडे एकत्र करने के काम मे उससे

---

१. आर्थिक जाच समिति रिपोर्ट, पृ० ४।

ज़रा भी सहायता नहीं मिलती, इससे यह प्राय. व्यावहारिक असम्भावना का रूप धारण कर लेता है। इगलैण्ड या अन्य देशो मे उत्पादन, पारिश्रमिक एव कीमतो के आँकडे व्यक्तियो को अनुसूचियाँ बाँटकर एकत्र किये जाते हैं जो भरकर निश्चित समय मे लौटा देते हैं। वैतनिक कर्मचारियो की अपेक्षा यह अधिक सत्य और कम व्ययसाध्य होता है। व्यक्तिगत सस्थाओ से भी बडी सहायता मिल जाती है। इस प्रकार की सस्थाएँ भारत मे नही हैं।

१३. **बाउली-राबर्टसन जांच**—नवम्बर, १९३३ मे भारत सरकार ने प्रो० ए० एल० बाउली (लन्दन स्कूल ऑव इकनामिक्स) और मि० डी० एच० राबर्टसन (केम्ब्रिज मे इकनामिक्स के प्राध्यापक) को अधिक सही और व्यापक आँकडे इकट्ठा करने तथा उत्पादन-गणना करने की व्यावहारिकता पर परामर्श देने के लिए नियुक्त किया। इनके साथ ही तीन भारतीय अर्थशास्त्रियो ने भी काम किया और इन लोगो के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप १९३४ मे एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसका नाम था 'भारत की आर्थिक गणना की योजना' (ए स्कीम फॉर एन इकनामिक्स सेन्सस ऑफ इण्डिया)। सक्षेप मे उसको नीचे दिया जाता है—

१४. (१) **आँकडे सकलित करने का संकलन**—केन्द्रीय कार्यकारिणी की आर्थिक समिति से सलग्न एक स्थायी आर्थिक कर्मचारी-वर्ग नियुक्त किया जाए, जिसमे चार सदस्य हो। पुराना सदस्य कार्यकारिणी की आर्थिक समिति के सचिव का काम करेगा और यह आर्थिक समिति के प्रति सम्पूर्ण आर्थिक सूचना के सगठन कार्य के लिए उत्तरदायी होगा। इस प्रकार वह अत्यावश्यक प्रश्नो पर, जैसे-जैसे वे सामने आएँगे, रिपोर्ट करेगा। साख्यिकी सचालक को सूचना का प्रमुख अग तथा सदस्य होने के अतिरिक्त और भी कार्य करने पड़ने थे—(१) जनगणना कराना, (२) उत्पादन गणना कराना (३) केन्द्रीय आँकडो का सयोजन और (४) प्रान्तीय आँकडो का सयोजन। इस कार्य मे उसकी सहायता करने के लिए वाणिज्य सूचना विभाग की साख्यिकीय शाखा उसके अधीन कर दी जाएगी और उसके कुछ स्थायी सदस्य भी बढा दिए जाएँगे। 'वाणिज्य सूचना विभाग', जो केवल व्यावसायिक दुनिया की जाँच-पड़ताल का जवाब मे लगा रहता है, वाणिज्य-विभाग का एक अग हो जाएगा।

उत्पादन-गणना हर पाँचवे वर्ष होनी चाहिए। एक स्थायी साख्यिकीय विभाग गणना की तैयारी तथा उसके परिणामों का विश्लेषण करेगा और उसे प्राय सदैव कार्य लग्न रहना पडेगा तथा दसवर्षीय जनगणना की अवस्था पर उसे थोडा-सा और बढा दिया जाएगा। वर्गीकरण मे एकता लाने के लिए साख्यिकीय सचालक को अन्य विभागो मे आकडे प्रस्तुत करने के लिए उत्तरदायी व्यक्तियो से सलाह ले सकने का अधिकार होना चाहिए। इससे साधारण उपयोग के लिए आँकडे प्राप्त होंगे और विभाग के कार्य के लिए भी आवश्यक आँकडे एकत्र रहेंगे। उसे साख्यिकीय सारांश (स्टटिस्टिक्ल एब्स्ट्रैक्ट) प्रकाशित करने के लिए भी उत्तरदायी होना चाहिए। हर प्रान्त मे पूरे समय तक काम करने वाले साख्यशास्त्री होंगे। प्रशासनात्मक आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए उन्हे यथासम्भव स्वतन्त्रता मिलेगी तथा उसकी सेवाएँ हर

विभाग को प्राप्य होगी। वह उन सबके आँकड़ो का पुनर्विलोकन करेगा। वह केन्द्रीय सांख्यिकीय संचालक से हर प्रकार से सहयोग करेगा और उसके निर्देशानुसार जन-गणना कराएगा।

१५. (२) राष्ट्रीय आय की माप—रिपोर्ट के लेखकों के मतानुसार वर्तमान समय में प्राप्य सामग्री भारत की आय और धन की माप करने के लिए अत्यन्त दोषपूर्ण है। अब तक किये गए विभिन्न अनुमान पुराने पड़ गए हैं और समस्या की फिर शुरू से जाँच करनी आवश्यक है।

जैसा कि सभी जानते हैं, गणना की दो विधियाँ हैं—पहली वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यांकन की है और दूसरी व्यक्तिगत आयों के योग की। ये दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे की सत्यता सिद्ध करने में हर जगह सहायक नहीं होतीं—उदाहरण के लिए, मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों की सेवाएँ उनको मिलने वाले वेतन के बराबर हैं क्योंकि उनको नापने का और कोई तरीका ही नहीं है। भारत के विषय में तो ऐसा असम्भव दीखता है कि पूरे क्षेत्र या केवल उद्योगों के सम्पूर्ण क्षेत्र में भी प्रथम (उत्पादन-गणना) विधि पूरी तरह से लागू होगी। दोनों विधियों के परिणामों को मिलाने में भी विशेष सावधानी आवश्यक हो सकती है। प्रथम (उत्पादन गणना) विधि में निम्न बातें हैं

(१) खेती, खनिज, उद्योग इत्यादि उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के वास्तविक उत्पादन को उत्पादन होते ही आँक लिया जाए ताकि दुबारा गणना करने की गलती से बच जाएँ।

(२) गृह-उत्पादित वस्तुओं एवं आयातों में परिवहन और व्यवसायियों की सेवाओं द्वारा हुई मूल्य-वृद्धि को जोड़ा जाए।

(३) गृह-उत्पादित वस्तुओं पर लगाया जाने वाला उत्पाद कर जोड़ा जाए।

(४) निर्यात (जिसमें सोना चाँदी भी शामिल है) का मूल्य घटाया जाए।

(५) आयात (जिसमें सोना चाँदी भी शामिल है) का मूल्य जोड़ा जाए।

(६) आयात पर लगे आयात-कर (कस्टम्स ड्यूटीज) को जोड़ा जाए।

(७) उन वस्तुओं के मूल्य को—चाहे वे देश में उत्पन्न की जाती हों या विदेश से मँगायी जाती हों, जो स्थिर पूँजी को कायम रखने में प्रयोग में लायी जाती है—घटा दिया जाए।

(८) सब प्रकार की वैयक्तिक सेवाओं को जोड़ा जाए।

(९) मकानों का सालाना किराया जोड़ा जाए—चाहे वे किराये पर उठे हों या मालिक-मकान द्वारा उपयोग किए जाते हों।

(१०) धन-राशि में (चाहे सरकारी हो या व्यक्तिगत) विदेशी प्रतिभूतियों द्वारा हुई अभिवृद्धि को जोड़ा जाए, या इस प्रकार की धन-राशि में से देश में विदेशियों की प्रतिभूतियों की वृद्धि को घटाया जाए या इनकी कमी को जोड़ा जाए।

इनमें से कुछ पर टिप्पणी की आवश्यकता है—

(१) कृषि का वह भाग जो उत्पादकों द्वारा उपयुक्त होता है—भारत में यह

हिस्सा बहुत अधिक है—और वह हिस्सा जोकि स्थानीय सेवाओं से बदला जाता है, इनका भी मूल्यांकन होना चाहिए। यह मूल्यांकन स्थानीय मूल्य में ही होना चाहिए, न कि दूर के बाजारों के फुटकर मूल्य पर, जिसमें उठाने, ले जाने आदि की मजदूरी भी शामिल रहती है जोकि स्थानीय मूल्य में नहीं होती।

(३,६) यह आवश्यक है क्योंकि जिस योग की हम खोज है वह उपभोक्ताओं के विनिमय-मूल्य का कुल जोड़ है।

(४,५,१०) यह आसानी से देखा जा सकता है कि जब भारत सरकार रेलवे निर्माण के लिए इंगलैण्ड से ऋण लेती है तो जिन प्रतिभूतियों का आयात होता है वे इंगलैण्ड के विनियोक्ताओं की वास्तविक आय का एक भाग होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे भारतीय चाय का आयात वास्तविक आय का भाग है।

(६) (१) सरलता के लिए यह मान लिया जाता है कि सरकारी नौकरों की सेवाएँ जनता को सीधा लाभ पहुँचाती हैं और उपयोगी हैं। अतएव वे वास्तविक राष्ट्रीय आय का एक अंग हैं। इनके मूल्यांकन में पेंशन-अधिकारों को भी शामिल कर लेना चाहिए।

राष्ट्रीय आय निकालने के लिए उत्पादन गणना विधि दोनों विधियों में अधिक आधारभूत है। दूसरी विधि (आय-गणना) के परिणाम उपयुक्त विधि के परिणामों से मिल सकें इसके लिए कुछ सावधानियाँ बरतनी पड़ेंगी।

(१) स्वयं उपयुक्त वस्तुओं तथा वस्तु रूप में प्राप्त आय को गणना में शामिल करना होगा। इसकी कीमत उत्पादन के स्थान की कीमत के अनुसार लगानी होगी। इसी प्रकार जिन घरों में लोग रहते हैं—चाहे वे उसके मकान मालिक ही क्यों न हों—उसका भी वार्षिक मूल्य लगाना होगा।

(२) सब प्रकार के ब्याज चाहे वे उपभोग के लिए लिये गए ऋण पर ही क्यों न दिये गए हों, व्यक्ति की आय में से घटाने होंगे।

(३) इसके अतिरिक्त हर एक व्यक्ति की आय, जिसमें सरकारी नौकरों की पेंशन और सरकारी ऋण पर ब्याज ज्यों की-त्यों शामिल करनी होगी अर्थात् इन्हें कर देने से पूर्व शामिल करना होगा। कर में मालगुजारी भी शामिल है। सरकारी नौकरों की आय में उस वर्ष के पेंशन के अधिकार भी जोड़ लेने चाहिएँ। इस प्रकार के योग में कम्पनियों के अविभाजित मुनाफे और सरकारी कामों से होने वाले लाभों को भी जोड़ना होगा। इस प्रकार प्राप्त योग में से उत्पादक ऋणों के अतिरिक्त शेष सरकारी ऋण के ब्याज की राशि तथा पहले के सरकारी नौकरों की पेंशनें—चाहे वे देश में दी जाएँ या विदेश में—भी घटानी होंगी।

(४) इस प्रकार प्राप्त योग में आयात-कर, उत्पाद-कर, स्टाम्प-कर और स्थानीय कर (लोकल रेटस) भी जोड़ने होंगे, क्योंकि यह उत्पादकों को मिलने वाले विनिमय मूल्य का कुल योग है, जबकि उत्पादन गणना-विधि से आकलित वास्तविक राष्ट्रीय आय उपभोक्ताओं को मिलने वाले विनिमय-मूल्यों का समूह है। अतः जब तक यह नहीं जोड़ा जाता, गलतियाँ होने की सम्भावना है।

नीचे जो सुझाव दिये गए हैं वे राष्ट्रीय आय के बडे भागो से सम्बद्ध है। ऊपर निर्देश की गई विभिन्न व्यवस्थाएँ अन्तिम गणना मे अपना स्थान रखेंगी।

यद्यपि ठीक-ठीक राष्ट्रीय धन का अनुमान लगाना सम्भव नही है, फिर भी स्थायी कामो मे सरकारी खर्च, नयी पूँजी के विनियोग तथा पूँजी के विनियोग की तरह के व्ययो के अनुमानो से राष्ट्रीय आय के परिवर्तनो का निर्देश तो किया ही जा सकता है।

राष्ट्रीय आय के अनुमान के लिए प्रस्तावित गवेषणा प्रधानतया उत्पादन के आधार पर है, लेकिन जैसा सभी देशो मे होता है कुछ भाग वैयक्तिक आय पर निर्भर रहता है। भारत मे इस प्रकार की आय नगरो मे ज्यादा है, परन्तु पाश्चात्य देशो की तुलना मे बहुत ही कम है। कुछ तो उत्पादन के स्वभाव और कुछ इसलिए क्योकि गवेषणा के विभिन्न तरीके आवश्यक है, ग्रामीण आय नागरिक आय से भिन्न रखी जाती है।

ग्रामीण आय के लिए उन्होने सुझाव रखा कि कुछ चुने हुए गाँवो का घना सर्वेक्षण करके भूमि से उत्पादित सब वस्तुओ और गाँवो मे की जाने वाली सब सेवाओ का पता लगाया जाए।

नागरिक आय के लिए उन्होने अन्यत्र सफलतापूर्वक काम मे लायी गई विधियो पर बडे नगरो के सर्वेक्षण की सिफारिश की। यह कुटुम्बो की जीविका की जाँच द्वारा किया जा सकता है, जिनमे नमूने के कुछ कुटुम्ब लेकर कुछ तो उनके स्वय के विवरणो द्वारा और कुछ प्रचलित वेतन और पारिश्रमिक की दर के अनुसार उनकी आय का पता लगाया जाए। कर-मुक्त आयो से ऊपर की आयो के लिए आय-कर के आँकडे बडे ही लाभदायक सिद्ध होगे।

उन्होने यह भी सुझाव दिया कि एक माध्यमिक शहरी गणना कर ली जाए। इन तीनो जाँचो की पूर्ति विद्युत्-शक्ति का उपयोग करने वाली फैक्ट्रियो, खानो तथा अन्य कुछ उद्योगो की उत्पादन-गणना से की जाएगी। यह बहुत अशो मे नागरिक सर्वेक्षण तथा कुछ अशो मे ग्रामीण सर्वेक्षण की पुनरावृत्ति होगी। लेकिन यह स्वत बडा ही महत्वपूर्ण है और अन्य सर्वेक्षणो की तुलना मे सम्पूर्ण जाँच के कुछ भाग का बहुत सही विवरण प्रस्तुत करेगा। ऐसा विश्वास है कि जब सब प्रकार की सामग्री सामने होगी तो शहरी या ग्रामीण उत्पादन-गणना या अन्य विधियो मे सम्मिलित आय का अनुमान लगाकर दोहरी गणना के दोष से बचने के तरीके निकाले जा सकेंगे।

१६ (३) **उत्पादन-गणना**—इगलैण्ड की तरह उत्पादन-गणना की व्यवस्था धारा-सभा के अधिनियम द्वारा कर देनी चाहिए, जिसके अन्तर्गत माँगे गए तथ्यो के सम्बन्ध मे सूचना देना अनिवार्य हो। कुछ छोटे कारखाने ऐसे हो सकते है जिनमे उत्पादन-गणना सरलता से लागू हो सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे काम जो बडे पैमाने पर चल रहे हो और जिनमे किसी प्रकार की यान्त्रिक शक्ति का उपयोग न किया जाता हो—उदाहरण के लिए ईंटें बनाना, मकान बनाना और दरी बुनना—उत्पादन-गणना-विधि के अन्तर्गत लाने चाहिएँ। इसी प्रकार 'खान-अधिनियम' के अन्तर्गत

कारखानो और रेलो को भी इसी विधि के अन्तर्गत लाना होगा।

यद्यपि फैक्ट्रियो मे लगे व्यक्ति उद्योगो मे लगे व्यक्तियो से अनुपात मे बहुत कम हैं, फिर भी निर्यात की दृष्टि से विशेष महत्त्व होने के कारण इस पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यह ध्यान मे रखना होगा कि फैक्ट्री उद्योग कुछ अशो मे कुटीर उद्योगो को नष्ट करके आगे बढ रहा है और इन दोनो को सांख्यिकीय दृष्टि से सम्बद्ध करना होगा। इन उद्योगो की गणना सामग्री की इस प्रकार भी तालिका बनायी जा सकती है कि जब वे फैक्ट्री के आँकडो के साथ उपयोग मे लायी जाएँ तो इन दोनो सगठनो (उद्योगो) के आपेक्षिक महत्त्व का भी पता चल जाए।

ग्रामीण सर्वेक्षण—भारतीय आर्थिक सर्वेक्षण मे यह आवश्यक है कि अन्य आयो के साथ भूमि से प्राप्त आय (चाहे रुपये के रूप मे हो या अन्न इत्यादि के रूप मे) की जानकारी प्राप्त की जाए और यह देखा जाए कि वह किस तरह मालिको और मजदूरो के बीच वितरित होती है।

यह तो सम्भव नही है कि भारत के लाखो गावो मे सबका विस्तृत सर्वेक्षण किया जा सके। खर्च बरदाश्त होने और इतनी सख्या मे जाँच करने वाले व्यक्ति मिलने पर भी यह काम शीघ्र ही नही हो सकता।

राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी आधुनिक अनुमान—राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी जितने अनुमानो की चर्चा अभी तक की गई है, वे सभी अविभाजित भारत से सम्बन्धित हैं। स्वतन्त्रता के बाद भारत सघ की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध मे अनुमान करने की आवश्यकता हुई। अतएव अगस्त, १९४९ मे भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय समिति (नेशनल इन्कम कमेटी) नियुक्त की, जिसके अध्यक्ष प्रो० पी० सी० महालनोबिस थे। फरवरी, १९५४ मे समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। समिति ने उत्पादन-गणना तथा आय-गणना दोनो विधियो के समन्वय से काम किया। कृषि, वन, पशु-पालन, खनन आदि के सम्बन्ध मे उत्पादन-गणना-विधि अपनायी गई, जबकि व्यापार, परिवहन, प्रशासन आदि के सम्बन्ध मे आय-गणना-विधि अपनायी गई। समिति ने चालू मूल्यो तथा १९४८-४९ के मूल्यो के आधार पर राष्ट्रीय आय के अनुमान प्रस्तुत किए हैं। इन दोनो मूल्यो के आधार पर १९४८-४९, १९४९-५० तथा १९५०-५१ के लिए समिति ने राष्ट्रीय आय के निम्न अनुमान प्रस्तुत किए हैं—

	वास्तविक उत्पत्ति करोड रु० मे		प्रति व्यक्ति वास्तविक उत्पत्ति करोड रु० मे	
	चालू मूल्य	१९४८-४९ के मूल्य	चालू मूल्य	१९४८-४९ के मूल्य
१९४८-४९	८ ६५०	८,६५०	२४६ ९	२४६ ९
१९४९-५०	९,०१०	८,८२०	२५३.९	२४८.६
१९५०-५१	९,५३०	८,८५०	२६५ २	२४६ ३

चालू मूल्यो तथा १९४८-४९ के मूल्यो पर अनुमानित राष्ट्रीय आय की तुलना से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि १९४८-४९ से १९५०-५१ तक राष्ट्रीय आय मे द्रव्य के रूप मे तो वृद्धि हुई है, परन्तु वास्तविक आय की वृद्धि नही के बराबर है,

जैसा कि १९४८-४९ के मूल्य पर अनुमानित राष्ट्रीय आय के आँकड़ो मे स्पष्ट है।

यद्यपि राष्ट्रीय आय के अनुमान के सम्बन्ध मे समिति ने डॉ० वी० के० आर० वी० राव की तरह ही उत्पादन-गणना तथा आय-गणना के समन्वय से काम किया है किन्तु समिति के अनुमान अधिक सही है। इसका कारण सांख्यिकीय सामग्री का अधिक मात्रा म उपलब्ध होना था। इस विधि से राष्ट्रीय आय का अनुमान करने से एक लाभ यह भी है कि विभाजन के फलस्वरूप हुए प्रादेशिक परिवर्तनो तथा मूल्य-परिवर्तनो के लिए संशोधन कर लेने पर इन अनुमानो की तुलना पुराने अनुमानो मे की जा सकती है।[1]

१९५१ से भारतवर्ष मे राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लिए नियोजित विकास द्वारा प्रयत्न हो रहे है। प्रथम योजना के अन्त मे राष्ट्रीय आय मे (चालू मूल्यो पर) १८ प्रतिशत वृद्धि हुई। द्वितीय योजना के अन्त तक २० प्रतिशत वृद्धि की आशा है। १९५१-६१ के बीच राष्ट्रीय आय की वृद्धि का अनुमान ४२ प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की वृद्धि का अनुमान २० प्रतिशत है।[2]

१७ भारतीय दरिद्रता को बढ़ाने वाली उपभोग-सम्बन्धी कुछ भूलें—जो भी बात देश की उत्पादन शक्ति को घटाने म सहायक होती है उसे अवश्य ही भारतीय दरिद्रता का कारण मानना पड़ेगा। निम्न उत्पादन के अनिश्चित बुद्धिहीन उपभोग भी आर्थिक विकास के मार्ग मे एक भारी रुकावट है। बुद्धिसगत उपभोग या 'उपयोगिताओ के नाश' के लिए 'विचारशीलता, बुद्धि और कल्पना' की आवश्यकता है।[3] धन का अपव्यय धनवान को तो बरबाद कर ही सकता है किन्तु साथ ही ऐसी विलासिताओ पर किया गया निरर्थक व्यय, जो जीवन को अधिक समृद्ध और पूर्ण नहीं बनाता, समाज के लिए भी घातक सिद्ध हो सकता है। कारण यह है कि इससे इतनी पूँजी और श्रम आवश्यकताओ के उत्पादन स हटकर विलासिताओ के उत्पादन मे लग जाता है। यह कहना गलत होगा कि केवल धनी लोग ही अपव्यय क दोषी है। प्राय सभी दरिद्र देशो मे गरीब अपनी गरीबी के ही कारण अनेक प्रकार की फिजूलखर्चिया करते है। इसके विपरीत कुछ वर्गो के व्यक्ति जैसे मध्यवर्गीय लोग और मारवाड़ी, मितव्ययिता के नाम पर इतने कजूस होते है कि अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति न करके कौड़ी-कौड़ी को दाँत से पकड़ते है और जहा उन्हे स्वच्छन्दता से खर्च करना चाहिए वहाँ भी कजूसी बरतने से बाज नही आते। ऐसा देखा गया है कि पुरानी पद्धति मे सन्तानो के लिए धन का एकत्रीकरण किया जाता था ताकि जीवन प्रारम्भ करने मे उन्हे अच्छे साधन प्राप्त हो, परन्तु अब इसका स्थान नवीन विचारधारा ले रही है

१. देखिए राष्ट्रीय आय समिति (अन्तिम रिपोर्ट) फरवरी १९५४, पृ० ४, पैरा २,४।

२. देखिए तृतीय पचवर्षीय योजना का प्रारूप (अंग्रेजी), पृ० १७।

३ तुलना कीजिए, "रुपये को अच्छी तरह पैदा करने की अपेक्षा उसका सदुपयोग करना कठिन काम है। रुपये पैदा करने के तरीके निश्चित है, काम निश्चित है, किन्तु खर्च करने के लिए व्ययकर्ता स्वतन्त्र है। अब केवल निश्चिय आज्ञाकारिता के स्थान पर सद्बुद्धि की आवश्यकता है।"—डॉ० एम० निकल्सन, 'प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकनामी', खण्ड ३, पृ० ४३६।

जिसमे अर्जन करने वाले के वर्तमान जीवन को अधिक पूर्ण बनाने का प्रयास किया जाता है और अपनी सुख-समृद्धि के लिए सन्तान स्वय अपने ऊपर ही निर्भर होती है। सन्तान को निजी पूँजी से युक्त अर्थात् भली भाँति प्रशिक्षित अवश्य करा दिया जाता है।[1]

यहाँ भारत की उपभोग-समस्या के सब पहलुओ का विवेचन सम्भव नहीं है। परन्तु इतना तो सच ही है कि यद्यपि भारतीय दरिद्रता बहुत अशो मे कम उत्पादन का परिणाम है, फिर भी बुद्धिहीन और अव्यवस्थित उपभोग ने भी समस्या को और जटिल बना दिया है। यहाँ हम केवल एक प्रकार के बुद्धिहीन उपभोग का, जिस पर इधर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है वर्णन करेंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि शारीरिक स्वास्थ्य, कुशलता तथा भोजन के बीच बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है। जर्मन कहावत 'मनुष्य जो खाता है वही बनता है' मे बहुत सत्य है। भारतीयो का भोजन स्थानीय परिस्थितियो और प्रथाओ पर निर्भर है। प्राय जो वस्तुएँ एक स्थान पर उत्पन्न होती हैं वे ही वहाँ के भोजन मे सम्मिलित होती हैं। इसको सीमित करने मे अनेक धार्मिक एव सामाजिक बन्धनो ने भी सहायता पहुँचायी है। परिणामत कुछ प्रान्तो के भोजन मे आवश्यकीय पौष्टिक पदार्थों का अभाव रहता है। भारत की विभिन्न जातियो, यथा मद्रासी, पजाबी, बगाली, मराठा आदि, की शारीरिक क्षमता के विभेद को उनके भोजन की विभिन्नता द्वारा समझा जा सकता है और "अब तो इसे निश्चित रूप से भोजन के जीव सम्बन्धी मूल्यो मे सम्बद्ध कर दिया गया है।" शारीरिक अक्षमता के कारण के रूप मे आहार की अपौष्टिकता के सम्बन्ध मे लफ्टिनण्ट कर्नल मैक केरिसन द्वारा किये गए अनुसन्धान बड़े शिक्षात्मक है तथा उन्होंने विभिन्न राष्ट्रीय आहारो की सापेक्षिक पोषणता को ही अच्छे ढग से प्रदर्शित किया है। इन अनुसन्धानो से पता चलता है कि चावल, जो भारत मे बहुत लोगो का, विशेषकर बगालियो और मद्रासियो का भोजन है, निम्न कोटि का आहार है। इसमे कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्बनिक (आर्गनिक) नमक नहीं हैं तथा अत्यन्त आवश्यक विटामिनो का अभाव है। इनकी तुलना मे गेहूँ और मांस आदि का भोजन करने वाले सिख, पठान और गोरखे अधिक शक्तिशाली होते हैं। चावल के साथ गेहूँ, दूध, मास इत्यादि का सेवन करने से चावल का आहार बहुत अच्छा हो जाएगा। जैसा कि कृषि आयोग ने कहा था, 'अपौष्टिक आहार और भुखमरी एक ही बात नहीं है।' ऐसा सम्भव है कि अपोषणता से ग्रस्त एक व्यक्ति शरीर द्वारा आसानी से पचाए जा सकने की तुलना मे अधिक भोजन कर रहा हो, जब कि उसका भोजन भली प्रकार सन्तुलित होने पर कम होता। भोजन मे किसी खास पोषक तत्त्व के अभाव मे

---

१. 'रिपोर्ट आफ दि कमेटी आन नशनल हेल्थ एण्ड टेक्सेशन' पर डब्लू० एच० कोट्स के कथन के लिए देखिए 'जर्नल ऑफ रायल स्टेटिस्टिकल सोसायटी', '१९२७, खण्ड XC, भाग २, पृ० ३५६।

बीमारियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। उनका होना दरिद्रता[1] का परिचायक नही है, और न खाद्यान्न की कमी का ही। अपोषक तत्त्वो से युक्त भोजन, ऐसा सम्भव है, स्वास्थ्यवर्द्धक एव भली प्रकार सन्तुलित भोजन से अधिक व्ययशील भी हो सकता है।

१९१५ मे कर्नल मेके द्वारा बगाल और सयुक्त प्रान्त के जेलो के भोजन के सम्बन्ध मे की गई खोजो से पता चला कि भोजन जनता के शारीरिक विकास और साधारण सुख का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। उन्होने बताया कि बगाली की शारीरिक अशक्तता के मूल मे उसके भोजन मे प्रोटीन-जैसे तत्त्वो की कमी है। परिवहन के साधनो मे सुधार के साथ एक प्रान्त के खाद्यान्नो को उन प्रान्तो मे, जहाँ उनकी कमी है, पहुँचाया जा सकता है और इस प्रकार असन्तुलित भोजन की समस्या को हल किया जा सकता है। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि लोग अपने भोजन मे परिवर्तन करने के लिए तैयार हो और उस प्रकार के पौष्टिक आहार की माँग करे जिसकी उनके प्रान्त मे कमी है। भोजन के विषय मे शिक्षा और जानकारी से यह काम सरल हो सकता है। कृषि आयोग ने जनता के स्वास्थ्य मे सुधार करने के लिए जो सुझाव रखे उनमे एक यह भी है कि देश के मछली के मत्स्य-साधनो का सरक्षण किया जाए। यह एक ऐसा काम है जिसे सरकार, स्थानीय बोर्ड और साधारण रूप से ग्रामीण समुदाय अपने सक्रिय सहयोग से सफल बना सकते है। यह इसलिए आवश्यक है कि मछली चावल खाने वाले लोगो के लिए अधिक आहार-मूल्य प्रस्तुत करेगी।[2] जनता के एक विशाल भाग मे मछली खाने के प्रति किसी प्रकार का धार्मिक विरोध नही है और इसका पूरा लाभ उठाना चाहिए।

एक जमाना था जब कि इगलैण्ड मे लेखको और सुधारको का यह फैशन था कि वे 'चाय पीने के दुर्गुणो' को बहुत बढा-चढाकर सामने रखते थे,[3] लेकिन इगलिश श्रमिक इसका प्रयोग करते आ रहे है और अब तो इसका उपयोग इतना बढ गया है कि यह जीवन की आवश्यकताओ मे से एक हो गई है। जनमत भी धीरे धीरे बदल गया है और चाय पीने को दुर्गुण बताने के बजाय जल-पान मे एक प्रकार की

---

१ डाक्टर स्लेटर इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते है कि रहन-सहन के दरजे की वृद्धि से कुछ अर्थ में शारीरिक हानि हुई है। उदाहरण के लिए चावल की मिलों ने स्त्रियों को परिश्रम से तो बचाया किन्तु वह परिश्रम शरीर के लिए लाभदायक था। साथ ही चावल की बहुत-कुछ पौष्टिकता भी नष्ट हो गई। एकदम बाहरी सतह पर जो विटामिन रहता था वह मिलों में नष्ट हो जाता है।—इकनामिक कण्डीशन्स इन इण्डिया, पिल्लई की भूमिका से उद्धृत, पृ० २६।

२ वही, पृ० ४११-१७। आयोग ने यह भी सुझाव रखा कि एक सेण्ट्रल इन्स्टिट्यूट आव ह्यूमन न्यूट्रिशन की स्थापना की जाए तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा सगठित अनुसन्धानों का भी उससे नियोजित क[illegible]दिया जाए। उन्होंने यह भी सिफारिश की कि पशु-आहार एव मानवीय आहार में निकट सहयोग [illegible]ापित किया जाए तथा भारत में की गई इस प्रकार की खोजों को विदेशों में होने वाली ऐसी ही [illegible]जों से सयुक्त किया जाए। समस्याएँ इतनी महान् हैं कि समस्त कर्मचारियों (स्टाफ) और प्राप्य साम[illegible] को समस्या के समाधान के लिए काम में लगाना होगा।

३ हेलेन [illegible]ासवेट, 'दि स्टेण्डर्ड आफ लाइफ', पृ० ३०।

शालीनता का चिह्न समझा जाने लगा है। चाय पीना अधिक शराब पीने के दुर्गुणों को दूर करने का एक साधन माना जाने लगा है। डॉ० स्लेटर का मत है कि भारतीय किसान एक बात में बड़ा गरीब है और वह है पेय पदार्थ तथा वह इसके मूल्य को भी नहीं समझता।[1] "जनता का बड़ा भाग गन्दे स्थिर तालाबों, सिंचाई की नालियों या नदियों से प्राप्त गन्दा पानी पीता है जिसमें हर प्रकार की अशुद्धता और गन्दगी मिली रहती है।" डॉ० स्लेटर का मत है कि वर्तमान समय में उबाले हुए पानी के पेय पदार्थों में सबसे सस्ते पेय अर्थात् चाय का प्रचार करने से बहुत लाभ होगा। यह सच है कि जब तक भी पानी पिया जाता है तब तक गन्दा पानी पीने से होने वाली हानियाँ पूरी तरह से दूर नहीं की जा सकतीं। अच्छा तो यह होगा कि किसी प्रकार शुद्ध पानी की व्यवस्था की जाए। शराब के स्थान पर तो चाय एक वरदान ही है। हाँ, अधिक चाय पीना शरीर के लिए हानिकारक हो सकता है, विशेषकर जब निम्न कोटि की चाय का प्रयोग किया जाता है, जैसी कि भारत की अधिकतर चाय की दुकानों पर मिलती है। अच्छी चाय की व्यवस्था करने के लिए कुछ कदम उठाना आवश्यक प्रतीत होता है, ताकि गन्दी चाय पीने को न मिले, यद्यपि सबसे अधिक प्रभावपूर्ण कदम तो यह होगा कि जनता की रुचि में ही सुधार किया जाए।

उपभोग के स्वरूप में परिवर्तन तो धीरे-धीरे ही होगा। सामाजिक और धार्मिक भावनाओं से निर्मित उपयोग का स्वरूप सहज ही परिवर्तित नहीं हो सकता। उसके लिए संतुलित आहार और पौष्टिकता के विषय में जनमत को शिक्षित करना होगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात् योजनाओं के कारण, देश की अर्थव्यवस्था अच्छी हो गई है। राष्ट्रीय आय १९५१-६१ में ४४ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय १८.५ प्रतिशत बढ़ गई। तीसरी योजना के पहले तीन सालों में राष्ट्रीय आय ६.५ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय २.५ प्रतिशत बढ़ी। इस प्रकार १९६१-६४ में तीसरी पंचवर्षीय योजना के ५ प्रतिशत वार्षिक आय के बढ़ने के मुकाबले में कम रही। निवेश दर १९५१-६१ में लगभग दुगुना हो गया। घरेलू बचत का दर इस समय में ५ प्रतिशत से बढ़कर ८.५ प्रतिशत हो गया।

तीसरी पंचवर्षीय योजना बनाने के समय यह आशा की गई थी कि राष्ट्रीय आय १९ हजार करोड़ रुपया १९६५-६६ से बढ़कर १९७०-७१ में २५ हजार करोड़

---

१. मन साउथ इण्डियन विलेजेज, पृ० २३२।

२. दक्षिण भारत में प्रचलित कॉफी पीने पर भी इसी प्रकार के आक्षेप किये जाते हैं। शराब पीने पर व्यय और उसके सम्बन्ध में बरती जाने वाली नीति का अन्यत्र विवरण दिया जाएगा (देखिए अध्याय १२)। और भी इसी प्रकार के गलत उपयोग भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के दिमाग में आएँगे, जैसे शादी और मृत्यु के अपव्यय, सोने-चाँदी के गहने बनाने की आदत आदि (अध्याय ११ में आत्मचयन स्वभाव का सेक्शन देखिए)। आहार की पौष्टिकता के सम्बन्ध में पाठक बंगाल फेमीन इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, भाग २, पृ० १०६-४० देखें।

हो जाएगी और पाचवी पचवर्षीय योजना के अन्त तक ३३ ३४ हजार करोड हो जाएगी। परन्तु तीसरी पचवर्षीय योजना के मध्य मूल्याकन को देखकर यह लगता है कि राष्ट्रीय आय १९६५-६६ मे १७,४०० करोड तक रह जाएगी। इस प्रकार १९६५-६६ मे कुल निवेश (Net Investment) राष्ट्रीय आय का १९ प्रतिशत और घरेलू बचत राष्ट्रीय आय का १३ प्रतिशत।

चौथी पचवर्षीय योजना के उत्पादन लक्ष्य इस प्रकार हैं कि उत्पत्ति दर ६ ५ प्रतिशत रहे। उदाहरण के रूप मे वार्षिक आय खेती-बाडी का ५ प्रतिशत, सगठित उद्योग मे ११ प्रतिशत से, लघु उद्योग ८ प्रतिशत से, रेलवे, यातायात तथा सचार ८ प्रतिशत से, बैंकों का तथा बीमा ८ प्रतिशत से, वाणिज्य (Commerce) तथा नौकरी क्षेत्र मे ६ ५ प्रतिशत से।

अध्याय १८

संवहन

१ परिवहन[1] का महत्त्व—उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत में परिवहन के साधन अत्यन्त ही अविकसित थे। उनकी तुलना इंगलैण्ड की अठारहवीं सदी की परिस्थिति से की जा सकती थी। हाँ, कुछ अच्छी जलवायु की परिस्थितियों के कारण भारत में सड़कों की हालत इंगलैंड की अपेक्षा कुछ अच्छी थी। देश में उस समय तक रेलें नहीं चली थीं तथा उत्तर भारत में मुगल शासकों द्वारा बनवाई गई थोड़ी-सी मुख्य सड़कें भी काम देने लायक नहीं रह गई थीं।[2] कितनी ही तथाकथित सड़कें भूमि पर गाड़ियों और छकड़ों द्वारा बनाई गई थीं, जिन पर बरसात में किसी भी पहियेदार गाड़ी का चलना असम्भव था। भारवाही पशु ही देश के अन्दर जाने के एकमात्र साधन थे। सड़कें सुरक्षित नहीं थीं। उन पर ठगों और पिण्डारियों का बोलबाला था। नौगम्य नहरें नहीं थीं। कुछ स्थान जैसे गंगा और सिन्धु के किनारे के स्थान, अन्य स्थानों की अपेक्षा इस दृष्टि से अधिक भाग्यशाली थे। कुल मिला-कर सूखे मौसम में सफर योग्य मैदान, कुछ नौगम्य नदियां और थोड़ी सी बनाई हुई सड़कों के कारण उत्तरी भारत में सचार की दशा दक्षिण प्रायद्वीप की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक थी। दक्षिण में बीहड़ पहाड़ों और तेज नदियों के कारण परिवहन की स्थिति बड़ी ही असन्तोषजनक थी। केवल दोनों समुद्री किनारों पर थोड़ी-सी सुविधा थी।

इस अध्याय में हम इस सम्बन्ध में किये गए विभिन्न प्रयासों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

विवरण की सुविधा के लिए हम इसे चार उप-विभागों में विभाजित करेंगे—(१) रेलवे, (२) सड़कें, (३) जल-पथ, और (४) वायु परिवहन।

रेलवे

भारतीय रेलवे के इतिहास को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) स्वतन्त्रता से पूर्व और (२) स्वतन्त्रता के पश्चात्।

(१) स्वतन्त्रता से पूर्व

२. रेलवे के विकास के प्रधान काल-खण्ड—भारतीय रेलों के इस अवधि के इतिहास

---

१. 'ट्रांसपोर्ट' के लिए परिवहन और 'कम्यूनिकेशन' के लिए संचार शब्द का प्रयोग किया गया है। —अनु०

२. देखिए, डब्ल्यू० एच० मोरलैण्ड, 'इण्डिया एट दि डैथ ऑफ अकबर', पृष्ठ १६६-६७।

मे १० काल-खण्ड स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते है—(१) १८४४-६६ पुराना गारण्टी सिस्टम, (२) १८६६-७६ सरकारी निर्माण और प्रबन्ध, (३) १८७६-१६०० नई गारण्टी पद्धति. (४) १६००-१४ तीव्र प्रगति और विकास, (५) १६१४-२१, १६१४-१८ को युद्ध-जनित परिस्थितियो के परिणामस्वरूप रेलवे का विघटन, (६) १६२१-२५ आक्वर्थ कमेटी की रिपोर्ट तथा सरकारी प्रबन्ध और नियन्त्रण, (७) १६२४-२५ से १६२६-३० तक सेपरेशन कन्वेंशन और तत्कालीन प्रगति, (८) १६३०-३१ से १६३५-३६ तक अवसाद, १६३६-३६ आशिक पुनरुत्थान तथा रेलवे जाँच और (६) १६३६ से १६४७ तक।

३. पुरानी गारण्टी प्रथा—१८४४ मे पहली बार रेलवे बनाने का प्रस्ताव रखा गया, जिसमे इगलैंड मे सस्थापित कम्पनियो को ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा निश्चित लाभ के आश्वासन पर भारत मे रेलें बनाने देने के प्रश्न पर विचार किया गया। कलकत्ता और बम्बई के पास दो छोटी-छोटी रेलवे बनाने के ठेके दिये गए। ये ठेके क्रमश. ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी और ग्रेट इण्डियन पेनिनसुला रेलवे कम्पनी को दिये गए। १८५३ में लार्ड डलहौजी की प्रसिद्ध टिप्पणी ने नीति को निश्चित दिशा प्रदान की। इस टिप्पणी मे लार्ड डलहौजी ने रेलो का निर्माण ट्रक सिस्टम पर करने का प्रस्ताव रखा, ताकि प्रेसीडेंसी प्रान्तो मे आन्तरिक भाग को उसके प्रधान नगरो एव बन्दरगाहो मे जोड दिया जाए तथा एक प्रेसीडेंसी का दूसरी प्रसीडेंसी से जोड दिया जाए। उन्होने रेलो के निर्माण से भारत तथा इगलैंड को होने वाले सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक लाभो की ओर सकेत किया। रेलो के शीघ्र निर्माण और प्रसार के लाभो मे लार्ड डलहौजी ने यह भी देखा कि इससे इगलैंड की पूँजी और साहस का भारतीय वस्तु-निर्माण (मैनूफेक्चर्स) और व्यापार मे उपयोग होगा। उन्होने राज्य के नियन्त्रण और निरीक्षण मे कम्पनियो द्वारा रेलो के प्रबन्ध और निर्माण को सरकारी निर्माण से अधिक प्राथमिकता दी, क्योकि उनके विचार मे व्यावसायिक कार्य सरकारी कार्य-क्षेत्र से बाहर थे विशेषकर भारत मे, जहाँ हर बात के लिए जनता की सरकार पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति को घटाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

१८५४-६० के बीच डलहौजी की योजना के अनुसार ८ कम्पनियो के साथ भारत के विभिन्न भागो मे रेलो के निर्माण और नियन्त्रण का ठेका किया गया।

लेकिन यह पद्धति सरकार के लिए बडी व्ययशील और करदाता के लिए बडी भारस्वरूप सिद्ध हुई। कम्पनियाँ अपना ब्याज पैदा न कर सकी और सरकार से ब्याज अदायगी की माँग करने लगी। १८६६ मे रेलवे बजट मे १,६६,५०,००० रु० का घाटा हुआ। लार्ड लारेंस, जिन्होने १८६७ मे गारण्टी सिस्टम की बडी निन्दा की थी तथा ऐसे अन्य आलोचको ने इस गारण्टी सिस्टम की भी कडी आलोचना की और घाटे को कम्पनियों के अपव्यय का परिणाम बताया जिन्हे निर्माण मे धन की मितव्ययता का कोई ध्यान ही न था।[1] आँकवर्थ रेलवे समिति ने राय दी कि

१. देखिए, आर० सी० दत्त, 'दि इकनामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया इन दि विक्टोरियन एज', पृ० ३५५-५६।

तत्कालीन परिस्थिति में इंगलैंड में बसे हुए लोगों की कम्पनियों का निर्माण ही उचित था, क्योंकि रेलों का निर्माण अत्यन्त आवश्यक था और भारतीय पूँजी की लज्जाशीलता को देखते हुए अंग्रेजी पूँजी को आकर्षित करने के लिए कुछ सुविधाएँ और आश्वासन देना अत्यन्त आवश्यक था। इसके विपरीत (१८७२ में) विलियम थार्नटन ने संसदीय (पार्लियामेण्टरी) समिति के सामने यह गवाही पेश की कि यदि गारण्टी न दी गई होती तो भी अंग्रेजी पूँजी भारत में रेलों के निर्माण में विनियोजित की जाती, क्योंकि इंगलैण्ड की अपार धन-राशि दक्षिणी अमेरिका तथा अन्य देशों में विनियोग के साधन ढूंढ रही थी और कोई कारण नहीं दिखाई देता था कि वह लगातार भारत की उपेक्षा करती।[1]

४. सरकारी निर्माण और प्रबन्ध (१८६९-७९)—भारत सरकार पुराने गारण्टी सिस्टम पर अधिक दिनों तक चलने के लिए तैयार न थी। इसके विशेष कारण ये थे—प्रथम, कम्पनियाँ अपव्ययी थीं। दूसरे, सरकार का उन पर नियन्त्रण अधूरा था। तीसरे, ब्याज-दर और उसे चुकाने का आश्वासन सरकार के लिए काफी खर्चीला सिद्ध हुआ। चौथे, सरकार को कम्पनियों से होने वाले लाभ की भी निकट भविष्य में कोई आशा न दिखाई पड़ी। इसलिए दो परिवर्तन किये गए। कुछ कम्पनियों के सम्बन्ध में, जैसे जी० आई० पी०, सरकार ने मुनाफे के वितरण की व्यवस्था बदल दी। सरकार ने २५ साल के बाद रेलों को खरीदने का अधिकार छोड़ दिया और प्रति छमाही में होने वाले लाभ का आधा हिस्सा माँगने लगी। इससे भी महत्वपूर्ण परिवर्तन—उस समय जब कि राज्य-निर्बाधता का व्यक्तिवादी सिद्धान्त अपने विकास की चरम सीमा पर था—तब हुआ जबकि भारत-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) ने यह निश्चय किया कि सरकार को अपनी साख का पूरा लाभ उठाकर स्वयं मस्त में रेलों का निर्माण करना चाहिए। अतः १८६९ के बाद कई वर्ष तक सरकार ने स्वयं पूँजी लगाई और नये ठेके नहीं दिये गए। यह निश्चय किया गया कि सरकार द्वारा प्रबन्धित और अधिकृत रेलवे लाइनों के निर्माण के लिए प्रति वर्ष २० लाख पौण्ड ऋण लिया जाएगा तथा सस्ते अर्थात् मीटर गेज पर रेलों का निर्माण होगा। फलतः रेलों के निर्माण का कार्य बड़े जोर-शोर से और सस्ते दाम पर होने लगा, लेकिन लगातार धन की व्यवस्था सबसे कठिन समस्या थी। पहले तो सैनिक एवं यौद्धिक कारणों से पंजाब और सिन्ध की लाइनें (जो बाद में नार्थ-वेस्टर्न रेलवे के नाम से प्रसिद्ध हुईं) मीटर गेज से ब्राड गेज में बदलनी पड़ीं। दूसरे, १८७४ और ७६ के दुर्भिक्ष तथा सीमाप्रान्त और अफगान युद्धों के कारण सरकारी खजाने पर काफी भार पड़ा। इसके अतिरिक्त १८८० के दुर्भिक्ष आयोग ने ५००० मील रेलों का निर्माण अनिवार्य बताया ताकि देश को दुर्भिक्ष के चंगुल से बचाया जा सके। यह तभी सम्भव था जब इस निर्माण (५००० मील) को मिलाकर कुल रेलवे लाइनें २०,००० मील हो जातीं।

---

१. देखिए, आर० सी० दत्त, 'दि हिस्ट्री आफ इण्डिया इन दि विक्टोरियन एज', पृ० ३८०।

५ नया गारण्टी सिस्टम (१८७९-१९००)—इस प्रकार सरकारी प्रबन्ध मे रेलो के निर्माण की विचारधारा की शक्ति क्षीण होने लगी और रेलवे के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। पुरानी प्रथा से भिन्न नई प्रथा की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) नई कम्पनियो द्वारा बनाई गई लाइनें भारत-सचिव की सम्पत्ति घोषित की गई। भारत-सचिव को २५ वर्ष के बाद, या हर दस वर्ष के बाद दी गई पूँजी को कम्पनियो द्वारा दे देने के बाद पुन ठेका निश्चित करने का अधिकार था, (२) कम्पनियो द्वारा एकत्र धन पर गारण्टी की हुई ब्याज-दर पहले की अपेक्षा कम थी। प्राय यह ३½% थी और (३) सरकार ने लाभ का अधिकाश (¾) अपने हित के लिए सुरक्षित रखा।

इस प्रकार, नई पद्धति पर निर्मित रेलवे लाइनें प्रारम्भ से ही सरकारी सम्पत्ति थी, यद्यपि कम्पनियो को ब्याज-दर की गारण्टी दी गई थी और रेलें बन जाने पर प्रबन्ध भी उन्ही के हाथ मे दिया गया था। इसी प्रकार जब कम्पनियो को पुरानी पद्धति पर दिये गए ठेके समाप्त हो गए तो सरकार ने उन्हे खतम करने का तरीका अपनाया, हालाकि यह तरीका लागू करने मे काफी भेद-भाव बरता गया। कई कम्पनियो के ठेके समाप्त होने पर, हालाकि प्रबन्ध कम्पनियो के हाथ मे ही रहने दिया गया, सरकार ने विभिन्न तरीको से अपने लिए लाभदायक शर्तें तय की, जैसे कम्पनी के हिस्से की पूँजी और गारण्टी की हुई ब्याज-दर घटा दी तथा लाभ के बटवारे से सम्बन्धित शर्तों मे भी परिवर्तन किया।

इस प्रकार सरकार प्राय सभी ट्रक लाइनो की मालिक हो गई। रेलो की पूँजी भी सरकारी हो गई, चाहे वह प्रारम्भ मे लगाई गई सरकारी पूँजी का परिणाम हो या पुराने ठेको के समाप्त होने पर सरकार द्वारा प्राप्त कर ली गई हो। थोडे-से अपवादो को छोडकर प्रबन्ध प्राय कम्पनियो के हाथ मे ही रखा गया, परन्तु सरकार ने निरीक्षण और कम्पनियो की परिषद् मे एक सचालक की नियुक्ति का अधिकार अपने हाथ मे ले लिया। १९०५ से इजन, डिब्बे (रोलिंग स्टॉक), जन-सुरक्षा, रेल-सयोजन, रेल-सेवाएँ, किराये की दर इत्यादि विषयो के सम्बन्ध मे रेलवे बोर्ड के द्वारा सरकार उपर्युक्त अधिकार का प्रयोग (अर्थात् निरीक्षण) करने लगी। एक कम्पनी को छोडकर, जिसका ठेका २५ साल के लिए था, शेष कम्पनियो के ठेके भारत सचिव की इच्छानुसार कम्पनियो को बराबर पूँजी देकर समाप्त किये जा सकते थे। बगाल, नागपुर का ठेका सन् १९५० मे समाप्त हुआ और यह आखिरी था। लेकिन सरकार ने लाइन को १ अक्तूबर, १९४४ मे ही ले लिया था।

६ रेलों का शीघ्र विस्तार और लाभ का प्रारम्भ (१९००-१९१४)—इस काल की विशिष्टता थी राष्ट्र विकास की जोरदार नीति, जिसने सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को प्रभावित किया। १९०८ मे जब मैके-समिति ने रेलो के लिए १२,५००,००० पौण्ड वार्षिक पूँजी व्यय करने का सुझाव रखा—यद्यपि यह सचय समय पर सशोधन के अधीन थे—तो एक नवीन प्रेरणा मिली। यद्यपि सरकार मैके-समिति द्वारा रखे गए सुझावो को कार्यान्वित न कर सकी और न उतना धन ही व्यय कर पाई, किन्तु यह

मानना पडेगा कि पहले की अपेक्षा उसने काफी अधिक धन व्यय किया। इस कालावधि में रेलो की मीलो मे दूरी १६०० मे २४,७५२ मील से बढकर १६१३-१४ मे ३४,६५६ मील हो गई और विनियोजित पूँजी ३२६.५३ करोड रुपये से बढकर ४६५.०६ करोड रुपये हो गई।

इस कालावधि की दूसरी विशेषता १६०० से रेलों को लाभ होना है। इससे पहले रेलवे से लाभ न होने का कारण अशतः तो कम्पनियो का मितव्ययितारहित निर्माण और पुरानी गारण्टी-कम्पनियो का प्रबन्ध था और अशत यौद्धिक लाइनो, जैसे नार्थ वेस्टर्न रेलवे तथा दुर्भिक्ष मे सहायता पहुँचाने के लिए बनाई गई रेलवे लाइनो, का निर्माण था। प्रारम्भिक अवस्था मे यातायात की कठिनाइयो के कारण भी लाभ नही हुआ। रेलवे के प्रथम ४० वर्षों मे सरकार का रेलो द्वारा हुआ घाटा ५८ करोड रु० था। इसके बाद सरकार को विनियोजित पूँजी पर लाभ होना प्रारम्भ हो गया। इससे देश के आर्थिक विकास, विशेषकर सिंचाई के विकास, के फलस्वरूप पजाब और सिन्ध के आर्थिक विकास ने भी सहायता पहुँचाई, जिसके फलस्वरूप फ्रण्टियर रेलवे भी सुचारु रूप से सचालित होने लगी। लाभ होने का अन्य कारण पुराने ठेको को बन्द कर अपने लिए लाभदायक शर्तों पर फिर से नया करना था। १६००-१० तक सरकार को लाभ कम ही हुआ, लेकिन १६२४ तक कुल लाभ १०३ करोड रुपये था। रेलवे से होने वाला मुनाफा प्रतिवर्ष बदलता रहता है, क्योंकि यह देश की कृषि एव आन्तरिक व्यवसाय और वाणिज्य की अवस्था पर निर्भर करता है। अकवर्थ-समिति के सुझावो को अपनाने तथा (१६२२-२३) इचकेप समिति द्वारा सुझाई गई छँटनी (रिट्रेंचमेंट) के परिणामस्वरूप रेलवे एक सुदृढतर आर्थिक आधार पर स्थित हो गई। वास्तविक आय का प्रतिशत (कुल प्राप्ति मे से चालू खर्च घटाने पर) पूँजी पर लगने वाले ब्याज को बिना घटाए, १६१८-१६ मे ७.५ प्रतिशत और १६२१-२२ मे २.६ प्रतिशत था। १६१२ और १६३६ के बीच औसत दर ४ प्रतिशत से थोडी अधिक ही थी।[1]

छँटनी समिति (रिट्रेंचमेंट कमेटी) ने निर्धारित किया कि रेलो का उद्देश्य विनियोजित पूँजी से ५½ प्रतिशत लाभ प्राप्त करना होना चाहिए। सरकार द्वारा घोषित रेल के लाभ के सम्बन्ध मे चन्द्रिकाप्रसाद का मत है कि "रेलो से लाभ की घोषणा करते समय स्टॉक के घिसने की व्यवस्था के साधारण व्यावसायिक सिद्धान्त को ध्यान में नही रखा गया।" उनके मतानुसार इस प्रकार घोषित मुनाफे मे से इस मद के लिए काफी घटाना चाहिए। अाकवर्थ समिति ने भी इस बात को स्वीकार किया है और ज़ोरदार सिफारिश की कि हर रेलवे को अपने स्थायी मार्ग और रोलिंग स्टॉक को फिर से नया करने के लिए पर्याप्त व्यवस्था करनी चाहिए। रेलो की कार्यवाही के आर्थिक परिणामो की १२वें अध्याय मे विवेचना की गई है।

---

१. व्यापारिक मन्दी के परिणामस्वरूप १६३०-३१ से १६३६-३७ तक ब्याज-दर चुकाने के बाद रेलों को बडा घाटा उठाना पडा।

७. रेलों का विघटन (१९१४-२१)—आकवर्थ-समिति ने युद्ध के भार से रेलो के विघटन का चित्र निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है, "बीसियों ऐसे पुल हैं जिन पर से आधुनिक भारी बोझों से लदी गाड़ियाँ नहीं चल सकती और कितने मील ऐसी रेलें, सैकड़ों ऐसे इंजन और हजारों ऐसे डिब्बे है जिनको बदलने की सही तारीख बहुत दिन पहले बीत चुकी है।" ऐसी स्थिति में यदि जनता तथा व्यापारी वर्ग ने वस्तुओं और मनुष्यों के परिवहन में होने वाली असुविधाओं के विरुद्ध शिकायतें की तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। विदेशी कम्पनियों द्वारा रेलो के प्रबन्ध के प्रति जनता अधिकाधिक विरोध कर रही थी और चाहती थी कि जहाँ तक सम्भव हो इनका प्रबन्ध सरकार अपने हाथों में ले।

८. आकवर्थ-समिति (१९२१-२५)—यह भी अनुभव किया जाने लगा कि तत्कालीन रेलवे-बोर्ड रेलवे की नीति-निर्धारण में असफल रहा और रेलवे प्रशासन, विशेषकर किराये और दरों के सम्बन्ध में, प्रभावपूर्ण नियन्त्रण नहीं कर सका। आवश्यकता से अधिक प्रतिबन्ध, कामों का निश्चित क्रम, स्थानीय दशाओं की अज्ञानता और प्राविधिक (टेक्निशियन) एवं विशेषज्ञ कर्मचारियों की कमी इसका कारण थी। रेलवे की भावी आर्थिक नीति को नवीन ढंग से संचालित करने की आवश्यकता भी प्रतीत हो रही थी। ये सब प्रश्न नवम्बर, १९२० में नियुक्त एक विशेष समिति को सौंप दिये गए, जिसके सभापति इंगलैण्ड के (भूतपूर्व) सर विलियम आक्वर्थ थे। इस समिति की नियुक्ति का तात्कालिक कारण ईस्ट इण्डियन रेलवे के सम्बन्धों में कार्यवाही निर्णय करने का प्रश्न था, जो कम्पनी द्वारा प्रबन्धित सरकार की सम्पत्ति थी और जिसका ठेका दिसम्बर, १९१९ को समाप्त होने वाला था। अस्थायी उपचार के रूप में पुराना ठेका १९२९ तक बढ़ा दिया गया और प्रबन्ध के विकल्पों के गुण-दोषों के परीक्षण का काम आकवर्थ जाँच-समिति को सौंप दिया गया। विस्तृत जाँच के बाद समिति ने १९२१ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर समिति के निष्कर्ष निहित थे। किन्तु इसका सारांश देने के पहले हम सरकारी प्रबन्ध बनाम कम्पनी-प्रबन्ध के विवाद की विवेचना करेंगे।

९. भारत में सरकारी प्रबन्ध के पक्ष में मत—सैद्धान्तिक स्तर पर राज्य-प्रबन्ध के विरोधी मत काफी शक्तिशाली हैं।[1] लेकिन जब हम किसी खास देश के सम्बन्ध में इसकी विवेचना करते हैं तो सैद्धान्तिक मत अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध होता। वस्तुतः किसी भी देश मे प्रचलित पद्धति का निर्धारण सैद्धान्तिक कारणों ने नहीं वरन् ऐतिहासिक कारणों ने किया है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देश भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धतियो का अनुसरण करके फल-फूल रहे हैं। सरकार अनेक कारण-वश रेल-व्यापार अपने हाथ में लेती है, यथा राजनीतिक अथवा व्यक्तिगत साहस की कमी को पूरा करने के लिए, जनता को अधिक सस्ती दर का लाभ देने के लिए, अच्छी सुविधा प्रदान करने के लिए तथा विभिन्न हितो के प्रति निष्पक्ष व्यवहार करने

१. इस सम्बन्ध में देखिए, डब्ल्यू० एम० आकवर्थ, 'स्टेट रेलवे ऑनरशिप'।

के लिए। ये सब कारण किसी-न-किसी हद तक भारत में सरकार द्वारा रेलों के प्रबन्ध की पुष्टि करते हैं। इसके अतिरिक्त इस देश में यथार्थत कम्पनी द्वारा प्रबन्ध असम्भव और अव्यवहार्य है।

हालांकि कम्पनियां, जो अपना रुपया लगाती, अपनी सम्पत्ति का स्वयं प्रबन्ध करती और लाभांश के रूप में परिणाम के आधार पर अपने अधिकारियों की नियुक्ति करती हैं, निश्चय ही सरकार द्वारा प्रबन्धित साहसिक कार्यों की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल होंगी। परन्तु भारत में रेलों का प्रबन्ध करने वाली अंग्रेजी कम्पनियां इस अर्थ में कम्पनियां नहीं थीं। उनको प्रबन्ध के लिए सौंपी गई सम्पत्ति उनकी अपनी नहीं थी और उनके द्वारा विनियोजित पूंजी भी अपेक्षाकृत कम थी।[1] इस प्रकार की योजना भूतकाल में कभी सफल नहीं हुई और न भविष्य में ही सफल हो सकती है। प्रबन्ध केवल नाम-मात्र के लिए ही कम्पनियों के हाथ में था क्योंकि सरकार अपने को मालिक समझती थी और कम्पनियों को प्रेरक शक्ति के कार्य के लिए कोई स्थान न था। सभी महत्त्वपूर्ण बातें, जैसे नये स्थानों और पदों का निर्माण सरकार के हाथ में था। जहां तक अल्पमत रिपोर्ट के इस प्रस्ताव का प्रश्न है कि प्रबन्ध अंग्रेजी कम्पनियों से भारतीय कम्पनियों के हाथ में सौंप दिया जाए, इसके सम्बन्ध में पहला विरोध यह है कि इस काम में भारतीय कम्पनियों का अल्पहित होगा और सरकार प्रभावशाली साझीदार बनकर आधे से अधिक संचालकों की नियुक्ति करेगी तथा अपना नियन्त्रण यथावत् बनाए रहेगी। सरकार और संचालक-मण्डल (बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स) के बीच कार्य का विभाजन अब भी रहेगा। अधिकारियों की भक्ति नियुक्त करने और तनख्वाह देने वाले संचालक-मण्डल और सरकार के बीच विभाजित रहगी और वे पूर्ण क्षमता तथा ध्यान से काम न कर पाएंगे। योग्य व्यापारी संचालक-मण्डल में आने से इन्कार कर देंगे, क्योंकि यहां उनकी प्रतिभा को पूरा अवसर न मिलेगा, सरकारी नियन्त्रण और नियमन से उनका हाथ बंधा रहेगा। अतएव कम्पनियों को भारतीय कर देने से ही मामला हल नहीं हो सकता। भारत में सरकारी नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त कम्पनियां बनाना भी आसान न था, क्योंकि ऐसी स्थिति में आवश्यक धन मिलना बहुत कठिन होगा। सरकार को हमेशा इस काम में अधिक हिस्सा बंटाना पड़ेगा और सरकारी प्रबन्ध कम्पनियों के प्रबन्ध से कहीं अच्छा रहेगा। कम्पनी-प्रबन्ध भारत में कभी भी लोकप्रिय न होगा।

---

१. इस सम्बन्ध में निम्न संख्याएं मनोरंजक हैं—मार्च १९४० के अन्त में कुल लगी पूंजी, जिनमें बनती हुई रेलें भी शामिल हैं, ८७५.५६ करोड़ रु० थी। इसमें ७५८.६७ करोड़ रु० सरकारी रेलवे का था, ९३ ९७ करोड़ भारतीय रियासतों, जिला बोर्डों और कम्पनियों का था। इसमें अधिकांश प्रायः ७२६.७२ करोड़ रुपये सरकारी पूंजी थी और केवल १/२५ भाग, अर्थात् २८.८६ करोड़ रुपये कम्पनियों की पूंजी थी। इन संख्याओं में मार्च के अन्त तक का व्यय (३८.८२ करोड़) भी शामिल है जो कि यौद्धिक महत्त्व की लाइनों के लिए व्यय किया गया था। देखिए, 'रिपोर्ट ऑन इण्डियन रेलवेज' (१९३९-४०), वाल्यूम १, पैरा ३३।

राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से भी यह आवश्यक है कि जहाँ तक सम्भव हो रेलवे-निर्माण के लिए जनता धन दे और यह शीघ्रता से तभी सम्भव हो सकता है जबकि प्रबन्ध सरकार के हाथ में हो। फिर भी यदि बाहरी कर्ज लेना जरूरी ही हुआ तो ऋण देने वालो की निगाहो मे भारत सरकार की प्रतिष्ठा अधिक मूल्यवान वस्तु होगी। सरकारी प्रबन्ध के पक्ष मे एक सबसे बडा तर्क यह भी था कि विदेशी कम्पनियो ने जान-बूझकर राष्ट्रीय हितो की चिन्ता नही की, बल्कि विरोधी बनी रही। ये सब बुराइयाँ राष्ट्रीय प्रबन्ध से दूर हो जाएँगी। सरकार द्वारा किये गए प्रबन्ध से प्राप्त अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया था कि सरकारी प्रबन्ध किसी भी अंश मे कम्पनियो की तुलना मे बुरा नही है। इन पूँजीपतियो ने न केवल देश के विभिन्न भागो मे सामग्री और मनुष्यो के परिवहन पर ही नियन्त्रण रखा, बल्कि प्रधान (ट्रंक) और सहायक नई लाइनो तथा दो या अधिक लाइनो के सम्बन्ध को भी नियन्त्रित किया। प्रभाव-क्षेत्र उत्पन्न हो गए थे, जिनसे रेलवे के उचित प्रसार मे बाधा उत्पन्न हो रही थी। सरकारी प्रबन्ध मे यह दोष दूर हो जाएगा और लाइनें देश के हितो को ध्यान मे रखकर बनाई जाएँगी। व्यापारियों और यात्रियो की सुविधाओ का भी अधिक अच्छी तरह ध्यान रखा जाएगा।[1]

१९२४-२५ मे ईस्ट इण्डिया रेलवे और जी० आई० पी० रेलवे के ठेके खत्म होने के समय यह विवाद और तीव्र हो गया। फरवरी, १९२३ मे विषय धारासभा के सामने रखा गया। गैर-सरकारी भारतीयो का मत निश्चित रूप से सरकारी प्रबन्ध के पक्ष मे था। परिणामत इन दोनो रेलवे को सरकार द्वारा ले लिये जाने का प्रस्ताव पास हो गया। ये दोनो प्रत्यक्ष सरकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत आ गई। (जनवरी, १९२९ मे बर्मा रेलवे भी सरकारी प्रबन्ध मे आ गई)। १९३० मे सरकार ने दक्षिण पंजाब रेलवे खरीद ली। यह सरकार द्वारा अधिकृत और प्रबन्धित पश्चिमोत्तर रेलवे के अन्तर्गत कर दी गई। बी० बी० एण्ड सी० आई० तथा आसाम बंगाल रेलवे १ जनवरी, १९४२ से सरकार के प्रबन्ध मे आ गई।

१०. साधारण वित्त से रेलवे वित्त का पृथक्करण (१९२४-२५ से १९२९-३०)—आकवर्थ-समिति ने अनेक आधारो पर रेलवे वित्त को साधारण वित्त से अलग करने के लिए जोर दिया। प्रथम, वार्षिक आय व्ययक (बजट) से रेलवे के लाभ के कारण होने वाली संदिग्धता दूर हो जाएगी। रेलो का मुनाफा मौसम और व्यापार के साथ बदलता रहता है, फलत बजट के अनुमान कई करोड़ रुपयो से भी गलत हो सकते है। रेलवे के दृष्टिकोण से भी दोनो को अलग करने की आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत होती है। केन्द्रीय सरकारी बजट पर निर्भर होने से रेलो को व्यावसायिक रूप से चलाने मे बाधा पहुँचती है। ऐसी व्यवस्था, जिसमे यह मान लिया जाता है कि हर

---

१. जैसा कि श्री एन० बी० मेहता का कहना है अन्तर रेलवे-प्रतिस्पर्धा के अभाव और जागृत जन-मत के प्रभाव ने रेलो के सरकारी नियन्त्रण को एक नैतिक आवश्यकता में परिवर्तित कर दिया है। देखिए, इण्डियन रेलवेज रेट्स रेगुलेशन', पृ० ८१।

वर्ष की ३१ मार्च को काम समाप्त हो जाता है और नय सरकारी वर्ष के साथ फिर प्रारम्भ होता है, रेलवे के विकास के लिए घातक थी। अतएव केवल व्यावसायिक आधार पर रेलो के सुचारु सचालन की दृष्टि से ही नही, वरन् पुरानी पद्धति की अनेक सदिग्धताओ और बुराइयो से सरकार को स्वतन्त्र करने के लिए भी रेलवे वित्त को पृथक् करने का निश्चय किया गया। विषय के महत्त्व को ध्यान मे रखकर सितम्बर १९२१ मे धारासभा मे एक प्रस्ताव रखा गया और इस प्रश्न पर विचार करने के लिए दोनो सदनो की एक सयुक्त समिति की नियुक्ति हुई। समिति ने यह निर्णय किया कि तुरन्त अलग करना व्यावहारिक राजनीति के बाहर की बात होगी। किन्तु उन्हें इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि वर्तमान रेलवे लाइनें, जो युद्ध के कारण बिगड गई थी या उपेक्षित थी, उनको फिर से चालू किया जाए। इस काम के लिए उन्होने १५० करोड रुपये व्यय करने की सिफारिश की जो कि पाँच वर्ष मे रेलो के सुधार और तृतीय श्रेणी के यात्रियो को अधिक सुविधाएँ देने के लिए व्यय किये जाएँ। १९२४ मे धारासभा ने इसे स्वीकार किया और रेलवे वित्त को अलग करने की योजना को भी मानने के लिए तैयार हो गई। शर्त यह थी कि रेलवे के मुनाफे से प्रति वर्ष एक निश्चित धनराशि सरकारी बजट के लिए दी जाए। यह हिस्सा इस आधार पर तय किया गया कि वर्ष के अन्त मे वाणिज्य-सम्बन्धी लाइनो पर लगी पूँजी पर १% (कम्पनियो और रियासतो द्वारा दी गई पूँजी को छोडकर) तथा लाभ का $\frac{1}{5}$ भाग उसी वर्ष के घाटे तथा यौद्धिक लाइनो पर लगी पूँजी के ब्याज को घटाकर सरकार को दिया गया। धारासभा ने यह तय किया कि इस प्रकार निश्चित धनराशि का देने के पश्चात् यदि रेलवे सुरक्षित कोष (रिजर्व) को हस्तान्तरित किया जाने वाला मुनाफा ३ करोड से अधिक हो तो इस अधिक धन का $\frac{1}{3}$ साधारण आगम (रेवेन्यू) मे दे दिया जाए। रेलवे सुरक्षित कोष (रिजर्व) का उपयोग वार्षिक अशदान, बकाया अपकर्ष (डिप्रेसियेशन) पूरा करने और साधारण रूप से रेलवे की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए था।

११ अवसाद काल (१९३०-३१ से १९३५-३६) तथा वेजवुड रेलवे जाँच-समिति (१९३६-३७)—१९३०-३१ से १९३५-३६ तक का समय रेलवे के इतिहास मे अवसाद का समय है। रेलवे की वार्षिक आय घटती चली गई। परिणाम यह हुआ कि बजट को सन्तुलित करने के लिए सुरक्षित कोष और अपकर्ष कोष (डिप्रेशियेशन फण्ड) का सहारा लेना पडा तथा सामान्य बजट के प्रति अशदान भी बन्द करना पडा। इस अवधि मे रेलवे की आर्थिक दशा मे होने वाले भयकर ह्रास ने विषय की जाँच-पडताल अनिवार्य कर दी। सर ओटो नेमियर (एक वित्तीय विशेषज्ञ, जो १९३६ मे भारत आये) ने रेलवे के खर्च मे सम्पूर्ण परिवर्तन की राय दी। उन्होने अपनी रिपोर्ट, '१९३५ के सविधान के अन्तर्गत प्रान्तो और केन्द्र मे वित्तीय व्यवस्था' मे परिवहन के विभिन्न साधनो के सयोजन पर जोर दिया।[१]

१. इण्डियन फाइनेंशल इन्क्वायरी (नेमियर) रिपोर्ट, पैरा ३१-, १९३६ में प्रकाशित [illegible]

जून, १९३७ मे प्रकाशित समिति की रिपोर्ट मे रेलवे के हर पहलू को स्पर्श करने वाले ऐसे सुझाव हैं जिनसे उसकी कार्यकुशलता और आर्थिक परिस्थिति दोनो ही सुधारी जा सकती हैं। इसने पोप-समिति, जिसने १९३२-३४ मे मितव्ययिता और कुशलता बढाने की दृष्टि से रेलवे के हर महत्त्वपूर्ण कार्य का विस्तृत विश्लेषण किया था, के सब सुझावो का समर्थन किया तथा एक पर्याप्त अपकर्ष-कोष (डिप्रेसियेशन फण्ड) की आवश्यकता पर जोर दिया। इसके विचार मे ३० करोड रुपये की बचत साधारणत ज्यादा नही कही जा सकती। इसने रेलवे व साधारण सुरक्षित कोष के निर्माण की सिफारिश की, इससे ऋण ली हुई पूंजी और ब्याज को चुकता किया जा सकेगा।[1]

समिति ने रेलो को अपनी लोकप्रियता बढाने और जनता से अपने सम्बन्ध अच्छे करने के सुझाव रखे। इस काम के लिए समाचारपत्रो से घनिष्ठता बढाने पर जोर दिया। समिति ने अनेक रेलो को एक मे मिलाने पर अधिक जोर नही दिया, क्योकि इससे प्रबन्ध और प्रशासन मे असुविधा उत्पन्न होती।[2] वेजवुड-समिति की रेल-सडक सयोजन, तथा किराये की दर मे सशोधन की सिफारिशो की चर्चा अन्य भागो मे की गई है।

१२ द्वितीय विश्व-युद्ध-काल और उसके बाद (१९३९ से १९४७)—द्वितीय विश्व युद्ध का एक परिणाम यह हुआ कि यातायात मे काफी वृद्धि हो गई। फलत परिवहन-क्षमता पर असाधारण भार पडा। समृद्धि काल के कारण रेलवे इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए थोडी-बहुत सुसज्जित थी। रेलवे के निर्माण मे बडा रुपया खर्च किया गया था। कार्य विधि मे सुधार भी किया गया तथा अच्छे शक्तिशाली इजन भी मँगाय गए थे। १९४१ के अपने बजट भाषण मे सर गुथरी रसेल, रेलवे चीफ कमिश्नर न अनुमान लगाया कि आवश्यकता पडने पर अपनी वर्तमान कार्य-क्षमता से रेलवे कोयला को छोडकर समुद्र-तट के तमाम यातायात को सँभाल सकती है।[3]

१५ अगस्त, १९४७ को स्वतन्त्रता प्राप्ति और विभाजन ने समस्याओ के आकार और रूप को ही बदल दिया। देश के विभाजन के साथ ही रेलवे और तत्सम्बन्धी अन्य सम्पत्ति का भी विभाजन हुआ।

१३ राज्य और रेलवे के बीच सम्बन्धों की विविधता[4]—नियन्त्रण और स्वामित्व की दृष्टि से राज्य और रेलो के बीच विभिन्न सम्बन्ध रहे है। मुख्य लाइनो मे से चार लाइनें सरकार के स्वामित्व मे थी (नार्थ-वेस्टर्न रेलवे, ईस्टर्न बगाल रेलवे, ईस्ट इन्डियन रेलवे जिसमे १ जुलाई, १९२९ को अवध और रुहेलखण्ड रेलवे मिला दी गई थी और चौथी जी० आई० पी० रेलवे)। अन्य पाँच का स्वामित्व तो सरकार के

१ रिपोर्ट, पैरा २०६, २१०-११।
२ इण्डियन रेलवे इन्क्वायरी रिपोर्ट, अध्याय १२-१३।
३ देखिए, रेलवे बजट १९४०-४१, पैरा २।
४ देखिए, रिपोर्ट ऑन इण्डियन रेलवेज (१९३८-३९) भाग १, अनुसूची बी।

पास था किन्तु वे सरकार की तरफ से वैयक्तिक कम्पनियों द्वारा प्रबन्धित थी जिन्हें सरकार ब्याज की सुरक्षा दे चुकी थी (बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे और एम० एण्ड एस० एम०, आसाम-बंगाल रेलवे, बंगाल-नागपुर रेलवे और एस० आई० रेलवे)। दो महत्त्वपूर्ण लाइनें (बंगाल एण्ड नार्थ वेस्टर्न रेलवे तथा रुहेलखण्ड-कुमायूं रेलवे) तथा कम महत्त्व की अनेक लाइनें व्यक्तिगत कम्पनियों की सम्पत्ति थी। इनमें से कुछ तो स्वयं कम्पनियों द्वारा तथा कुछ सरकार द्वारा शासित होती थी। कुछ लाइनें देशी रियासतों के अधीन थी जैसे वाडी से हैदराबाद (हैदराबाद राज्य), खण्डवा से इन्दौर (होल्कर राज्य) तथा इन्दौर से नीमच-उज्जैन होते हुए (ग्वालियर राज्य) कितनी ही छोटी-छोटी लाइनें तो जिला बोर्डों के स्वामित्व में थी या उन्हें इन बोर्डों द्वारा ब्याज की गारन्टी प्राप्त थी।

अब लगभग सभी रेलें सरकारी अधिकार और प्रबन्ध के अन्तर्गत हैं।[1]

(२) स्वतन्त्रता के पश्चात्

१९४७ में विभाजन के फलस्वरूप रेलवे की पूँजी, रोलिंग स्टॉक, कारखाने आदि का बँटवारा रेडक्लिफ-निर्णय के अनुसार रेलवे भण्डार उपसमिति (रेलवे स्टोर्स सब-कमिटी) ने तय किया। कुल रेलमार्ग का लगभग १९ प्रतिशत पाकिस्तान के हिस्से में आया। वित्तीय देयता में भी पाकिस्तान का भाग लगभग १९ प्रतिशत ही रहा। पाकिस्तान की देयता लगभग १५० करोड़ रु० तथा भारत की देयता ६६० करोड़ रु० थी (१९४७-४८ के बजट के आधार पर)।

१९४९ में भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से रेलों के पुनर्स्थापन के लिए, ३४ करोड़ डालर का ऋण प्राप्त किया। इस ऋण की सहायता से ४१८ इंजन, २६ बायलर तथा अन्य भागों की खरीद के लिए आर्डर दिये गए। इसके अलावा भारत सरकार ने अपने साधनों से भी इंजन, डिब्बे तथा अन्य रोलिंग स्टॉक पर्याप्त मात्रा में खरीदे। दिसम्बर, १९५२ में भारत सरकार ने यू० स० टेक्नीकल मिशन के साथ रेलों के पुनर्स्थापन के लिए एक और समझौता किया।

अगस्त १९४९ में भारत में ३७ रेल-व्यवस्थाएँ (रेलवे सिस्टम) थीं। रेलवे संगठनों की अधिकता व्ययग्रसित और अकुशल प्रबन्ध को जन्म देती है। अतएव भारतीय रेल व्यवस्था को पुनः नये क्षेत्रों में वर्गीकृत करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। रेल-व्यवस्था के पुनर्गठन के मूल में यही सत्य निहित था। इसके अतिरिक्त पुनर्गठन से फलस्वरूप प्रत्येक हेडक्वार्टर उच्चतम क्षमता से सम्पन्न हो सकेगा तथा रेलवे की अद्यतन प्रविधियों के अनुसरण में समर्थ होगा। अन्तिम पुनर्गठन से कोई गतिरोध और अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होगी।[2] इन सिद्धान्तों के आधार पर रेलवे को विभिन्न वर्गों में विभाजित करने की योजना १५ अप्रैल, १९५२ को तैयार हो गई थी। प्रारम्भ में

---

१. सरकारी रेलवे की लम्बाई ३४,९८१.०५ मील तथा गैर-सरकारी रेलवे की लम्बाई ७०२.८२ मील है। देखिए, टाइम्स ऑफ इण्डिया डाइरेक्टरी एण्ड इअर बुक, १९६०, पृ० २१० ।

२. देखिए, सेकण्ड फाईव ईअर प्लान, पृ० ४६० ।

रेलों को ६ वर्गों में विभाजित करने की योजना थी, किन्तु बाद में दो वर्ग और बनाए गए। इस समय रेलवे आठ वर्गों में विभाजित है। ये वर्ग निम्नलिखित हैं तथा कोष्ठक में इनके संगठन की तिथि और हेडक्वार्टर का नाम दिया हुआ है : (१) दक्षिण-क्षेत्र (१४ अप्रैल, १९५१, मद्रास), (२) मध्य-क्षेत्र (५ नवम्बर, १९५१, बम्बई), (३) पश्चिमी क्षेत्र (५ नवम्बर, १९५१, बम्बई), (४) उत्तरी क्षेत्र (१४ अप्रैल, १९५२, दिल्ली), (५) उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (१४ अप्रैल, १९५२, गोरखपुर), (६) उत्तर-पूर्वी सीमा-क्षेत्र (१५ जनवरी, १९५८, पंडु), (७) पूर्वी-क्षेत्र (१ अगस्त, १९५५, कलकत्ता), (८) दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र (१ अगस्त, १९५५, कलकत्ता)। रेलों के इस वर्गीकरण के विरुद्ध मुख्यत: दो आपत्तियां की गईं। एक तो यह कि कुछ क्षेत्रों के अन्तर्गत रेल की लम्बाई इतनी अधिक है कि प्रशासकीय कठिनाइयां घटने के बजाय बढ़ जाएंगी, ऐसी आशंका थी। दूसरे यह कि रेल-परिचालन में रुकावटें पैदा हो जाएंगी। वर्गीकरण के पश्चात् बेजवाड़ा और मुगलसराय तथा अन्य स्थानों में रुकावटों का अनुभव भी किया गया, किन्तु सरकारी दृष्टिकोण यह रहा कि ऐसी कठिनाइयां वर्गीकरण का परिणाम नहीं थीं। इन आपत्तियों के विरुद्ध सरकार ने यही कहा कि वर्गीकरण की योजना से (१) प्रशासन और वित्तीय नियन्त्रण में सुधार, (२) प्रबन्ध में मितव्ययिता और कार्यक्षमता में वृद्धि, तथा (३) परिचालन-व्यवस्थाओं और कर्मशाला (वर्कशाप), का युक्तीकरण होगा। वर्गीकरण विवादास्पद विषय नहीं था। अनेक समितियों ने, यथा एकवर्थ-समिति, वेजवुड-समिति, सभी ने सिफारिश की थी। वर्गीकरण के विरुद्ध केवल यही कहा जा सकता था कि यदि यह योजना कुछ समय बाद लागू की जाती तो अधिक अच्छा होता। कुंजरू समिति (१९४७-४८)[१] का यही मत था। वर्गीकरण हो जाने के बाद अब यह विवाद का विषय नहीं रहा है।

१९५१ में प्रथम पचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई। इस योजना में रेलवे के पुनर्स्थापन और विस्तार के ऊपर ४२३.७३ करोड़ रु० व्यय किये गए। प्रथम योजना का ध्येय मुख्यत: चल स्टाक तथा स्थिर सम्पत्ति का पुनर्स्थापन और नवीकरण, उत्पादन और विकास-सम्बन्धी योजनाओं से उत्पन्न नई आवश्यकताओं की पूर्ति तथा यात्रा करने वाली जनता तथा रेलवे कर्मचारियों को सुविधाएं प्रदान करना था। योजनावधि में द्वितीय महायुद्ध में उखाड़ी गई लाइनों में से ४३० मील लाइन फिर से बिछा दी गई तथा ३०० मील लम्बी लाइनों का निर्माण हुआ। योजना के प्रारम्भ में भारतीय रेलवे के पास ८,२०९ इंजन, १९,२२५ कोचिंग डिब्बे तथा २२२,४४१ माल के डिब्बे थे। इनमें से २,११२ इंजन, ७,०११ कोचिंग डिब्बे तथा तथा ३९,२८४ मालगाड़ी के डिब्बे अपनी आयु पूरी कर चुके थे और उन्हें बदलना आवश्यक था। प्रथम योजना के अन्त तक प्राप्त इंजन, कोचिंग के डिब्बे तथा माल के डिब्बों की संख्या क्रमश: १,५८९, ४,८३७

१. कुंजरू-समिति का मत था कि रेलवे का पुनर्गठन गतिरोध और अव्यवस्था को जन्म देगा। समिति ने सिफारिश की थी कि पुनर्गठन की योजना कुछ वर्षों के लिए कार्यान्वित न की जाए। किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, सरकार मत इसे मानने को तैयार नहीं था।

तथा ६१, ७१३ रही होगी।

द्वितीय योजना में प्रधानत. रेल-व्यवस्था के विस्तार पर जोर दिया गया ताकि व्यापार और उद्योग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। १९५८ में रेलवे को विश्व बैंक से ४०·५ करोड़ रु० का ऋण प्राप्त हुआ। ३१ मार्च १९५९ तक इस ऋण का उपयोग चल-स्टाक तथा रेलवे सम्बन्धी अन्य साज-सामान खरीदने के लिए किया जा चुका था। १९५८-५९ में रेलवे ने ३६६ इंजन (जिनमें ७१ डीजेल के इंजन भी शामिल हैं), १६४२ कोचिंग के डिब्बे तथा १३,४२२ माल-गाड़ी के डिब्बे प्राप्त किए।

द्वितीय योजना में १४४२ मील लम्बी रेल की लाइन का विद्युतीकरण प्रस्तावित था। बाद में इस लक्ष्य में परिवर्तन किया गया। परिवर्तन का कारण शक्ति की कमी तथा विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ थीं। हावड़ा-बर्दवान की मुख्य लाइन व श्योराफुली-तारकेश्वर ब्रान्च लाइन पर ८८ मील की दूरी के लिए विद्युतीकरण हो चुका है। १९५८-५९ तक इस क्षेत्र में ११२ बिजली से चलने वाली रेलें चलने लगी थीं। पूर्वी तथा दक्षिणी-पूर्वी रेलवे की मुख्य लाइन पर विद्युतीकरण का काम चालू था।

१४. रेलवे के आर्थिक प्रभाव—रेलवे या अन्य दूरी को नष्ट करने वाले साधनों के लाभ इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें गिनाने की आवश्यकता नहीं। राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इनका बड़ा ही महत्त्व है। कुशल प्रशासन, सुरक्षा, दुर्भिक्ष-सहायता, व्यापार और उद्योग का विकास, प्राकृतिक साधनों का अधिक अच्छा उपयोग, जनसंख्या का सम-विभाजन, ये सब रेलों पर निर्भर हैं। कस्बों और बन्दरगाहों का विकास भी बहुत हद तक रेलवे के कारण ही सम्भव हुआ। रेलों द्वारा सफाई और कृषि-सुधार में भी बड़ी सहायता पहुँच सकती है। अन्त में सरकारी आय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूप से बढ़ती है। प्रत्यक्ष रूप से सरकार रेलवे के मुनाफे में हिस्सेदार है। परोक्ष रूप से रेलों से देश की सम्पत्ति में वृद्धि होने से जनता की कर देने की शक्ति बढ़ जाती है।

१५. रेलों के और अधिक विकास की आवश्यकता—प्रारम्भ में रेलों से होने वाली अनेक हानियों का कारण देश में रेलों का निर्माण न होकर निर्माण की पद्धति और उसके सम्बन्ध में दिखाई गई अनुचित जल्दबाजी है। यह बात बहुत जरूरी है कि कुछ प्रतिबन्धों के अन्तर्गत देश में रेलों का विकास यथासम्भव शीघ्रता से हो। इससे देश का व्यावसायिक और औद्योगिक विकास सरलता से होगा। यह बात तो स्पष्ट है कि देश में अभी रेलवे का पूर्ण प्रसार नहीं हो पाया है। प्रमाण के लिए हम यूरोप को ले सकते हैं। यूरोप का क्षेत्रफल (रूस को निकाल देने पर) १,९६०,००० वर्गमील है, जिसमें १९०,००० मील रेल है। भारत का क्षेत्रफल १२,५९,७६७ वर्ग मील है, लेकिन इनमें केवल ३५,०८१ मील रेलवे लाइन है।

रेलवे प्रशासन की समस्याएँ

१. **स्वतन्त्रता से पूर्व**—हम पहले रेलवे प्रशासन की उन समस्याओं की चर्चा

करेंगे जो १८४४–१९४७ के काल मे विचारणीय थी।

१६. रेलवे दर-नीति—एक बडी पुरानी शिकायत थी कि रेलवे की दर मूलत आर्थिक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित है और यूरोपीय सौदागरो को फायदा तथा भारतीय उद्योग और साहस के विकास को बाधा पहुँचाती है। १९१५ मे सर इब्राहीम रहीमतुल्ला ने धारासभा (इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल) मे इसका जिक्र किया। उद्योग और वित्त-आयोग के सामने भी कितने लोगो ने इस बात की गवाही दी। आकवर्थ-समिति ने भी इस ओर ध्यान आकृष्ट किया। एक खास शिकायत यह थी कि दरें इस प्रकार रखी गई थी कि वे आन्तरिक यातायात की अपेक्षा अन्दर से बन्दरगाहो तक आने वाले और बन्दरगाहो से अन्दर जाने वाले यातायात को प्रोत्साहन देने वाली थी। इससे कच्चे माल के निर्यात और विदेशी निर्मित वस्तुओ के आयात को प्रोत्साहन मिलता था।[1] भारतीय व्यापारियो की शिकायत थी कि उन्हे देश के विभिन्न भागों से कच्चा माल मँगाने और विभिन्न बाजारो मे तैयार माल भेजने मे काफी ऊँची दर देनी पडती थी। अवरोधक दर प्रथा (ब्लाक रेट सिस्टम)[2] से भी काफी असन्तोष था क्योंकि इससे यातायात का कृत्रिम विकीरण होता था जिससे उद्योग और व्यापार दोनो को असुविधा होती थी। रेलवे-दर का एक प्रभाव यह भी था कि भूतकाल मे प्राय उद्योग बन्दरगाहो के पास केन्द्रित होने लगे थे, जिसके फलस्वरूप उन्हे भी कितनी ही कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है।

जैसा कि अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) ने स्वीकार किया था, भारतीय उद्योगो के साथ किये गए अनुचित व्यवहार की बात निराधार नही थी। व्यवहार मे रेलो को अपने ढग से दर निश्चित करने की स्वतन्त्रता थी। यद्यपि यह स्वतन्त्रता रेलवे बोर्ड द्वारा दी गई स्वीकृतियो के अन्तर्गत ही थी, किन्तु उन्हे विशिष्ट सामग्री विशिष्ट वर्ग मे रखने की स्वतन्त्रता थी। प्रश्न का गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त उद्योग-आयोग ने यह सिफारिश की कि एक प्रकार की सामग्री को उतनी ही दूरी पर ले जाने का किराया बराबर होना चाहिए, ताकि कच्चा माल जहाँ तक सम्भव हो सके निर्यात के पूर्व निर्मित सामग्री की दशा मे हो जाए। उन्होने यह भी सुझाव रखा कि एक से अधिक लाइनो पर चलने वाली वस्तु की पूरी दूरी का किराया एक ही दर से एक ही बार ले लिया जाए। अर्थ आयोग ने इन सुझावो को स्वीकार किया और यह भी सुझाव रखा कि नये उद्योगो के लिए कुछ वर्ष तक विशेष रूप से रिआयती दर देनी चाहिए और अन्य उद्योगो को भी विशेष रिआयत दी जाए, यदि वे अपने को इस योग्य सिद्ध कर सकें। कृषि-आयोग, जिसने रेलवे दर से कृषि-विकास पर पडने वाले प्रभाव की जाँच की, ने यह सुझाव रखा कि कृषि विभाग और

---

१. फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, पैरा १०७।

२. 'ब्लाक रेट' का मतलब है कि थोडी दूरी के लिए अधिक दर से किराया लेना। यह जकशन के निकट किसी स्टेशन से उस जकशन तक और वहां से दूसरी रेलवे पर अधिक दूर तक जाने वाले यातायात पर लगाया जाता है। इसका उद्देश्य यातायात को प्रतिद्वन्द्वी लाइनों पर जाने से रोकना तथा एक लाइन तक ही सीमित रखना है।

रेलवे-विभाग के बीच अधिक सम्पर्क स्थापित किया जाए तथा कृत्रिम खादो, ईंधन, चारा और दूध देने वाले पशुओ के यातायात को विशेष सुविधा दी जाए। उन्होने कृषि के औज़ारो के कच्चे माल और औज़ारो के परिवहन की दर को फिर से जाँच करने की सिफारिश की।[1]

१६२६ मे आकवर्थ-समिति के सुझाव के अनुसार एक अध्यक्ष, एक व्यवसायी हितो का प्रतिनिधि सदस्य, दूसरा रेलवे का प्रतिनिधि सदस्य, इनकी एक दर परामर्शदात्री समिति (रेट्स एडवाइजरी कमेटी) का निर्माण किया गया। इसे जाँच करके निम्न विषयो पर सुझाव देने के लिए कहा गया

(१) अनुचित अधिमान की शिकायतों की जाँच। (२) यह शिकायत की कि रेलवे कम्पनियाँ व्यापार को पूरी सुविधा देने का कार्य नही कर रही हैं तथा अन्तिम स्थान-सम्बन्धी (टर्मिनल्स) झगडे। (३) य शिकायतें कि दरें उचित नही हैं। (४) नुकसान पहुँचने या पहुँचाने वाली सामग्री के परिवेष्टन (पैकिंग) से सम्बन्धित शर्तों के औचित्य सम्बन्धी शिकायतें। (५) किसी दर से सम्बन्धित परिवेष्टन-सम्बन्धी शिकायतें। जैसी कि वेजवुड जाँच समिति न सिफारिश की थी, १६४० मे समिति की कार्य-विधि अधिक सरल कर दी गई।

१७ प्रभावपूर्ण निरीक्षण का प्रभाव—रेलवे बोर्ड का पुनर्गठन आकवर्थ-समिति न रेलवे बोर्ड क पुनर्गठन पर ज़ोर दिया था ताकि इसे एक सन्तोषजनक माध्यम बनाया जा सके जिससे भारत सरकार सम्पूर्ण रेल व्यवस्था के ऊपर प्रभावपूर्ण निरीक्षण सरलता से कर सके। पुनर्गठित रेलवे बोर्ड की सरचना एक प्रधानायुक्त (चीफ कमिश्नर), एक वित्तायुक्त और तीन सदस्यो से मिलकर हुई।[2] आकवर्थ-समिति की सिफारिश थी कि रेलें तीन क्षेत्रो मे विभाजित हो, जिनमे से प्रत्यक क्षेत्र एक कमिश्नर के अधीन हो। इसके स्थान पर विषय के आधार पर काम को विभाजित करन का ढग अपनाया गया। एक सदस्य प्राविधिक (टेकनिकल) विषयो का काम देखता है, दूसरा साधारण प्रशासन कर्मचारी और यातायात-सम्बन्धी विषयो का काम देखता है और तीसरा वित्तायुक्त, जो कि वित्त विभाग का प्रतिनिधि होता है, सभी आर्थिक पहलुओ की देख-रेख करता है। बोर्ड की सहायता क लिए पाँच सचालक होते हैं। (सिविल इजीनियरिंग, मेकेनिकल इजीनियरिंग, यातायात, वित्त और सस्थापन—एस्टेब्लिशमेण्ट) जो कि प्रधानायुक्त और सदस्यो के दिन-प्रतिदिन के काम म सहायता पहुँचाते है ताकि व अपना ध्यान रेलवे-नीति के महत्वपूर्ण प्रश्नो पर केन्द्रित कर सके और विभिन्न रेलो पर यात्रा करके स्थानीय सरकारो से पहले की अपेक्षा कही अधिक व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर सके।

१८ भारतीयकरण की समस्या—आकवर्थ-समिति और ली आयोग (१६२३) दोनो ने उच्च रेलवे सेवाओं के लिए भारतीयो को प्रशिक्षित करने की सुविधाओ के प्रसार की सिफारिश की थी। ली-आयोग ने ऐसे ७५ प्रशिक्षण पदो क लिए प्रशिक्षण की

१ कृषि-आयोग-रिपोर्ट, पृ० ३७७-६।

२ अतिरिक्त सुझावों क लिए देखिए, इण्डियन रेलवे इन्क्वायरी रिपोर्ट (१६३७), पैरा ७८-६०

सिफारिश की। सरकार ने यह बात स्वीकार कर ली और प्रशिक्षण-सुविधाओं के प्रसार के लिए कदम उठाया। वेजवुड-समिति की रिपोर्ट पर विवाद होते समय भारत सरकार ने रेलवे-सेवाओं के भारतीयकरण की बात को पुन दुहराया। अब यूरोपीयो को नौकरियाँ मिलना बन्द हो गया है और भारतीयकरण का प्रश्न भी राज-सत्ता भारतीय हाथो मे हस्तान्तरित हो जाने से समाप्त हो गया है।

रेलवे की समस्याएँ

२ **स्वतन्त्रता के बाद**—स्वतन्त्रता के बाद रेलवे की समस्याओं का रूप ही बदल गया। कुछ समस्याएँ जैसे, भारतीयकरण की समस्या, अप्रासगिक हो गई तथा कुछ अन्य समस्याएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठी। इस समय भारतीय रेलवे के समक्ष निम्न मुख्य समस्याएँ हैं

१ रेल चलाने के लिए शक्ति-उत्पादन के हेतु अधिकाशत' कोयला प्रयुक्त होता है। भारत मे अच्छी कोटि के कोयले के कुल निक्षेप सीमित है तथा दीर्घकालीन प्रयोग की दृष्टि से वे लोहा और इस्पात जैसे आधारभूत उद्योग के लिए भी पर्याप्त नही है। इन उद्योगो का भविष्य निम्नकोटि के कोयले के सुधार और तदनन्तर इनके उपयोग पर ही आधारित है। अतएव रेलवे मे कोयले का प्रयोग निम्नतम करना आवश्यक है। इस दृष्टि से भारत मे बिजली और डीजेल से चलने वाली रेलो की व्यवस्था करना आवश्यक है। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस दिशा मे प्रयत्न किये गए है जिनकी चर्चा हम कर चुके है।

२ रेलवे की दुर्घटनाओ से सम्बन्धित दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या है। ये दुर्घटनाएँ अनेक प्रकार की होती है, यथा टक्कर, पटरी से उतरना, गाडी से जानवरो का कटना, सम-पार पर गाडी का सडक यातायात से टकराना, गाडी का दूसरी रुकावटो से टकरा जाना आदि। १९५७-५८, १९५८-५९ तथा १९५९-६० मे दुर्घटनाओ की सख्या क्रमश ९,०११, ९,०७१ तथा ८,९१६ थी। १९५९-६० मे इस प्रकार कुल दुर्घटनाओ की सख्या मे कमी आ गई। किन्तु इस वर्ष रेल-पथ से उतरने और रेल-पथ की खराबी के कारण हुई दुर्घटनाओ की सख्या बढ गई। टक्कर, गाडी का पटरी से उतरना, गाडी का सम-पार पर सडक यातायात से टकराना, गाडी मे आग लगना—इस प्रकार की कुल १,१२४ दुर्घटनाएँ रेलवे कर्मचारियो की असावधानी से हुई जबकि इस प्रकार की दुर्घटनाओ की कुल सख्या (१९५९-६०) मे २,११९ थी। अतएव उपर्युक्त प्रकार की लगभग ५०% घटनाओ के लिए रेलवे कर्मचारी ही उत्तरदायी थे। यह कहा जा सकता है कि इन घटनाओ को कम करना तो सरकार के ही हाथ मे है। उपाय के रूप मे सरकार दुर्घटना की कारण रूपी भूलो के सम्बन्ध मे रेलवे कर्मचारियो को प्रशिक्षित करने के लिए जनरल मैनेजरो तथा परिचालन अधीक्षको की आवधिक बैठक मे बराबर जोर देती रही है। दुर्घटना के सरकारी निरीक्षको ने १९५९-६० मे जिन दुर्घटनाओ की जाँच की, उस तरह की दुर्घटनाओ को रोकने के लिए उन्होने बहुत-से सुझाव दिये। तदनुसार रेल प्रशासनो को हिदायतें भी दी गई। दुर्घटनाओ को कम करने की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण

यात तो इन हिदायतो का पालन है । सम-पार के फाटको की दुर्घटनाओं, रेल पथ म खराबी के कारण होने वाली घटनाओ तथा समाज विरोधी तत्त्वों व तोड फोड के कार्यों को रोकने के लिए भी सरकार प्रयत्नशील है और आशा की जा सकती है कि आगामी वर्षों मे रेल-यात्रा और अधिक सुरक्षित हो जाएगी।[1]

रेलवे की तीसरी महत्त्वपूर्ण समस्या यात्रियो को सुविधा पहुँचाने की है। रेलवे प्रशासन के विरुद्ध यह आलोचना प्रस्तुत की जा रही है कि तीसरे दर्जे के यात्री-जिनसे अन्य यात्रियो की अपेक्षा सबसे अधिक आय प्राप्त होती है—सुविधा की दृष्टि से सबसे अधिक उपेक्षित है । लडाई के बाद भारतीय रेलो मे यात्री-यातायात बराबर बढता रहा है, उसकी वजह से गाडियो म भीड रहती है । चूँकि रेलवे के उपलब्ध साधनो से भीड मे कोई खास कमी नही की जा सकती, इसलिए यह आवश्यक हो गया है कि इन साधनो का उपयोग इस तरह से किया जाए कि भीड कुछ खास क्षेत्रो और गाडियो मे अधिक न होकर समान रूप से सब गाडियो और क्षेत्रो मे बँट जाए। फिर भी इस बात की कोशिश की जा रही है कि बडी और मीटर दोनो लाइनो मे सवारी गाडियो की मील-सख्या बढे ।

द्वितीय योजना मे रेल-उपभोगकर्त्ताओ की सुविधा के लिए १५ करोड रु० मजूर किये गए थे । अनुमानित व्यय १५ १५ करोड रु० है । तीसरी योजना के प्रथम वर्ष मे ३ ०२ करोड रु० व्यय करन का विचार है।[2] उपर्युक्त विवरण स इतना तो स्पष्ट है कि सरकार यात्रियो को अधिक सुविधा प्रदान करने क प्रति जागरूक है। यात्री-सुविधा की दिशा मे अभी बहुत-कुछ करना शेष है । रेल क डिब्बो मे बैठन की आरामदायक सीट, पखा शौचादि की स्थिति म सुधार आदि । साधारण जनता यात्री-सुविधा से तभी प्रभावित होगी जबकि उपयुक्त सुविधाएं हर गाडी मे प्रस्तुत की जाएँ।

१६ **रेलवे मे प्रगति तथा पचवर्षीय योजनाएँ**— क्योकि रेलव यातायात की सबसे बडी अभिकरण (Agency) है, इसलिए इसकी प्रगति सारी आर्थिक व्यवस्था पर बहुत प्रभाव डालती है । इसका पचवर्षीय योजनाओ मे विशेष महत्व है। इसका विवरण निम्नलिखित तालिकाओ से मिलता है—

तालिका—१

व्यय तथा रेलवे का अशदान (करोड रुपयो मे)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
१ योजना म रेलव पर व्यय	४२३ २३	१ ०४३ ६६	१,५८१ ००
२ रेलव का अशदान योजना के कार्य	२८० ००	४६५ ००	५३१ ००
३ विदेशी मुद्रा की रेलवे के लिए आवश्यकता	—	३१६ ४५	२८३ ५०

१. देखिए, भारत की सरकारी रेलों में दुर्घटनाओं की समीक्षा (१६५६-६०) रेलवे मन्त्रालय फरवरी १६६१ में प्रकाशित ।

२ देखिए, यात्री सुविधा के प्रति—रेलवे मन्त्रालय (१६६१-६२) ।

तालिका —२
योजनाओं के अन्तर्गत प्रगति

	पहली योजना (वास्तविक)	द्वितीय योजना (वास्तविक)	तृतीय योजना का लक्ष्य
नई लाइने खोली गई (किलोमीटर)	१,०३४	१,३११	२,६४०
दुगनी लाइने की गई (किलोमीटर)	३७०	१,५१२	३,८६४
रेलो मे बिजली का प्रयोग	—	३६१.५	२,४९८
रेलवे इजन	१,५८६	२,२१६	२,०७०
रेल के डिब्बे	४,७५८	७,७१८	८,६०१
मालगाडी के डिब्बे	६१,२५४	९७,९५६	१,५७,२२७

पहली पचवर्षीय योजना मे यातायात, जिस पर लडाई तथा विभाजन का गहरा असर पडा था, को फिर से अच्छी दशा मे लाने का कार्य था। उसके साथ-साथ यातायात को औद्योगिक उन्नति के लिए भी आवश्यकताओं को पूर्ण करना था। दूसरी पचवर्षीय योजना, जिसमे भारी उद्योग तथा यातायात सचार पर खूब जोर दिया गया था, मे रेलवे प्रगति पर अच्छा ध्यान दिया गया। दूसरी योजना मे १३४० करोड रुपया यातायात पर लगाया गया। तीसरी योजना मे इस क्षेत्र में १४८६ करोड रुपया रखा गया। इसमे रेलवे पर ८९० करोड रुपया था, इसके अतिरिक्त ३५० करोड रुपया टूट-फूट के फण्ड (Depreciation) से ३५ करोड रुपया स्टोर सस्पेन्स-खाते से (Suspense)।

चौथी पचवर्षीय योजना मे सचार तथा यातायात पर ३,००० करोड रुपया सरकारी क्षेत्र मे और ६५० करोड रुपया निजी क्षेत्र मे खर्च होगा, जिसमे से रेलवे पर १,४०० करोड रुपया खर्च होगा और ६५० करोड रुपया रेलवे टूट-फूट फण्ड मे से लगाया जाएगा। इस प्रकार रेलवे मे कुल व्यवसाय २२५ मिलियन टन से (१९६५ ६६) से बढकर (१९७० ७१) म ३५५ मिलियन टन हो जाएगा।

सडक परिवहन

२० हाल का सड़क इतिहास—लार्ड डलहौजी के समय मे भारत की सडको के निर्माण का नया युग प्रारम्भ हुआ। डलहौजी ने रेलो के निर्माण के अतिरिक्त सडको के निर्माण के लिए भी कुछ शक्तिशाली नीति का अनुसरण किया। इस काम के लिए केन्द्रीय सार्वजनिक कार्य-विभाग के अतिरिक्त (१८५५ मे) प्रत्येक प्रान्त मे सैनिक बोर्ड (मिलिटरी बोर्ड) के स्थान पर सार्वजनिक कार्य-विभाग (पी० डब्ल्यू० डी०) की स्थापना की गई (१८५५)। प्राय. ९० वर्षो से रेलो के प्रभाव से भी सडको के निर्माण मे सहायता मिलती आ रही है। ज्यो-ज्यो रेलो का प्रसार होता गया, रेलो की सामग्री, माल और जनता की माग पूरी करने के लिए एक सहायक के रूप मे (न कि प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे) सडको का निर्माण आवश्यक हो गया। रेलवे न पक्की सडको की—जो कि रेलवे से समकोण पर देश के आन्तरिक भाग से साल-भर सवारी और माल लाने मे सहायता पहुँचाएँ—आवश्यकता को और भी तीव्र कर

दिया और यह माँग आज भी पूरी तरह से संतुष्ट नहीं हो पाई है। लेकिन रेलों के प्रसार से होने वाले लाभ ने सरकार का ध्यान सड़कों की ओर कम जाने दिया, खासतौर से उन सड़कों की ओर जो रेलवे के समानान्तर चलती हैं।[1]

२१ भारतीय सड़कों की विशेषताएँ—इस समय देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई चार ट्रंक सड़कें हैं। इनके साथ अनेक सहायक सड़कें जुड़ी हुई हैं। सबसे प्रसिद्ध ट्रंक रोड, जो पुराने जमाने में सेनाओं के आवागमन के लिए बनाई गई थी, ग्राँड ट्रंक रोड है। यह खैबर से कलकत्ता तक जाती है। अन्य तीन सड़कों में से, एक कलकत्ता और मद्रास को मिलाती है, दूसरी मद्रास को बम्बई से मिलाती है और तीसरी बम्बई को दिल्ली से मिलाती है। इन चारों प्रधान सड़कों की लम्बाई ५,००० मील है जब कि कुल पक्की सड़कें १२१,६१७ मील हैं। दक्षिण भारत में सहायक सड़कें अच्छी दशा में हैं, उनकी संख्या भी अधिक है। पक्की सड़कों के अतिरिक्त काफी कच्ची सड़कें भी हैं (१९५०-५१ मील)। ३८,१३९ मील लम्बी कच्ची सड़कों का निर्माण तो प्रथम योजना-काल में १९५६ तक सामुदायिक विकास-योजना तथा राष्ट्रीय प्रसार-सेवा के अन्तर्गत हुआ। इनमें से कुछ तो सूखे मौसम में मोटर इत्यादि के लिए भी काफी अच्छी हैं। मोटरों के आविष्कार और प्रचलन के पहले भी देश की आवश्यकता के लिए भारतीय सड़कें अपर्याप्त थीं।[2]

जिस आश्चर्यजनक शीघ्रता से मोटर परिवहन—बस और निजी कारें—का देश में विकास हुआ है उससे सड़कों के निर्माण और सुरक्षा से सम्बन्धित कितनी ही नयी समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। यह बात सच है कि मोटर-लारी ने कृषि-उत्पादन और तैयार माल को (ले जाने) ढोने में बैलगाड़ियों के काम को कम ही प्रभावित किया है। सड़कों की यह दुर्दशा बिना पुलवाली नदियों और रेलगाड़ी की प्रतिद्वन्द्विता के कारण है। जब ये सब कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी तो हमें आशा है कि यन्त्र-सज्जित परिवहन (मेकनाइज्ड ट्रांसपोर्ट) यातायात के अधिकांश भाग को अपने अधिकार में कर लेगा। यह विकास खासकर पहाड़ी इलाकों में अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि वहाँ रेलवे निर्माण की अपेक्षा सड़कें बनाना सस्ता पड़ेगा और सम्भव भी होगा। इसके अतिरिक्त बड़े नगरों के समीप नष्ट होने वाली वस्तुओं के लिए भी

---

१. देखिए, रोड डिवेलपमेण्ट कमेटी रिपोर्ट, पैरा १७।

२. कृषि-आयोग (१९२८) ने बताया कि जबकि प्रति १०० वर्गमील क्षेत्र में संयुक्तराज्य में ८० मील सड़कें हैं, भारत में केवल २० मील (प्रतिशत वर्गमील) है (रिपोर्ट, पैरा ११६)। भारत अब भी केनेथ मिचेल द्वारा रखे गए आदर्श से काफी दूर है। जब मिचेल भारत सरकार के सड़क परिवहन के नियन्त्रक थे, उन्होंने कहा था कि १००० जनसंख्या का कोई भी गाँव सड़क से आधे मील से अधिक दूर न होना चाहिए। भारतीय सड़क और परिवहन-विकास-संस्था (इण्डियन रोड्स एण्ड ट्रांसपोर्ट डिवेलपमेण्ट एसोसिएशन) ने सुझाव रखा कि प्रत्येक ३०० निवासियों के गाँवों से अधिक-से-अधिक १ मील की दूरी पर १० फीट चौड़ी सड़क होनी चाहिए। यदि भारत के सब ७००,००० गाँवों को निकट के बाजारों, गाँवों और रेलवे स्टेशनों से जोड़ने के लिए औसतन १ मील सड़क भी मिले तो कुल ७००,००० मील सड़क की आवश्यकता होगी, जबकि इस समय केवल ३००,००० मील सड़क है।

मोटर परिवहन के लिए पर्याप्त अवसर है।

२२ अधिक सडकों की आवश्यकता—जैसा कि कृषि-आयोग ने कहा है, 'परिवहन विक्रय का आवश्यक अंग है। आधुनिक व्यावसायिक विकास ने अच्छी सडको के सचार-महत्त्व को बहुत बढा दिया है।'[1] अच्छी परिवहन-व्यवस्था से कृषि-उत्पादन को निश्चय ही प्रेरणा मिलेगी और जीवन-निर्वाह कृषि का स्थान व्यवसायिक कृषि ले लेगी जिससे ग्रामीणो का जीवन स्तर भी ऊँचा उठेगा। इससे खीचने वाले और भारवाही पशुओ की शक्ति और प्राणवत्ता पर भी कम भार पडेगा और उनकी कार्य-क्षमता बढेगी। इससे सवारियो का घिसना भी कम हो जाएगा, समय की भी बचत होगी। निर्यात या आन्तरिक उपभोग वाले कृषि-उत्पादन से सम्बन्धित उद्योगो को भी कृषि से पर्याप्त सहायता पहुँचेगी। वे (सडकें) उद्योगो के विकेन्द्रीकरण मे भी सहायक होगी। इस प्रकार अनुचित स्थानीयकरण से उत्पन्न श्रम और मकानो की जटिल समस्याएँ भी कम होगी, ग्रामीण वातावरण मे उद्यान-फैक्ट्रियो का स्वप्न सत्य होने लगेगा। अन्त मे, उपयुक्त सडक-परिवहन की सहायता से भारत की अपार धन-राशि का भी पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकेगा।

२३ सडक बनाम रेलवे—सडक-परिवहन रेल-परिवहन मे इस अर्थ मे अच्छा है कि इसके लिए स्टेशनो, सिगनलो, लादको आदि की आवश्यकता नही पडती। न तो इसमे समाप्ति (टरमिनी) पर समय का ही नुकसान होता है, न खाली डिब्बे ही ढोने पडते है और न रोलिंग स्टॉक ही बेकार रहता है। सडको का स्पष्ट सस्तापन इसलिए भी है क्योकि रेलवे को अपनी लाइनें बनाने और उन्हे सुरक्षित रखने का सब खर्च स्वय बरदाश्त करना पडता है, इसके विपरीत, सडको का निर्माण और सुरक्षा साधारण कर देने वालो के धन से होती है। यदि मोटरो को ही सडको की सुरक्षा का खर्च भी बरदाश्त करना पडे तो भी सडक-परिवहन सस्ता ही पडेगा। यह बात थोडी दूर की यात्रा और हल्के यातायात के विषय मे ही लागू होगी। इसके विपरीत दूर की यात्रा और भारी बोझ ढोने का काम रेलवे द्वारा अधिक सस्ते मे होगा, क्योकि उनके चलाने का खर्च कम पडता है। कुछ जगहो पर रेलवे और सडको मे प्रतिद्वन्द्विता भी रहती है। कुछ स्थानो पर वे एक-दूसरे को सहायता पहुँचाती और पूरक का काम करती है। इसे निम्न शब्दो मे भली प्रकार प्रकट किया गया है, "सडके किसानो की जोतो को बाजारो और पास के स्टेशनो से सयुक्त करती है। इसके विपरीत रेलवे उत्पादन-क्षेत्र और दूर के उपभोक्ताओ के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है तथा नगर के उत्पादको और हल, कृत्रिम खाद और कपडा खरीदने वाले किसानो को मिलाती है। अच्छी और पर्याप्त सडको के बिना कोई भी रेलवे परिवहन के लिए पर्याप्त सामग्री इकट्ठी नही कर सकती। इसके विपरीत सबसे अच्छी सडके भी फसल का उत्पादन करने वालो को उपभोक्ताओ के सम्पर्क मे नही ला सकती।'' इसलिए यह सोचना कि रेलवे मे लगी लगभग १२२९ करोड रुपये की पूंजी को सडको के प्रसार

१. कृषि-आयोग रिपोर्ट, पैरा ३१२।

से हानि पहुँचेगी, बिलकुल भ्रामक है। यह ठीक है कि रेलवे और सड़को के बीच थोड़ी-सी प्रतिद्वन्द्विता रहेगी, इसे बिलकुल समाप्त नही किया जा सकता। यह बात बड़े नगरो के समीप और उपनगरो के लिए भी उतनी ही सच है, जितनी देश के अन्य भागो के लिए जहाँ रेलवे और मोटरे समानान्तर पर चलती हैं, जैसे अहमदनगर और पूना के बीच। रेलवे की सामान्य नीति सड़क-परिवहन से अधिक सुविधा देना तथा मोटरो द्वारा ढोये गए माल और व्यापार का भी पूरा लाभ उठाना है। मोटरें तभी चालू की जाती है जब किसी-न-किसी प्रकार जनता की मांग रेलो द्वारा पूरी नही हो पाती। जनता के दृष्टिकोण से यह प्रतिस्पर्धा लाभदायक ही सिद्ध हुई है, क्योंकि इसने रेलवे को जनता की सुविधाओं का अधिक ध्यान रखने के लिए बाध्य किया है।

२४. सड़कों की प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए अपनाये गए उपाय—सड़क की प्रतिस्पर्धा कम करने के लिए रेलवे ने निम्नलिखित तरीके अपनाए हैं—रेलवे आम्नीबस सेवाएँ, सन्तरी कोचेज, शटल ट्रेनें, टाइम टेबल मे परिवर्तन, सस्ते वापसी टिकट, तृतीय श्रेणी के मौसमी और ज़ोन टिकट, जारातों के लिए रिआयती दर, कम दर पर स्पेशल ट्रेने, रेलवे की सेवाओ का प्रचार तथा अन्य सुविधाएँ।[1] वेजवुड-समिति ने इस प्रकार के अनेक तरीके बताए जिनसे सड़को की प्रतिद्वन्द्विता को कम किया जा सकता है।[2] जहाँ तक पैसेंजर ट्रेनो का सवाल है, सरकार न तेज चलने वाली पैसेंजर ट्रेने, ट्रेनो का एक-दूसरे मे मेल, अधिक अच्छी सेवाएँ और नीचे दर्जे के यात्रियो को अधिक सुविधाएँ देना पसन्द किया। उन्होने सड़को की प्रतिस्पर्धा कम करन के लिए किराये को एक साथ कम करने का विरोध किया। किराये किसी स्थान-विशेष पर जनता को रेलो के प्रति आकर्षित करने के लिए कम किये जा सकते है या वहाँ कम किये जा सकते है जहाँ यह भय है कि अन्य सवारियाँ रेलो से विमुख होकर किसी अन्य परिवहन की ओर चली जायेंगी। भारतीय रेलो की बुकिंग एजेंसी द्वारा यातायात के विकास का प्रयास करना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि इधर वेजवुड-समिति की सिफारिशो के फलस्वरूप रेलवे प्रशासन का व्यावसायिक पक्ष पर्याप्त सुदृढ कर दिया गया है। जहाँ तक माल के यातायात का सवाल है, इस समिति ने तेज़ मालगाड़ियाँ, माल का जल्दी उतारना-चढ़ाना, लिखा पढ़ी की विधि को सरल बनाना, एकत्र करने और छोड़ने की सेवाओ मे विकास, कन्टेनर और रेलवे रेफ्रिजरेटर ट्रकों का प्रयोग आदि के सुझाव दिये।

२५ परिवहन सयोजन-नीति—१९३२-३३ मे रेलवे और सड़को की प्रतिद्वन्द्विता की जाँच करने के लिए नियुक्त अफसरो की एक छोटी-सी समिति की जाँच का फल थी। व दोनो अफसर भारत सरकार के सडक इञ्जीनियर सर के० जी० मिचेल और एन०

१. रिपोर्ट आफ दि रेलवे बोर्ड आन इण्डियन रेलवेज (१९३९-४०), पैरा ६२-४।
२. भारत सरकार द्वारा वेजवुड-रिपोर्ट की सिफारिशों पर किये गए काम के विशेष विवरण के लिए देखिए, रेलवे बजट (१९२८-३९), पैरा ८-१० और (१९३९-४०), पैरा ९-१७।

एच० कर्कनस रेलवे बोर्ड मे विशेष अधिकारी थे। इसमे प्रतिद्वन्द्विता को उचित बनाने के लिए मोटर परिवहन पर और अधिक नियन्त्रण करने का सुझाव दिया गया।[1] १६३३ मे हुए रेल-सडक सम्मेलन मे विभिन्न प्रकार के परिवहन के सयोजन से सम्बन्धित कई प्रस्ताव पास किये गए ताकि इनकी प्रतिद्वन्द्विता घट जाए। अन्य तरीको मे सम्मेलन ने रेलवे द्वारा चलाई जाने वाली बस-सर्विस पर से कानूनी प्रतिबन्ध हटाने का सुझाव दिया। सडक परिवहन सेवाओ को, ग्रामीण सेवाओ के विकास की दृष्टि मे रखकर, एकाधिकार दे दिया जाए तथा केन्द्र और प्रान्तो मे सयोजन का काम सरल करने के लिए सस्थाएँ स्थापित की जाएँ। परिवहन-मन्त्री की अध्यक्षता मे एक परिवहन परामर्शदात्री समिति की स्थापना हुई (१६३५)। इसका काम रेल, सडक तथा परिवहन के अन्य माध्यमो को सयोजित कर सडको के सम्बन्ध मे ऐसी नीति प्रस्तुत करना था जो रेल, सडक तथा अन्य परिवहन-साधनो के विकास के लिए प्रान्तो द्वारा अपनाई जाए। यह उद्देश्य देश के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।[2] सयोजन नीति का अनुसरण १६३७ मे सचार-विभाग की स्थापना द्वारा सरल हो गया। इस नये विभाग ने १६४७ से रेलवे, पोस्टर, तार, वायुयान, सूचना-प्रसार आदि का काम सँभाला।

२६ रेल-सडक-सयोजन पर वेजवुड-समिति और उसके बाद—वेजवुड-समिति ने बताया कि प्रान्तीय सरकारो का सडक-परिवहन का नियमन अपर्याप्त और अस्त-व्यस्त था। प्रान्तीय सरकारो द्वारा अनुसरण की जाने वाली नीति ने एक असगठित और अकुशल सडक-परिवहन को जन्म दिया, जिसने रेलवे को कमजोर बनाने मे सहायता दी पर स्वय विश्वसनीय सेवाएँ न दे सका। इसके विपरीत केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तीय सरकारो को सडको के निर्माण के लिए दिए गए धन को देने मे देर करके ही केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाया जा सकता था जो (सडक-निर्माण) स्वय जनता की प्राथमिक आवश्यकताओ मे से है। अतएव इस नीति से भारत मे रेलें—अवनत रेलें—और सडकें अपर्याप्त रहेगी।[3] प्रभावपूर्ण सयोजन तो रेलवे और सडक दोनो को जन-सेवाओ के रूप मे चलाने पर ही हो सकता है। समिति इससे सहमत नही थी कि सडको का नियमन केवल रेलवे की सुरक्षा की दृष्टि से ही किया जा रहा था। सडको का उचित नियमन केवल सुरक्षा की दृष्टि से ही आवश्यक नही था, अपितु वह उन (सडको) के विकास को पुष्ट आर्थिक आधारो पर लाने के लिए भी आवश्यक था। रेलवे को एक नये प्रतिद्वन्द्वी की अनुचित और अनार्थिक प्रतिद्वन्द्विता से बचाना भी वाञ्छनीय है। केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित सिद्धान्तो के अनुसार प्रान्तीय सरकारो को सडको का नियमन करना चाहिए, किन्तु सडको के परिवहन पर इस प्रकार के कोई प्रतिबन्ध न लगाने चाहिएँ जिनसे उनके

---

१. देखिए, मिचेल कर्कनेस रिपोर्ट, पृ० २४।

२. सयोजन के विषय पर शिक्षाप्रद विकास के लिए देखिए, एम० के० गुहा, 'प्रोब्लम्स आफ ट्रासपोर्ट को-ऑर्डिनेशन इन इण्डिया'।

३. रिपोर्ट, पैरा १२८।

विकास में बाधा पड़े। जन-सुरक्षा को ध्यान में रखकर एक ही प्रकार के नियम बसों-लारियों दोनों के लिए लागू किये जाने चाहिएँ। परिवहन की अनावश्यक (अधिक) व्यवस्था और दुर्विनरण से बचने के लिए जनता की आवश्यकताओं के अनुसार लाइसेंस दिए जाने चाहिए। टाइम-टेबल और किराया निश्चित होना चाहिए तथा यात्रियों को ले जाने वाली सेवाओं का मार्ग अनुज्ञा (लाइसेंस) द्वारा नियमित होना चाहिए। समिति ने माल ढोने वाली गाड़ियों की प्रादेशिक अनुज्ञा-प्रणाली (रीजनल लाइसेंसिंग) की सिफारिश की और भविष्य में वस्तुओं के भाड़े को नियन्त्रित करने के लिए वैधानिक व्यवस्था का सुझाव रखा। व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों ही लारियों के लिए एक-से ही नियम लागू किये जाने चाहिएँ। प्रान्तीय नियन्त्रण को कार्यान्वित करने के लिए पुलिस की शक्ति और नियन्त्रण को सुदृढ़ बनाना होगा। प्रान्तों को मोटरगाड़ियों की कर-सम्बन्धी नीति में एकता लानी चाहिए।

अप्रैल, १९४५ में भारत सरकार ने एक पूरक माँग पेश की ताकि रेलवे समानान्तर सड़कों पर बस कम्पनियों में पूँजी लगा सके, लेकिन यह माँग स्वीकार करने के पहले धारासभा ने सरकार से सड़क और रेलवे के सयोजन के सम्बन्ध में एक स्पष्ट नीति के कथन की माँग की। अतएव सरकार ने जनवरी, १९४६ में एक ह्वाइट पेपर प्रकाशित किया, जिसमें कहा गया कि सरकार का उद्देश्य दोनों प्रकार के परिवहनों का विकास इस प्रकार करना है कि वे प्रतिद्वन्द्वी न होकर पूरक रहें। *जहाँ रेलवे और सड़कें समानान्तर थी और भीषण होड़ की सम्भावना थी, वहाँ सबसे सन्तोषजनक समाधान दोनों पक्षों के आर्थिक हितों का एकीकरण था।* इसलिए एक संयुक्त मोटर बस सेवा प्रारम्भ करने का विचार किया गया जिसमें बसों के वर्तमान मालिक, रेलवे और प्रान्तीय सरकार तीनों का हिस्सा रहे। ये संयुक्त कम्पनियाँ एक संचालक-मण्डल द्वारा प्रशासित होने को थी। इसके लिए प्रबन्धकारक एजेण्ट (मैनेजिंग एजेण्ट) रखने की आवश्यकता नहीं थी। अनेक प्रान्तीय सरकारों ने योजना को कार्यान्वित करने का प्रयास किया, किन्तु ऐसा करने में बहुतों ने निर्दिष्ट साधारण नीति का उल्लंघन किया। केन्द्रीय धारासभा द्वारा सड़क रेल-सयोजन की जाँच करने के लिए नियुक्त की गई समिति ने योजना कार्यान्वित करने में अनेक गलतियाँ देखीं और इस निष्कर्ष पर पहुँची कि जब तक प्रान्तों में लोकप्रिय सरकार न बन जाए तब तक इस प्रकार की कम्पनियाँ बनाने का काम स्थगित कर देना चाहिए।

भारत-सरकार इधर कुछ दिनों से पुन परिवहन के सभी साधनों बल्कि मुख्यतः रेल और सड़क के संयोजन तथा भावी विकास पर विचार कर रही है। परिवहन के क्षेत्र में नियोजित विकास की दृष्टि से इन समस्याओं का विस्तृत परीक्षण सहायक सिद्ध होगा। इस दृष्टि से भारत सरकार ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में मई, १९५९ में एक उच्च-स्तरीय समिति की स्थापना की जो निहित समस्याओं का अध्ययन करके राष्ट्रीय परिवहन-नीति निश्चित करने के लिए सुझाव प्रस्तुत करेगी।

२७. सड़क के मोटर यातायात (ट्रैफिक) का नियमन—१९१४ के अधिनियम के

बाद १९३९ का मोटर विहिकल्स अधिनियम पास हुआ, जिसमे पुराने अधिनियम की त्रुटियो को दूर करने और मोटर-प्रयोग के प्रसार के कारण उत्पन्न नई परिस्थितियो की पूर्ति करने का प्रयास किया गया था।

अधिनियम के दो खास पहलू है—(१) नियमन करने वाला, (२) सयोजन करने वाला। इसकी साधारण योजना थी कि किराये पर या किसी भी प्रकार माल और यात्रियो को ढोने वाली सभी सवारियो का नियन्त्रण रीजनल ट्रासपोर्ट प्राधिकारियो के हाथ मे रहेगा, जोकि प्रान्त के निश्चित भागो के लिए नियुक्त किये जाएँगे तथा अपील सुनने और सयोजन के काम के लिए सारे प्रान्त के लिए एक प्रान्तीय परिवहन-प्राधिकारी होगा। कोई भी व्यक्ति जिसका किसी भी परिवहन कम्पनी से जरा सा भी आर्थिक सम्बन्ध होगा प्राधिकारी के रूप मे नियुक्त नही किया जाएगा और सदस्य की तरह ही रह सकेगा। प्रत्येक गाडी के पास परमिट का होना अनिवार्य है जो कि उस क्षेत्र के अधिकारियो द्वारा दिया जाएगा। परमिट पाने वाले को कुछ शर्तें स्वीकार करनी होगी, जैसे गाडी को अच्छी दशा मे रखना, गति की सीमा को पार न करना, अधिक भीड न करना और ड्राइवरो से बहुत अधिक काम न लेना।[1]

मोटर बसो और टैक्सियो को अनुज्ञा (परमिट) देते समय परिवहन अधिकारी निम्न बातों का ध्यान रखते है—जनता की आवश्यकता और सुविधा, आर्थिक दृष्टि से हानिकारक प्रतिद्वन्द्विता को रोकना तथा उन परिवहनो को बरदाश्त करने के लिए सडकों की उपयुक्तता। जनता के माल के यातायात के सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त है कि शीघ्रता से नष्ट होने वाले पदार्थों का थोडी दूर तक का यातायात सडक के वहन के लिए छोड दिया जाता है, किन्तु लम्बी दूरी का यातायात प्रधानतया रेलवे के लिए रखा जाता है। सडक के परिवहन का आवश्यक नियन्त्रण प्रान्तीय सरकारो के हाथ मे रहता है। यह व्यवस्था की गई है कि मार्ग-सम्बन्धी अनुज्ञा (रूट परमिट) प्राप्त व्यक्ति अनावश्यक होड से सुरक्षा करने के बदले मे नियमित सेवाएँ दें अर्थात् अपना उत्तरदायित्व एक जन सेवा कम्पनी के समान समझे। नियमन प्राधिकारी को सडक यातायात के सम्बन्ध मे उच्चतम और निम्नतम दरें निश्चित करने का अधिकार है।

यह भी व्यवस्था की गई है कि मोटर लाइसेंस समस्त भारत मे वैध होगा। प्रत्येक राज्य अपना कर निश्चित करने के लिए स्वतन्त्र है। नय प्रार्थियो को लाइसेंस लेते समय कुछ शर्तें पूरी करनी होती है।

यद्यपि नवीन अधिनियम की कुछ धाराओ ने विवाद को जन्म दिया है, परन्तु सिद्धान्तत यह विवादहीन है और इसे 'सडक सहिता' (हाईवेज कोड) का नाम ठीक ही दिया गया है। अराजकता से व्यवस्था की ओर बढने, सुरक्षा की विधियो को अपनाने, जनता की सुविधाओ का ध्यान रखने तथा परिवहन की सयोजित पद्धति को अपनाने की आवश्यकता सबको प्रतीत हो रही है।

मद्रास और केरल राज्य मे तीसरे पक्ष के जोखिम की बीमा के सम्बन्ध मे

---

१. ड्राइवरों को काम के ६ घण्टे प्रतिदिन और ५४ घण्टे प्रति सप्ताह दे तथा ५ घण्टे के काम के बाद आधा घण्टा विश्राम मिलना चाहिए।

एकरूपता लाने के लिए १९३९ के मोटर वहीकिल्स अधिनियम में अपेक्षित संशोधन करने के लिए २ मार्च, १९६० में संसद ने एक बिल पास किया।

२८ **भारतीय सडक-विकास-समिति और सडक वित्त**—जैसा कि भारतीय सडक-विकास (जयकर) समिति ने कहा—"भारत का सडक-निर्माण और विकास स्थानीय बोर्डों और स्थानीय सरकारो की आर्थिक क्षमता से बाहर होता जा रहा है और एक ऐसा काम होता जा रहा है जिसमें राष्ट्र को दिलचस्पी लेनी चाहिए। अत केन्द्रीय वित्त से उसका काम करना उचित होगा। केन्द्रीय वित्त को सडको के विकास से केवल रेलवे की प्राप्ति म वृद्धि द्वारा ही लाभ नहीं होता, बल्कि सडको पर चलने वाली मोटरो, मोटर स्पिरिट से प्राप्त चुंगी इत्यादि से भी लाभ होता है, जो (मोटर-यातायात) इस समय शीघ्रता से बढ रहा है। एक सुसन्तुलित मोटर-कर योजना में, पट्रोल कर, गाडियो का कर, किराये पर चलने वाली गाडियो की लाइसेंस-फीस इत्यादि शामिल होने चाहिएँ। इन सबसे होने वाली आमदनी को सडको के विकास पर खर्च करना चाहिए। सडको का पुनर्विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि कुछ स्थानीय सडको को प्रधान (आरटीरियल) सडको के वर्ग में कर दिया जाए ताकि स्थानीय संस्थाएँ उनके भार से मुक्त हो जाएँ और अपना ध्यान सहायक और स्थानीय महत्त्व की सडको के निर्माण और सुरक्षा की ओर लगा सके। सडक-समिति ने बताया कि तमाम दुनिया म यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है कि स्थानीय छोटी-छोटी संस्थाओ पर प्रधान सडको के निर्माण और सुरक्षा का भार छोडना न्यायसगत नहीं है। स्थानीय संस्थाओ को प्रान्तो से और अधिक आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। यदि सडक-समिति की सिफारिशें अपनाई जाती है तो उससे गाँवो म सडके बनाने के काम में परोक्ष रूप से सहायता मिलेगी, क्योकि इस प्रकार स्थानीय और प्रान्तीय धन जो बडी-बडी सडको की देखरेख और निर्माण म प्रयुक्त होना है, इस काम से बच जाएगा। सडक-समिति ने यह भी सुझाव रखा कि रेलवे को भी अपनी सहायक सडको के निर्माण और देखरेख की जिम्मेदारी ग्रहण करनी चाहिए। समिति ने सडको पर किसी प्रकार की चुंगी (सिवाय पुलो के जहाँ नदियो को पार करने के लिए नावो के स्थान पर विशेष सेवा की जाती है) को सडको के निर्माण की प्रगति म बाधक और तेज परिवहन के विकास म अनुचित रुकावट माना।

कृषि-आयोग के मत मे प्रचलित वित्त पर निर्भर न रहकर यदि सडको के विकास के लिए ऋण लिया जाए तो उनके विकास म सरलता और शीघ्रता होगी। सडको और उनसे सम्बन्धित काम के अर्ध-स्थायी स्वभाव को देखते हुए उनका विचार था कि ऋण को चुकता करने के लिए वार्षिक धन प्राप्त के साधनो की सीमा के बाहर न होगा।[1] सडक समिति का यह मत था कि ऋण किसी योजना के स्थायी भागो, जैसे पुलो के निर्माण, के लिए खर्च करना चाहिए, क्योकि पुल का जीवन निश्चित रूप से मालूम किया जा सकता है तथा ऋण चुकाने के लिए आवश्यक कोष को

[1] कृषि-आयोग-रिपोर्ट, पैरा ३०६।

गणना सरलता से की जा सकती है तथा पुल की सुरक्षा का व्यय भी अधिक नही होता। १९३३ के रेल-सडक-सम्मेलन मे सुरक्षा के साधनो के अन्दर ऋण लिये धन से प्रधान और सहायक सडकों के विकास की सम्भावनाओ की परीक्षा के लिए एक विस्तृत योजना बनाने की सिफारिश की। भारतीय सडक और परिवहन-विकास-संस्था लि० की बारहवी बैठक (१९४०) मे सडको के निर्माण और रक्षा के लिए उचित आर्थिक व्यवस्था से युक्त एक नयी सडक नीति का समर्थन किया, जबकि रेलें ऋण लिये गए धन से बनायी गई थी और सडको का निर्माण आगम (रेवेन्यू) से हुआ था, अतएव ऋण लिये हुए धन का प्रयोग किये बिना सडको के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था अव्यवहार्य है।

२९ नवीन सडक-नीति—सडक समिति की खास सिफारिशो के आधार पर मार्च, १९२९ मे भारतीय वित्त अधिनियम ने मोटर स्पिरिट पर ४ आने के स्थान पर ६ आने प्रति गेलन उत्पादन-कर लगा दिया (इससे १९२९-३० मे ९४ लाख रुपये मिले)। सर बी० एन० मिश्रा ने धारासभा मे एक प्रस्ताव रखा (११ सितम्बर, १९२९), जिसका आधार सडक समिति के पैरा ७०-७९ मे की गई सिफारिशो के विवाद थे। इसकी प्रधान बाते ये थी—(१) सडक के कार्यक्रम को जारी रखने का प्रयत्न किया जाए। मोटर स्पिरिट पर कम-से-कम पाँच वर्ष तक कर होना चाहिए, (२) पाच वर्ष तक इस अधिक कर की आय को सडको के विकास पर खर्च किया जाए। एक अलग रोड-विकास-खाता खोल दिया जाए और उसका बाकी रुपया वित्तीय वर्ष के अन्त मे कालातीत न माना जाए, (३) वार्षिक अनुदान को इस प्रकार विभाजित किया जाए—(क) भारत सरकार दो वर्ष तक १० प्रतिशत अपने पास सुरक्षित रखती, उसके बाद फिर विचार किया जाता। इस सुरक्षित धन मे से आवश्यकता पडने पर विशेष अनुदान दिये जाते। ये विशेष अनुदान उन परिस्थितियो मे दिये जाते जबकि कोई योजना स्थानीय सस्थाओ की आर्थिक शक्ति के बाहर होती या दो प्रान्तो की सीमाओं पर पडने के कारण किसी विशेष प्रान्त का काम न होती या प्रान्तीय या केन्द्रीय सीमाओ पर पुलो के निर्माण से सम्बन्धित होती। (ख) शेष मे से (१) पिछले वर्ष मे भारत मे उपभोग किये गए कुल पेट्रोल का जितना हिस्सा प्रान्तो म उपयुक्त होता उसी हिसाब से उसे धन दिया जाता, (२) बाकी जो छोटे प्रान्तो, रियासतो या प्रशासनो के उपभोग का प्रतिनिधित्व करता, वह भारत सरकार को दे दिया जाता। (३) सडको की स्थायी समिति की सलाह पर गवर्नर जनरल कौंसिल द्वारा स्वीकृत इन योजनाओ पर खर्च करने के लिए प्रान्तो को अनुदान दिया जाता। (४) प्रतिवर्ष सडको के लिए एक स्थायी समिति (स्टैंडिंग कमेटी) का निर्माण किया जाए, जिसमे भारतीय विधान-मण्डल के दोनो ससदो के कुछ निर्वाचित और कुछ मनोनीत सदस्य होते। इसका सभापति गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति का सडको से सम्बन्ध रखने वाला सदस्य होता। इसका काम गवर्नर जनरल को सडको से सम्बन्धित हर एक मामले पर परामर्श देना था, जिसमे केन्द्रीय सडक अनुसधान और सामयिक सडक सम्मेलनो पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही भी

शामिल है। (५) वार्षिक अनुदान से किये जाने वाले सब व्यय या एकत्रित शेष धन स्वीकृति के लिए वित्त-उप-समिति के समक्ष रखना होता था, जिसमें (वित्त-उप-समिति) स्थायी समिति का सभापति और वे सदस्य होते थे जो धारासभा के भी सदस्य थे।

१९३० के दिल्ली के अधिवेशन मे ५ वर्ष के लिए इसे स्वीकार कर लिया गया।

३०. सडक-खाते की आर्थिक दशा—पेट्रोल पर लगाये गए अधिभार के साथ ही सडक के लिए प्राप्य पेट्रोल-कर का भाग १ अक्तूबर, १९३१ से २ आना प्रति गेलन से २½ आना प्रति गेलन हो गया।

३१ सडक-सम्बन्धी नवीन प्रस्ताव—(१) सडक-खाते का ५ वर्ष का परीक्षण-काल १९३३-३४ मे बीत गया। १९३४ मे केन्द्रीय विधानमण्डल ने एक नया प्रस्ताव अपनाया जिससे सडकखाता स्थायी हो गया। इससे भारत सरकार का सुरक्षित धनकोष १०% से १५% हो गया ताकि वह अपेक्षाकृत अविकसित प्रान्तो को उदारता से धन दे सके। इसमें से सडको के विकास, निर्माण एव सुरक्षित रखने के लिए ऋण भी दिया जा सकता था।

(२) परिवहन परामर्शदात्री समिति के सुझाव पर सडक कोष से अनुदान के वितरण पर केन्द्रीय सभा द्वारा एक नया प्रस्ताव पास किया गया (फरवरी, १९३७)। इसके द्वारा निम्न परिवर्तन किये गए—(क) गवर्नरो के प्रान्तो को दिये जाने वाले धन को गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल तब तक अपने पास रख सकता था जब तक कि प्रान्तो द्वारा उस धन का तुरन्त उपयोग करने के लिए उसकी माँग न की जाती। (ख) यदि कोई प्रान्त बिना समुचित कारण के अपने धन का उपयोग सडक-विकास के लिए समय से न कर पाता तो केन्द्र को अधिकार होता कि वह सम्पूर्ण धनराशि या उसका एक अश देने से इन्कार कर दे। (ग) लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल को यह अधिकार था कि यदि कोई प्रान्त उसके द्वारा बनाये गए मोटरो के नियमन और नियन्त्रण से सम्बन्धित नियमो को कार्यान्वित करने मे चूकता तो वह उसका भाग न दे। प्रान्तो ने इसे अनुचित हस्तक्षेप माना और कहा कि यह रेलवे की आय-व्ययक स्थिति को दृढ रखने का एक तरीका था। केन्द्रीय सरकार ने कहा कि इसका उद्देश्य एक सतुलित सचार व्यवस्था स्थापित करना था। (घ) शीघ्र ही मिलने वाली प्रान्तीय स्वतन्त्रता को दृष्टि मे रखकर सडक-कोष मे सडकों का कर्ज चुकाए जाने की नीति बन्द कर दी गई।

मार्च, १९५६ के अन्त तक केन्द्रीय सडक कोष की कुल प्राप्ति ५७ ४३ करोड रु० तथा सुरक्षित कोष की कुल प्राप्ति ११ करोड रु० थी। १९५६ के प्रारम्भ मे कोष मे प्राप्त होनेवाला वार्षिक आगम ५½ करोड रु० था। इसमे एक करोड रु० का वार्षिक विशेष सुरक्षित कोष भी सम्मिलित था। केन्द्रीय सडक-कोष स्थापना के १५ वर्ष बाद तक यही कोष नयी सडको के निर्माण तथा विद्यमान सडको के सुधार और नवीकरण के लिए पर्याप्त था, किन्तु अब स्थिति मे बहुत परिवर्तन हो गया है। १९५६ मे यह कोष मोटर-परिवहन पर लगे कर से प्राप्त कुल आय का केवल ६ प्रतिशत तथा द्वितीय

योजना मे नयी सडको के कुल व्यय का १० प्रतिशत था।

नागपुर योजना—दिसम्बर, १९४३ में विभिन्न राज्यो के मुख्य अभियन्ताओं (चीफ इंजीनियर) का सम्मेलन नागपुर मे हुआ। इस सम्मेलन ने देश की न्यूनतम आवश्यकताओं के आधार पर एक सडक-योजना बनाई। इस योजना का लक्ष्य यह था कि सुविकसित कृषि क्षेत्र का कोई गाँव पक्की सडक से पाँच मील से अधिक दूर न हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सडको की मील दूरी मे ५० प्रतिशत वृद्धि अपेक्षित थी।

नयी सडक योजना—१९४७ मे विभाजन के पश्चात् नागपुर-योजना के लक्ष्यो म कुछ परिवर्तन करना पडा। अब नागपुर योजना लगभग पूरी हो चुकी है। भारत सरकार के कहने से मुख्य अभियन्ताओ ने २० वर्षीय नयी योजना बनाई। मोटे तौर पर योजना की रूपरेखा के अनुसार सडको की लम्बाई (१९६१ की) ३ ७९ लाख मील से बढकर १९८१ मे ६ ५७ लाख मील हो जाएगी। योजना के अनुसार प्रति वर्गमील मे ० ५२ मील सडक हो जाएगी जबकि इस समय प्रति वर्ग मील मे ० २६ मील सडक है। योजना के पूरे होने पर कृषि क्षेत्र के किसी गाँव की पक्की सडक से दूरी ५ मील से घटकर ३ मील और कच्ची सडक से दूरी १½ मील हो जाएगी। अर्ध विकसित क्षेत्र मे यह दूरी पक्की सडक से ८ मील तथा किसी भी सडक से ३ मील हो जाएगी। अविकसित और कृषि के अयोग्य क्षेत्र म स्थित किसी भी गाँव की दूरी पक्की सडक से १२ मील तथा किसी भी सडक से ५ मील होगी। इस योजना की अनुमानित लागत ४७०० करोड रु० है तथा इसे चार पचवर्षीय योजनाओ मे बाँटा गया है। इन चार योजनाओ म बीच लागत का विवरण इस प्रकार है

१९६१-६२ स १९६५-६६	४७० करोड रु०
१९६६-६७ से १९७०-७१	९४० ,, ,,
१९७१-७२ से १९७५-७६	१,४१० ,, ,,
१९७६-७७ से १९८०-८१	१,८८० ,, ,,

पचवर्षीय योजनाएं और सडक परिवहन—प्रथम पचवर्षीय योजना मे १५६ करोड रु० की व्यवस्था की गई थी। पाँच वर्ष की अवधि मे कुल ६८,१५६ मील की नयी सडके बनाई गई, जिनमे २४ ०७१ मील की पक्की (मेटल्ड) तथा ४४,०८८ मील की कच्ची सडकें थी। इसके अतिरिक्त १७,३११ मील की वर्तमान सडको मे सुधार करके उन्हे अच्छे स्तर की सडके बनाया गया।

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे सडक विकास के लिए २९६ करोड रुपय निर्धारित किये गए। मार्च, १९५९ तक सडक विकास की प्रगति आसाम, बम्बई, केरल, उ० प्र० और बगाल को छोडकर अन्य स्थानो मे धीमी रही है। १९५६-५९ की अवधि मे कुल १४० करोड रु० व्यय हुआ है। मार्च, १९६१ तक लगभग २५० करोड रु० व्यय होन का अनुमान है। तृतीय पचवर्षीय योजना म प्रस्तावित व्यय भी २५० करोड रु० है।[1]

१ देखिए, थर्ड फाइव इअर प्लान, ड्राफ्ट आउट लाइन, पृ० २४८।

परिवहन के सुनियोजित विकास तथा विभिन्न प्रकार के परिवहन-साधनो तथा केन्द्र और राज्य की परिवहन-नीतियो मे समन्वय स्थापित करने के लिए तीन परिवहन निकायो की स्थापना का निर्णय किया है। परिवहन-विकास-परिषद (ट्रांसपोर्ट डिवेलपमेंट काउन्सिल) व सडक और अन्तर्देशीय जल परिवहन परामर्श समिति (द रोड एण्ड इनलैंड ट्रान्सपोर्ट एडवाइजरी कमेटी) तथा केन्द्रीय परिवहन सयोजन समिति (सेन्ट्रल ट्रांसपोर्ट कोआर्डिनेशन कमेटी) प्रथम एक उच्च स्तरीय निकाय होगा, जिसके सदस्य राज्य के परिवहन मन्त्री, संघीय क्षेत्र (यूनियन टेरिटरी) के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर और मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नर) तथा सम्बन्धित मन्त्रालयो के केन्द्रीय मन्त्री आदि होंगे। इसका कार्य सरकार को सडक, सडक-परिवहन तथा अन्तर्देशीय जिला परिवहन के सम्बन्ध मे परामर्श देना होगा।

राष्ट्र की उन्नति के लिए सडके बनाने का कार्य एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। १९५०-५१ मे देश मे १,५६,००० किलोमीटर पक्की सडकें तथा २,४२,००० किलोमीटर सडकें थी। पहली पचवर्षीय योजना मे सडको के बनाने मे १३५ करोड रुपया व्यय हुआ। दूसरी पचवर्षीय योजना मे देश की प्रगति तथा रेल के यातायात के बोझ को कम करने के लिए २४५ करोड रुपया सडको इत्यादि बनाने के लिए रखा गया। तीसरी पचवर्षीय योजना मे इस कार्य पर और भी जोर दिया गया और यह आशा की गई कि १९६५-६६ मे पक्की सडके २,७०,००० किलोमीटर तक पहुँच जाएँगी। इसी प्रकार बसे तथा ट्रको की सख्या को भी बढाने का प्रयत्न किया गया। १९५०-५१ मे व्यापार के उपयोग मे आने वाली गाडियो की सख्या १,१५,००० (बसें तथा ट्रक) थी (१९६५-६६) मे २,५५,००० तथा (१९७०-७१) मे ४,७०,००० हो जाएगी तथा बसो की सख्या १९६५-६६ मे ८०,००० से बढकर १,२६,००० हो जाएगी। तीसरी योजना मे यातायात के राष्ट्रीयकरण करने के लिए २८ करोड रुपया रखा गया है, तथा इसके अतिरिक्त १० करोड रुपया रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन (Road Transport Corporation), बनाने के लिए रेलवे भी लगायेगी। इस प्रकार चौथी पचवर्षीय योजना मे यात्रियो की सेवाओ का ४० प्रतिशत भाग राष्ट्रीयकरण किये हुए परिवहन के हिस्से मे आयेगा जबकि तीसरी योजना मे ३३ प्रतिशत है।

जल-परिवहन

२२. (१) *अन्तर्देशीय जल-पथ*—जल परिवहन का विवरण स्वभावत दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) अन्तर्देशीय परिवहन, (२) सामुद्रिक परिवहन।

भारत मे इगलैण्ड-जैसी नदियाँ, जो स्वाभाविक जल-पथ का काम देती हैं, नही हैं। उत्तर भारतीय और प्रायद्वीप की नदियो का जिक्र करते समय हम इस विषमता की ओर सकेत कर चुके हैं।[1]

प्रायद्वीप की नदियाँ इस प्रकार नौगम्य नही हैं। मौसम के अनुसार कभी तो वे

१. खण्ड १, अध्याय २, सेक्शन १०।

तूफानी हो जाती हैं और कभी केवल जल की पतली रेखा मात्र रह जाती है और इस प्रकार इनमे नावे चलाना प्राय असम्भव-सा हो जाता है। नर्मदा और ताप्ती-जैसी कुछ नदियो की पथरीली सतह और तेज़ धार नौगम्यता के लिए जटिल समस्या बन जाती है। महानदी, गोदावरी और कृष्णा अवश्य ऊपर तक नौगम्य हैं, किन्तु उनसे यातायात कम हो है।

जल-पथ की इन सकुचित सुविधाओ के अतिरिक्त किनारे-किनारे कुछ छोटी-छोटी नदियाँ और खाड़ियाँ हैं, जिनका छोटी-मोटी नावो द्वारा उपयोग किया जाता है। लेकिन इस प्रकार के क्षेत्र के बाहर नौका-गमन प्राय डेल्टा और घाटियो तक ही सीमित है।

एक समय नौगम्य नहरो के पक्ष मे बडा आन्दोलन चला था। अध्य कावेरी और गोदावरी नहरो के निर्माता सर आर्थर कॉटन ने नौगम्य नहरो की एक महत्त्वाकाक्षी योजना प्रस्तुत की, जो १८७२ में ससदीय समिति के समक्ष रखी गई। उनके मतानुसार रेलवे की अपेक्षा जल-परिवहन की सुविधाएँ भारत के लिए अधिक उपयुक्त तथा कम खर्चीली है। इसके अतिरिक्त उनसे यह भी लाभ होगा कि इनको सिंचाई के लिए भी प्रयोग मे लाया जा सकता है। खर्च की अधिकता (३०० लाख पौण्ड, के कारण योजना को त्याग देना पड़ा। इसका एक कारण यह भी था कि अँग्रेज़ अपने देश के अनुभव के आधार पर भारत मे नहरो की उपयोगिता भली भाँति नही समझ सके, क्योकि उनके यहाँ रेलवे ही अधिक लाभप्रद सिद्ध हुई थी। रेलवे द्वारा किया गया विरोध भी एक और कारण था।

जब रेलवे से घाटा हो रहा था तो नहरो का निर्माण चाहे सिंचाई के काम के लिए या केवल नौगम्य के लिए ही आकर्षक प्रतीत होता था। औद्योगिक आयोग ने सिफारिश की थी कि भारत सरकार को इस प्रश्न पर ध्यान देना चाहिए और जो भाग रेल और जल-पथ दोनो ही द्वारा सेवित हो वहाँ इनके प्रशासन समन्वय से काम करें तथा जल-पथ ट्रस्ट के निर्माण के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए। समुचित रीति से विकसित जल-पथो से रेलो की भीड कम हो जाएगी और छोटे पैमाने के परिवहन का कार्य भी इनके द्वारा पूरा हो सकेगा। कुछ सिंचाई की नहरो को परिवहन की नहरो मे भी परिवर्तित किया जा सकेगा। लेकिन जब हवा का रुख बदला और रेलवे मे लाभ होने लगा तो उत्साह कुछ ठडा पडने लगा। इस समय नौगम्य नहरे केवल थोडी सी हैं—उदाहरण के लिए पूर्वी तट के समानान्तर मद्रास की बकिंघम नहर। अनेक सिंचाई की नहरें नौगम्य जल-पथ का काम नही दे सकती। दोनो प्रकार की नहरें सरलता से एक मे सयुक्त भी नहीं की जा सकती।

अन्तर्राज्यीय तथा राष्ट्रीय जल-पथो के गमन पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण है तथा केन्द्रीय जल और शक्ति-आयोग जल साधनो के बहु-उद्देश्यीय विकास मे सहायता करता है। श्री वी० के० गोखले की अध्यक्षता मे नियुक्त अन्तर्देशीय जल परिवहन-समिति ने अन्य बातो के अतिरिक्त ये सिफारिशें की हैं कि केन्द्रीय प्राविधिक सगठन तथा एक प्रशिक्षण सस्था की स्थापना की जाए तथा देशी नाव वालो की सहकारी

समितियों को बढ़ावा व नदी-घाटी-योजनाओं में नौकागमन की सुविधाओं का विकास किया जाए। इस समिति की रिपोर्ट को ध्यान में रखते हुए तृतीय पंचवर्षीय योजना में अन्तर्देशीय जल-पथों के विकास के लिए ७.६० करोड़ रु०[1] का व्यय प्रस्तावित है जबकि द्वितीय पंचवर्षीय योजना का अनुमानित व्यय ७५ लाख रु० है। तृतीय योजना में अन्तर्देशीय जल-पथों के सम्बन्ध में कुछ मुख्य बातें अधिक महत्त्वपूर्ण नदियों के सम्बन्ध में जलवर्णनात्मक सर्वेक्षण (हाइड्रोग्राफिक सर्वे) तथा ब्रह्मपुत्र नदी और सुन्दरवन क्षेत्र के लिए निकर्षकों (ड्रेजर) की खरीद आदि है। गंगा, ब्रह्मपुत्र तथा उसकी सहायक नदियों पर जल-परिवहन के विकास को संयोजित करने के लिए गंगा ब्रह्मपुत्र जल-परिवहन परिषद (गंगा ब्रह्मपुत्र वाटर ट्रांसपोर्ट बोर्ड) की स्थापना राज्यीय और केन्द्रीय सरकारों के ऐच्छिक सहयोग से १९५२ में हुई। गंगा-ब्रह्मपुत्र क्षेत्र में प्रमुख जल-पथों का निकर्षण (ड्रेजिंग) तथा चुने हुए स्थानों में अन्तर्देशीय बन्दरगाहों का विकास आदि इसके नियोजित कार्यक्रम में सम्मिलित हैं। तीसरी पंचवर्षीय योजना में प्रादेशिक सरकारों ने भी जल परिवहन परिषद पर १.४८ करोड़ रुपया खर्च करना निश्चित किया। इस समय देश में ८ हजार किलोमीटर दरियाई जहाज या किश्तियाँ चलाई जा सकती हैं। इनमें से ३ हजार मशीनों से चलनेवाले हैं और ६ हजार किश्तियाँ हैं।

३३ (२) सामुद्रिक परिवहन—जहाँ तक बाह्य जल परिवहन का प्रश्न है यद्यपि भारत की इंगलैण्ड से तुलना न हो सकेगी क्योंकि यहाँ पर न तो इंगलैण्ड जैसा कटा-फटा समुद्र-तट है और न प्राकृतिक बन्दरगाह ही हैं, फिर भी उसकी सामुद्रिक स्थिति काफी महत्वपूर्ण है। जैसा एम० एन० हाजी ने कहा है कि "एक देश, जो कि प्राचीन विश्व के महाद्वीपों में झुमके की भाँति जड़ा है, जिसका समुद्र-तट ४००० मील लम्बा है और जो अनेक प्रकार की वस्तुओं के निर्माण की खान है जिन्हें अन्यत्र नहीं पैदा किया जा सकता, प्रकृति द्वारा एक नाविक देश होने के लिए ही बना है। इसके बन्दरगाह संख्या और आकार में इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त हैं।"[2]

शायद यहाँ अनिरंजित चित्र खींचा गया है। यह चित्र भारत में प्राकृतिक बन्दरगाहों की कमी को उचित रूप से हमारे सामने नहीं रखता, फिर भी अपनी भौगोलिक स्थिति और विस्तृत समुद्र के कारण वह दुनिया का एक मुख्य जल-परिवाहक देश हो सकता है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत को एक नवीन देश कहा जा सकता था। "जलयानों का निर्माण ऐसी अच्छी दशा में था कि भारत के बने जहाज अंग्रेजी जहाजों के संरक्षण में और उनके साथ टेम्स तक जाते थे।" १८०० में गवर्नर जनरल ने लीडेनहाल स्ट्रीट में अपने स्वामियों को सूचना देते हुए कहा कि 'कलकत्ता के बन्दरगाह में भारत-निर्मित १०,००० टन के जहाज हैं जो इंगलैण्ड तक माल ले जाने योग्य हैं। सागवान की लकड़ी के बने बम्बई के जहाज इंगलैण्ड के

---

१. देखिए, थर्ड फाइव इयर प्लान—ए ड्राफ्ट आउट लाइन, पृ० २५१।
२. देखिए, इकनॉमिक्स ऑफ शिपिंग, पृ० ३६५-६।

योशम की लकड़ी के जहाज से कही अच्छे थे।"[1]

अकबर की मृत्यु के समय की दशा का वर्णन करते हुए मोरलैण्ड भी कहता है कि भारतीय समुद्र का अधिकाश वाणिज्य भारत मे बने जहाजो द्वारा होता था। भारत के यात्री-जहाज पुर्तगालियो द्वारा बनाये गए जहाजो को छोडकर तत्कालीन सभी यूरोपीय देशो से बडे थे।[2]

३४. जलयान के सम्बन्ध मे भारतीय साहस की बाधाएँ—*ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी ने, जो कि एक ब्रिटिश कम्पनी है, प्राय: १०० वर्ष से अधिक से देश* का तटीय एवं समुद्र-पार व्यापार अपने कब्जे मे कर रखा है। भारतीय और अंग्रेजी कम्पनियो ने दर-युद्ध (रेट वार) से बचने के लिए और व्यापार को अपने बीच बाँट रखने की दृष्टि से अपने को एक सम्मेलन मे सगठित कर लिया है। चूँकि यह सम्मेलन विदेशी हितो से अनुशासित है, इसका उद्देश्य देशी जलयानो को दबाने का ही रहता है। जहाजो के भारतीय मालिकों की दो शिकायतें थी—(१) विलम्बित छूट-प्रथा (डेफर्ड रिबेट सिस्टम),[3] (२) दर-युद्ध (रेट वार)।[4]

३५. विलम्बित छूट-व्यवस्था, दर-युद्ध इत्यादि—इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है, 'परिवहन कम्पनियाँ जहाज से माल भेजने वालो के लिए एक परिपत्र जारी करती है कि यदि उन्होने एक निश्चित समय के अन्त तक (प्राय ४ या ६ महीने तक) कम्पनी के अतिरिक्त किसी अन्य जहाज से सामान नही भेजा है तो कम्पनी उन्हे इसके बदले म उनके इस अवधि के कुल भाडे मे कुल का कुछ हिस्सा (प्राय १०%) रियायत के तौर पर उनके नाम लिख देगी और यदि इसके बाद कुछ और समय तक (प्राय ४ या ६ महीने तक) वे सम्मेलन (कान्फ्रेन्स) के जहाजो से ही सामान भेजते रहे, तो छूट की यह रकम उन्हे दे दी जाएगी। इस प्रकार दी गई धन-राशि को विलम्बित छूट कहते है।[5]

इसमें कोई आश्चर्य नही कि विगत ४० वर्षो से भारतीयों द्वारा इस उद्योग मे प्रवेश पाने के प्राय सभी प्रयत्न विफल रहे। जितनी भी कम्पनियाँ बनी प्राय सब विलीन हो गई। इसके मार्ग मे दूसरी बाधा यह थी कि यूरोपीय बीमा-कम्पनियो ने भारतीय कम्पनियो के साथ भेदपूर्ण व्यवहार किया और जो जहाज लन्दन मे भी प्रथम श्रेणी के समझे जाते थे उनको भी वे द्वितीय श्रेणी मे इसलिए रख देते थे क्योंकि

---

१. डब्ल्यू० डिगवी, प्रासपेरस ब्रिटिश इण्डिया, पृ० ८५-८६।

२. जे० इ० वेस्टेलीनो का लेख, प्लानिंग इन ट्रान्सपोर्ट, इस्टर्न इक्नामिस्ट, "भारतवासियों ने नये समुद्रों का अन्वेषण चाहे भले ही न किया हो किन्तु उनका सामुद्रिक ज्ञान, दिशा-निर्देशक यन्त्रों की सूक्ष्मता एव जलयान-रचना वास्कोडिगामा को चकित करने वाली थी।"

३. इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिए, एम० एन० हाजी, 'इक्नामिक्स आफ शिपिंग', अध्याय ५।

४. १९३८-३९ में बम्बई स्टीम नेविगेशन कम्पनी और भारतीय कम्पनियों (जो कि सिन्धिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी द्वारा नियन्त्रित थी) के बीच दर-युद्ध चला था।

५. हाजी, पूर्व उद्धृत, पृ० १२६।

उनके मालिक भारतीय थे।

विदेशी जहाजी कम्पनियों के विरुद्ध अन्य शिकायतें निम्न हैं—यात्रियों की सुविधाओं का कम ध्यान रखना, ऊँचे पदों पर केवल यूरोपियनों की नियुक्ति और उच्च पदों, जैसे इंजीनियर आदि, के लिए भारतीयों को काम न सिखाना आदि।

३६. व्यापारिक जहाजरानी समिति (१६२३)—इस समिति की नियुक्ति फरवरी, १६२३ में हुई। इसका कार्य भारतीय जहाजरानी और जलयान-निर्माण उद्योग के विकास के प्रश्न पर विचार करना था। समिति के विशेष सुझाव निम्न हैं—

(१) भारतीय व्यापारिक जहाजरानी के लिए अनिवार्य अफसरों की प्रशिक्षा-हेतु सरकार द्वारा बम्बई में जलयान-प्रशिक्षण की स्थापना। (२) सामुद्रिक इन्जीनियरों की ट्रेनिंग के लिए इन्जीनियरिंग कॉलेजों में सुविधाएँ देना तथा सामुद्रिक अनुभवों की सुविधाएँ देना। (३) तटीय व्यापार लाइसेंस-प्राप्त जहाजों के लिए सुरक्षित रखना। (४) भारतीय अधिकारी और कर्मचारी वर्ग द्वारा तटीय व्यापार में पर्याप्त दक्षता दिखाने पर विदेशी समुद्र-पार व्यापार के लिए भारतीय कम्पनियों को अनुदान देने के प्रश्न पर विचार करना। (५) कलकत्ता को स्वतःचालित जलयानों के निर्माण का केन्द्र बनाना, (६) भारतीय कम्पनियों द्वारा जलयान निर्माण प्रांगण (शिप बिल्डिंग यार्ड) की स्थापना में सरकार का सहायता देना तथा (७) प्रारम्भ करने के लिए विदेशों से विशेषज्ञों की सहायता लेना।

३७. तटीय यातायात को भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित करने का बिल—उपर्युक्त पहली सिफारिश के फलस्वरूप प्रशिक्षण जलयान 'डफरिन' की स्थापना के अतिरिक्त सरकार समिति के अन्य किसी भी सुझाव को कार्यान्वित न कर सकी, अतः सितम्बर, १६२८ में मि० हाजी ने धारासभा में तटीय यातायात सुरक्षण के लिए एक बिल पेश किया। इसमें कुल हिस्सों का ७५% भारतीयों के हाथ में निहित करने की व्यवस्था थी।

गत कई वर्षों से जनता द्वारा की गई माँग के फलस्वरूप १६५० में भारत का तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित कर दिया गया। १ जनवरी, १६५१ को नये (भारतीय) तटीय सम्मेलन ने कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस सम्मेलन में अधिकांशतः भारतीय जहाजरानी कम्पनियाँ हैं। दो ब्रिटिश जहाजरानी कम्पनियाँ भी इस सम्मेलन की सदस्य हैं।

३८. विलम्बित छूट-व्यवस्था की समाप्ति-सम्बन्धी बिल—मि० हाजी ने विलम्बित छूट-व्यवस्था के उन्मूलन के लिए फरवरी, १६२६ में एक बिल पेश किया, जिसका उद्देश्य तटीय सुरक्षा बिल का पूरा करना था। जबकि सुरक्षा बिल जहाजरानी से होने वाली आय को भारत में रखना चाहता था विलम्बित छूट बिल का उद्देश्य तटीय व्यापार के सुरक्षित हो जाने पर व्यापार का भारतीय जहाजों के बीच समुचित वितरण करना था। इस बिल का उद्देश्य था भारतीय-अभारतीय किसी प्रकार की कम्पनियों के एकाधिकार को समाप्त करना तथा एक नवीन युग का प्रारम्भ करना, जिसमें एकाधिकार का अन्त करके नवीन कम्पनियों के आगमन के पथ को प्रशस्त कर दिया

जाएगा।

१६५१ से नये तटीय सम्मेलन के कार्यारम्भ के बाद अब यह प्रश्न समाप्त हो गया है।

३६. जहाजरानी पुनर्निर्माण नीति उप-समिति—द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर भारत सरकार के योजना-विभाग ने जहाजरानी-नीति-समिति (पॉलिसी कमेटी ऑन शिपिंग) की नियुक्ति की। समिति ने कहा, "द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने के समय भारत के पास गहरे समुद्रों में जाने योग्य १,५०,००० टन (ग्रास) के ३० जहाज थे। युद्धोत्तर-काल में इस स्थिति को तुरन्त सुधारना चाहिए।" तदनन्तर भारत सरकार द्वारा जहाजरानी (शिपिंग) के लिए एक पुनर्निर्माण-नीति-समिति की नियुक्ति हुई। इसने अपनी रिपोर्ट १६४७ (अप्रैल) में प्रस्तुत की। समिति ने जहाजरानी के लिए एक सबल राष्ट्रीय नीति का अनुमोदन किया। इसने १६५४ तक प्राप्त करने के लिए २० लाख टन भारवाहिकता का लक्ष्य रखा, ताकि भारतीय जहाजरानी को (१) सम्पूर्ण तटीय व्यापार, (२) भारत के बर्मा और सीलोन के व्यापार का ७५%, (३) भारत के दूरवर्ती व्यापार का ५०% और (४) पूर्व में धुरी शक्तियों द्वारा खोये गए व्यापार में ३०% प्राप्त हो जाए।[1]

बहुमत रिपोर्ट ने भारतीय जहाजरानी उसे कहा है जो 'भारतीयों द्वारा अधिष्ठित, नियन्त्रित एवं प्रबन्धित' हो। सर ए० एच० गज़नवी के मतानुसार भारतीय जहाजरानी का अभिप्राय उन कम्पनियों से भी है जिनमें कम-से-कम ७०% हिस्से भारतीयों के हैं। इस मत का आधार यह था कि वर्तमान परिस्थिति में अल्प संख्या में विदेशियों का भाग लेना हानिकारक तो है ही नहीं, प्रत्युत लाभदायक ही है।

भारत सरकार ने अपने १२ जुलाई, १६४७ के प्रस्ताव में समिति के विचारों से पूर्ण सहमति व्यक्त की है।

जनवरी, १६४७ में १० करोड रु० की अधिकृत पूँजी से तीन निगमों की स्थापना के निर्णय की घोषणा की गई। ३० मार्च, १६५० को अधिकृत ईस्टर्न शिपिंग कारपोरेशन की रजिस्ट्री १० करोड की पूँजी सहित हुई। १५ अगस्त, १६५६ को यह पूर्णत. सरकार के नियन्त्रण में आ गई। अगस्त, १६५६ के वेस्टर्न शिपिंग कारपोरेशन की स्थापना १० करोड रु० की अधिकृत पूँजी के साथ की गई। १६५७ में सरकार ने भारतीय जहाजरानी की प्रगति-हेतु रुपये के अर्थ-प्रबन्धन का निश्चित साधन उपलब्ध करने के लिए जहाजरानी-विकास-कोष (शिपिंग डिवेलपमेंट फण्ड) की स्थापना के निर्णय की घोषणा की। इस कोष का निर्माण भारत की संचित निधि (कन्सोलिडेटेड फण्ड ऑफ इण्डिया) के अनुदानों से होगा। १६५८-५६ के बजट में इस कोष के प्रति १ करोड रु० अनुदान की व्यवस्था थी। जहाजरानी के क्षेत्र

१. भारतीय जहाजरानी कम्पनियों का एक प्रतिनिधिमण्डल मई, १६४७ को इंगलैंड के लिए रवाना हुआ। इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार और जहाजरानी के हितों से भारतीय जहाजरानी के विकास के सम्बन्ध में वार्तालाप करना था। यह सितम्बर, १६४७ में बिना किसी परिणाम पर पहुँचे लौट आया।

में एक अन्य महत्वपूर्ण घटना परिवहन विभाग मे जहाजरानी-सयोजन-समिति (शिपिंग को-आर्डिनेशन कमेटी) की स्थापना है। यह समिति उपलब्ध भारतीय भारवाहिता (टनेज) के अधिकतम उपयोग की दृष्टि से विभिन्न मत्रालयो तथा अन्य सरकारी सगठनो के बीच अधिक अच्छा सम्पर्क स्थापित करेगी। सरकार को जहाजरानी नीति से सम्बन्धित बातो पर परामर्श देने के लिए राष्ट्रीय जहाजरानी परिषद् (नेशनल शिपिंग बोर्ड) की स्थापना की गई (मार्च, १९५९)।

जहाजरानी पर प्रथम योजना मे १८.७ करोड रु० व्यय किये गए तथा द्वितीय योजना मे उसके अन्त तक ५४ करोड रु० के व्यय का अनुमान है। तृतीय योजना में प्रस्तावित व्यय ५५ करोड रु० है।[1]

राष्ट्रीय जहाजरानी परिषद् ने १९६५-६६ तक १४.२ लाख टन की क्षमता का लक्ष्य रखा है।

अनुमान है कि इस समय भारत के समुद्र-पार व्यापार का ८ या ९ प्रतिशत भारतीय जहाज ही ले जाते हैं।

४०. भारतीय व्यापारिक बेडे की आवश्यकता—जहाजरानी और जहाज बनाने के सम्बन्ध मे भारत के पास पर्याप्त सुविधाएं हैं। ऐसा कहा जाता है कि जापान, सयुक्त राज्य अमरीका और जर्मनी की भाँति सरकारी हस्तक्षेप से थोडे ही दिनो मे एक पर्याप्त व्यापारिक बेडे का निर्माण हो सकता है। इगलैण्ड की भी सामुद्रिक महत्ता और शक्ति का श्रेय बहुत अशो मे नौका-गमन अधिनियमो को है। ये अधिनियम प्राय दो शताब्दियो तक लागू रहे और उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे समाप्त कर दिये गए। एक दृढ राज्य-हस्तक्षेप के अभाव मे भारतीय नाविकता यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियो से होड लेने म असफल रही।

१७ सितम्बर, १९५८ को लोकसभा ने मर्चेन्ट शिपिंग एक्ट, १९५८ पास किया। ३० अक्टूबर, १९५८ को राष्ट्रपति ने अपनी स्वीकृति प्रदान की। इस अधिनियम के अन्तर्गत ही राष्ट्रीय जहाजरानी परिषद् तथा जहाजरानी-विकास-कोष की स्थापना हुई है। इनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार को किसी भारतीय जहाज को किराये पर लेने की दरें निश्चित करने तथा तटीय व्यापार मे सलग्न जहाजो के लिए यात्रियो और व्यापारिक माल लाने-लेजाने की दरें भी निश्चित करने का अधिकार है। केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना कोई व्यक्ति जहाज-सम्बन्धी अपने हिस्से या हित को न हस्तातरित कर सकता है, और न प्राप्त ही कर सकता है। अधिनियम मे यात्रियो के किराये पर अधिकार लगाने की भी व्यवस्था है। इससे प्राप्त आय यात्रियो के कल्याण पर ही व्यय की जाएगी। व्यापारिक बेडा प्रशिक्षण समिति ने १९४९ मे सिफारिश की थी कि एक प्रशिक्षण-परिषद् की स्थापना की जाए। अब व्यापारिक बेडा-प्रशिक्षण-परिषद् (मर्चेंट नेवी ट्रेनिंग बोर्ड) की स्थापना हो गई है। इसकी उद्घाटन बैठक ४ फरवरी, १९६० को हुई।

१ देखिए, थर्ड फाइव इयर प्लान—ए ड्राफ्ट आउट लाइन, पृ० २५०।

४१. भारतीय जलयान-निर्माण-उद्योग की स्थिति—भारतीय जहाज बनाने का उद्योग भारतीय जहाजरानी से कोई खास अच्छी परिस्थिति मे नही है। गैर-भारतीय जहाज-निर्माताओ से केवल छोटे जहाजो के सम्बन्ध मे प्रतिस्पर्धा की जा सकती है क्योकि उन्हे यहाँ लाने की लागत उनके मूल्य के अनुपात से अधिक है, अन्यथा विदेशी जहाज बनाने वाले कारखानो का स्वच्छन्द एकाधिपत्य है। अभी हाल तक भारत मे बडे जहाज बनाने के लिए उपयुक्त इस्पात कारखाने नही थे। थोडे-से मरम्मत करने वाले कारखाने थे परन्तु वे भी गैर-भारतीयो के हाथ मे थे।

४२. विजगापट्टम (अब विशाखापटनम) का जलयान-निर्माण-प्रांगण—कम्पनी द्वारा बना पहला जहाज एस० एस० जलउषा जनवरी, १६४८ मे पानी मे उतारा गया। कुल मिलाकर (जिसमे जलपखी दिसम्बर, १६४६, जलपद्मा सितम्बर, १६५० भी शामिल है) ८००० टन वाले ५ जहाज (विजगापट्टम मे) तीन वर्ष मे बनाये गए। जलयान-प्रागण को बन्द होने से बचाने के लिए भारत सरकार ने जलपद्मा को खरीद लिया। १६४६ मे सिन्धिया कम्पनी ने भारत सरकार से प्रागण अपने हाथ मे ले लेने की प्रार्थना की।

मार्च, १६५२ मे सरकार ने सिन्धिया से विशाखापटनम-जलयान-निर्माण-प्रागण खरीद लिया और उसका प्रबन्ध हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि० को सौप दिया। इसमे दो-तिहाई पूँजी सरकार की है। अब तक जलयान-प्रागण ने समुद्र मे जाने योग्य २३ जहाज तथा दो छोटे जहाज बनाये।

कोलम्बो योजना के अन्तर्गत इगलिस्तान की सरकार ने एक प्राविधिक शिष्ट-मण्डल इस उद्देश्य से भेजा था कि वह दूसरे जलयान-प्रागण की स्थापना के लिए उपयुक्त स्थान का सर्वेक्षण और आवश्यक जानकारी एकत्रित करे। शिष्ट-मण्डल ने अप्रैल, १६५८ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसके अनुसार किसी भी स्थान को आदर्श स्थान नही कहा जा सकता, किन्तु उपयुक्तता की दृष्टि से उन्होने कोचीन (इर्नाकुलम), मजगाँव डॉक, कांडला, ट्राम्बे तथा ज्योंखली का नाम गिनाया। भारत सरकार ने एक अन्तर्विभागीय समिति की नियुक्ति की जिसने दूसरे जलयान-प्रागण की स्थापना के लिए कोचीन को चुनने की सिफारिश की। तीसरी पचवर्षीय योजना मे नये जहाजो की जलपखी के लिए ५५ करोड रुपये रखे गए और इस प्रकार योजना के पहले दो सालो मे जलपखी ८,५७,००० GRT अप्रैल १६६१ से बढकर १०,५७,००० GRT (अप्रैल १६६३) और यह आशा की जाती है कि १६६५-६६ के अन्त तक इसकी सख्या १५ लाख GRT तक पहुँच जाएगी। १६६३ मे जल परिषद् बनाई गई जो सरकार को शिपिंग की नीति के बारे मे समय-समय पर सुझाव देती है। इस प्रकार योजनाओ मे पोतालय तथा बन्दरगाहो को नवीन तथा उन्नत बनाने के लिए बडा जोर दिया गया है। पहली दो योजनाओ मे ५८ करोड रुपया निर्धारित हुआ। १६६५ के अन्त तक बडी बन्दरगाहो पर माल तथा और वस्तुओ के स्वीकार करने की शक्ति को ६२,००,००० तक

पहुँचाया गया है। कोचीन, मद्रास इत्यादि बन्दरगाहों को बडा करने के लिए ७५ करोड रुपया रखा गया है। उडीसा सरकार परादीप नाम की बन्दरगाह को भी उन्नत कर रही है। इस प्रकार छोटी-छोटी बन्दरगाहो को उन्नत करने के लिए भी कोशिश की जा रही है और इस कार्य पर तीसरी योजना मे १५.६८ करोड रुपया व्यय किया जाएगा और यह बन्दरगाह तीसरी योजना के अन्त तक ६० लाख टन को व्यापार तथा व्यवसाय को ठीक स्थान दे सकेगी।

चौथी योजना मे जहाजो की जलपखो १९६५-६६ के अत तक १५ लाख से बढाकर १९७०-७१ तक ३० लाख टन (GRT) की जाएगी। बडी बन्दरगाहो की शक्ति को लगभग ६ करोड तक बढाया जाएगा और यह कोशिश की जाएगी कि भारतीय जलयान कुल व्यापार का ५० प्रतिशत भाग अपने जहाजो से करने लगें। सरकारी क्षेत्र मे जलयान का भाग १९७५-७६ तक कुल का ५० प्रतिशत हो जाए।

वायु-परिवहन

४३. नागरिक उड्डयन—१९१४-१८ के युद्ध के बाद से नागरिक उड्डयन मे विशेपतया पाश्चात्य देशो मे बडी ही तीव्र प्रगति हुई है और इसने विश्व के परिवहन मे एक क्रान्ति ला दी है।

कराची और बम्बई के बीच हवाई डाक-सेवा (पोस्टल एग्रर मेल सर्विस) के प्रारम्भ के साथ नागरिक उड्डयन मे रुचि जाग उठी। भारत से होकर जाने वाली डच और फ्रेन्च नागरिक उड्डयन सेवाओ के प्रारम्भ होने, इगलैण्ड और कराची के बीच नियमित साप्ताहिक साम्राज्य डाक के प्रारम्भ तथा विश्व के सभी देशो मे नागरिक उड्डयन मे हुई प्रगति के साथ ही भारतीय उड्डयन भी विकास की प्रेरणा पाने लगा। भारत अन्तर्राष्ट्रीय हवाई सम्मेलन (इण्टरनेशनल ऐअर कनवेंशन) मे शामिल हो गया है। भारत सरकार ने नागरिक उड्डयन का एक सचालक एव उप-सचालक तथा वायुयान-प्रधान निरीक्षक नियुक्त किये हैं। व्यक्तिगत साहसोद्योगी भी सामने आये और भारत म उड्डयन सिखाने वाले अनेक उड्डयन-क्लब स्थापित हो गए हैं। उच्च उड्डयन की प्रशिक्षा के लिए उडाको को दी गई सहायता के अतिरिक्त सरकार ने नागरिक उड्डयन छात्रवृत्तियाँ भी देना प्रारम्भ किया है। व्यक्तिगत सस्थाओ, जैसे 'रतन और दुराबजी टाटा ट्रस्ट' तथा अन्य कम्पनियो द्वारा भी छात्रवृत्तियाँ दी जा रही हैं। अन्तरिक्ष-विभाग ने भी उड्डयन मे सुधार किये है।

१९३९-४५ के युद्ध ने शीघ्रता से उड्डयन का विकास करने की आवश्यकता का अनुभव कराया। क्रेनवेल मे भारतीय सैनिक शिक्षार्थियो की ट्रेनिंग के उपरान्त १९३२ म भारतीय वायु सेना छोटे पैमाने पर स्थापित हुई। युद्ध के आरम्भ होने पर शीघ्रता से इसके विकास का कार्यक्रम कार्यान्वित किया गया और तत्कालीन प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी काफी बढा दी गई।

जुलाई, १९४६ मे एक वायु-परिवहन अनुज्ञा परिपद (एअर ट्रान्सपोर्टिंग लाइसेंसिंग बार्ड) की स्थापना हुई। १ अक्तूबर, १९४८ के बाद बिना बोर्ड से अनुज्ञा

प्राप्त किये कोई भी वायु-सेवाएँ प्रारम्भ नही की जा सकेंगी। इस समय भारतीय वायु-परिवहन कम्पनियो द्वारा ६ वायु-सेवाएँ सचालित हो रही है। १६४७ के अन्त मे एग्रर इण्डिया इण्टरनेशनल की स्थापना हुई, जिसमे भारत सरकार का हिस्सा ४६ प्रतिशत था जिसे वह किसी भी समय ५१ प्रतिशत कर सकती थी। ५ वर्ष मे होने वाली सब हानि को सरकार पूरा करेगी, किन्तु बाद के लाभ से उसके द्वारा दिया गया धन चुकाना पडेगा।

प्रथम पचवर्षीय योजना मे वायु परिवहन उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने के लिए ६·५ करोड रु० की व्यवस्था की गई। १६५३ मे वायु निगम अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत पहली अगस्त, १६५३ को एक राजकीय निगम के रूप मे इण्डियन एग्रर लाइन्स कारपोरेशन की स्थापना की गई। यह निगम अन्तर्राष्ट्रीय वायु परिवहन सस्था की सदस्य है। अप्रैल, १६५८ में प्रत्येक निगम के लिए एक परामर्शदात्री समिति नियुक्त की गई। इन दो निगमो के अतिरिक्त १४ उड्डयन-क्लब तथा ६ परिवहन कम्पनियाँ भी हैं, (३१ दिसम्बर, १६५८ तक)। नागरिक उड्डयन मे बराबर प्रगति हुई है। १६४७ मे अनुसूचित सेवाओं (शेड्यूल्ड सर्विसेज) की उडान की दूरी ६३,६२,००० मील तथा यात्रियो की सख्या २५५ हजार थी। १६५६ मे ये सख्याएँ क्रमश २,४६,१३,००० मील तथा ७,२२,००० थी।

तृतीय पचवर्षीय योजना मे नागरिक उड्डयन के ऊपर ५५ करोड रुपये व्यय करने का प्रस्ताव है। इसमे से २२-२५ करोड रु० हवाई अड्डो तथा ३०-३३ करोड रु० दोनो निगमो पर व्यय होगा।[१]

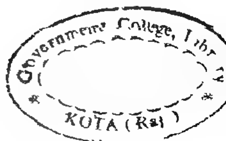
वर्तमान समय मे भारत-उड्डयन-उद्योग उडने वाले जहाजो की सख्या की अधिकता का शिकार हो रहा है। कमजोर आर्थिक स्थिति का भी यही एक कारण है। सबसे आधारभूत कठिनाई जनता की दरिद्रता है, जिसके कारण यात्रियो का यातायात बहुत कम होता है। उद्योग का विकास सीमित होने से भाडे की आय भी बहुत कम होती है। भारत मे उड्डयन की प्रगति सरकारी सहायता और नियन्त्रण पर निर्भर है।

तीसरी पचवर्षीय योजना मे एयर इडिया कारपोरेशन तथा इडियन एलाइन्स कारपोरेशन पर १४.५ करोड तथा १५ करोड रुपया व्यय किया गया। एग्रर इडिया ने १६६५-६६ मे ३२ लाख रुपये का लाभ दिखाया और इण्डियन एयरलाइन्स कार-पोरेशन ने १ ४३ करोड रुपया लाभ दिखाया। तीसरी योजना मे एयर इडिया की माल तथा व्यवसाय की शक्ति ६१ प्रतिशत तथा आई-ए-सी २० प्रतिशत से बढ गई है। चौथी योजना में १६७०-७१ के अन्त तक एयर इडिया की ४२ और इण्डियन एयरलाइन्स की ४६ प्रतिशत और शक्ति बढ जाएगी।

४४ बंगलौर की वायुयान फैक्ट्री—द्वितीय युद्ध ने भारत मे वायुयान-निर्माण के

१. देखिए, थर्ड फाइव ईयर प्लान—ए ड्राफ्ट आउट लाइन, पृ० २५२।

विकास की महत्ता को बहुत बढा दिया। इस कार्य मे भी अग्रगामी होने का श्रेय श्री वालचन्द हीराचन्द को है। एक सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनी (ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी), जिसका नाम हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी लिमिटेड था और जिसकी अधिकृत पूँजी (ऑथराइज्ड केपिटल) ४ करोड रु० थी, की रजिस्ट्री दिसम्बर, १६४० मे मैसूर राज्य मे हुई। यह कम्पनी वालचन्द हीराचन्द और मैसूर सरकार के सरक्षण मे स्थापित हुई। एक अमेरिकन विशेषज्ञ के निर्देशन मे यह फैक्ट्री बंगलौर मे स्थापित की गई। बंगलौर मे कारखानो को स्थापित करने के दो कारण थे—एक तो यहाँ सस्ती विद्युत् शक्ति सरलता से प्राप्त हो सकती थी और दूसरे भद्रावती आइरन एण्ड स्टील वर्क्स से उत्तम इस्पात प्राप्त हो सकता था। जुलाई, १६४१ मे पहला वायुयान तैयार हुआ, दूसरे महीने में एक और बना। कारखाने की योजना इतनी विकसित हो गई कि १६४२ तक यह आशा की जाने लगी कि फैक्ट्री मे शीघ्र ही प्रति मास १५ से ३० तक वायुयान तैयार होने लगेंगे। इसी समय भारत सरकार ने कारखाने को कम से-कम युद्ध काल तक स्वय चलाने का निश्चय किया।



अध्याय १९

भारत का व्यापार

इस अध्याय का विषय भारत का व्यापार है जिसे अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न प्रधान शाखाओ मे विभाजित किया जा सकता है—(१) बाह्य व्यापार, जिसमे (क) समुद्र-वाहित व्यापार, (ख) मध्यागार (एण्ट्रीपॉट) व्यापार, तथा (ग) सीमा-पार व्यापार सम्मिलित हैं। (२) आन्तरिक व्यापार, जिसमे देश के अन्दर का तथा तटीय व्यापार शामिल है।

बाह्य व्यापार

१. ऐतिहासिक सिंहावलोकन—भारत के प्राचीन व्यापार का वर्णन बहुत सक्षेप मे किया जाएगा, क्योकि हमारा प्रधान लक्ष्य उन्नीसवी शती के उत्तरार्द्ध से होने वाले विकासो से है। उन अन्य देशो मे, जिनके साथ भारत का व्यापार सम्बन्ध था, चीन, अरब और फारस का नाम लिया जा सकता है। भारत या समस्त विश्व का पुराने ज़माने का व्यापार दुर्लभ और बहुमूल्य वस्तुओ का व्यापार था, जबकि इसके विपरीत आज का व्यापार जनसाधारण की आवश्यकता की पूर्ति करने वाली सस्ती और भारी वस्तुओ का व्यापार है, जो वस्तुएँ दूर-दूर देशो मे भेजी जाती है। पुराने ज़माने के निर्यात की प्रधान वस्तुएँ कपडे, धातु के बर्तन, हाथीदाँत, इत्र, रग और मसाले इत्यादि थी। आयात मे खनिज-पदार्थों की प्रमुखता थी जिनकी भारत मे कमी थी, जैसे पीतल, टिन, राँगा आदि। इनके अलावा शराब और घोडे आदि अन्य वस्तुओ का भी आयात होता था। चूँकि उस ज़माने मे विदेशो से सोना अधिक मात्रा मे भारत आ रहा था, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आयात की तुलना मे निर्यात अधिक था। निर्यात की अधिकता भारत के विदेशी व्यापार की विशेषता थी। थोडा-सा मध्यागार व्यापार भी होता था। इसमे प्रधानतया चीन मे चीनी मिट्टी के बर्तन और रेशम, सीलोन से मोती तथा भारतीय द्वीप-समूहो से कीमती पत्थर, बहुमूल्य हीरे इत्यादि का व्यापार सम्मिलित था। यह इस बात का द्योतक है कि भारत के पास व्यापारिक जहाजी बेडे अवश्य थे।

मुगल दरबार के सरक्षण ने कितने ही भारतीय उद्योगो को प्रेरणा दी। इनमे विलासिता की वस्तुओ का उत्पादन प्रधान था। सामुद्रिक व्यापार—विशेषकर मालाबार तट का, कुछ अशो मे केम्बे की खाडी और कारोमण्डल तट का—मुसलमानो के हाथ मे था, जो कि बाद मे बनियो और चेटियारो के हाथ मे आ गया। भारतीय समुद्र से होने वाले सुदूरपूर्व और लालसागर तक के सब व्यापार का प्रधान मध्यागार मालाबार और बन्दरगाह कालीकट था। मुस्लिम-काल मे व्यापार प्राय

वैसा ही बना रहा और गिबन का यह कटु कथन कि, "पौर्वात्य व्यापार की वस्तुएँ भव्य और तुच्छ थीं' वस्तुतः १६वीं शताब्दी के लिए उतना ही लागू होता है जितना कि दूसरी शताब्दी के लिए।" आयात मे प्रधानतया सोना, सिक्के बनाने और प्रदर्शन के लिए, बहुत बडी सख्या मे घोडे, धातुओ मे जस्ता, राँगा पारा, ताँबा इत्यादि, विलास की वस्तुओ मे हीरे, जवाहर और एम्बर आदि वस्तुएँ थी। इनके बदले भारत से कपडे, रग की सामग्री, अफीम तथा अन्य मादक वस्तुएँ, काली मिर्च तथा कुछ अन्य मसाले भेजे जाते थे।

पन्द्रहवी शताब्दी मे उत्तमाशा अन्तरीप से होकर भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज हो जाने से पूर्व और पश्चिम मे सम्बन्ध स्थापित हो गया और व्यापारिक मार्गो मे युगान्तकारी परिवर्तन हुए। इसके पहले भारत का यूरोप से सामुद्रिक व्यापार हिन्द महासागर से अदन तक होता था, इसके बाद माल उतार दिया जाता था तथा जल थल के मार्गों से भूमध्य सागर तक पहुँचाया जाता था। फिर इटली के व्यापारियों द्वारा यह माल वेनिस और जिनेवा पहुँचाया जाता था और वहाँ से समुद्र द्वारा सुदूर-पश्चिम या भूमि के रास्ते से आल्प्स के उस पार राइन द्वारा एण्टवर्प पहुँचाया जाता था जो उस समय पश्चिमी यूरोप का प्रधान वितरक था। इस लाभ को अपनाने के लिए ही पुर्तगालियो ने भारत के नवीन रास्ते की खोज प्रारम्भ की। इगलैण्ड, हालैण्ड तथा फ्रान्स के आकर्षण का प्रधान कारण कच्चा माल नही था, वरन् लिनेन, छीट, हीरे, जरी के काम किए हुए कपडे, ऊनी और रेशमी वस्तुएँ आदि थी। यही वस्तुएँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लाभदायक व्यापार का आधार थी, जिस पर अन्त मे सप्तवर्षीय युद्ध की समाप्ति और फ्रान्सीसियो की हार के उपरान्त उसे पूर्ण एकाधिकार प्राप्त हो गया। एक समय इगलैण्ड मे भारत से व्यापार करने के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी का बडा विरोध होता था। कारण यह था कि इगलैण्ड म भारतीय सफेद कपडो और मसाले की बडी माँग थी और उसके बदले मे नकद रुपया देना पडता था, क्योकि इगलैण्ड के ऊनी कपडो की भारत मे खपत न थी।[1] सत्रहवी शती के अन्त मे भारतीय कपडो का प्रयोग दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। इसके लिए या तो भारतीय कपडो पर इतना अधिक आयात-कर लगाया गया कि उसका आयात बिलकुल बन्द हो जाए या उसके प्रयोग की बिलकुल मनाही कर दी गई।

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे इगलैण्ड और भारत मे होने वाले व्यापार क स्वभाव मे काफी परिवर्तन हो गया। अब भारत उन्ही वस्तुओ, उदाहरणार्थ कपडा और चीनी, का आयात करने लगा जिनका वह अब तक निर्यात करता आया था। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक लकाशायर मे कपडे का उद्योग इतना विकसित हो गया था कि भारत मे भेजी जाने वाली वस्तुओ का आधा भाग कपडा ही होता था।

---

१. बगाल की दीवानी मिल जाने पर विनियोग की विचित्र पद्धति से (जिसमें भारतीय मालगुजारी से निर्यात के माल खरीदे जाते थे) भारत में सोने का आना बन्द हो गया और भारतीय व्यापार के प्रति विरोध कम हो गया।

ने चुनौती दी। रूस और जापान के युद्ध के उपरान्त भारतीय व्यापार मे जापान की दिलचस्पी तेजी से बढने लगी। इन देशो का उद्देश्य भारत मे अपनी निर्मित वस्तुओ की बिक्री बढाना था, लेकिन इस उद्देश्य से निर्मित सगठनो ने भारत के कच्चे माल तथा खाद्यान्न, जो इन देशो के उद्योगो के लिए आवश्यक थे, के निर्यात को प्रेरणा दी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित तरीके काम मे लाये गए—(१) राष्ट्रीय जहाजरानी सेवाओ का विकास, (२) राष्ट्रीय बैंको की शाखाओं की स्थापना जैसे जर्मन ड्यूट्स्के एशियाटिक बैंक और जापानी याकोहामा स्पेशी बैंक, जो अपने देशवासियो को खास की विशेष सुविधाएँ देते थे और (३) बम्बई, कलकत्ता-जैसे व्यवसाय-प्रधान केन्द्रो मे वाणिज्य-सदनों की स्थापना। इस कार्यवाही मे उन देशो की सरकारो की भी पूरी सहानुभूति थी तथा उनके भारत-स्थित राजदूतो ने भी अपने देश के व्यापारिक हित को पूरा प्रोत्साहन दिया। सयुक्त राज्य अमरीका ने लन्दन द्वारा भारत से सम्बन्ध स्थापित कर रखा था। १६१४-१८ के युद्ध के प्रारम्भ होने के बाद भी भारत मे *व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सयुक्त राज्य के प्रयत्न* इतने जागरूक एव कटिबद्ध नहीं थे जितने कि जापान और जर्मनी के।

४. **१६१४-१८ के युद्ध के पूर्व की स्थिति का सारांश**—१८७३ से शताब्दी के अन्त तक व्यापार के विकास की गति अपेक्षाकृत धीमी थी। रुपये के मूल्य मे भारी चढाव उतार से स्वर्ण-प्रमाप वाले देशो के साथ व्यापार मे एक प्रकार की अनिश्चितता और परिकल्पना (सट्टेबाज़ी) शुरू हो गई, जिससे व्यापार की साधारण गति रुक गई।

नवीन शताब्दी के प्रथम चौदह वर्षों मे विशेषकर १६०५ के बाद, भारत के विदेश-व्यापार मे आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। सबसे महान् वृद्धि प्रथम विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले पाँच वर्षों मे हुई। इन वर्षों मे रुपये का मूल्य प्राय: स्थिर था। रेलवे और सिंचाई-जैसे जन-कार्य बडी तत्परता के साथ किये जा रहे थे, शताब्दी के अन्त मे पडने वाले दुर्भिक्षो-जैसे दुर्भिक्ष भी नही पडे थे और महामारी का प्रकोप भी कम हो रहा था। इसके अतिरिक्त, जैसे कि पहले कहा जा चुका है, जर्मनी, जापान तथा सयुक्त राज्य भी कुछ अपने व्यापार को आगे बढाने का सगठित प्रयत्न कर रहे थे, जो इन देशो मे होने वाले आर्थिक परिवर्तनो के फलस्वरूप तेजी से बढ रहा था तथा जिसने औद्योगिक दृष्टि से उन्हे इगलैण्ड के समक्ष कर दिया था।

५. **प्रथम विश्वयुद्ध का भारत के व्यापार पर प्रभाव**—अगस्त, १६१४ मे युद्ध प्रारम्भ होने पर भारत के विदेश व्यापार की दोनो शाखाओ का धक्का लगा। १६१६-१७ के बाद निर्यात का मूल्य तो अपनी पूर्व स्थिति मे आने लगा, परन्तु आयात १६१८-१६ तक युद्ध-पूर्व की स्थिति से पीछे ही रहा। आयात व्यापार मे विशेष रूप से कमी हुई और यह कमी युद्ध-काल मे लगातार जारी रही। अब हम सक्षेप मे इस परिस्थिति के लिए उत्तरदायी कारणो की विवेचना करेंगे। युद्ध प्रारम्भ होने पर शत्रु देशो के साथ व्यापार बिलकुल ठप हो गया। मित्र-राष्ट्रो, जैसे इगलैण्ड, फ्रास, बेल्जियम इत्यादि, से भी युद्ध-पूर्व स्तर पर व्यापार कायम न रखा जा सका, क्योंकि ये देश स्वय युद्ध मे सलग्न थे। निष्पक्ष देशो के साथ होने वाले व्यापार पर भी अनेक प्रतिबन्ध लगाये

गए ताकि इन देशो द्वारा युद्ध-सामग्री जर्मनी न पहुँचने पाए और भारत की सामग्री केवल मित्र-राष्ट्रो को ही उपलब्ध हो। समुद्र से शत्रु के जहाजो के हट जाने तथा अवशिष्ट जलयानो पर युद्ध के बोझ के परिणामस्वरूप किराये मे काफी वृद्धि हो गई। परिणाम यह हुआ कि यूरोप में भारतीय वस्तुओ की बढती हुई माग से भारत पूरी तरह लाभ नही उठा पाया। व्यापार की स्थिति को बिगाडने वाले कारणो मे सामुद्रिक सुरक्षा के अभाव तथा विदेशी विनिमयो के विस्थापन (डिसलोकेशन) का नाम लिया जा सकता है।

१९१४-१८ के युद्ध-काल की विशेष बात निर्मित वस्तुओ के निर्यात मे हुई वृद्धि है, कुल व्यापार से जिनका प्रतिशत १९१३-१४ मे २२ ४ से बढकर १९१८-१९ मे ३६ ६ प्रतिशत हो गया। युद्ध द्वारा दी गई कृत्रिम प्रेरणा का उल्लेख हम कपास, जूट, चमडा, लोहा इत्यादि के सम्बन्ध मे कर आए हैं। इसी कारण निर्मित वस्तुओ का निर्यात बढ़ा।

६. दोनो युद्धो के बीच के समय मे व्यापार (१९१९-२० से १९३९-४०)—इस काल के प्रारम्भिक वर्षो मे निर्यात पर लगाये गए युद्धकालीन प्रतिबन्धो के हट जाने, शत्रु देशो से पूर्ववत् व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने, तथा किराये की स्थिति मे सुधार होने के परिणामस्वरूप व्यापार मे समृद्धि मालूम होने लगी। इसके चिह्न १९२०-२१ के अन्त मे स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगे थे। सब से पहले निर्यात-व्यापार पर प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य तथा जापान के बाजार भारतीय उत्पादनो से भर गए और उनकी ओर से माँग काफी कम हो गई। यह ठीक है कि मध्य यूरोप के देशो मे भारतीय वस्तुओ की माग बहुत अधिक थी, लेकिन वे युद्ध से विच्छिन्न हुए साधनों तथा घटी हुई क्रय-शक्ति के कारण इन्हे खरीदने मे असमर्थ थे। १९२० की असन्तोषजनक वर्षा तथा खाद्यान्नो की बढ़ती हुई कीमतो के कारण यह आवश्यक हो गया कि खाद्यान्नो के निर्यात पर लगाये गए प्रतिबन्ध जारी रखे जाएँ। जापान मे भी भीषण सकट-स्थिति उत्पन्न हो जाने से उस देश को निर्यात की जाने वाली कपास मे रुकावट पड गई। सरकार द्वारा दो शिलिंग पर रुपये के विनिमय-मूल्य को स्थिर करने के प्रयत्न ने भी पहले ही से कमज़ोर निर्यात-व्यापार को और भी दुर्बल बना दिया। इसके विपरीत आयात-व्यापार शीघ्रता से बढता गया। युद्ध-काल मे भारत की आयात-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी नही हो सकी। मशीन तथा अन्य निर्मित वस्तुओ के लिए दिये गए ऑर्डर अब तक वैसे ही पडे थे। अब ये सामान देश मे आने लगे। उच्च विनिमय ने भी आयात व्यापार को पर्याप्त प्रेरणा दी और बहुत बडी मात्रा मे विदेश-निर्मित वस्तुओ के लिए ऑर्डर दिये गए। इसलिए हमे इस बात पर आश्चर्य न करना चाहिए कि भारत का व्यापारिक सन्तुलन १९२०-२१ मे ७९ ८० करोड रुपये से प्रतिकूल था। यह सन्तुलन दूसरे वर्ष भी ३३ ९४ करोड रुपये से प्रतिकूल रहा।

७ विश्व के आर्थिक अवसाद-काल मे भारत का व्यापार—वाल स्ट्रीट के आर्थिक विघटन के उपरान्त अक्तूबर, १९२९ मे एक अधोमुखी प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई और बाद

मे स्वर्ण मुद्राओ का अवमूल्यन—इन सबके प्रभाव से कितनी ही वस्तुओं के मूल्य चढ़ने लगे। १९३७ के पूर्वार्द्ध मे मूल्यो की वृद्धि पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होने लगी। इसका एक कारण और भी था—सरकारो द्वारा कितने ही देशो मे शस्त्रीकरण पर काफी धन खर्च किया जा रहा था। इससे भारी उद्योगो को काफी प्रोत्साहन मिला और साधारण आर्थिक स्थिति पर भी इसका अच्छा प्रभाव पडा।

भारत ने भी विश्व की समुत्थान-प्रवृत्ति का अनुगमन किया, हालांकि अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण उसका मार्ग अन्य देशो से कुछ भिन्न था। १९३६ मे प्रारम्भ हुई मन्दी ने भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश को विशेष रूप से हानि पहुँचाई। इसका कारण प्राथमिक उत्पत्ति (कृषि-उत्पत्ति) के मूल्यों में हुई अभूतपूर्व कमी थी। कृषि-उत्पादन की कीमतो में सुधार भी कुछ पहले ही होने लगा। लेकिन जहाँ तक भारत के कृषि-उत्पादनो का सम्बन्ध है इनकी कीमतों मे पर्याप्त वृद्धि १९३६-३७ के बीच ही दिखाई पडी (देखिए, अध्याय ११)। यह सुधार विशेष रूप से प्रारम्भिक वस्तुओं एवं कच्चे माल की बढती मांग का परिणाम था।

९. गिरावट (रिसेशन) के समय मे भारत का व्यापार (१९३७-३८ से १९३८-३९ तक)—अप्रैल, १९३७ के लगभग सयुक्त राज्य मे व्यापार में गिरावट प्रारम्भ हुई। ज्यों-ज्यों वर्ष बीतता गया यह जोर पकडती गई। इससे विश्व के आर्थिक समुत्थान को एक आकस्मिक धक्का लगा। आर्थिक दशाओ की ऊर्ध्वगामी दिशा एकाएक विपरीत हो गई। यह परिकल्पना (सट्टेबाज़ी) का अनिवार्य परिणाम था। अज्ञात भविष्य मे कच्चे माल की सम्भावित कमी से उत्पन्न घबराहट भी इसके लिए उत्तरदायी थी। इनके परिणामस्वरूप सयुक्त राज्य मे अकारण स्वर्ण भय उत्पन्न हो गया। बैंको ने साख-सुविधाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिए और नियन्त्रित उत्पादन की योजनाओं में ढील दे दी गई। फलतः विश्व मे प्राथमिक वस्तुओ का मूल्य तेज़ी से घट गया और जून, १९३८ तक कम बना रहा।

फिर भी १९३९ के प्रारम्भ मे व्यापारिक क्रियाशीलता धीरे-धीरे बढने लगी। इसका कारण अंशत द्राव्यिक प्रसार की नीति और सारे संसार मे विशेषतया संयुक्त राज्य में बढता हुआ सार्वजनिक व्यय तथा अंशत शस्त्रास्त्रो पर अधिकाधिक व्यय है।

विगत वर्ष की तुलना मे १९३७-३८ मे भारत के समुद्र-पार व्यापार के आयात मे थोडी वृद्धि और निर्यात मे थोडी कमी हुई। परिणाम यह हुआ कि भारत से व्यक्तिगत सौदों का निर्यात ५१ करोड रुपये (१९३६-३७) से घटकर १७.५६ करोड रुपये हो गया। भारतीय विदेशी व्यापार के व्यक्तिगत सौदों का कुल मूल्य (१९३६-३७ मे) ३६३ करोड रु० था, जोकि १९३८-३९ में घटकर ३२२ करोड रु० हो गया। निर्यात में ४१ करोड रु० के मूल्य की कमी कुछ अंशो में विश्व के बाजारों मे प्रारम्भिक वस्तुओं की मन्दी का परिणाम थी और इसका कारण अंशत भारतीय कपास के लिए जापान की क्रय शक्ति का घट जाना भी है। आयात की कमी का कारण कृषको की क्रय शक्ति का ह्रास था। विगत वर्ष की अपेक्षा १९३८-

३९ मे आयात मे कमी होने के कारण लगभग २ करोड रु० से भारत का व्यापारिक सन्तुलन (बेलेंस ऑफ ट्रेड) सुधर गया।

१०. युद्ध-काल (१९३९-४५) मे भारत का विदेशी व्यापार—सितम्बर, १९३९ मे युद्ध के प्रारम्भिक तथा आगामी वर्षो मे उसके प्रसार और घनत्व के साथ-ही-साथ भारत के विदेशी व्यापार को प्रभावित करने वाले कितने ही कारण सामने आये।[1] पहले तो इनमे से अनेक प्रतिकूल थे, लेकिन बाद मे अनुकूल कारण भी दृष्टिगत हुए। वास्तविक परिणाम मे कोई क्रमिक ह्रास नही दिखाई पडा, बल्कि कुछ सुधार ही हुआ। प्रतिकूल परिस्थितियाँ युद्ध-घोषणा के पूर्व की राजनीतिक अनिश्चितता का परिणाम थी। जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड सितम्बर, १९३९ के पहले हफ्ते मे ही समाप्त हो गए। १९४० के बसन्त तक नार्वे, हालैण्ड, डेनमार्क, वेलजियम, फ्रास और इटली शत्रुओ द्वारा अधिकृत क्षेत्र हो गए। दूसरे वर्ष मे शत्रु द्वारा पदाक्रान्त क्षेत्र के अन्तर्गत सारा दक्षिण-पूर्वी यूरोप आ गया। रूस के साथ व्यापार पहले ही समाप्त हो चुका था, लेकिन जून, १९४१ मे जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण किये जाने पर रूस से फिर व्यापार शुरू हो गया। जुलाई, १९११ मे भारत द्वारा जापान की सम्पत्ति पर अधिकार कर लेने से भारत और जापान के व्यापारिक सम्बन्ध को धक्का पहुँचा। दिसम्बर, १९४१ मे जापान भी एक शत्रु देश हो गया। जापान के तूफानी धावो तथा एक के बाद दूसरी विजय ने क्रमशः हिन्दचीन, स्याम, ईस्ट इण्डीज, मलाया और वर्मा-जैसे महत्त्वपूर्ण बाजारो को बन्द कर दिया।

इस तरह वे प्रधान देश, जिनके साथ भारत का व्यापार सम्भव रह गया, केवल सयुक्त राज्य, इगलिस्तान, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देश और एशिया तथा अफ्रीका के निकट एव मध्य-पूर्वी देश थे, हालाँकि यहाँ भी एक बहुत बडी बाधा जहाजी सुविधाओ की कमी थी। जर्मनी के यू बोट के डर के कारण किराये की दरें और बीमा का मूल्य बहुत बढ गया था। १९४० मे इटली के साथ अंग्रेजो के राजनीतिक सम्बन्धो के खराब हो जाने के कारण भारत-यूरोपीय व्यापार उत्तमाशा अन्तरीप की ओर से होने लगा। तब जहाजरानी की कमी का अनुभव बडी तीव्रता से हुआ। दिसम्बर, १९४१ मे जापान भी युद्ध के अखाडे मे कूद पडा। इससे प्रशान्त महासागर के मार्ग भी अरक्षित हो गए और सयुक्त राज्य, आस्ट्रेलिया एव न्यूजीलैंड के साथ होने वाले भारतीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडा।

उपर्युक्त कारणो मे अब हम एक और कारण भी जोड सकते हैं। युद्ध प्रारम्भ होने के उपरान्त, जिन देशो के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था प्राय. उन सभी ने व्यापारिक प्रतिबन्धो का एक जटिल जाल फैला दिया। भारत ने भी अपनी तरफ से ऐसी ही नीति का अनुसरण किया। युद्ध प्रारम्भ होने के ठीक बाद केन्द्रीय सरकार

---

१. द्वितीय विश्वयुद्ध से सम्बन्धित भारत के विदेशी व्यापार का विवरण बहुत अशों में प्रो० एन० एस० पार्थसारथी द्वारा प्रस्तुत किये गए नोट पर आधारित है।

ने निर्यात-व्यापार की अनेक सामग्रियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। शत्रु-देशों के साथ व्यापार करना बिलकुल बन्द कर दिया गया। यह भी दृष्टि में रखा जाता था कि किसी प्रकार परोक्ष रास्तों से भी सामान शत्रुओं तक न पहुँचे और प्रत्येक प्रकार की आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति को मित्र-राष्ट्रों तथा भारत की आवश्यकताओं के लिए ही सुरक्षित रखा जाए। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर निर्यात-प्रतिबन्धों और अनुज्ञाओं (लाइसेंसों) का एक विस्तृत जाल खड़ा कर दिया गया।[1] कुछ वस्तुओं के लिए निर्यात-अनुज्ञा (लाइसेंस) पूर्ति-विभाग द्वारा तथा कुछ वस्तुओं के लिए निर्यात-व्यापार-नियन्त्रक (एक्सपोर्ट ट्रेड कन्ट्रोलर) द्वारा दी जाती थी। मई, १९४० में आयात की ६८ मदों पर भी प्रतिबन्ध लगाये गए। इनका उद्देश्य विदेशी विनिमय को सुरक्षित करना एवं सीमित जहाजों के बोझ को कम करना था। इनमें से अधिक वस्तुएँ विलासिता की थी, जिनमें प्रतिदिन के प्रयोग की वस्तुएँ भी शामिल थी। इन लगाये गए प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप उन वस्तुओं की पूर्ति या वैकल्पिक पूर्ति के लिए कितने ही छोटे-बड़े उद्योग खड़े हो गए। इस सबका नतीजा यह हुआ कि व्यापार अपने साधारण मार्ग से बहुत-कुछ हट गया।[2]

युद्ध-दशाओं के अलावा इधर हाल के कुछ वर्षों में व्यापारिक गति आवश्यक कच्चे माल, मशीन और उपभोक्ता-वस्तुओं[3] की पूर्ति को प्रोत्साहन देने वाली सरकारी नीति द्वारा अनुशासित होती रही है। सरकार की नीति राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए अनावश्यक सामग्री के आयात को कम करने तथा आन्तरिक प्रयोग एवं हितों के लिए अनिवार्य वस्तुओं के निर्यात को पूर्णतया बन्द करने की थी।

११. ग्रेगरी-मीक मिशन[4]—भारत सरकार ने जुलाई, १९४० में भारतीय निर्यात-व्यापार को पुनर्जीवित करने के विचार से एक व्यापारिक शिष्ट-मण्डल संयुक्त राज्य अमरीका को भेजा। इस व्यापारिक मण्डल के सदस्य डॉक्टर टी० ई० ग्रेगरी और सर डेविड मीक थे। जनवरी, १९४१ में प्रकाशित हुई अपनी रिपोर्ट में इन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि भारत को अपने खोए हुए बाजारों का स्थानापन्न अमरीकी बाजारों में नहीं मिल सकता।[5] कारण यह था कि भारत द्वारा यूरोप को भेजी जाने वाली सामग्री अधिकतर जूट, मूँगफली, कपास, खली, गेहूँ, कच्चा चमड़ा इत्यादि थीं। ये सब चीजें बड़ी मात्रा में संयुक्त राज्य को नहीं भेजी जा सकती थी। अमरीका के पास स्वयं उसकी कपास ही आवश्यकता से अधिक थी। यही बात गेहूँ और मूँग-

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, 'रिव्यू आफ दि ट्रेड आफ इण्डिया' (१९३९-४०) अनुसूची।

२. युद्ध-काल के नियन्त्रणों के यन्त्र और स्वभाव से सम्बन्धित विशेष विवरण के लिए देखिए, श्री एल० सी० जैन की 'इण्डियन इकनामी ड्यूरिंग दि वार', पृ० ६२-६७।

३. मार्च, १९४५ में कितने ही प्रकार की उपभोक्ता-वस्तुओं एवं आवश्यक कच्चे माल के आयात के लिए ओपन जनरल लाइसेंस-प्रथा प्रारम्भ की गई।

४. देखिए, सेक्शन ११-१२ और ३६-३७।

५. रिपोर्ट, पेराग्राफ ६७।

फली के लिए भी लागू है। वह जूट के स्थान पर अधिकाधिक कपास और कागज़ की सामग्री का प्रयोग करता है, साथ ही अपनी खली स्वयं तैयार करता है और चमडा सिझाता है। दक्षिणी अमरीका मे धुरी राष्ट्रो की महत्त्वाकाक्षाओ को रोकने के लिए किया गया हवाना पान-अमरीकन सम्मेलन अन्तर-अमरीकी व्यापार के विकास का एक अन्य कारण है। दक्षिणी अमरीका के अनेक कच्चे माल, जैसे अर्जण्टाइना के तिल, मूंगफली, खली और बीज इत्यादि, प्रत्यक्ष रूप से भारतीय सामग्री के प्रतिस्पर्धी हैं।

१२ निर्यात-परामर्श-समिति तथा अन्य उपाय—ग्रेगरी-मीक की रिपोर्ट से यह बिलकुल स्पष्ट हो गया कि भारत को अपने खोये हुए यूरोपीय बाज़ारो के घाटे को भरने के लिए गैर-अमरीकी बाजार ढूंढने पडेंगे। इसमे थोडे-से गैर-कॉमनवेल्थ देशों से होने वाले व्यापार का भी कुछ हाथ था। अफ्रीका और अरब को निर्यात किये जाने वाले कपडे मे हुई वृद्धि को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे मई, १९४० मे स्थापित निर्यात-परामर्श-समिति का भी उल्लेख आवश्यक है। इसका सभापति वाणिज्य-सदस्य होता था तथा विभिन्न व्यापारिक एवं औद्योगिक हितो का प्रतिनिधित्व करने वाले २१ अन्य सदस्य होते थे। इसके निम्न कार्य थे—(१) वर्तमान निर्यात-कठिनाइयो पर वाद-विवाद, (२) प्रधान निर्यात-सामग्रियों के प्रसार के लिए सुझाव तथा वैकल्पिक बाज़ारो की खोज, (३) भारत-निर्मित वस्तुओ के प्रसार को प्रोत्साहित करना और अन्तिम (४) भारत द्वारा अन्य समुद्र-पार देशो मे भेजने वाले व्यापारिक शिष्ट-मण्डलो को दी जाने वाली सुविधाओ पर विचार।

१३. राजकीय व्यापार-निगम और तदनन्तर—१९४७ मे स्वतन्त्र होने के बाद प्रारम्भिक वर्षों मे भारत का निर्यात-व्यापार बहुत सन्तोषप्रद रहा था। १९४८-४९ और १९५१-५२ के बीच भारतीय निर्यात मे ६० प्रतिशत वृद्धि हुई। किन्तु विश्व के निर्यात की वृद्धि की तुलना म भारत के निर्यात की वृद्धि-दर बहुत कम रही। सरकार ने १९५६ मे राजकीय व्यापार निगम (स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन) की स्थापना की।

राजकीय व्यापार के सम्बन्ध मे दो समितियो ने भी अपनी रिपोर्ट इसके पक्ष मे प्रस्तुत की थी, किन्तु इनके अनुसार राजकीय व्यापार का क्षेत्र सीमित होना चाहिए। प्रथम समिति (१९४९), जिसके अध्यक्ष डॉ० पी० एस० देशमुख थे, ने खाद्यान्न, उर्वरक, केन्द्रीय सरकार के विभिन्न विभागो के आयात निर्यात सम्बन्धी कार्य, पूर्वी अफ्रीका के कपास का आयात, छोटे रेशे वाली कपास का निर्यात तथा कुटीर उद्योगों की वस्तुओ के निर्यात को ऐसे निगम को सौंपने की सिफारिश की थी। प्रथम योजना के द्वितीय चरण म श्री एस० वी० कृष्णमूर्ति राव की अध्यक्षता मे नियुक्त दूसरी समिति ने केवल हथकरघे के कपडे तथा चुने हुए छोटे पैमाने व कुटीर उद्योगो के निर्यात को निगम को सौंपने की सिफारिश की। कर-जाँच-आयोग (१९५३-५४) का मत राजकीय व्यापार के विरुद्ध था।

अस्तु, १८ मई, १९५६ को राजकीय व्यापार-निगम की स्थापना एक मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी के रूप मे की गई। प्राक्कलन-समिति (एस्टीमेट्स कमेटी)

ने सक्षेप मे इसके कार्यक्षेत्र को इस प्रकार व्यक्त किया

(१) भारत के विदेशी व्यापार—मुख्यत साम्यवादी देशों से—मे विविधता और विस्तार लाने की कठिनाइयाँ दूर करना ;

(२) स्थिर मूल्य-स्तर बनाए रखने तथा माँग और पूर्ति मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना ,

(३) आवश्यक वस्तुओ की माँग और पूर्ति के अन्तर को पूरा करने के लिए बड़े परिमाण मे आयात का प्रबन्ध करना । तथा ,

(४) निजी व्यापार के पूरक के रूप मे काम करना ।

इन आधारो पर राजकीय व्यापार-निगम ने कार्य प्रारम्भ किया । जुलाई, १९५६ मे कच्चे लोहे और मैंगनीज़ के निर्यात के लिए कुल कोटे का एक-तिहाई निगम को दिया गया । १९५७ मे लोहे का सम्पूर्ण कोटा तथा मैंगनीज़ का आधा कोटा निगम को सौप दिया गया । इनके इलावा नमक, कच्चे जूट का निर्यात भी इसे सौप दिया गया और अब वह अनेक वस्तुओ के निर्यात मे सलग्न है जिनकी सख्या निरन्तर बढ रही है । साम्यवादी देशो से व्यापार करने के कारण निगम के व्यापार मे आशातीत वृद्धि हुई, किन्तु भारत के कुल निर्यात मे १९५६-५७ मे निगम का भाग १ प्रतिशत तथा १९५७-५८, १९५८-५९ मे ३-४ प्रतिशत था । सरकार ने १९५६ मे ही निगम को सीमेन्ट का आयात तथा भारत के रेल-केन्द्रो पर सामान मूल्य पर इसके वितरण का कार्य भी सौपा था ।

१४. निर्यात-प्रोत्साहन—अगस्त १९५९ मे निर्यात-प्रोत्साहन परामर्श-समिति (एक्सपोर्ट प्रोमोशन एडवाइज़री काउन्सिल) की अवधि समाप्त होने पर इसे पुनः सगठित किया गया तथा इसकी सदस्य-सख्या बढा दी गई । २६ अगस्त, १९५९ को इसकी स्थायी समिति (स्टैंडिंग कमेटी) बनायी गई जो निर्यात को प्रभावित करने वाली दिन-प्रतिदिन की समस्याओ के बारे मे सरकार को सलाह देती है । इस समय विभिन्न उद्योगो से सम्बन्धित ग्यारह निर्यात-प्रोत्साहन-समिति (एक्सपोर्ट प्रोमोशन काउन्सिल) काम कर रही हैं, यथा सूती और रेशमी वस्त्र उद्योग, लाख, चमडा, अभ्रक आदि मे ।

नुमाइश, व्यापारिक शिष्टमण्डलो द्वारा भी निर्यात-प्रोत्साहन की दिशा मे काम हो रहा है । इटली, जापान, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया की नुमाइशो मे भारतीय वस्तुओ का प्रदर्शन आयोजित किया जा चुका है । विभिन्न उद्योगो की निर्यात-प्रोत्साहन-समितियो ने व्यापारिक शिष्टमण्डल भी बाहर भेजे है ।

उपर्युक्त उपायो का फल तो समय बीतने पर ही मिलेगा, किन्तु कुछ लाभ अब भी दिखाई पड रहा है । द्वितीय योजना के पहले चार वर्षों मे वार्षिक निर्यात का औसत मूल्य ६१० करोड रु० था जबकि योजना का अनुमान ५८८ करोड रु० ही था ।

तृतीय योजना मे विदेशी व्यापार की नीति यही रहेगी—आयात की किफायत तथा निर्यात को उच्चतम स्तर तक पहुँचाना । तृतीय योजना मे यह अनुमान

निहित है कि निर्यात मे निरन्तर वृद्धि होगी—एक तो उत्पादन की वृद्धि द्वारा रूढि-निर्यात (ट्रे डीशनल एक्सपोर्ट) की वृद्धि तथा दूसरे नई वस्तुओं के निर्यात की वृद्धि ।

१५. भारत के *समुद्र-वाहित व्यापार की विशेषताओं मे हुए परिवर्तन*—१९४७ तक आयात और निर्यात की प्रमुख वस्तुओं का सापेक्षिक महत्त्व दृष्टिगत रखने पर प्राय. कथित इस सत्य को 'कि भारत के निर्यात का अधिकाश खाद्यान्न तथा कच्चा माल और आयात का अधिकाश निर्मित वस्तुओं का है' पुष्टि होती है ।

भारत के वैदेशिक व्यापार की दूसरी विशेषता यह भी है कि जहाँ आयात वस्तुओं की परिधि काफी विस्तृत है वहाँ उसके द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुएं बहुत थोडी हैं, जैसे कपास, जूट, तिलहन तथा खाद्यान्न ।

तीसरी विशेषता यह है कि भारत के विदेशी व्यापार मे इगलैंड की दशा बहुत महत्त्वपूर्ण स्थिति मे है, विशेष रूप से जहाँ तक हमारे आयात का सम्बन्ध है (देखिए, सेक्शन १५-१६) । निर्यात की दृष्टि से, यद्यपि भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्राहक ग्रेट ब्रिटेन है, किन्तु कुल व्यापार सम रूप से अनेक देशो मे विभाजित है ।

१९५०-५१ के बाद

भारत के विदेशी व्यापार की उपर्युक्त विशेषताएँ १९४७ से पूर्व काल की हैं । स्वतन्त्रता के पश्चात् विशेषकर १९५१ के बाद से हमारे विदेशी व्यापार की विशेषताओं मे परिवर्तन हो गया । १९५१ के बाद भारत के विदेशी व्यापार की विशेषताओं मे हुए परिवर्तन इस प्रकार हैं—

आयात के १९५०-५१ के आंकडो की तुलना १९५८-५९ के आंकडो से करने पर पता चलता है कि प्राथमिकता का क्रम लोहे और इस्पात, खाद्यान्न, तेल, रसायन और धातुओं के बीच बदल गया है तथा मशीन सदैव चोटी पर रही है ।

अब भारत के विदेशी व्यापार मे यू० के० और यू० एस० ए० महत्त्वपूर्ण हो गए है । यू० के० (इगलिस्तान) का भाग तो घट रहा है । इन दो देशो के अलावा इधर हाल मे रूस और जर्मनी भी महत्त्वपूर्ण हो गए हैं क्योकि उद्योगीकरण की आवश्यकताएँ इनके द्वारा पूर्ण की जा रही हैं ।

हमारे विदेशी व्यापार की एक अन्य विशेषता द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते हैं । इनका उद्देश्य आवश्यक पदार्थो को सुलभ करेन्सी (सोफ्ट करेन्सी) क्षेत्रो से आवश्यक सामान प्राप्त करना तथा भारतीय सामान के निर्यात को प्रोत्साहित करना है ।

राजकीय व्यापार की बढती हुई महत्ता विदेशी व्यापार की ऐसी विशेषता है जिसकी तुलना अन्यत्र सरलता से नहीं की जा सकती । राजकीय व्यापार निगम का उद्देश्य अन्य बातो के अलावा साम्यवादी देशो के साथ व्यापार की वृद्धि करना है ।

१६ व्यापार की रचना मे हाल मे हुए परिवर्तन—१९३९-४५ के युद्ध-पूर्व कच्चे माल का निर्यात अग्रगण्य था । अब उनका स्थान निर्मित वस्तुओं ने ले लिया ।

युद्ध-काल मे कच्चे माल के निर्यात मे जो कमी हुई उसका कारण यह नहीं था कि देश के बढते हुए उद्योगो मे इनका उपभोग होने लगा था । इसका वास्तविक

मे ५८% हो गया।

निर्यात व्यापार मे भी ग्रेट ब्रिटेन से दूर हटने की प्रवृत्ति के दर्शन हुए। शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत के निर्यात का २९% इगलैण्ड, २५% शेष यूरोप, २४% सुदुर पूर्व, ७% सयुक्त राज्य तथा १५% अन्य देशो मे वितरित था। १९१४ मे इगलिस्तान का हिस्सा घटकर २४%, शेष यूरोप का बढकर २९%, सुदूर-पूर्व का केवल १७% (अफीम और सूत का निर्यात घटने के कारण), सयुक्त राज्य का बढकर ९% तथा अन्य देशो का २१% हो गया। इससे स्पष्ट हो गया कि व्यापार का जो भाग इगलिस्तान ने खोया वह महाद्वीपीय यूरोप ने प्राप्त किया।

१९ युद्धकाल (१९१४-१८) मे भारत के व्यापार का वितरण—इस काल मे इगलैण्ड से दूर हटने वाली प्रवृत्तियाँ तो क्रियाशील रही ही, साथ ही उसके युद्ध मे व्यस्त हो जाने क कारण वे और भी तीव्र हो गई, क्योकि गृह-सरकार ने निर्यात को प्रतिबन्धित कर दिया था तथा कीमते भी काफी ऊँची हो गई थी। अत इगलैंड भारतीय बाजार मे स्थान खोता गया। भारत के आयात-व्यापार मे उसका हिस्सा ६४ १% से घटकर १९१८ १९ मे ४५ ५% हो गया। सम्पूर्ण युद्धकाल को दृष्टिगत रखन पर, उसका हिस्सा युद्ध-पूर्व औसत ६२ ८% से घटकर युद्धकाल मे औसतन ५६ ५% रह गया। इससे तथा भारतीय बाजारो मे जर्मनी के स्थान रिक्त करने से जो कमी हुई उसकी पूर्ति जापान और सयुक्त राज्य ने की। अब लोहा, इस्पात और कितने ही ऐसे सामान इन देशो से मँगाए जाने लगे। जापान से शीशे के बरतन, कपडा तथा कागज और सयुक्त राज्य से रग सामग्री आने लगी।

जहाँ तक निर्यात का प्रश्न है, युद्धकालीन क्रय तथा निष्पक्ष एव शत्रु-देशो को निर्यात करने पर लगे प्रतिबन्धो के कारण, कुछ समय के लिए इगलिस्तान और ब्रिटिश कामनवेल्थ के साथ व्यापार बढा। इसका कारण यह था कि मित्रराष्ट्र होने से इनको लाभदायक स्थिति प्राप्त हो गई थी। इसके अतिरिक्त ये युद्ध के अखाडो से काफी दूर भी थे। इनका निर्यात भी भारत के साथ पर्याप्त मात्रा मे था और इन्होने भारत के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न भी किये। इसके अलावा अन्यत्र औद्योगिक उत्पादन के लिए भारतीय माल की माँग भी घट गई थी। इस प्रकार कुल मिलाकर, भारत को युद्धकाल मे अपनी सामग्री एक सीमित बाजार मे भेजनी पडती थी। यह ठीक है कि इसके लिए उसे युद्ध पूर्व कीमतो से ऊँची कीमते मिली, किन्तु इनके बदले मे उसे आयात पर कही अधिक मूल्य चुकाने पडे।

२०. भारत के विदेशी व्यापार (१९१४-१८) की युद्धोत्तर प्रवृत्तियाँ—युद्धोत्तरकाल म इगलैण्ड भारत के आयातो के सम्बन्ध मे अतत पूर्वस्थिति स्थापित कर ही रहा था कि फिर ह्रास आरम्भ हो गया। १९३०-३१ और १९३१-३२ मे कुछ राजनीतिक कारणो ने इसमे विशेष योग दिया।

भारत के आयात व्यापार म जापान और सयुक्त राज्य को भी थोडा-सा स्थान छोडना पडा। जापान के स्थान छोडने का कारण १९२०-२१ का वाणिज्य-सकट था। दोनो देशो के निर्यात को प्रभावित करन वाला अन्य कारण पुराने प्रति-

द्वन्द्वियों का आगमन और पुरानी होड का प्रारम्भ था। जापान ने १६३६-३७ तक जो हिस्सा बढाया था वह १६३७-३८ मे घटने लगा। इसका प्रधान कारण चीन-जापान का युद्ध था। युद्धोत्तर-काल मे, विशेष रूप से १६२२-२३ मे, जर्मनी आश्चर्य-जनक शीघ्रता से अपनी पूर्वस्थिति स्थापित करने लगा।

निर्यात-पक्ष मे इगलिस्तान से दूर हटने की प्रवृत्ति और भी निश्चित रूप से काम कर रही थी। यह उसके युद्धोत्तर औसत मे स्पष्ट रूप से लक्षित होती है, जो कि घटकर २४ २% हो गया जबकि युद्ध काल का औसत ३१ १% था। धीरे-धीरे फिर वृद्धि होने लगी, जो १६२८ मे पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होने लगी और १६२८-२६ में २१ ४% से बढकर १६३६-३७ मे ३४ ३% हो गई। वस्तुत इगलिस्तान का निर्यात आयात से बढ गया और अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन १८ करोड रुपये हो गया। निर्यात व्यापार मे जापान की दशा मे भी अपेक्षाकृत सुधार हुआ। उसका हिस्सा ७ २% से बढकर १५·७% हो गया (१६३४-३५)। उस देश को कच्ची कपास, धातुएँ, बोरे तथा लाख-जैसी वस्तुएँ अधिकाधिक मात्रा मे भेजी गईं। बाद मे भारत जापान को कम माल भेजने लगा तथा जापान का व्यापार भी विनिमय नियन्त्रण द्वारा नियमित किया जाने लगा। इस प्रकार १६३६-४० मे जापान का हिस्सा केवल ६ ६ प्रतिशत रह गया।

२१. द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके उपरान्त व्यापार की दिशा मे परिवर्तन—स्पष्ट कारणो से युद्धकाल मे यूरोपीय देशो से व्यापार प्राय बन्द हो गया। निर्मित वस्तुओं का निर्यात बढा और कच्चे माल का निर्यात घट गया। पहले से ब्रिटेन की कमजोर होती हुई स्थिति इस युद्ध मे और भी बिगड गई। ब्रिटेन से किये गए आयात का मूल्य १६३८-३६ के ४६.५ करोड रु० से घटकर १६४२-४३ मे २६ ५३ करोड रु० हो गया।

१६४५-४६ मे हमारा निर्यात २४०,३६ करोड रु० का था जिसमे ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा ५५.५% था। इगलिस्तान का हिस्सा १६३८-३६ मे ३४ १% था जो कि १६४५-४६ मे घटकर २८.२% रह गया, परन्तु मूल्य ५५,५१ लाख रुपये से बढकर ६७,६१ लाख रु० हो गया। अन्य विदेशो मे सयुक्त राज्य ने हमारे निर्यात की सबसे अधिक मूल्य की सामग्री खरीदी, जिसका मूल्य ६१,६२ लाख रु० था। इसका लगभग आधा मूल्य काजू के कारण था।

२२ भारत का मध्यागार (पुर्नानिर्यात) व्यापार—मध्यागार व्यापार देश मे आयात की गई सामग्री के पुर्नानिर्यात को कहते हैं। जिस देश से पुर्नानिर्यात किया जाता है वह केवल वितरण के केन्द्र का काम करता है। अति प्राचीन काल से भारत अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण थोडा-बहुत पुर्नानिर्यात करता रहा है। सुदूर-पूर्व और पश्चिम के बीच विश्राम-स्थल की स्थिति मे होने के कारण यह पूर्वी और पश्चिमी गोलार्धों के केन्द्र का काम करता रहा। प्राचीन समय मे इस प्रकार के व्यापार की मुख्य सामग्री के रूप मे चीन से रेशम, चीनी मिट्टी के बर्तन, लका से मोती, पूर्वी द्वीप-समूहो से मसाले और कीमती पत्थर मँगाए जाते थे, जो पश्चिमी देशो को भेजे (पुर्नानिर्यात किये) जाते थे तथा वेनिस के शीशे तथा अन्य इसी प्रकार की सामग्रियाँ पश्चिम

से मँगाकर पूर्वी देशो को भेजी जाती थी।[1] इधर हाल मे भी भारत के पुनर्निर्यात व्यापार मे कुछ वृद्धि दिखाई पडी। १६२०-२१ के बाद से यह व्यापार क्रमश घटने लगा। १६३३-३४ मे पुनर्निर्यात व्यापार की दशा कुछ सुधरी और १६३२-३३ के ३ २२ करोड रु० से बढकर (जो १६२०-२१ के बाद निम्नतम था) ३.४२ करोड रु० हो गया। १६३५-३६ से और विकास हुआ—१६३८-३६ मे एक बार घटने के बाद १६४०-४१ और १६४१-४२ में फिर क्रमश बढता हुआ यह ११ ८१ करोड रु० और १५ ३३ करोड रु० हो गया। प्रमुख देशो के हिस्से इस प्रकार रहे—(१६४१-४२) सयुक्त राज्य ८%, बर्मा ८%, अदन तथा अन्य आश्रित देश ६%, और अरब ५%, एंग्लो मिस्री सूडान, ईराक और मिस्र ४%, लका ३%। पुनर्निर्यात व्यापार का अधिकाश सिन्ध और बम्बई से होकर गुजरता था, जो क्रमश ४५% और ४३% व्यापार के लिए उत्तरदायी थे। इसके बाद बगाल का स्थान था जिसके द्वारा व्यापार होता था। १६५१-५२ म भारत के पुनर्निर्यात का कुल मूल्य १३,७५,७४,००० रु० था। १६५६-५७ मे पुनर्निर्यात का मूल्य ५,४६,६८,००० रु० था।[2]

पुनर्निर्यात व्यापार प्रधानतया सूती कपडो-जैसी निर्मित वस्तुओ का है, जो पश्चिमी देशो स मँगाई जाती हैं तथा जिन्हे ईरान, मुस्कात और पूर्वी अफ्रीका खरीदते हैं। पश्चिमी देशो को निर्यात की जाने वाली प्रधान सामग्री कच्चा चमडा और ऊन हैं। ईरान से प्राप्त होने वाला थोडा-सा समूर भी बम्बई से बाहर भेजा जाता है। वही से पहले बहरीन और मुस्कात से आयात किये हुए मोती भी बाहर भेजे जाते थ।

यह ठीक है कि भारत उन एशियायी देशो के लिए जिनके पास अपने बन्दरगाह नही हैं, पुनर्निर्यात का यत्किंचित् काम करता रहेगा, किन्तु वर्तमानकालीन प्रत्यक्ष व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पुनर्निर्यात व्यापार मे भारत का भविष्य बहुत उज्ज्वल नही है।

२३ **व्यापारिक सन्तुलन**—इगलैण्ड के स्वर्णप्रमाप त्यागने के वर्ष (१६३१) से दिसम्बर १६३६ तक भारत से निर्यात किये जाने वाले स्वर्ण की कुल कीमत ३५१ ४० करोड रु० थी। स्वर्ण के निर्यात ने निस्सारण (ड्रेन) की समस्या को जन्म दिया। स्वर्गीय श्री रानाडे तथा अन्य लेखको ने इस आधार पर इसकी कटु आलोचना की कि यह अँग्रेजी सरकार के अपव्यय का परिणाम था।

व्यापारिक सन्तुलन की दृष्टि से द्वितीय विश्वयुद्ध के समय १६३६-४० मे स्थिति फिर सुधरी। १६४१-४२ म जमा-बाकी १०७ ६ करोड रु० तथा १६४२ ४३ मे ६१ ६४ करोड रु० रही। य सख्याएं भारत मे इगलैण्ड की सरकार द्वारा किये गए क्रयो की गणना नहीं करती, अत यह समझना चाहिय कि वास्तविक जमा-बाकी इनम अधिक थी। अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन १६४३ ४४ म ८६ १७ करोड रु० और १६४४ ४५ म ५० ६५ करोड रु० था। १६४५ ४६ म अरक्षाकृत स्वतन्त्र आयात नीति के परिणामस्वरूप व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल रहा। व्यापारिक सन्तुलन दूसरे

१ देखिए, क० ती शाह 'ट्रेड, टैरिफ्स एण्ड ट्रान्सपोर्ट इन इण्डिया', पृ० ६२।

२. देखिए, स्टेटिस्टिकल एब्सट्रैक्ट, १६५६-५७, पृ० ७७०।

वर्ष फिर ४१ करोड रु० से अनुकूल हो गया। मार्च, १९४९ में समाप्त होने वाले वर्ष में आयात मूल्य ५१८ करोड रु० और निर्यात-मूल्य ४२३ करोड रु० था। इस ९५ करोड रु० के अन्तर में पाकिस्तान का प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन शामिल नहीं है। आयात-संख्याएँ भी निम्नानुमान ही हैं, क्योंकि उनका उचित मूल्यांकन नहीं किया गया है। सितम्बर, १९४९ में रुपये के अवमूल्यन के कारण निर्यात को प्रोत्साहन दिया गया तथा आयात पर कठोर प्रतिबन्ध लग गए हैं। इससे व्यापारिक घाटे की समस्या नियन्त्रण में आ गई है। भारत सरकार की बाद की नीति प्रधानतया लेन-देन की बाकी (बेलैन्स ऑफ पेमेन्ट) की प्रवृत्ति से अनुशासित हुई है। पहले तो समस्या यह थी कि आयात को इस प्रकार नियन्त्रित किया जाए कि लेन-देन की बाकी की कमी को समझौते द्वारा एक वर्ष में दिये जाने वाले पौंड-पावने से अधिक होने से रोका जाए। इस दृष्टि से आयात को एक निश्चित सीमा के अन्दर रखना आवश्यक था। किन्तु मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति को कम करने के लिए आयातों के साथ उदार नीति बरतने की भी आवश्यकता थी, अतएव १९४८ के उत्तरार्द्ध में आयात-नियन्त्रण कुछ ढीला कर दिया गया। इसका दूसरा उद्देश्य औद्योगिक तथा उपभोक्ताओं की अत्यावश्यक सामग्री की कमी की पूर्ति करना भी था। परिणामतः आयात में पर्याप्त वृद्धि हुई। जूट और जूट-निर्मित वस्तुओं की अमरीकी माँग घट जाने के कारण निर्यात में काफी कमी हो गई। इससे जुलाई, १९४८ से जून, १९४९ तक व्यापारिक सन्तुलन अत्यन्त प्रतिकूल हो उठा और पौण्ड-पावने से लगभग ८१० लाख पौण्ड वापस किये गए। अतएव मई, १९४९ में उदार आयात नीति को बदलने के उपाय काम में लाए जाने लगे। ओपन जनरल लाइसेंस ११ नरम मुद्रा क्षेत्र (साफ्ट करेन्सी एरिया) के लिए रद्द कर दिया गया। बिना लाइसेंस के नरम मुद्रा क्षेत्र से आयात की जा सकने वाली वस्तुओं की एक संशोधित सूची प्रकाशित की गई (ओपन जनरल लाइसेंस १५)।[1]

पिछले दस वर्षों (१९५०-५१) से हमारा व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल है।[2] द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में भी व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल रहा है, जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से प्रतीत होता है :

द्वितीय योजनाकाल में व्यापारिक सन्तुलन

(करोड़ रु० में) (ट्रेड बैलेन्स)

	१९५६-५७	५७-५८	५८-५९	५९-६० प्रथम अर्द्ध वर्ष	६४-६५
आयात	१०९९.५	१२०४.२	१०४६.२	४७३.१	१२७० ३९
निर्यात	६३५.२	५९४.७	५७६ १	२७२.६	८१३ २६
व्यापारिक सतुलन	४६४.३	६०९ ५	४७०.४	२०० ५	४८७.२८

१. देखिये, इण्डियन ईअर बुक, १९४९, पृ० ३३१-३२।

२. देखिये, 'इण्डियाज फारेन ट्रेड इन द कन्टेक्स्ट आफ इकनामिक डेवलपमेण्ट'—जी० एम० कुशवाहा, इण्डियन जनरल ऑफ इकनामिक्स, जुलाई '५९।

द्वितीय योजनाकाल मे आयात और निर्यात-सम्बन्धी अनुमान गलत सिद्ध हुए। निर्यात की अपेक्षा आयात-सम्बन्धी अनुमानो मे अधिक गलती हुई। अतएव योजना मे काट-छांट आवश्यक हो गई। इस स्थिति के लिए मुख्यतः खाद्य-सम्बन्धी कठिनाई तथा विकास-सम्बन्धी आवश्यकताएं ही उत्तरदायी हैं, किन्तु कुछ अन्य कारण, जैसे स्वेज का संकट, व्यापारिक नीति को कार्यान्वित करने मे प्रशासकीय कमियां आदि का भी हाथ है।

२४ भारत के स्थिति विवरण पत्रक (बैलेंस शीट) मे नामे और जमा की मदें—एक समुचित लेन-देन के लेखे मे आयात और निर्यात मे बिलकुल ठीक-ठीक सन्तुलन होगा। इस बात की स्पष्ट रूप से पुष्टि हो जाएगी, यदि हम केवल दृश्यमान लेन-देन (जैसे आयात निर्यात-कर के विवरण म सम्मिलित तथा प्रकाशित आकडो मे सम्मिलित मद) को ही न देखकर अदृश्य मदो को भी ध्यान मे रखें। अदृश्य मद वे हैं जिनका कस्टम या अन्य प्रकाशित आंकडो मे विवरण नहीं होता।

इसका कारण यह है कि सौदों का आयात अधिक होगा और निर्यात कम। दूसरे, विकास हेतु लिये गए ऋणो व उनके ब्याज की अदायगी तथा विदेश-भ्रमण के मद को खर्च बहुत बडी राशि हैं। विदेशी ऋणो की सहायता से देश मे आधार उद्योगों की स्थापना के बाद निर्यात म वृद्धि होने तथा ऋण और ब्याज की अदायगी बन्द होने के पश्चात् सम्भवत परिस्थिति बदल जाएगी, किन्तु इसमे समय लगेगा।

२५ देश का (भौमिक) सीमान्त व्यापार—भारत की भूमि-सीमा ३००० मील लम्बी है। पश्चिमोत्तर और उत्तर-पूर्व तक फैली यह सीमा-रेखा उसकी तटीय रेखा से अधिक लम्बी है, किन्तु घन, अभेद्य जगलो और दुगम पहाडो के कारण व्यापार म अनेक बाधाएँ पडती हैं। दर्रो की कमी के कारण सीमाप्रान्त देशो मे सचार कठिन था। हम भारत की पुरातन भूमि के स्वभाव और व्यापार की ओर निर्देश कर चुके हैं। मुगल काल मे विदेशी व्यापार काफी ज़ोर से चल रहा था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् १९४७ मे भारत के सीमा व्यापारो म एक मुख्य परिवर्तन हुआ। अफगानिस्तान और ईरान के साथ पाकिस्तान भी इस व्यापार का अग बन गया। सीमा के निकटवर्ती स्थानो से तिब्बत, नपाल, सिक्किम और भूटान से अब भी व्यापार होता है।

पाकिस्तान, अफगानिस्तान और ईरान से मुख्यत कच्चा जूट, कच्ची कपास, चमडा और खाल, फल और तरकारियाँ, नमक आदि का आयात तथा कोयला और कोक, सूती कपडे, रेशम की बनी वस्तुएँ, मसाले, चाय आदि का निर्यात होता है। तिब्बत, नपाल, सिक्किम और भूटान को सूत और सूती कपडे, रजक पदार्थ, लोहे और इस्पात का सामान, चीनी, चाय आदि का निर्यात तथा जानवरो की खालें, तम्बाकू, कच्ची ऊन, तिलहन आदि का आयात होता है।

२६ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक समृद्धि—भारत के व्यापार का आकार इतना अधिक है कि इसे विश्व के देशो मे पाँचवां स्थान प्राप्त है।[1] निकट भूतकाल मे भारत

१. प्रति व्यक्ति व्यापार में भारत लगभग सबसे नीचे है। सम्भवत भारत जैसी जनसंख्या वाले देश

की व्यापारिक वृद्धि को, जो रेलवे-प्रसार तथा सामुद्रिक सुविधाओं का परिणाम है, देश की औद्योगिक प्रमुखता का चिह्न न मानना चाहिए वरन् उसका प्रथम आवश्यक चरण मानना चाहिए ।[1]

अदायगी शेष तथा निर्यात उन्नति के साधन—विदेशी सहायता के बहुत अधिक हो जाने पर भी अदायगी शेष खराब होती गई । रिजर्व बैंक के पास विदेशी मुद्रा का भण्डार ७८५ करोड रुपये तक रह गया और दूसरी पचवर्षीय योजना मे यह गिरकर १८६ करोड रुपये रह गया। तीसरी पचवर्षीय योजना के पहले दो वर्षों मे अदायगी शेष की स्थिति और भी खराब रही यद्यपि हमने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से १३१ करोड रुपया लिया । १९६३-६४ मे कुछ हालत सुधरी, क्योंकि निर्यात १२० करोड रुपया बढा और आयात १२६ करोड रुपया । विदेशी सहायता २२०० करोड रुपये के लगभग ली गई । इसके लेने के बाद भी १९६५-६६ मे अदायगी शेष की हालत खराब रही । ऐसी स्थिति खाली अन्न तथा अन्य वस्तुओ के आयात होने के कारण हुई ।

तीसरी योजना मे व्यापारिक नीति का सबसे बडा लक्ष्य योजना को सफल बनाना था । इसके लिए निर्यात को बढाना, जिससे विदेशी पूँजी कमाई जा सके, तथा निर्यात वस्तुओ के बनाने वाली फर्मों को सुविधाएँ देना था। आयात वस्तुओ और कच्चे माल की जगह स्वदेशी वस्तुओ का उत्पादन करना, जिससे आयात की मात्रा कम हो सके। जहाँ तक हो सके कम आवश्यकता वाली वस्तुओ का आयात बन्द किया जाए और दुर्लभ वस्तुओ का वितरण बराबर मात्रा मे हो।

तीसरी योजना मे निर्यात का लक्ष्य ७४० से ७६० वार्षिक रखा गया और इसकी पूर्ति के लिए उत्पादन को प्रोत्साहन देना, यातायात के अच्छे साधन और वस्तुओ को अच्छी कोटि का बनाना था। मई १९६२ मे बोर्ड ऑफ ट्रेड (Board of Trade) की स्थापना हुई । इस बोर्ड ने अनेक समितियाँ तथा स्वदेशी वस्तुओ को सर्वप्रिय बनाने का प्रयत्न किया है । अब तक १८ के लगभग समितियाँ बना दी गई हैं जिससे वस्तुओ का निर्यात बढ सके । इन वस्तुओ को सर्वप्रिय बनाने के लिए बोर्ड बनाये गए हैं । इस प्रकार हैंडीक्राफ्ट तथा हाथकरघा निर्यात कारपोरेशन (Handicrafts and Handloom Export Corporation) और इंडियन चलचित्र कारपोरेशन (Indian Motion Pictures Export Corporation) देश के निर्यात को उत्साह देने मे लगी है। एक निर्यात निरीक्षण सलाहकार कौंसिल (Export Inspection Advisory Council) अगस्त १९६४ मे सूती कपडे के निर्यात को बढाने के लिए सूती कपडा उद्योग की कमेटी बनाई गई । निर्यात के लिए साख की सुविधाओ को बढाने के लिए रिजर्व बैंक

में प्रति व्यक्ति व्यापारिक वृद्धि में दृश्यमान परिवर्तन होने के लिए यह आवश्यक है कि उसका व्यापार बहुत अधिक मात्रा में बढ़े। यह देखा जाता है कि अन्तराष्ट्रीय विनिमय बड़े देशों की अपेक्षा छोटे देश के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

१. देखिए, खण्ड १, अध्याय ५, इकनामिक ट्रांजीशन इन इंडिया।

तथा स्टेट बैंक संविधान को परिवर्तित किया गया। एक निर्यात साख और गारन्टी कारपोरेशन भी बनाई गई है। एक डाइरेक्टोरेट ऑफ एक्जीबीशन (Directorate of Exhbition) तथा इंडियन इन्सटीट्यूट ऑफ फॉरेन ट्रेड देश के निर्यात को बढ़ाने में जुटे हुए हैं।

इन सबके बाद भी अदायगी शेष की हालत खराब है। देश की वस्तुओं का निर्यात चौथी पंचवर्षीय योजना में कुल ५१०० करोड़ रुपये होगा। इसके मुकाबले में वस्तुओं का आयात पाँच वर्षों में पी० एल० ४८० के आयात को छोड़कर ७२०० करोड़ रुपये का होगा। इस प्रकार वस्तुओं के लेखे में घाटा रिक्त (Deficit) २१०० करोड़ रुपये होगा। ऋण व्याज तथा सिद्धान्त की अदायगी पर ११०० करोड़ रुपया देना होगा। इस प्रकार अदायगी शेष की समस्या को दूर करने के लिए ३२०० करोड़ रुपये की विदेशी सहायता की आवश्यकता होगी।

आन्तरिक व्यापार

२७. (१) तटीय व्यापार—भारतीय तटीय व्यापार को भारतीय जलयानों के लिए सुरक्षित करने के सम्बन्ध में हम उसकी (तटीय व्यापार की) वर्तमान स्थिति और भावी महत्ता देख आए हैं। तटीय व्यापार को देश के आन्तरिक व्यापार का अंग मानना चाहिए, यद्यपि इसमें थोड़ा सा विदेशी व्यापार भी शामिल है।

सांख्यिकीय सामग्री एकत्रित करने के लिए भारतीय तट को अप्रैल १९५७ से निम्नलिखित ६ क्षेत्रों में बाँटा गया है—(१) पश्चिमी बंगाल, (२) उड़ीसा, (३) आन्ध्र प्रदेश, (४) मद्रास, (५) केरल, (६) मैसूर, (७) बम्बई, (८) अण्डमान निकोबार द्वीपसमूह तथा (९) लंका द्वीप, मिनिकाय और अमिनदिवी द्वीपसमूह। १९५६-५७ में तटीय व्यापार का कुल मूल्य ३४३ करोड़ रु० था। इसमें १८० करोड़ रु० का आयात और १६३ करोड़ रु० का निर्यात शामिल था। आयात में १६९ करोड़ रु० से अधिक का व्यापार विभिन्न क्षेत्रों के बीच तथा १० करोड़ रु० का क्षेत्र के अन्दर व्यापार शामिल था। १९५७-५८ (अप्रैल दिसम्बर) में तटीय व्यापार के आयात-निर्यात का मूल्य क्रमशः ११४,१८ लाख रु० तथा १२३,०७ लाख रु० था तथा तटीय व्यापार का कुल मूल्य २३७,२५ लाख रु० था।

भारत के तटीय व्यापार को पूरी तरह विकसित करने के लिए बन्दरगाहों का विकास की विस्तृत योजना, भारतीय व्यापारिक जहाजरानी का निर्माण और तटीय तथा रेल के यातायात का समुचित संयोजन आवश्यक है। लेकिन इस विषय पर हम विस्तृत रूप से प्रकाश डाल आए हैं।[1]

२८. (२) आन्तरिक व्यापार—देश के आर्थिक विकास एवं संगठन के साथ ही आन्तरिक व्यापार भी बढ़ता जाएगा, क्योंकि इससे देश के गाँवों और नगरों में सम्पर्क और भी घनिष्ठ हो जाएगा।

---

१. देखिए, अध्याय ५।

यह सच है कि निर्यात के बाद जो बच जाता है वह सब विक्रय के लिए नही होता, क्योकि उत्पादन का एक हिस्सा स्वय उत्पादको द्वारा उपयुक्त होता है। उदाहरणार्थ, किसान अपने द्वारा उत्पन्न खाद्य-सामग्री के एक बडे भाग का स्वय उपभोग करते हैं। भारत के आन्तरिक व्यापार का महत्वाकन इस बात से हो सकता है, "प्रत्येक १ एकड जमीन—जिससे उत्पन्न अन्न, तिलहन, कपास और चाय का निर्यात होता है—की तुलना मे ११ एकड जमीन से उत्पादित सामग्री स्थानीय उत्पादको द्वारा उपभुक्त होती है।"[1] उत्पादको द्वारा उपभुक्त इस कृषि-उत्पादन के साथ ही खनिज पदार्थों-जैसी सामग्रियो को, जिनका अल्पाश ही बाहर भेजा जाता है, ध्यान मे रखना होगा।

विश्वसनीय आंकडो के अभाव मे भारत के आन्तरिक व्यापार के आकार की कोई निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत नही की जा सकती और न विदेशी व्यापार से तुलना ही की जा सकती है। १९२०-२१ के 'इनलैंड ट्रेड ऑफ इण्डिया' के आधार पर इसका मूल्य लगभग १५०० करोड रु० आंका गया। इस प्रकार बाह्य[2] और आन्तरिक व्यापार मे १ : २½ का अनुपात स्थापित किया जा सका।

राष्ट्रीय नियोजन समिति (नेशनल प्लानिंग कमेटी) की व्यापार-सम्बन्धी उप-समिति के अनुमान के अनुसार १९४० मे देश के आन्तरिक व्यापार का मूल्य ७००० करोड रु० के लगभग था, जबकि बाह्य व्यापार ५०० करोड रु० के बराबर था। आन्तरिक व्यापार-सम्बन्धी आंकडे एकत्रित करने की दृष्टि से भारत को ३६ व्यापारिक क्षेत्रो मे बाँटा गया है, जो मोटे तौर पर भारत-संघ के पहले के राज्य तथा बम्बई, कलकत्ता, कोचीन और मद्रास के बन्दरगाहो का ही प्रतिनिधित्व करते है।

जो संख्याएँ प्राप्य हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि देश के आकार और जनसख्या को देखते हुए आन्तरिक व्यापार की मात्रा कम है।

२६ भारत के प्रधान व्यापारिक केन्द्र[3]—इस सम्बन्ध मे पहले तीन प्रमुख बन्दरगाह कलकत्ता, बम्बई और मद्रास का नाम लिया जा सकता है। कलकत्ता और बम्बई केवल प्रधान बन्दरगाह ही नही है बल्कि व्यवसाय के भी प्रधान केन्द्र हैं। इसके अतिरिक्त बम्बई पाश्चात्य देशो की वस्तुओ का इस देश मे प्रधान वितरक भी है। बम्बई का व्यापार प्रधानतया भारतीय हाथो मे है, जबकि कलकत्ता का व्यापार अधिकतर पाश्चात्यो (यूरोपीयो) द्वारा नियन्त्रित है। मद्रास भी एक प्रधान व्यापारिक केन्द्र है, किन्तु इसकी तुलना बम्बई और कलकत्ता से नही की जा सकती। इन प्रधान[4]

---

१. देखिए 'दि इकनामिक रिसोर्सेज आफ दि ब्रिटिश अम्पायर', स० वार्मबिक, पृ० १४५।

२. के० टी० शाह के मत में यह एक निम्नानुमान है और वह भारत के आन्तरिक व्यापार का मूल्य २५०० करोड रु० आंकते हैं। 'ट्रेड, टेरिफ्स एण्ड ट्रांसपोर्ट', पृ० १२०।

३ देखिये, सी० डब्ल्यू० ई० काटन, 'हैण्डबुक आफ कमर्शियल इन्फारमेशन फॉर इण्डिया', तृतीय सस्करण, पृ० ९२-११३ तथा खण्ड १, अध्याय २।

४. इन प्रमुख बन्दरगाहों के अतिरिक्त निम्न बन्दरगाह भी महत्वपूर्ण है—कोचीन, गोवा, चिटगांव और विजगापत्तम तथा काठियावाड में वेरी, ओखा, पोरबन्दर और भावनगर।

बन्दरगाहो के अतिरिक्त दिल्ली, अहमदाबाद, अमृतसर, आगरा, लाहौर, बनारस, कानपुर, लखनऊ और नागपुर भी व्यापार के बड़े केन्द्र हैं। कानपुर उत्तर प्रदेश का एक प्रधान रेलवे जकशन है तथा बम्बई और कलकत्ता के बीच स्थित है। इस प्रकार यह विदेशी और गृह वस्तुओ के वितरण का भी केन्द्र है। दिल्ली, जोकि भारत की राजधानी है, ९ रेलवे लाइनो का जकशन है और पजाब तथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलो का निकास-गृह है—विशेषकर सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े की वस्तुओ मे। बम्बई के बाद अहमदाबाद सबसे प्रधान नगर है। अमृतसर पुनर्निर्यात का ही प्रधान केन्द्र नही है, बल्कि यहाँ कपड़े का भी काफी व्यवसाय होता है। यह दरी और कालीनो के लिए भी मशहूर है। आगरा दरी, कालीन, पत्थर का काम और जरी के अतिरिक्त चमड़े के सकलन का भी एक प्रधान स्थान है। पजाब के कृषि-उत्पादन के व्यापार का प्रधान केन्द्र लाहौर है। बनारस रेशम की बुनाई का केन्द्र है। लखनऊ अवध के कृषि-उत्पादन को एकत्र और वितरित करता है। नागपुर का व्यावसायिक महत्त्व बुनाई, कपास ओटने तथा दबाने की मिलो और फैक्ट्रियो के कारण है तथा यहाँ समीप ही मैंगनीज की खानें भी हैं।

१० व्यावसायिक काम तथा व्यापार-सगठन[1]—व्यापार-आयुक्त विदेशो मे नियुक्त किए जाते हैं और दूतो को विदेशो मे रखा जाता है, जिनका प्रधान कार्य स्वदेश को विदेशो की व्यापारिक सूचना देना होता है। इन सब बातो से भारत अभी पूर्णतया सज्जित नही है। यद्यपि वाणिज्य सूचना विभाग का जन्म १९०५ में ही हो गया था, फिर भी सरकार के पास जनता या व्यक्तियो तक वाणिज्य सूचना प्रसार के लिए कोई माध्यम नही था। इस समय स्थिति कुछ अधिक सन्तोषजनक है। १९२२ मे पुनर्संगठित वाणिज्य सूचना तथा सांख्यिकीय विभाग भारत सरकार और व्यावसायिक जनता के बीच की कड़ी का काम करता है। इसके दो प्रकार के काम हैं (१) समुद्र-पार व्यापार की वे सूचनाएँ, जो भारतीय व्यापार के लिए हितकर हो सकती है, उनका सकलन एव वितरण, (२) व्यापार और उद्योग आदि से सम्बन्धित अखिल भारतीय महत्त्व के आंकड़ो का एकीकरण और प्रकाशन। इस विभाग से पूछ-ताछ का जवाब दिया जाता और (विभाग के साप्ताहिक पत्र) 'इण्डियन ट्रेड जनरल' प्रकाशित किया जाता था। यह इगलैण्ड के उन व्यापारिक विभागो के सम्पर्क मे भी रहता है जो भारत के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इसके लिए विभिन्न देशो मे भारतीय व्यापार आयुक्त नियुक्त किये गए हैं। इस विभाग का काम भारत के उद्योग-सचालको लदन तथा अन्य देशो मे स्थित भारतीय व्यापार-आयुक्तो, अग्रेजी व्यापार आयुक्त तथा अन्य देशो के व्यापारिक अफसरो के सहयोग से होता है तथा इसका उद्देश्य समुद्र-पार के बाजारो मे भारतीय उत्पादन और निर्माण की माँग को बढ़ाना है। १९२० से नियुक्त लन्दन-स्थित भारत के उच्च आयुक्त को कितने ही विविध वित्तीय काम दे दिये गए हैं, जिनमे से सरकारी भण्डारो की खरीद सबसे महत्त्वपूर्ण

१ देखिये, सेक्शन ८६-७ के साथ ही सेक्शन ११-१२।

है। अतः वह बाहरी देशो मे भारत के वाणिज्य हितों को अधिक प्रोत्साहन देने मे असमर्थ है।

ऊपर वर्णन किये गए सगठन का प्रधान काम बाह्य देशो मे विदेशी वस्तुओं के लिए भारतीय बाजारो मे सम्भावनाओ की सूचना का प्रसार करना है। इस प्रचार को अन्य सगठनों से, जो विदेशी बाजारो मे भारतीय वस्तुओ की सम्भावनाओ और मांगो की सूचना दें, पूरा करने की भी आवश्यकता है। भारत सरकार ने टैक्स-टाइल टैरिफ बोर्ड (१९२६) के सुझाव पर विदेशी बाजारो मे भारतीय सूती वस्त्रो की मांग का पता लगाने के लिए १९२८ मे एक व्यापारिक शिष्ट-मण्डल (ट्रेड मिशन) नियुक्त किया है। इस दिशा मे यह पहला कदम था।[1] मिशन की रिपोर्ट मे मोम्बासा, अलेक्जेण्ड्रिया तथा डरबन में तीन व्यापार-आयुक्तों की नियुक्ति का सुझाव रखा गया। तब से भारतीय व्यापारिक एजेसी और दूत सेवाओं की स्थापना हो चुकी है। अफगानिस्तान, इगलिस्तान (यू० के०), आयरलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, ब्राजील, पाकिस्तान, ईरान, जापान, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड कनाडा, न्यूफाउण्डलैण्ड, बर्मा, मिस्र और लका मे व्यापार-आयुक्त नियुक्त किये जा चुके हैं। अन्य देशो मे शीघ्र ही व्यापार-आयुक्तो की नियुक्ति की सम्भावना है।

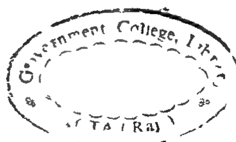
३१. भारत के वाणिज्यिक संगठन—सबसे अच्छे और सुसगठित गैर-सरकारी व्याव-सायिक सगठन यूरोपीय सौदागरो द्वारा बनाये गए। असोशियेटेड चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स ऑफ इण्डिया तथा कलकत्ता (१८३४), बम्बई (१८३६), मद्रास (१८३६) और कानपुर तथा अन्य केन्द्रो के वाणिज्य-मण्डल इसके उदाहरण है। उनकी सदस्यता अभी हाल तक प्रधानतया यूरोपीयो की थी, यद्यपि यह भारतीयो के लिए भी खुली थी। यह पाश्चात्य व्यापारियो का भारत और पश्चिम के बीच व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने का स्वाभाविक परिणाम था। इस समय कितने ही विशुद्ध भारतीय सगठन हैं, जैसे बगाल राष्ट्रीय वाणिज्य मण्डल (बगाल नेशनल चेम्बर ऑफ कॉमर्स) (१८८७) जो कि भारतीय व्यावसायिक समुदाय का सबसे पुराना सगठन है, भारतीय व्यापार-मण्डल और कार्यालय (इण्डियन मर्चेन्ट्स चेम्बर एण्ड ब्यूरो) बम्बई (१९०७), दक्षिण भारत वाणिज्य मण्डल (सदर्न इण्डिया चेम्बर ऑफ कामर्स) मद्रास (१९०९), भारतीय वाणिज्य-मण्डल (इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स) लाहौर (१९१२), भारतीय वाणिज्य-मण्डल (इण्डियन चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स) कलकत्ता (१९२५), महाराष्ट्र वाणिज्य-मण्डल बम्बई (१९२७) तथा यू० पी० व्यापार-मण्डल (१९३२)। एक अखिल भारतीय वाणिज्य और उद्योग मण्डल सघ भी है।[2]

इन सबसे भारतीय व्यावसायिक मत को प्रकट करने मे बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है तथा व्यापारिक और औद्योगिक विकास से सम्बन्धित समस्याओ पर

---

१. देखिये, पीछे [illegible]० २७, और इण्डिया इन १९२८-२९, पृ० १९८।
२. विस्तत विवरण[illegible] लिए देखिये, कॉटन, पूर्वोद्धृत, भाग ४।

सरकार को राय दी जा सकती है। विभिन्न सगठन अपने हितो से सम्बन्धित मत प्रस्तुत करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इडस्ट्री, उद्योगो का मत सरकार के सामने प्रस्तुत करता रहता है। विभिन्न उद्योगो के सगठन इसके सदस्य हैं। पचवर्षीय योजना, करारोपण तथा सरकार द्वारा की जाने वाली किसी आर्थिक जाँच के सम्बन्ध मे उपर्युक्त सस्था उद्योगो का मत भली प्रकार प्रस्तावित और प्रचारित करती रहती है।



अध्याय २०

व्यापारिक समझौते

१. साम्राज्य अधिमान (इम्पीरियल प्रेफरेंस) आन्दोलन का इतिहास— १६०२ में हुए औपनिवेशिक सम्मेलन ने साम्राज्य अधिमान की ऐसी रूपरेखा तैयार की, जो साधारणतया साम्राज्य के हर भाग में लागू होती थी। अत अधिमान-कर (ग्रेटब्रिटेन के पक्ष में) न्यूज़ीलैण्ड, साउथ अफ्रीका (१६०३) और बाद में आस्ट्रेलिया द्वारा लगाये गए। आशा की जाती थी कि ग्रेट ब्रिटेन भी इसका प्रतिदान करेगा और उन देशों को अधिमान देगा, लेकिन उस समय इगलैण्ड अपनी स्वतन्त्र व्यापार-नीति को छोडने के लिए तैयार न था। वह मुख्यतया खाद्यान्न और कच्चे माल का आयात करता था और उसका दृष्टिकोण यह था कि निर्मित वस्तुओ के निर्यात को कायम रखने के लिए आवश्यक है कि वह सबसे सस्ते बाजारो मे खाद्यान्न और कच्चा माल खरीदे— विशेष रूप से खाद्यान्न के प्रश्न मे वह अपने 'सब अडे साम्राज्य रूपी एक टोकरी में रखने के लिए' किसी भी कीमत पर तैयार न था। इस प्रकार उनके आयात-निर्यात-कर मे (१) आगम (रेवेन्यू) कर, (२) सरक्षण-कर और (३) इगलिस्तान के प्रति एव उसके पक्ष मे तथा कभी-कभी भारत तथा साम्राज्य के अन्य देशो के पक्ष मे भी करो मे दी गई छूट सम्मिलित थी। वस्तुओ की एक ऐसी सूची भी थी जिसमे उन वस्तुओ का नाम था, जिन पर साम्राज्य के बाहर से आने पर ही कर लगता था। साधारणत. अधिमान का उद्देश्य ब्रिटेन को लाभान्वित करने का रहा है और साम्राज्य के अन्य देशो से इस विषय पर अलग समझौते करने होते थे। १६१५ से इगलैण्ड ने सरक्षण की ओर कदम उठाए तथा साम्राज्य-उत्पादित कुछ वस्तुओ को अधिमान देने लगा। किन्तु कर-सम्बन्धी यह अधिमान कुछ वस्तुओ तक ही सीमित था। १६३२ (मार्च) मे आयात-कर अधिनियम (इम्पोर्ट ड्यूटीज़ एक्ट) पास होने पर ब्रिटेन ने स्वतन्त्र व्यापार-नीति को औपचारिक रूप से त्याग दिया। साम्राज्य अधिमान की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी।

२. साम्राज्य अधिमान के प्रति भारत का रुख—साम्राज्य अधिमान को अपनाने में भारत की अनिच्छा अशत राजनीतिक कारणों के फलस्वरूप थी।

निम्न कारणो से साम्राज्य अधिमान से भारत को कोई आर्थिक लाभ भी नही था—

(१) भारत का निर्यात प्रधानतया खाद्यान्न और कच्चे माल तथा आयात निर्मित वस्तुओं का था। (२) १६१४ के युद्ध से पूर्व उसके सम्पूर्ण आयात का दो-तिहाई ब्रिटिश साम्राज्य से आता था, जिसमे सबसे बडा भाग इगलिस्तान का था।

(३) १६१४-१८ के युद्ध के पहले भारतीय निर्यात के ४०% की खपत ब्रिटिश साम्राज्य में होती थी, शेष (अधिकांश) अन्य देशों को भेजा जाता था। कुल निर्यात का २५% केवल इंगलिस्तान को ही भेजा जाता था। (४) प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त आयात-निर्यात दोनों में ही, परन्तु मुख्यतया आयात में ब्रिटेन और अन्य कॉमनवेल्थ देशों का महत्त्व घटता गया।

१६०३ में भारत सरकार ने यह मत प्रकट किया कि "आर्थिक दृष्टि से साम्राज्य को भारत से बहुत थोड़ा लाभ हो सकता है तथा इसके बदले में भारत को कम या कुछ भी लाभ नहीं होगा और बहुत-कुछ खोने की सम्भावना है।"[1]

३ **ओटावा-समझौता**—जुलाई और अगस्त, १६३२ में ओटावा में हुए साम्राज्य आर्थिक सम्मेलन में साम्राज्य के देशों में पारस्परिक अधिमान के आधार पर कई व्यापारिक समझौते हुए। भारत ने भी साम्राज्य अधिमान की इस विस्तृत योजना में भाग लिया, जिसके प्रति वह बड़ा विरोध प्रकट कर चुका था। भारतीय आयात-निर्यात-कर (ओटावा व्यापारिक समझौता) संशोधन अधिनियम (दिसम्बर, १६३२) ने २० अगस्त, १६३२ में भारत और इंगलैण्ड के बीच हुए साधारण व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी आवश्यक परिवर्तनों को लागू किया।[2] कर-सम्बन्धी ये परिवर्तन १ जनवरी, १६३३ से लागू किये गए। लोह और इस्पात के सम्बन्ध में एक पूरक समझौता २२ सितम्बर, १६३३ को किया गया।

४. **ओटावा समझौता पक्ष**—१६२६ में प्रारम्भ होने वाले आर्थिक संकट की प्रथम दशा में सभी मूल्यों में भारी कमी हुई, लेकिन यह सापेक्षिक कमी कच्चे माल के सम्बन्ध में अधिक थी।

अन्य देशों में भी उत्पादन बढ़ रहा था—विदेशी निर्यातक, जो १६१४-१८ के युद्ध के पहले अपेक्षाकृत नगण्य थे, अब सबल प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हो रहे थे। हमारे निर्यात की कुछ प्रधान वस्तुओं ने भी प्रतिद्वन्द्विता का अनुभव किया, जैसे तिलहन, कपास, खाद्यान्न, लकड़ी इत्यादि। कितने ही यूरोपियन देशों तथा संयुक्त राज्य द्वारा उष्ण और अर्ध-उष्ण देशों में अपने उपनिवेशों की उत्पत्ति की मांग बढ़ाने की नीति का अनुसरण करने से स्थिति और विषम हो गई। एक अन्य कारण संश्लिष्ट विकल्पों (सिन्थेटिक सब्स्टिट्यूट्स) का शीघ्र विकास था। इनसे भारत के निर्यात की कुछ प्रमुख वस्तुओं की मांग घट गई। इसके अतिरिक्त कितने ही देशों ने 'आर्थिक एकान्तवाद' (इकनॉमिक आइसोलेशन) की नीति का अनुसरण किया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वतन्त्र प्रवाह पर आयात-निर्यात कर, विदेशी विनिमय कर, कठोर नियन्त्रण एवं अन्य अनेक प्रतिबन्ध लगाए तथा कन्टिंजेण्ट और कोटा सिस्टम को अपनाया।

---

१. १६२३ में भारत के प्रतिनिधियों द्वारा साम्राज्य आर्थिक सम्मेलन के समक्ष यह मत पुनः दुहराया गया।

२. देखिए, अध्याय १७, सेक्शन ४, ब्रिटेन के लिए लाभदायक अधिमान-कर भारत लोहा-इस्पात उद्योग की सुरक्षा के लिए स्वीकार किये गए। देखिये, अध्याय ७, सेक्शन ११ और २५।

इसी बीच (सितम्बर, १६३१) ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग कर दिया। इससे भारत तथा साम्राज्य के प्राय सभी देश पौण्ड से सम्बद्ध हो गए। ऊपर बताये गए आयात कर अधिनियम (१६३२) के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन मे कितनी ही वस्तुओ—कुल आयात का लगभग $\frac{3}{4}$ भाग —पर कर लगा दिया गया, यद्यपि साम्राज्य की वस्तुओ को इस कर से मुक्ति देने की व्यवस्था की गई थी। शर्त यह थी कि *वे देश (डोमिनियम और भारत) ब्रिटेन से समझौता कर लें।* इन सबका अन्त ओटावा समझौता के रूप मे हुआ। फ्रास और जर्मनी जैसे अन्य देश मुद्रा-सम्बन्धी कठिनाइयो से ग्रस्त थे। स्टर्लिंग समूह के देश अपेक्षाकृत इन कठिनाइयो से मुक्त थे। अत इनसे व्यापार के सुव्यवस्थित और अबाध गति से चलते रहने की सम्भावना थी।

१६३१ से १६३४ के बीच अधिमान-सूची की कुल वस्तुओ का आयात इंगलिस्तान मे २२ प्रतिशत घट गया। इस सकुचित होने वाले बाजार मे भारत के आयात मे वृद्धि हुई। अतः यह निष्कर्ष स्वाभाविक ही था कि इसमे साम्राज्य अधिमान का हाथ अवश्य रहा होगा। गैर-अधिनियम वाली वस्तुओ के निर्यात मे प्रसार होना अधिक आश्चर्य की बात नही थी, क्योकि इन वस्तुओ को कोई कठिन प्रतिस्पर्धा का सामना नही करना पडता था। यही कारण था कि इन्हे अधिमान-सूची मे सम्मिलित नही किया गया था। गैर-अधिनियम समूह की वस्तुओ मे कुछ और भी अनुकूल प्रभाव क्रियाशील थे, जिनसे इनकी माँग बढ गई। उदाहरणार्थ, कपास की माँग की वृद्धि अधिकाशत लकाशायर की भारतीय कपास समिति के प्रचार के कारण थी। रबर मे होने वाली वृद्धि का कारण प्रतिबन्ध योजना थी। धातुओ की माँग की वृद्धि भारी उद्योगों की बढती हुई क्रियाशीलता के कारण थी। लाख की माँग की वृद्धि के कारण लदन गुट (रिंग) के परिकल्पनात्मक (स्पेकुलेटिव) क्रय थे।

समझौते के आलोचको का यह तर्क, कि इगलिस्तान से हमारे निर्यात-व्यापार की वृद्धि व्यापार के प्रवाह-परिवर्तन के कारण थी, इस विपक्षी तर्क से कट जाता है कि इगलिस्तान को किये जाने वाले निर्यात की वृद्धि ओटावा समझौते के कारण मानी जा सकती है। परन्तु अन्य देशो को होने वाले निर्यात की कमी का तो ओटावा समझौते से कोई सम्बन्ध नही था, क्योकि इसका कारण तो उन देशो द्वारा अपनाई गई आत्म-निर्भरता की नीति थी। वास्तव मे इस प्रतिबन्धात्मक नीति के फलस्वरूप हुई व्यापार की हानि, जिसे भारत और इगलैंड दोनो ही ने उठाया, ओटावा समझौते के समर्थन का प्रमुख आधार है। इसमे सन्देह नही कि तब तक भारत अपने दो-तिहाई निर्यात ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर ही बेचता था, परन्तु विदेशी बाजारो पर अधिकार बनाए रखना उसके लिए कठिन होता जा रहा था। अतएव अधिमान-पद्धति आत्म-रक्षा के रूप मे भारत द्वारा अपनाई गई। ओटावा समझौता के विरुद्ध एक यह भी तर्क दिया जाता था कि इससे भारत के विदेशी ग्राहक उससे बदला लेना शुरू कर देंगे। परन्तु विदेशो द्वारा लगाये गए व्यापारिक प्रतिबन्ध केवल भारत के लिए ही नही वरन् सभी देशो के लिए थे। व्यापार की ये नवीन नीतियाँ नये उद्देश्यो से प्रेरित थी और इन्हे किसी भी हालत मे ओटावा समझौते की विरोधी प्रतिक्रिया नही कहा

जा सकता।

५. ओटावा समझौता विपक्ष—विरोधियो ने ओटावा समझौते का मुख्यतया इस आधार पर विरोध किया कि वह जान-बूझकर भारत के व्यापार की स्वाभाविक प्रगति को भिन्न दिशा मे मोड़ देगा जिससे भारत को गम्भीर क्षति पहुँचेगी। कुछ वस्तुओ को दिया गया अधिमान एकदम अनावश्यक था। उदाहरण के लिए चाय का व्यापार चाय के प्रधान उत्पादको, जैसे जावा, सीलोन और भारत, द्वारा 'चाय प्रतिबन्ध योजना' अपनाने के फलस्वरूप हुए व्यापारिक समझौते के कारण भली प्रकार चल रहा था। उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे अधिमान बिल्कुल व्यर्थ था जो स्वय बाजार मे प्रधान स्थान की अधिकारी थी, उदाहरणार्थ जूट-निर्मित वस्तुएँ, बकरी के चमडे, रेडी मेंनीज, लाख, ग्रौवला, अभ्रक इत्यादि। अन्य वस्तुओ के प्रसार की सम्भावना बहुत कम थी। इसके कई कारण थे—(१) साम्राज्य के अन्य देशो की प्रतिस्पर्धा, उदाहरण के लिए सिझे चमडे मे आस्ट्रेलिया, मूँगफली मे ब्रिटिश पश्चिमी अफ्रीका, चटाइयो म लका, कहवा मे ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका आदि प्रतिद्वन्द्वी थे। कुछ वस्तुओ, उदाहरणार्थ मूँगफली, के लिए विदेशो की तुलना मे इगलिस्तान का बाजार बहुत छोटा था। फिर, कुछ वस्तुओ क सम्बन्ध मे भारत से होने वाला निर्यात इतना नगण्य था कि उसे अधिमान या किसी अन्य प्रकार से प्रोत्साहन देने की आवश्यकता ही न थी, जैसे चावल, तम्बाकू और जौ।[1]

दूसरी आपत्ति यह थी कि अधिमान से या तो सरकार को वित्तीय हानि होती थी (कर की कमी से) या उपभोक्ता को, क्योकि उपभोक्ता सस्ती वस्तुओ के स्थान पर मँहगी अग्रेजी वस्तुएँ खरीदने के लिए बाध्य होता था। लेकिन भारत मे न तो सरकार ही और न उपभोक्ता ही इस प्रकार का त्याग करने मे समर्थ थे।

साम्राज्य अधिमान उन उपनिवेशो और डोमिनियनो के लिए लाभदायक हो सकता था जिनका ब्रिटेन के साथ व्यापार पूरक-स्वभाव का रहा हो। इगलैण्ड को प्राथमिक वस्तुओ की आवश्यकता थी और ये वस्तुएँ उसे कनाडा तथा आस्ट्रेलिया से मिल सकती थी। ये देश ब्रिटिश निर्माणो को खपाने के लिए उत्सुक और समर्थ भी थे। इन दोनो बातो मे भारत की स्थिति भिन्न थी। उसके लिए वाछनीय और लाभदायक यह था कि वह अपने उत्पादनो के लिए इगलिस्तान के बजाय अन्यत्र बाजार ढूँढे। उसके विविध प्राकृतिक साधनो ने उसे यह भी सोचने पर बाध्य किया कि वह क्यो न इन सब बातो मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करे। इस दृष्टि से उसे अनेक अग्रेजी निर्मित वस्तुओ की प्रतिस्पर्धा से सरक्षण की आवश्यकता थी।

भारत के विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियाँ साम्राज्य से उसे दूर खीच ले जा रही हैं।[2] अतएव यह आवश्यक था कि वह अपने विदेशी बाजारो को सुरक्षित

---

१. सर आइनवर्ड ने धारासभा क विवाद में तम्बाकू के व्यापार को ६,०००,००० पौंड का मूल्यवान व्यापार बताया।

२ देखिये, अध्याय ६, सेक्शन १८।

रखने का दृढ और व्यवस्थित प्रयत्न करे, जहाँ उसके अधिकांश निर्यात की खपत होती है। इस उद्देश्य तक पहुँचने का एकमात्र मार्ग यह था कि वह अन्य देशो के साथ द्विपक्षीय व्यापारिक समझौता (बिलेटरल एग्रीमेण्ट) करे।[1] जब तक इगलैण्ड हमारा प्रधान साहूकार था और आयात से निर्यात की अधिकता द्वारा ही भुगतान किया जा सकता था, तब तक कोई खास बात नही थी। इगलैण्ड को या तो भारत के विदेशी बाजारो को स्थिर रखने के लिए उपाय करने होंगे या भारत के विदेशी बाजारो की पूर्ति के लिए अपने बाजार उन्मुक्त करने होंगे, क्योकि इसके बिना भारत इगलैण्ड के प्रति अपनी देनदारियो का भुगतान नही कर सकेगा। तर्क का सार यह था कि यदि भारत ने ओटावा समझौते के अनुरूप अन्तर्साम्राज्यीय प्रबन्धो मे भाग लेने से इन्कार कर दिया होता तो इगलैण्ड की ओर से प्रतिक्रियात्मक साधनो के उपयोग का कोई भय नही था। भारत से इसका बदला लेने पर इगलैण्ड का युद्ध-पूर्व (१९३९ से पहले) का ५० करोड रु० का वार्षिक निर्यात व्यापार भी खतरे मे पड जाता।

इधर हाल मे भारत और इगलिस्तान के बीच व्यापारिक सतुलन के पलट जाने पर ओटावा समझौते के समर्थको ने इससे खूब लाभ उठाया। १९३५-३६ तक इगलिस्तान के साथ भारत का व्यापारिक सन्तुलन ऋणात्मक था। यद्यपि भारत 'अदृश्य आयात', जैसे गृह-व्यय, जहाजो का भाडा और भारत मे विनियोजित विदेशी पूँजी से होने वाले लाभ, के रूप मे इगलैण्ड को बहुत-कुछ रुपया देता था, फिर भी १९३५-३६ तक इगलिस्तान के साथ भारत का व्यापारिक सन्तुलन ऋणात्मक था। १९३६-३७ से भारत के पक्ष मे पर्याप्त निर्यात की बचत हुई है। अत यह कहा जाने लगा कि भविष्य मे होने वाले व्यापारिक समझौते मे भारत को इगलैण्ड के साथ उदारता का बर्ताव करना चाहिए। व्यापार-सन्तुलन को द्विपक्षवाद के सकीर्ण आधार पर समझने से यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इगलिस्तान से सौदो के आयात मे अदृश्य आयातो को भी जोड दिया जाए। यह इसलिए और भी आवश्यक हो गया, क्योकि यूरोपीय देशो के साथ त्रिपक्षी और बहुपक्षी व्यापार मे कमी आ गई थी।

ओटावा समझौते के प्रति असन्तोष का एक प्रधान कारण यह भी था कि भारतीय प्रतिनिधि मण्डल (जिसमे भारतीय वाणिज्य, उद्योग और कृषि के उत्तरदायी प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं थे) अपने सौदा करने की शक्ति का पूरा उपयोग करने मे असमर्थ रहा। उसने दिया अधिक और बदले मे उसे मिला बहुत कम। समझौता बडी शीघ्रता से हुआ और जल्दी ही कार्यान्वित किया गया। इसमे जांच करने वाली किसी योग्य समिति, जैसे प्रशुल्क मण्डल (टैरिफ बोर्ड) इत्यादि, की सहायता नहीं ली गई, जो साम्राज्य के किसी उद्योग के प्रति अभिमानपूर्ण व्यवहार की सिफारिश करने से पहले उन्हे उसी प्रकार कसौटी पर कसती जिस प्रकार विवेचनात्मक सरक्षण प्रदान करते समय उद्योगो की जाँच की जाती है।

६ **बम्बई लकाशायर टेक्स्टाइल समझौता (मोदी लीज पैक्ट)**—यह समझौता बम्बई

१. देखिये, सेक्शन १९ आगे।

मिल-मालिक सस्था, जिसके अध्यक्ष सर होमी मोदी थे और ब्रिटिश टेक्स्टाइल मिशन, जो सर विलियम क्लेयर लीज की अध्यक्षता मे भारत आया था, के बीच हुआ। यह समझौता, जो 'मोदी-लीज' समझौते के नाम से भी प्रसिद्ध है, ३१ दिसम्बर, १६३५ तक के लिए लागू था। भारतीय सूती मिलो के प्रतिनिधियो मे काफी मतभेद था और एक सामान्य मत पर आने के प्रयत्न असफल रहे, फिर भी लकाशायर और बम्बई की मिल-मालिक सस्था के बीच समझौता सम्भव हुआ। यह समझौता आग्ल-भारतीय पूरक समझौते का अग्रदूत था (देखिये, सेक्शन ७)। इसमे उद्योगो को इगलिस्तान से भी सरक्षित रखने के भारतीय अधिकार को स्वीकार किया गया, परन्तु यह भी स्वीकार किया गया कि इगलिस्तान की तुलना मे अन्य देशो से उच्चतर स्तर का सरक्षण आवश्यक था।[1]

बम्बई-लकाशायर समझौता साम्राज्य के औद्योगिक सहयोग द्वारा भारतीय और अँग्रेजी हितो के सयोजन का प्रथम प्रयत्न था। कुछ लोगो के मत मे यह समझौता स्वय ही पर्याप्त रूप से न्यायोचित था। इससे लकाशायर द्वारा भारत की कपास की माँग मे वृद्धि हुई और इस तरह भारत के किसानो को बडा लाभ पहुँचा। लकाशायर ने अपने विरुद्ध भी भारत के वस्त्र उद्योग को सुरक्षित करने की आवश्यकता को मान्यता दी और भारतीय वस्तुओं (कपडो) को उपनिवेशो तथा अन्य समुद्र पार देशो के बाजारो मे स्थान दिलाने का प्रयत्न करने का वचन दिया।

इसके विपरीत समझौते के आलोचको का कथन है कि इसे सम्पूर्ण (भारतीय) सूती वस्त्र उद्योग का समर्थन प्राप्त नही था तथा भारत ने (सूती और कृत्रिम रेशमी कपडो पर कर घटाकर) लकाशायर को निश्चित और पर्याप्त लाभ प्रदान किये, परन्तु इसके बदले मे लकाशायर ने केवल अनिश्चित आश्वासन-मात्र ही दिये। इसका फल यह हुआ कि पहले के सरक्षण की तुलना मे उद्योग का बहुत-कुछ सरक्षण हट गया। समुद्र-पार बाजारो की दृष्टि से भी जब बम्बई की मिलें अपने देश के बाजार में ही बिना सहायता के खडी नही हो सकती थी तो समुद्र पार बाजारो मे लकाशायर की सहानुभूति से उनके स्थान प्राप्त करने की कम ही आशा थी। अन्त मे, जहाँ तक लकाशायर की मिलो द्वारा भारतीय कपास के उपभोग का प्रश्न था, लकाशायर ने एक बडी ही अनिश्चित प्रतिज्ञा की थी कि जापान के समझौते की तरह लकाशायर भारतीय कपास को कम-से-कम एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिए बाध्य न था।

७ (१६३५) का पूरक आग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता—१६३३ के बम्बई-लकाशायर समझौते के उपरान्त १६३४ मे (वस्तुत ६ जनवरी, १६३५) एक आग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता किया गया। यह ओटावा समझौते का पूरक था और उसकी अवधि तक ही लागू रहा।

इगलिस्तान की सरकार ने भी अपनी ओर से भारत के उस कच्चे माल या आधे तैयार माल के आयात को विकसित करने का आश्वासन दिया, जो उन वस्तुओ

---

[1] वी० के० मदन, इण्डिया एण्ड इम्पीरियल प्रेफरेन्स, पृ० १६०।

के निर्माण मे प्रयुक्त होता हो जिस पर भारत मे भेदात्मक आयात-कर लगे हो। उन्होने (ओटावा समझौते के ८वें अनुच्छेद और मोदी लीज पेक्ट के अनुसार) भारतीय कपास की खपत को अनुसन्धान, व्यापारिक जाँच-पड़ताल, बाजार सम्बन्ध तथा प्रचार आदि हर उपाय से बढाने का वचन दिया। उन्होने भारत के खान से निकले लोह (पिग आइरन) को बिना कर के ब्रिटेन मे प्रवेश करने का वचन दिया। शर्त यह थी कि इंगलिस्तान से आयात की जाने वाली लोहे और इस्पात की वस्तुओं के लिए लगाया गया कर १६३४ के लोहा और इस्पात अधिनियम (आइरन एण्ड स्टील एक्ट) मे प्रस्तावित करो से कम अनुकूल न हो।

समझौते के समर्थको का मत था कि इसके द्वारा ओटावा समझौते मे निहित प्रतिज्ञाओ तथा मोदी लीज पेक्ट की निश्चित प्रतिज्ञाओ को कार्यान्वित किया गया। समझौते से भारत का कपास तथा कच्चे और आधे तैयार माल का उपभोग बढ गया और भारत का खान से निकला लोहा (पिग आइरन) इगलैण्ड मे बिना कर के प्रवेश पाने लगा। उपनिवेशो और सरक्षित देशो (प्रोटेक्टरेट) से इगलिस्तान का मिलने वाली सुविधाओ मे भारत को भी हिस्सा देने का वायदा किया गया था।

इसके विपरीत, गैर-सरकारी व्यापारिक मत इसके विरुद्ध था, क्योकि इससे १६२३ मे स्थापित विवेचनात्मक सरक्षण और अर्थ-स्वतन्त्रता-समझौते (फिस्कल आटोनोमी कन्वेशन) का प्रभाव नष्ट हो गया। समझौते मे पारस्परिक समता का भी अभाव था। इसमे भारतीय हितो की अपेक्षा ब्रिटिश हितो का अधिक ध्यान रखा गया था जब कि भारत ने निश्चित प्रतिज्ञाएँ की। ब्रिटेन ने भारतीय कपास के उप भोग के विकास-विषयक विभिन्न उपचारो पर विचार करना-भर प्रस्तावित किया और ऐसे वायदे किये जिनका निकट भविष्य मे कोई वास्तविक मूल्य और उपयोग न था।

यह भी कहा गया कि इस समझौते मे कोटा या कर के प्रतिशत मे कमी से कही भयकर सिद्धान्तो की व्याख्या की गई। जब सरक्षण एक निश्चित समय के लिए स्वीकार कर लिया गया था, फिर उस प्रश्न को इगलिस्तान के कहने से पुन उठाना वाञ्छनीय नही था। इस प्रकार की नीति भारत के औद्योगिक विकास के लिए बाधक सिद्ध होने के अतिरिक्त नये उद्योगो के प्रारम्भ के लिए घातक सिद्ध होगी।

यह पूरक व्यापारिक समझौता ओटावा-समझौते के साथ ही समाप्त हो गया और इसे फिर से नया करने का प्रयत्न नही किया गया।

८ ओटावा समझौते पर धारासभा का विरोधी निर्णय—३० मार्च, १६३६ मे भारतीय धारासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा ओटावा-समझौते तथा इसके पूरक ब्रिटिश व्यापारिक समझौते को अस्वीकृत कर दिया और इनके लागू रहने के विरुद्ध मत प्रकट किया।

२० अक्तूबर, १६३६ को वाणिज्य विभाग द्वारा प्रकाशित एक विज्ञप्ति मे बताया गया कि दोनो सरकारो ने यह स्वीकार किया है कि एक नया समझौता होने तक १६३२ का समझौता लागू रहेगा, जिसे (किसी भी ओर से) तीन महीने का

नोटिस देकर रद्द किया जा सकता है। यह भी कहा गया कि समझौता न भी हो तब भी दोनों पक्षों को अपने अधिमानों को दूसरे से राय लिये बिना हटाना या रोकना नहीं चाहिए।

९. आंग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता (१९३९)[1]—यह बातचीत ढाई वर्ष तक चलती रही। इसके उपरान्त पहले के दोनों समझौतों के स्थान पर १९३९ में एक नया समझौता किया गया। गवर्नर-जनरल ने अपने प्रमाणन (सर्टीफिकेशन) अधिकार का अनुसरण करते हुए इसे वैध रूप दिया। नये समझौते में ओटावा समझौते का रूप बहुत बदल दिया गया। यद्यपि अब भी भारत के निर्यात की अनेक वस्तुएँ अधिमान-क्षेत्र के अन्तर्गत थीं, किन्तु ब्रिटेन को दिये गए अधिमान का क्षेत्र काफी संकुचित कर दिया गया, क्योंकि पुरानी अधिमान-पद्धति के अन्तर्गत खाद्य, पेय, तम्बाकू तथा कच्चे और अर्ध-निर्मित माल अब अधिमान के अधिकारी नहीं रहे। नये समझौते में अधिकतर मदों का सम्बन्ध विशिष्ट उत्पादनों (जिनका भारत में उत्पादन नहीं होता था) से था, जैसे मोटरकार, साइकिल इत्यादि।

जहाँ तक अन्य मदों का सम्बन्ध था (उदाहरणार्थ ऊनी कालीन, कम्बल, औषधियाँ आदि) ब्रिटेन से इनके विशेष प्रकार मँगाए जाते थे जिनका उत्पादन भारत में नगण्य था। अधिमान की कुछ मदों की पुनः परिभाषा की गई, ताकि भारतीय उपभोक्ता के हित में अनेक वस्तुएँ, जो पहले अधिमान की अधिकारी थीं, अब अधिमान न पाएँ। एक महत्वपूर्ण अन्तर यह हुआ, जबकि ओटावा समझौते में भारत में संरक्षण-प्राप्त वस्तुओं को बिलकुल अछूता छोड़ दिया था, कि नये समझौते में लंकाशायर की वस्तुओं पर लगे करों की व्यवस्था को सन्निहित किया गया था, हालाँकि सरकारी तौर पर भारतीय सूती वस्त्र उद्योग संरक्षित उद्योग था।

भारत ने ब्रिटेन से आयात की जाने वाली अनेक वस्तुओं, जैसे रसायन, रंग, कपड़ों के अवशिष्ट, ऊनी कालीनों, सीने की मशीनों इत्यादि, पर १०% तथा मोटरकार, मोटर साइकिल और स्कूटर, साइकल तथा ग्रामोफोन पर ७½% अधिमान दिया।

जहाँ तक खान से निकले लोहे (पिग आयरन) का सवाल है, हालाँकि इसका आयात ब्रिटेन में बिना कर के था, फिर भी ब्रिटिश सरकार ने यह अधिकार सुरक्षित रखा था कि यदि १९३४ के लोहे और इस्पात-सम्बन्धी अधिनियम के समाप्त होने के बाद भारत से ब्रिटेन को भेजे गए लोहे और इस्पात की वस्तुओं पर अधिनियम में प्रस्तावित दरों से अधिक प्रतिकूल कर लगाये गए तो वह भी भारत के खान से निकले लोहे (पिग आयरन) पर (३१ मार्च, १९४१ के बाद) कर लगा देगा।

भारत से बर्मा के अलग हो जाने पर कुछ अधिमान समाप्त हो गए (उदाहरणार्थ उत्खनित (खान से निकला) सीसा, चावल इत्यादि) और कुछ का मूल्य भी घट

---

१. देखिए, मदन, पूर्वोद्धृत, पृ० २००-४९, तथा वा० पी० अदारकर, 'द इण्डियन फिस्कल पालिसी', पृ० ५५६-६७।

गया (जैसे साखू (टीक) की लकडी, मोम, चावल और तम्बाकू)।

हम इस बात की पहले ही पूरी व्याख्या कर चुके हैं कि किस प्रकार नये समझौते मे कपास की वस्तुओ पर (घटते-बढते क्रम से) विष्टय अनुमाप से कर लगाये गए और कैसे उसे एक ओर तो भारत से ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली कपास और दूसरी ओर ब्रिटेन से भारत आने वाले सूती कपडो से सम्बद्ध कर दिया गया। सच तो यह है कि यही समझौते का आधार-भाग था।

जहाँ तक उपनिवेशो का सम्बन्ध है नया समझौता ओटावा समझौते से इस अश मे भिन्न था कि इसमे सीलोन के साथ एक अलग व्यापार-सन्धि की व्यवस्था थी। सीलोन को ओटावा के अधिमान प्रमापो का समझौते के छ महीने बाद तक उपयोग करने का अवसर दिया गया।[1] एक या दो अपवादो को छोडकर भारत और उपनिवेशो के बीच पारस्परिक अधिमान ज्यो-के-त्यो बने रहे।

साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि समझौते को न तो भारतीय सूती वस्त्र उद्योग का और न व्यावसायिक सगठनो का ही समर्थन प्राप्त हो सका।

दूसरे समझौते मे उस समय की भारत की स्थिति को ध्यान मे नही रखा गया। तत्कालीन भारत एक ऋणी देश था, जिसे 'अदृश्य आयात' के लिए ब्रिटिश साम्राज्य को बहुत अधिक देना था। अतएव उसे व्यापारिक सन्तुलन के लेखो मे निर्यात की अधिकता बनाए रखना आवश्यक था। सरकार ने गैर-सरकारी परामर्शदाताओ के मत की भी उपेक्षा की, जिसमे उन्होने भारतीय बीमा कम्पनियो, बैंकिंग तथा जहाजी कम्पनियो के पक्ष मे भेदात्मक नीति के विरुद्ध और समान अवसरो की प्राप्ति के लिए सुझाव रखा था। नवीन व्यापारिक समझौतो का मूल्याकन करते समय यह आवश्यक था कि भारतीय इस्पात सरक्षण अधिनियम के अन्तर्गत इगलिस्तान को दिये गए अधिमानो को भी ध्यान मे रखा जाए।[2]

भारत मे अग्रेजो को प्राप्त अधिमान गैर-सरकारी परामर्शदाताओ के सुझावो से कही अधिक थे तथा भारत को अन्य महाद्वीपीय देशो के साथ समझौता करने से वचित होना पडा, क्योकि उन्हे बदले मे देने के लिए भारत के पास बहुत कम या कुछ भी न था।

यद्यपि भारत द्वारा इगलैड को दिये गए अधिमान ब्रिटेन के लिए निश्चित ही लाभदायक थे, जबकि ब्रिटेन द्वारा भारत को दिये गए आश्वासन केवल आश्वासन अथवा नकारात्मक सुरक्षा के अलावा कुछ नही थे। कारण यह था कि इगलिस्तान को दिये गए अधिमान उन वस्तुओ से सम्बन्धित थे जिनमे इगलिस्तान के निर्यातको

---

१. यह अवधि १५ फरवरी, १६४० को समाप्त हो गई, लेकिन भारतीय प्रवासियों के सम्बन्ध में सीलोन और भारत सरकार से समझौता होने की कठिनाइयों के कारण व्यापारिक सन्धि की बात सफल न हो सकी।

२. देखिए, इण्डियन टेक्सटाइल जनरल (अप्रैल १६३७), इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड पैक्ट, डॉ० वी० के० आर० वी० राव।

को अति कठिन प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता था, जबकि सरकारी अनुमान के अनुसार भारत द्वारा ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली अधिमान-प्राप्त वस्तुओं का व्यापारिक मूल्य ३६.८६ करोड रु० था और ब्रिटेन द्वारा भारत मे भेजी जाने वाली अधिमान-प्राप्त वस्तुओं का मूल्य केवल ७.६८ करोड रु०, गैर-सरकारी अनुमान के अनुसार भारत की प्रभावपूर्ण अधिमान-प्राप्त वस्तुओ (जैसे अलसी, ऊनी कालीन, कम्बल आदि) का मूल्य केवल ६ करोड रु० था। इस श्रेणी मे कर-मुक्त वस्तुओ की गणना करना उचित न होगा, क्योकि ब्रिटेन उन वस्तुओ पर कर लगा ही नही सकता था (उदाहरण के लिए कच्चा जूट), क्योकि ये वस्तुएँ प्रमुख ब्रिटिश उद्योगो के लिए अनिवार्य थी। इसके विपरीत, ब्रिटेन को प्रधानतया निर्यात वस्तुओ, जैसे पेण्ट-रसायन, औजार और वस्त्र आदि, के सम्बन्ध मे अधिमान दिया गया था, जो देश के गृह-उद्योगो के विकास मे बाधक था, परन्तु ब्रिटेन द्वारा भारत को दिया गया अधिमान केवल उस कच्चे माल से सम्बन्धित था जो ब्रिटेन के उद्योगो और शस्त्रीकरण योजना के चालू रखने के लिए आवश्यक था।

लकाशायर के लिए भारतीय कपास के निर्यात को भारत मे ब्रिटिश कपडो के आयात से सम्बद्ध करने की बहुत आलोचना हुई। इस अवस्था मे गैर-सरकारी परामर्शदाताओ के मत की उपेक्षा की गई। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, उसे समान लाभ मिलने की कोई व्यवस्था न थी। जहाँ तक इगलिस्तान द्वारा एक निश्चित मात्रा मे कपास खरीदने का प्रश्न था उससे ब्रिटेन की कोई विशेष हानि होने की सम्भावना न थी। यह मात्रा भी साधारणतया लकाशायर द्वारा खरीदी जाने वाली मात्रा से कम ही थी। इसके स्थान पर भारत से ब्रिटेन की कपास की वस्तुओ की एक निश्चित मात्रा खरीदने का आश्वासन देने के लिए कहा गया जो समझौते से पूर्व के आयात से कहीं अधिक थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की कपास के अनुपातो के बारे मे कुछ भी नही कहा गया, यद्यपि भारत के कपास-उत्पादको ने इस बात की माँग की थी कि ब्रिटेन द्वारा खरीदी जाने वाली कपास का ६५ प्रतिशत छोटे रेशे की कपास होनी चाहिए। भारतीय गैर-सरकारी सलाहकारो के इस मत के बावजूद भी कि यदि भारतीय कपास-उद्योग पर और अधिक अप्रत्यक्ष कर लगाया गया तो ब्रिटेन के कपडो पर भी प्रतिशुल्क लगा दिया जाएगा, लम्बे रेशे की कपास पर लगा आयात-कर दूना कर दिया गया। इससे भारत के सूती मिल उद्योग का सरक्षण कम हो गया, हाथ से बुनने वाले उद्योग पर भी बुरा प्रभाव पडा और नये व्यापारिक प्रस्तावो के प्रति एक विरोधी धारणा उत्पन्न की गई।

नये समझौते को सरसरी निगाह से देखने पर ऐसा लगता है कि ओटावा समझौते में काफी सुधार हुआ है। जहाँ तक अधिमानो के पारस्परिक विनिमय का प्रश्न था, कपास के अनुच्छेद (कॉटन आर्टिकल) को छोडकर इसे न्यायसगत भी कहा जा सकता था। जहाँ तक लकाशायर के कपडे लेने और भारतीय कपास देने का प्रश्न है, भारत के लम्बे रेशे की कपास के आयात के द्विगुणित कर को ध्यान मे रखते हुए, समझौता लकाशायर के पक्ष मे बहुत अधिक था।

१०. भारत-जापानी समझौते की उत्पत्ति (१९३४)—१९०४ के पुराने भारत-जापानी व्यापारिक सम्मेलन का अप्रैल, १९३३ मे भारत सरकार द्वारा विरोध किया गया था। इसकी चर्चा हम पहलेही कर चुके हैं।[1] १९३२ के आरम्भ से येन के मूल्य मे हुए क्रमिक ह्रास से १९३२-३३ मे भारत के लिए जापान के निर्यात अत्यधिक अनुकूल हो गए। भारतीय मिलो को गम्भीर सकट का सामना करना पडा और भारत सरकार को हस्तक्षेप करना पडा। अगस्त, १९३२ मे गैर-ब्रिटिश भूरे कपडे पर मूल्यानुसार ५० प्रतिशत आयात कर की वृद्धि और ५¼ आने प्रति पौण्ड का विशिष्ट कर भी जापानी प्रतिस्पर्धा कम करने मे असमर्थ रहा। अतएव भारत की कपडे की मिलें और अधिक सरक्षण के लिए आवाज उठाती रही। भारत सरकार की ओर से ब्रिटेन की सरकार ने जापान की सरकार को छ महीने के अन्दर पुराने (१९०४) समझौते को रद्द करने की सूचना दी। उस समझौते मे जापान के साथ बडा ही अनुकूल व्यवहार किया जाता था। जब तक १९०४ का व्यापारिक समझौता प्रभावपूर्ण था तब तक भारत सरकार अकेले जापान के विरुद्ध कोई भी कदम उठाने मे असमर्थ थी, १९३३ (अप्रैल) मे पास किये गए उद्योग सुरक्षा अधिनियम (सेफगार्डिंग ऑफ इण्डस्ट्रीज एक्ट), जिसके अनुसार भारत सरकार विदेशी सस्ते माल के आयात से देश के उद्योगो को खतरा होने पर कर लगा सकती थी, से भी कोई विशेष लाभ नही हो सकता था। भारत सरकार के इस निर्णय से जापान मे भारतीय कपास के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया, लेकिन जापान के कातने वालो और कपास के व्यापारियो के बीच भारतीय कपास स्वीकार न करने के लिए जून, १९३३ के प्रशुल्क सम्बन्धी परिवर्तन जारी किए जाने के पूर्व कोई समझौता नही हुआ था। इन प्रशुल्क-परिवर्तनो मे यह घोषणा की गई कि विदेशो से आने वाले कपडो पर (जिनमे जापानी कपडे भी शामिल है) मूल्यानुसार ७५% (मूल्य पर) कर लगाया जाएगा और सादे भूरे कपडो पर कम-से-कम ६¾ पैंस प्रति पौड कर लगाया जाएगा। १९३३ मे एक जापानी प्रतिनिधि-मण्डल भारत आया। तीन महीने की बातचीत के उपरान्त एक समझौता हुआ। १९३४ मे जापानियो ने बहिष्कार समाप्त कर दिया और भारत सरकार ने मूल्यानुसार लगाया गया कर ७५% से घटाकर ५०% कर दिया।

११ १९३४ के समझौते की धाराएँ—जापान के साथ होने वाले समझौते के दो भाग थे—(१) सप्रतिज्ञा (कनवेन्शन), (२) मसविदा या मूल (प्रोटोकल लेख)। (१) इसमें दोनो देशो के भावी व्यापार सम्बन्धो की रूपरेखा निर्धारित की गई थी। (२) इसमें जापान से आने वाले कपडे और भारत से भेजी जाने वाली कपास के सम्बन्ध मे हुए समझौते की विवेचना की गई थी। सप्रतिज्ञा (कनवेन्शन) के बिना मसविदा (प्रोटोकल) स्वत ३१ मार्च, १९३७ को समाप्त होने को था। यदि दोनो मे से किसी भी पक्ष द्वारा छ महीने का नोटिस दे दिया जाता तो सप्रतिज्ञा (कनवेन्शन) भी इसी समय समाप्त होती।

सप्रतिज्ञा (कनवेन्शन) का प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार थी—(१) दोनो

---

१ [illegible]ए, पृ० ७८।

पक्षो ने एक-दूसरे के प्रति परम अनुगृहीत राष्ट्रो-जैसा व्यवहार करने का निश्चय किया। (२) दोनो देशो ने अपने पास समय-समय पर परिवर्तन करने और नवीन प्रवेश्य-कर लगाने का अधिकार सुरक्षित रखा। यह व्यवस्था रुपये और येन के विनिमय-मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो को ठीक करने के लिए की गई थी। (३) जबकि दोनो पक्षो ने इस प्रकार के परिवर्तन के अधिकार अपने पास रखे, वे इस बात पर तैयार थे कि यदि दोनो मे से कोई पक्ष चाहे तो दोनो के पारस्परिक हितो के बीच समझौता करने के कार्य मे अग्रसर हो सकता है।

मसविदा (प्रोटोकल) के प्रधान अनुच्छेद इस प्रकार थे—(१) भारत मे आने वाली वस्तुओ पर लगने वाले प्रवेश्य-कर निम्नलिखित दर से अधिक न होगे—(क) सादे भूरे कपडे (प्लेन ग्रेज) पर मूल्यानुसार ५०% या ५¼ आने प्रति पौण्ड जो भी अधिक हो। (ख) अन्य पर मूल्यानुसार ५०%। (२) मसविदा (प्रोटोकल) मे भारत मे जापानी माल के आयात और भारत से कपास के निर्यात के लिए कोटा सिस्टम की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारत से प्रतिवर्ष (जो १ जनवरी से प्रारम्भ हो) १० लाख गाँठ कपास खरीदने पर जापान को ३२५० लाख गज कपडा प्रतिवर्ष (जो १ अप्रैल से शुरू हो) भेजने का अधिकार था। जापान द्वारा भेजे सूती कपडे के थानो को चार श्रेणियो मे विभाजित किया गया था—(क) सादा भूरा कपडा (प्लेन ग्रेज) ४५%, (ख) किनारेदार कपडा (ग्रेज) १३%, (ग) सफेद (कलफदार) कपडा ८%, (घ) रगीन (रगा हुआ, छपा हुआ) ३४%।

१२. १९३४ के भारत-जापानी समझौते की कार्य-विधि—१९३४ के समझौते से दोनो देशो के बीच की दुर्भावनाएँ समाप्त हो गईं। इससे कपास के उत्पादको, व्यापारियो और कुछ अशो तक मिल-मालिको को भी राहत मिली। लेकिन सबसे अधिक लाभ भारत के कपास-उत्पादको को हुआ और कोटा सिस्टम द्वारा वे निश्चित मात्रा से अधिक कपास जापान भेज सके। उसकी आर्थिक स्थिति मे सुधार से स्थानीय कपडे के उद्योग के लाभान्वित होने की सम्भावना थी, क्योकि जनता ही स्थानीय कपडो की सबसे बडी उपभोक्ता है।

भारतीय दृष्टिकोण से १९३४ के जापान भारत व्यापारिक समझौते को कटु आलोचना का सामना करना पडा। देश मे यह भावना थी कि भारत इस सौदे से घाटे मे रहा। सबसे बडा असतोष कोटा सिस्टम के विषय मे था। जुलाई, १९३६ मे इस समझौते के नवीकरण के सम्बन्ध मे शुरू हुई बातचीत के दौरान मे भारतीय गैर-सरकारी परामर्शदाताओ ने कहा कि इस पद्धति से बचने के अनेक उपाय थे। जापानी तथा जापान मे रहने वाले भारतीय व्यापारियो ने इससे पर्याप्त लाभ उठाया। इस प्रकार समझौते का प्रधान उद्देश्य, अर्थात् जापान से आने वाले कपडे का नियमन, पूरा न हो सका। परित्यक्त टुकडे (फेण्ट्स)[1] कोटा सिस्टम के अन्तर्गत नही थे, अत इनका व्यापार बहुत बढ गया। इसी प्रकार नकली रेशम की वस्तुएँ भी कोटा सिस्टम के अन्दर न थी, इसलिए वे बडी मात्रा मे जापान से भारत आने

१. फेण्ट्स कपडे परित्यक्त टुकडो को कहते है जिन्हें कम प्रवेश्य-कर पर आयात किया जाता है।

लगी। जापानी निर्यातको द्वारा कोटा सिस्टम से बचने की एक और भी कुशल विधि आविष्कृत की गई—यह थी कपड़े की बनी हुई वस्तुएँ, जैसे कमीज़ें, पोशाकें इत्यादि, जिनकी भारतीय बाज़ारों में भरमार हो गई। यह भी कहा गया कि कितना ही जापानी कपड़ा अफगानिस्तान और नेपाल से होकर भारत आता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि मसविदा (प्रोटोकल) के बावजूद भी इस प्रकार निर्यात बढ़ गया और उसका (मसविदा का) जापानी वस्तुओं का उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। गज़ लम्बाई के आधार का दुरुपयोग किया गया और अधिक बड़े अर्ज़ के कपड़े का निर्यात किया गया।

जहाँ तक जापान द्वारा भारतीय कपास को बड़ी मात्रा में खरीदने का प्रश्न है, यह कहा गया कि जापान इसे इसलिए खरीदता था क्योंकि उसे सस्ते माल की आवश्यकता थी। १९३४-३५ में, अर्थात् समझौते के बाद पूरे एक वर्ष में, जापान ने भारतीय कपास की २०,१०,६०० गाँठें खरीदी जबकि पिछले दस वर्ष से वह प्रति वर्ष कपास की १५ लाख गाँठें खरीदता था। इसलिए भारत में गैर-सरकारी व्यापारिक मत यह था कि जापान की कपास-सम्बन्धी न्यूनतम क्रय-मात्रा १८ लाख से १५ लाख गाँठ प्रतिवर्ष कर दी जाए। यह भी कहा गया कि कुछ आगामी वर्षों में जापान में भारत की कपास की माँग कम न होगी, जब तक कि जापान कपास के स्थान पर (स्टेपल फायबर) मुख्य (बड़े) रेशे का उपयोग नहीं करता।

१३. नवीन जापान-भारत व्यापारिक समझौता (१९३७)—१९३४ के समझौते के नवीकरण के सम्बन्ध में १९३६ से चलने वाली बातों में आलोचना के इन सब आधारों पर ध्यान दिया गया। पुराना समझौता ३१ मार्च, १९३७ को समाप्त होने वाला था। इस बार सरकार के वाणिज्य विभाग के गैर-सरकारी परामर्शदाता अपनी माँगों में एकमत थे। प्रथम यह कहा गया कि जापान द्वारा भारत की कपास के क्रय के सम्बन्ध में समझौता वैसा ही बना रहे, लेकिन भारत में आने वाले जापानी कपड़े की मात्रा में काफी कमी की जाए (उदाहरणार्थ ५०० लाख गज़ की कमी की जाए)। फैण्ट्स (परित्यक्त कपड़ों) के लिए भी कोटा की व्यवस्था अपनाने की माँग की गई, जो साधारण कपड़े की मात्रा के २½% से अधिक न हो। जापान से कृत्रिम रेशम के बढ़ते हुए आयात को रोकने के लिए रेशम को भी साधारण कपड़ों के कोटा में शामिल करने का सुझाव रखा गया। ऐसी ही व्यवस्था सिले हुए कपड़ों के बारे में भी लागू करने का सुझाव दिया गया। यह भी कहा गया कि कोटा गज़ लम्बाई के सिद्धान्त पर न लगाकर वर्गगज़ के हिसाब से लगाया जाए और नीचे दरजे का जापानी सूत भी (५० से नीचे का) कोटे के अन्दर आना चाहिए। विविध वस्तुओं के लिए या तो कोटा अपनाया जाए या ऐसा विशिष्ट आयात-कर लगाया जाए ताकि गृह-उद्योगों की सुरक्षा हो सके।

यह संशोधित समझौता १९३७ (अप्रैल) में ३१ मार्च, १९४० तक के लिए लागू किया गया।

जहाँ तक व्यापारिक सप्रतिज्ञा (ट्रेड कन्वेंशन) का सवाल है, पुरानी स्थिति

कायम रही और फिर तीन वर्ष के लिए जापान परम अनुगृहीत राष्ट्र का व्यवहार पाने का अधिकारी हो गया।

कुछ थोडे-से परिवर्तनो को छोडकर, जो १ अप्रैल, १६३७ को वर्मा के विभाजन के कारण आवश्यक हो गए थे, सशोधित मसविदा (प्रोटोकल) भी प्राय. पुरान मसविदे-जैसा ही था। जापान द्वारा १० लाख गाँठें खरीदे जाने पर उसके आयात का कोटा अब ३२५० लाख गज से घटाकर २८३० लाख गज कर दिया गया। यह कमी वर्मा-विभाजन के कारण भारतीय बाजार क सकुचित होने का परिणाम थी। इसी प्रकार जापानी कपडे के आयात की उच्चतम सीमा, जो जापान द्वारा कच्ची कपास की १५ लाख गाँठें खरीदे जाने पर आधारित थी, ४००० लाख गज से घटाकर ३५८० लाख गज कर दी गई।

१६३७ म प्रारम्भ होने वाले समझौते मे गैर-सरकारी परामर्शदाताओ की एकमत सिफारिशो का पूरा स्थान नही मिला और मूलत यह पुराने समझौते से कुछ अधिक अच्छा नही था। भारत सरकार यदि चाहती तो जपानी प्रतिस्पर्धा से क्षतिग्रस्त भारत के नवजात उद्योगो के सरक्षण के लिए अधिक उत्तम शर्तों पर समझौता कर सकती थी, लेकिन गृह-उद्योगो की सुरक्षा की माँग पर ध्यान दिए बिना ही व्यापारिक समझौता वैसा ही रहने दिया गया। इस प्रकार दोनो देशों म व्यापारिक सम्बन्ध पहले जैसे ही रह। अत इस अश तक समझौता जापान के लिए हितकर रहा था।

जहाँ तक कपास र मसविद (प्रोटोकल) का प्रश्न था, जो कुछ अन्तर हुआ वह भारत से वर्मा के अलग हो जाने के कारण था। जापान ने वर्मा से दूसरा समझौता कर लिया, जिसके अनुसार वर्मा म आने वाले जापानी कपडे की मात्रा ४२० लाख गज थी। भारत का कोटा इतना ही कम कर दिया गया। ध्यान रहे कि पुरान मसविदे का आधारभूत कोटा कम करते समय वर्मा की आवश्यकताएँ ७०० लाख गज अनुमानित की गई थी। चूँकि वर्मा का कोटा ४२० लाख गज ही रखा गया, भारत को बाकी २८० लाख गज की खपत करनी पडी।

यह कहा गया कि कॉटन फेण्ट्स को कोटे मे नही शामिल किया गया, हालांकि उच्चतम सीमा सूती कपडे के कोटे की २½% अर्थात् ८६,५०,००० गज कर दी गई थी।

सिल्क फेण्ट्स और कृत्रिम सिल्क को भी समझौते से बाहर रखने पर कडी आलोचना की गई। लेकिन भारतीय सिल्क और कपडे के उद्योग को १६३७ मे वृत्ति विभाग क नोटिफिकेशन से लाभ पहुँचा, जिसके अनुसार कृत्रिम सिल्क के फेण्ट्स को भारत मे आने से रोका गया और कृत्रिम सिल्क पर एक आना प्रति वर्गगज कर लगा दिया गया।

गैर-सरकारी सलाहकारो के कुछ सुझाव स्वीकार नही किय गए। उदाहरण के लिए विविध प्रकार की नियमित वस्तुओ, जैसे तौलिया और सूती कम्बल, के लिए अलग कोटे का इन्तज़ाम नही किया जा सका और न ही भारत के सीमाप्रान्तो स अफगानिस्तान और नैपाल के बाजारो को पुर्ननिर्यात करने पर रोक लगाई गई।

भारत के तटीय जहाजी व्यापार में जापान के घुस पड़ने के सम्बन्ध में कोई रोक-टोक नहीं की गई और जापान तथा भारत के बीच होने वाले व्यापार में भारतीय जहाजों को उचित भाग देने के सम्बन्ध में भी कुछ नहीं किया जा सका। इन दोनों कारणों से भी असन्तोष प्रकट किया गया।

सब बातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि १९३७ के समझौते से भारत की स्थिति पहले से बदतर हो गई। यह बात अवश्य थी कि भारत ने अपनी सौदा करने की शक्ति का पूरा उपयोग नहीं किया। यह अच्छा हुआ होता कि कपास और कपड़े की अदला-बदली के स्थान पर एक विस्तृत और व्यवस्थित व्यापारिक समझौता किया गया होता, जिसमें देश के नवजात उद्योगों, जैसे शीशा, साबुन, रसायन आदि, की सुरक्षा की व्यवस्था होती।

१४ १९४० का अस्थायी समझौता—जापान सरकार से यह आश्वासन पाने पर कि उनका विचार मसविदा (प्रोटोकल) और सप्रतिज्ञा (कन्वेन्शन) की समाप्ति के अन्तर से लाभ उठाने का नहीं है, दिसम्बर १९३९ में भारत सरकार ने व्यापारिक समझौते की समाप्ति के लिए जापान को छः महीने का नोटिस देना आवश्यक नहीं समझा।

३१ मार्च १९४० को मसविदा (प्रोटोकल) की अवधि समाप्त होने पर दोनों सरकारों ने निश्चय किया कि पुराने समझौते की समाप्ति और नये के निर्माण के बीच वे ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिससे एक-दूसरे के हित को हानि पहुँचे।

१९४१ में ब्रिटिश सरकार द्वारा जापान के साथ हुई व्यापारिक सन्धियों को त्यागने के कारण जापान के साथ जल्दी समझौता होने की आशा न रही। अतएव पुरानी जापान भारत व्यापारिक सप्रतिज्ञा (१९३४) की समाप्ति के लिए जापान को छः महीने का नोटिस दिया गया।

१५. १९४१ का नया बर्मा-भारत व्यापारिक समझौता—१९३७ (अप्रैल) में भारत से बर्मा के अलग हो जाने पर नये समझौते के होने तक बर्मा के साथ सम्बन्ध भारत-बर्मा नियम सभादेश (इण्डो-बर्मा रेगूलेशन ऑर्डर इन काउन्सिल) द्वारा निर्धारित होते रहे। इसमें दोनों देशों के व्यापारिक तथा प्रशुल्क-सम्बन्धी मामलों को यथावत् रखा गया। बर्मा सरकार को अपनी बजट-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण इस प्रकार की स्वतन्त्र व्यापारिक नीति ठीक नहीं जँची और १ अप्रैल १९४० को १ अप्रैल १९४१ से सभादेश की समाप्त करने का नोटिस दिया। इसी बीच नवीन समझौते का प्रयत्न किया गया और वह हो भी गया।

इन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत दोनों ने एक दूसरे से परम अनुग्रहीत राष्ट्र का-सा व्यवहार करने का निश्चय किया। इस समझौते की मुख्य बातें निम्न थीं—

(१) **बर्मा द्वारा भारत को दी गई रियायतें**—(क) बर्मा ने भारत की ७७ वस्तुओं, जैसे मछली, कोयला, कपास, उत्खनित लोहा (पिग आयरन) आदि, के स्वतन्त्र प्रवेश का अधिकार दिया। (ख) कुछ वस्तुओं पर ५% से अधिक कर न लगाने का वचन दिया (जैसे आलू, नारियल, रसायन, मादक वस्तुएँ, औषधियाँ, रंग, ऊनी कम्बल आदि)। (ग) कुछ वस्तुओं पर १०% से अधिक कर न लगाने की रिआयत

दी (जैसे कॉफी, सिगार, कुछ मसाले, साबुन (नहाने के), बूट जूते आदि)। (घ) कुछ वस्तुओ पर विशेष दर से टैक्स लगाने की रिआयत दी गई—सुपारी २०%, शराब (एल बीअर) पर उत्पाद-कर के हिसाब से, तम्बाकू पर १ आना प्रति पौण्ड की दर से, और सिल्क (कृत्रिम) पर १५% के हिसाब से इत्यादि।

(२) **भारत द्वारा बर्मा को दी गई रिआयतें**—(क) भारत ने स्वीकार किया कि बर्मा की कुछ वस्तुएँ बिना किसी कर के भारत मे प्रवेश पाएँगी (जैसे रँगने और सिझाने के सामान, गोंद, लाख, लकडी, शहतीर, वार्निश किये सामान, कच्चा लोहा, अल्यूमिनियम, जस्ता और सीसा)। (ख) कुछ वस्तुओ पर विशेष दर से कर लगाया जाएगा (जैसे आलू और प्याज ५%, कहवा १८%, सिगार १०%, तम्बाकू (न बनी हुई) १ आना प्रति पौण्ड। (ग) बर्मा से आने वाले मिट्टी के तेल और भारत से जाने वाले कपडे के कर की अलग व्यवस्था की गई। कपडे के लिए समझौते मे केवल ७½% की व्यवस्था थी, परन्तु बर्मा सरकार ने प्रतिज्ञा की कि इस प्रकार की वस्तुओ पर १०% से अधिक कर न लगाएगी। इसके अतिरिक्त जापानी वस्तुओ पर कोटा सिस्टम कायम रखने से भारत के कपडो की स्थिति और दृढ हो गई। जहाँ तक मिट्टी के तेल का सम्बन्ध है, अधिमान कम करके ६ पाई प्रति गैलन कर दिया गया, जबकि पहले ११½ पाई प्रति गैलन था। भारत सरकार ने युद्ध-काल मे कुल अधिमान के बराबर अधिभार (सरचार्ज) लगाने का अधिकार प्राप्त कर लिया। यह अधिभार (सरचार्ज) ७ अप्रैल १९४१ को कार्यान्वित किया गया। (घ) यह भी आवश्यक समझा गया कि भारत मे आने वाले शहतीर और बर्मा को भेजी जाने वाली चीनी के लिए अलग कर-व्यवस्था की जाए। बर्मा की सरकार ने युद्ध-काल मे शहतीर पर निर्यात-कर न लगाने का आश्वासन दिया और भारत से आने वाली चीनी को विशेष सुविधाएँ दी (जहाँ तक स्थानीय परिस्थितियो मे ऐसा कर सकना सम्भव था)। (ङ) चावल और टूटा चावल कर-मुक्त सूची (फ्री लिस्ट) के अन्तर्गत रखे गए और तब तक बर्मा से आने वाले माल पर चुगी न लगने की व्यवस्था थी जब तक कि अन्य देशो के माल बिना चुगी के आते रहे। यदि टूटे चावल पर चुगी लगे तो १०% का अधिमान दिया जाए। (च) एक देश से दूसरे देश को किये जाने वाले उन निर्यातो के सम्बन्ध मे, जिन पर उत्पाद-कर (एक्साइज ड्यूटी) लगता है।

१६. द्विपक्षी (बिलेटरल) व्यापारिक समझौतों की नई नीति—व्यापारिक नीति की प्रमुखतम विशेषता विशेष रूप से १९३२ के बाद से, यूरोपीय देशो मे अनेक देशो द्वारा कुछ समय के लिए द्विपक्षी व्यापारिक समझौता करने की हो गई है।

अनेक प्रकार के द्विपक्षी-समझौतो मे सबसे अधिक प्रचलित निम्न हैं—(१) निकासी-समझौते (क्लियरिंग) तथा (२) क्षतिपूर्ति या अदला-बदली के समझौते (कम्पेंजेशन या बार्टर एग्रीमेण्ट्स)। दूसरे मे वस्तुओ का सीधा विनिमय होता है। इस प्रकार चुकता करने की आवश्यकता ही नही उठती। इस प्रकार के समझौते दो देशो या व्यक्तियो या फर्मों के बीच हो सकते हैं। निकासी-समझौते (क्लियरिंग एग्रीमेण्ट्स) मे विनिमय की जाने वाली वस्तुएँ निर्दिष्ट नही होती। इनका प्रधान उद्देश्य

विदेशी विनिमय के नियमन के लिए व्यापार को इस प्रकार व्यवस्थित करना है ताकि आयात और निर्यात के बीच सम्यक् सन्तुलन स्थापित हो जाए।[1] यद्यपि अब भी परम अनुग्रहीत राष्ट्र-व्यवहार की धारा को द्विपक्षीय समझौते मे जोड दिया जाता है लेकिन वित्तीय और कोटा-व्यवस्था-सम्बन्धी धाराओ को सम्मिलित करने और औद्योगिक प्रतिज्ञाओ तथा प्रादेशिक अधिमानो के कारण इसका कोई क्रियात्मक प्रभाव नही रह जाता।

सितम्बर, १९३९ मे युद्ध छिड़ने से पूर्व भारत सरकार ने उन सब प्रमुख देशो के साथ व्यापारिक समझौता करने का निश्चय किया जिनके साथ भारत का वाणिज्य-सम्बन्ध था। इनमे जर्मनी, इटली, ईरान, तुर्की इत्यादि प्रमुख थे, जिनकी नियमित विनिमय-नीति से भारत के निर्यात मे बडी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती थी। देश के सामने प्रश्न था—क्या भारत को द्विपक्षी समझौते के पक्ष मे परम अनुग्रहीत राष्ट्र-व्यवहार की पुरानी नीति को त्याग देना चाहिए? (मार्च, १९३९) धारासभा द्वारा ओटावा समझौते का अन्त करने के पक्ष मे दिये गए मत से यह विवाद और भी तीव्र हो गया।

यद्यपि भारत सरकार इस प्रकार द्विपक्षी सन्धियाँ करने के लिए कटिबद्ध हो चुकी थी, फिर भी उन्हे इस नीति की वाञ्छनीयता पर बहुत अधिक विश्वास नही था। उनके विचार मे पिछले कुछ वर्षों मे विश्व की आर्थिक स्थिति के अध्ययन और भारत की वर्तमान परिस्थितियो के अवलोकन से ऐसा कोई परिवर्तन नही दिखाई देता जिससे किसी नीति-परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती हो।[2] कहा गया कि भारत के निर्यात की प्रधान वस्तुएँ कच्चे पदार्थ हैं जो विश्व के बाजारो मे भेजे जाते हैं। अतएव उसकी समृद्धि के लिए आवश्यक था कि उसका व्यापारिक सन्तुलन उसके पक्ष मे हो। इसलिए उसे इन बाजारो मे मुक्त प्रवेश प्राप्त होना चाहिए और भारत परम अनुग्रहीत राष्ट्र के आधार पर अपने लिए खुले दरवाजो को बन्द करवाने के लिए सहज ही तैयार नही हो सकता। द्विपक्षी समझौतो से न केवल समझौता करने वाले देशो का कुल व्यापार घट जाएगा, बल्कि व्यापार के अपने स्वाभाविक मार्गों से मुड़कर अन्य दिशाओ मे जाने से अन्य देश भी हानि उठा सकते हैं। कुल व्यापार की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन को पसन्द करने की नीति से सभी व्यापारिक सन्तुलन नष्ट हो जाएँगे और इस प्रकार विश्व-व्यापार मे स्थायी संकुचन आ जाएगा। इस नीति के अनुसरण से भारत को लाभ की अपेक्षा हानि ही

---

१. देखिए, भारत सरकार के सूचना-सचालक द्वारा प्रकाशित तीसरा नोट 'ऑन इण्डियाज फॉरेन ट्रेड पालिसी' (१९३९) और पाल एन्जिग एक्सचेञ्ज कण्ट्रोल, पृ० १५१-२।

२. जिन आधारों पर यह निष्कर्ष निकाला गया था वे भारत सरकार के सूचना-सचालक द्वारा प्रकाशित १९३९ के प्रेस नोटों में दिये गए हैं। और भी देखिए, बी० के० मदन का लेख 'बिलेटरलिज्म एण्ड इंडियन ट्रेड', 'इण्डियन जरनल ऑफ इकनामिक्स' (जुलाई १९३९) और 'इण्डिया एण्ड इम्पीरियल प्रिफरेन्स', पृ० १९९-२००।

अधिक होगी, क्योंकि इससे उसका विदेशी व्यापार कम हो जाएगा, निर्यात बढ़ जाएगा और आयात कम हो जाएगा। जर्मनी-जैसे सकटापन्न देशो के लिए आयात का नियन्त्रण आवश्यक हो सकता है, लेकिन भारत-जैसे समृद्ध देश द्वारा इस नीति का अनुसरण कोरी हार होगी।

अब भारत की स्थिति विश्व के बाजारो मे प्रधान खाद्यान्न और कच्चे माल के पूरक की नही रही। उदाहरण के लिए अब जर्मनी, जो कि पहले अधिकतर भारत से कच्चा माल खरीदता था, अब उन देशो से खरीद रहा था जिनके साथ निकासी-समझौते (क्लियरिंग एग्रीमेंट्स) किये गए थे। इस प्रकार कपास ब्राजील, पीरू, टर्की और मिस्र से, चमडा दक्षिणी अमेरिका से और तिलहन अर्जेण्टाइना तथा अन्य फ्रेंच उपनिवेशो से खरीदे जाने लगे। इस बात को भी ध्यान मे रखना होगा कि इन देशो की मुद्रा-सम्बन्धी अनिश्चितताएँ तथा अनिश्चित आर्थिक स्थिति इनके साथ द्विपक्षी समझौतो के समुचित सचालन मे बाधा पहुँचाएगी।

अन्य देशो के साथ भी कितनी ही कठिनाइयाँ थी। उदाहरण के लिए फ्रास अपने उपनिवेशो के आयात को प्रोत्साहन दे रहा था और वह चीन की हलकी सुस्वादु चाय को भारतीय चाय की अपेक्षा अधिक पसन्द कर रहा था। सयुक्तराज्य अब भी अपनी एकान्तवादी तिकडियों मे लगा हुआ था और विदेशी व्यापार की अपेक्षा देश के वाणिज्य और विकास को अधिक महत्व दे रहा था। अतएव इन देशो से द्विपक्षी समझौता करने का अवसर कम ही था।

दीर्घकालीन दृष्टिकोण से तो यह कहा जा सकता है कि भारत विश्व से अलग रहकर व्यापारिक इकाई के रूप मे अपना महत्त्व नही रख सकता। उसे अपने अतिरिक्त उत्पादन के लिए विश्व के बाजारो मे स्थान ढूंढना पडेगा और उसकी समृद्धि अन्ततोगत्वा, विश्व के व्यापारियो की समृद्धि से सम्बद्ध है। अतएव उसका हित विश्व-व्यापार के अबाधित और उन्मुक्त प्रवाह मे ही है जिस पर विश्व की समृद्धि निर्भर है।

इसके विपरीत यह कहा गया कि विश्व के समुत्थान और स्वतन्त्र व्यापार के पुनर्स्थापन की बहुत कम आशा है तथा राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता, आर्थिक राष्ट्रीयता और व्यापारिक द्विपक्षीयता कम होने के बजाय घनीभूत ही होगी। इस परिस्थिति मे सुरक्षा के लिए भारत को नवीन व्यापारिक नीति का अनुसरण करना होगा और इसका प्रारम्भ भी भारत-जापान, भारत-ब्रिटिश और भारत-बर्मा समझौतो के रूप मे हो चुका है।

अन्तरिम आयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन के पहले सत्र (सेशन) की तैयारी १९४९ तक कर ली थी, किन्तु हवाना चार्टर की स्वीकृति कम होने के कारण यह स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन की स्थापना अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो जाएगी। आज तक इस सगठन की स्थापना नही हुई है और व्यापार तथा निराशुल्क कर के सामान्य समझौते (जी० ए० टी० टी०—जनरल एग्रीमेण्ट ऑन ट्रेड एण्ड टेरिफ्स) के बाद यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन

की स्थापना का विचार छोड़ दिया गया है।

जी० ए० टी० टी०—१९४७ मे जिस समय जेनेवा मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन का चार्टर तैयार किया जा रहा था, उसी समय चार्टर बनाने वाली समिति के सदस्यो ने आपस मे निराकाम्य (टैरिफ) कर-सम्बन्धी बातो पर आगे बढने का निर्णय किया और जी० ए० टी० टी० की रूपरेखा तैयार की।

यह समझौता १ जनवरी, १९४८ से लागू हुआ और इसमे २३ देश सम्मिलित हुए। जी० ए० टी० टी० के तत्त्वावधान मे जेनेवा मे हुआ निराकाम्य सम्मेलन प्रथम था। इसके अतिरिक्त तीन सम्मेलन और हुए—फ्रास (१९४९), इगलैण्ड (१९५०-५१) और जेनेवा (१९५६)। इन सम्मेलनो का परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे सम्मिलित होने वाली ६०,००० मदो की निराकाम्य दर (कस्टम ड्यूटी) घटा दी गई या स्थिर कर दी गई। इस समझौते को मानने वाले सभी देशो ने इसमे भाग लिया। वस्तुतः जी० ए० टी० टी० मे शामिल होने की इच्छा रखने वाले देश को समझौते मे शामिल होने से पहले अपनी निराकाम्य दर को घटाने के लिए तैयार होना पडता है।

१ जनवरी १९५९ को इस समझौते मे सम्मिलित सदस्यो की सख्या ३७ थी। विश्व के सम्पूर्ण व्यापार का ८० प्रतिशत विदेशी व्यापार इन्ही देशो द्वारा होता है।

१९५८ तक तेरह सत्र (सेशन) हो चुके थे। प्रत्येक वर्ष एक सत्र, जिसकी अवधि लगभग ६ सप्ताह की होती है, होता था।

१९५९ से कम अवधि के दो सत्र करने का निश्चय किया गया। इन सत्रो मे अन्य बातों के अलावा विभिन्न देशो द्वारा प्रस्तुत शिकायतो पर भी विचार होता है।

१९५२ मे भारत ने पाकिस्तान द्वारा जूट के निर्यात पर लगाए भेदात्मक करो के विरुद्ध शिकायत की। दोनो देशो की सरकारें आमन्त्रित की गई और पाकिस्तान द्वारा भारत को जूट तथा भारत द्वारा पाकिस्तान को कोयला देने की शर्तों पर विचार करके एक दीर्घकालीन व्यापारिक समझौता किया गया तथा दोनो देश भेदात्मक करो को समाप्त करने के लिए राजी हो गए।

आधुनिक व्यापारिक समझौते—१९४८-४९ मे भारत ने दस देशो के साथ व्यापारिक समझौता किया। यह व्यापारिक देशो से स्वय—न कि इगलिस्तान द्वारा—सम्बन्ध स्थापित करने की नीति का फल था। दूसरा उद्देश्य सुलभ मुद्रा (साफ्ट करेन्सी) के व्यय तथा दुर्लभ मुद्रा (हार्ड करेन्सी) के सचय का भी था। सन् १९५३ के मुख्य समझौतो मे रूस, मिस्र और सीलोन के साथ किये गए समझौते मुख्य है। रूस और भारत समझौते मे व्यापार के रुपयो मे अर्थ-प्रबन्धन करने की व्यवस्था की गई है।

चीन के साथ एक समझौता २९ अप्रैल, १९५४ को किया गया, जिसमे भारत और तिब्बत के चीनी प्रदेश के बीच सामान्य व्यापार की व्यवस्था की गई। १४ अक्तूबर, १९५४ को एक दूसरा समझौता हुआ, जिसमे दोनो देशो के आयात और

निर्यात की वस्तुओं की व्यवस्था की गई। इस समझौते के अन्तर्गत भारत ने चीन को कलकत्ता होकर अपना माल तिब्बत भेजने के लिए सुविधा प्रदान की। इस समझौते के साथ ही एक अलग पैक्ट भी किया गया, जिसमे भारत से ६० लाख पौ० वर्जीनिया तम्बाकू के निर्यात (चीन को) और चीन से ६० लाख पौ० कच्चे रेशम के आयात का प्रबन्ध किया गया। १४ अक्तूबर, १९५४ को समझौता दो वर्ष के लिए किया गया।

प्रतिवर्ष कुछ व्यापारिक समझौतों मे संशोधन या अवधि की वृद्धि की जाती है तथा नये समझौते किये जाते हैं। इनका उद्देश्य निर्यात के नये बाजार प्रस्तुत करने के साथ भारत के द्विपक्षीय व्यापार के असन्तुलन को दूर करना है। १९५९-६० मे अफगानिस्तान, बल्गेरिया, चिली, पूर्वी जर्मनी, फ्रान्स, इटली, जोर्डन, पाकिस्तान, पोलैण्ड, रूमानिया, स्विट्जरलैण्ड और यूगोस्लेविया के साथ नये समझौते किये गए। इधर हाल मे फ्रांस, जोर्डन और स्विट्जरलैण्ड के साथ य व्यापारिक समझौते पहली बार किये गए हैं। ग्रीस, हंगरी, इण्डोनेशिया और वीतनाम के समझौतो की अवधि बढा दी गई। हंगरी के साथ १ जून, १९६० को ३½ वर्ष की अवधि का एक नया समझौता भी किया गया।

इस समय भारत के व्यापार और भुगतान-सम्बन्धी समझौतो की संख्या २४ है।[1]

भारत के व्यापारिक समझौतो को तीन वर्गों मे बाँटा जा सकता है—(१) पूर्वी यूरोपीय देशो के साथ किये गए समझौते, (२) पश्चिमी यूरोपीय देशो के साथ किय गए समझौते तथा (३) अन्य देशो के साथ किये गए समझौते। प्रथम प्रकार के समझौतो मे (जैसा कि रूस, पोलैण्ड और पूर्वी जर्मनी के १९५८ के समझौतो म है) भुगतान की व्यवस्था अपरिवर्तनीय भारतीय रुपया मे है। द्वितीय प्रकार के समझौतो का उद्देश्य भारत के आयात की अधिकता से उत्पन्न असन्तुलन को दूर करना है। इस सम्बन्ध मे भारत तथा सम्बन्धित देश के प्रतिनिधियो क संयुक्त आर्थिक आयोग के सगठन का प्रस्ताव भी था।

इस बात मे कोई सन्देह नही कि व्यापारिक समझौते तथा अन्य सामान्य समझौते, प्रतिनिधिमण्डल न केवल राष्ट्रो के बीच आर्थिक सम्बन्ध बनाते हैं बल्कि इसके साथ साथ देश के व्यापार को असगठित बनाते हैं जिससे विदेशी व्यापार के रुख तथा व्यापार के नक्शे पर प्रभाव डाल सकें। १९६४ तथा १९६५ मे भारत ने कई नय व्यापारिक समझौते किय तथा पुरान समझौतो के समय को और बढाया। नय समझौते बुलगारिया, दक्षिणी कोरिया, पूर्वी जर्मनी, ईरान, ब्राजील तथा अर्जेनटाइना के साथ किय गए। व्यापार समझौतो का फ्रास, इटली, पाकिस्तान, लंका, रोमानिया, चेकोस्लोवाकिया और जोर्डन इत्यादि देशो के साथ पूर्व अवस्था मे लाया गया।

अरब गणराज्य के साथ सितम्बर १९६४ म एक समझौते क अनुसार दोनो

---

१. देखिए, रिपोर्ट ऑन करन्सी एण्ड फाइनेन्स, पृ० ६०, १९५९-६०।

देशों के बीच व्यापार को शत-प्रतिशत बढाने की चेष्टा की गई। १९६४-६५ मे देश से बहुत-से व्यापारिक प्रतिनिधि विदेशो मे भेजे गए। इस प्रकार आर्थिक उन्नति के कार्य मे लगे हुए राष्ट्रों के साथ सहकारिता की नीव डाली गई ; विशेपतया लका, नेपाल, सूडान तथा युगाडा। अफ्रीकी तथा एशियाई देशो के साथ मिलकर औद्योगिक उन्नति की चेष्टा की गई। ६ प्रोजेक्ट एशिया के देशो के साथ और १० अफ्रीकी देशो के साथ सूती, ऊनी कपडे, जूट, चीनी तथा हल्के तकनीकी यन्त्रो के बनाने मे सहकारिता की।

देश के व्यापार को बढाने के लिए १९३४ के शुल्क दर कानून (Indian Tariff Act) को १९६३ मे सशोधित किया गया। १९६४ मे आयात मे कुछ कटौती के लिए सशोधन किया गया। शुल्क-दर कमीशन की सिफारिशो पर कुछ वस्तुओ पर सरक्षण को हटाया गया, परन्तु रग के उद्योगो पर १९६७ तथा अल्यू-मिनियम पर १९६८ तक सरक्षण की अवधि बढा दी गई। मई १९६६ मे शुल्क दर के प्रश्न के सोच-विचार के लिए एक कमेटी डा० वी० के० आर० वी० राव की अध्यक्षता मे बनाई गई।

चौथी पचवर्षीय योजना मे व्यापार को बढाने के लिए बहुत प्रयत्न किया जाएगा, जिससे विदेशी मुद्रा का हल शीघ्रातिशीघ्र मिल सके।

न था। बैंकिंग भी अभी अव्यवस्थित ही था। नवम्बर, १८६४ मे भारत सरकार ने एक अधिसूचना जारी की, जिसके अनुसार सरकारी खजानो पर सावरेन और अर्द्ध-सावरेन क्रमशः १० और ५ रुपये के भाव से स्वीकार की जाने लगी तथा भारत सरकार सुविधानुसार अपने ऋणदाताओ की इच्छानुसार सावरेन और अर्द्ध-सावरेन मे ऋण चुकाती थी। १८६६ मे कलकत्ता व्यापार-मण्डल ने स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) अपनाने के लिए पुन. ज़ोर दिया। भारत सरकार ने मैंन्सफील्ड आयोग की नियुक्ति की। भारतीय करेन्सी की समस्याओ पर विचार करने के लिए समय-समय पर नियुक्त समितियो और आयोगो मे यह सर्वप्रथम था। इन आयोगो और समितियो ने भारतीय चलार्थ के दोषो को दूर करने लिए अनेक विरोधात्मक उपाय बताए। मैंन्सफील्ड आयोग ने सिफारिश की कि (१) १५, १० और ५ रुपये का सोने का सिक्का जारी करना चाहिए, क्योकि जनता ऐसे सिक्को को इन्ही मूल्य के नोटो की अपेक्षा अधिक पसन्द करेगी तथा स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) नोट के प्रचलन का मार्ग प्रशस्त करेगा। (२) चलार्थ सोने, चाँदी और कागज का होगा। १८६८ मे एक अधिसूचना जारी की गई, जिसके द्वारा सावरेन और अर्द्ध-सावरेन स्वीकार करने की दर क्रमश दस रुपये आठ आने और पाँच रुपये चार आने कर दी गई, क्योकि पहली (दस रुपये, पाँच रुपये) बाजार दर के अनुरूप नही थी और फलस्वरूप सरकारी खजाने के लिए पर्याप्त सोना आकृष्ट करने मे असमर्थ रही। मैंन्सफील्ड आयोग का कोई हवाला न देते हुए भारत सरकार ने यह कदम उठाकर अन्तत सोने को वैधानिक मुद्रा बनाने की इच्छा प्रदर्शित की। सोने को वैधानिक मुद्रा मानने की गलती और उसका परिणाम स्वीकार करने से पहले सरकार भारत मे सोने और चाँदी के सापेक्षिक अर्घ को निश्चित कर लेना चाहती थी। १८७२ मे सर रिचार्ड टेम्पल ने एक टिप्पणी मे भारत सरकार को यह सुझाव दिया कि वास्तव मे भारत मे स्वर्ण प्रमाप तथा करेन्सी की आवश्यकता थी तथा सोने और चाँदी की दर निश्चित करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की सिफारिश की। गवर्नर जनरल की परिषद् इस प्रश्न पर एकमत नही थी और भारत सरकार द्वारा इस प्रस्ताव की अस्वीकृति के साथ १८७४ मे भारतीय चलार्थ (करेन्सी) के इतिहास का द्वितीय काल समाप्त हो गया।

४ तृतीय काल (१८७४-९३)—१८७४ तक द्रव्य के रूप मे चाँदी की स्थिति मे बहुत बड़ा परिवर्तन प्रारम्भ हो चुका था। १८७३ मे जर्मनी ने चाँदी का विमुद्रीकरण कर दिया। १८७४ मे स्वीडन, नार्वे और डेनमार्क ने चाँदी के स्वतन्त्र टंकन के लिए टकसालो को बन्द कर इसी मार्ग का अनुसरण किया। लैटिन यूनियन के देशो ने भी इनका साथ दिया और इसके फलस्वरूप बाज़ार मे चाँदी की बहुतायत हो गई। नई खानो एव परिष्कृत विधाओ के कारण चाँदी की उत्पत्ति खूब बढ़ी। भारत मे मूल्यो की वृद्धि की सुनिश्चित प्रवृत्ति का कारण अत्यधिक टंकन था। मूल्यो की वृद्धि सन् १९०० के बाद अधिक स्पष्ट हुई। चाँदी का मूल्य १८७१ मे ५९ पेंस प्रति औंस से घटकर १८७६ मे ५२$\frac{3}{4}$ पेंस प्रति औंस, १८८८ मे ४३ पेंस प्रति औंस, १८९२ मे ३०$\frac{1}{2}$ पेंस प्रति औंस तथा १८९९ मे २७ पेंस प्रति औंस रह गया। चाँदी के अधोमूल्यन

के साथ सावरेन मे रुपये का विनिमय-मूल्य अर्थात् स्वर्ण-मूल्य गिरने लगा और सन् १८७१ के २ शिलिंग से घटकर १८९२ मे १ शिलिंग २ पैंस के लगभग हो गया।

प्रधानतया स्वर्ण-प्रमाप को अपनाने के अभिप्राय से १८७४ से १८९८ तक रजत के स्वतन्त्र टकन के लिए टकसाल बन्द करने की दिशा मे सुधार की आवाज़ उठाई गई। १८७६ मे बगाल का व्यापार-मडल और कलकत्ता व्यापार-सस्था ने गवर्नर जनरल को भारतीय टकसालो द्वारा चाँदी की अनिवार्य टकन क्रिया के अस्थायी अवरोध के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा। सरकार ने इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। उनका विचार था कि सोने को प्रमाप रूप मे अपनाए बिना कोई कदम उठाना सम्भव नही था तथा तत्कालीन अव्यवस्थित परिस्थितियो मे वे स्वर्ण-प्रमाप अपनाने मे असमर्थ थे। इस अनिश्चितता का प्रधान कारण चाँदी का अधोमूल्यन और सोने का अधिमूल्यन था। १८७८ मे भारत सरकार ने भारत सचिव के समक्ष प्रस्ताव किया कि स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) के साथ स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के लिए निश्चित कदम उठाये जाएँ और इस बीच सोने के सिक्के और रुपये के बीच मे निश्चित सम्बन्ध, जिसे आवश्यकता पडने पर समय-समय पर परिवर्तित भी किया जा सके, स्थापित करने के लिए टकसाली लाभ वसूल कर रुपये की कीमत बढाई जाए। राज्य-सचिव ने यह प्रस्ताव एक समिति को सौंप दिया, जिसने विभिन्न आधारो पर इस प्रस्ताव का विरोध किया और सलाह दी कि आकस्मिक भय से प्रभावित होकर विधानो की शरण लेने की अपेक्षा शान्ति से बैठना अधिक श्रेयस्कर है। इन विधानो के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा जा सकता और न उनके प्रभाव ही मापे जा सकते है। स्वर्ण-प्रमाप के विकल्प के रूप मे भारत सरकार बहुत समय तक अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु प्रथा अपनाए रही, जबकि सारी दुनिया इसका परित्याग करती जा रही थी। १८६९ और १८९६ के बीच उत्तरी अमरीका और विभिन्न यूरोपीय देशो मे मुद्रा-प्रचलन की कठिनाइयो के निवारणार्थ कम-से-कम चार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए।

५. चतुर्थ काल (१८९३-१९००)—इस बीच चाँदी के मूल्य मे लगातार कमी होने तथा सयुक्त राज्य द्वारा शर्मन कानून हटा देने से प्रतिवर्ष टकन के लिए सरकार को ५४० लाख औंस चाँदी खरीदनी पडती थी। इसके कारण चाँदी तथा फलस्वरूप भारतीय रुपये की स्थिति पहले से भी अधिक सदिग्ध हो गई। १८९२ मे इन परिस्थितियों मे भारत सरकार ने फिर राज्य-सचिव तक पहुँच की और अन्तत: स्वर्ण प्रमाप अपनाने के उद्देश्य से चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई बन्द करने का प्रस्ताव उस दशा के लिए रखा जबकि ब्रुसेल्स मे हो रहा द्रव्य-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किसी निर्णय पर न पहुँच सके। फलतः १८९२ मे भारत सरकार के उपर्युक्त प्रस्ताव के साथ चलार्थ और विनिमय की अवस्था पर विचार करने के लिए हर्शल समिति की नियुक्ति हुई। जब हर्शल समिति बैठी हुई थी उसी समय ब्रुसेल्स सम्मेलन छिन्न-भिन्न हो गया। उस समय भारतीय चलार्थ व्यवस्था की प्रधान कठिनाइयो के लिए हर्शल समिति को निम्न उपाय प्रस्तुत करने पडे—(१) रजत की एकधात्वीय प्रथा और स्वर्ण-प्रमाप की देशो मे गिरती हुई विनिमय-दर के कारण भारत सरकार को

वित्तीय कठिनाइयाँ, (२) भारत की जनता और वाणिज्य पर विनिमय-दर के कम होने के कुप्रभाव और (३) विनिमय-दर के गिराव के कारण भारत मे यूरोपीय अफसरो की कठिनाइयाँ।

६ भारत सरकार की वित्तीय कठिनाइयाँ[1]—भारत सरकार की सबसे बडी कठिनाई यह थी कि इसको इगलैण्ड के प्रति अपनी स्वर्ण देनदारियो, उदाहरणार्थ गृह-व्यय (होम चार्जेज), के लिए प्रतिवर्ष काफी रुपया देना पडता था। इसके वास्तविक प्रभाव रुपये के स्वर्ण-मूल्य से निश्चित होते थे। यह मूल्य १८७४ तक लगातार कम होता गया और उसके बाद भी गिरने की आशका बनी रही। १८८८ से १८९३ तक गवर्नर जनरल की परिषद् के वित्तीय सदस्य सर डेविड बार्बर ने भारत की इस कठिनाई का इस प्रकार वर्णन किया है—"*हमारी वित्तीय कठिनाइयो का तात्कालिक कारण सोने की तुलना मे चाँदी का अवमूल्यन था, जिसके फलस्वरूप गत दो वर्ष मे भारतीय व्यय ४ करोड रुपये और बढ गया। यदि यह अवमूल्यन रोका जा सके और इगलैण्ड के साथ विनिमय-दर स्थायी रूप से वर्तमान आँकडो पर भी निश्चित की जा सके, तो वर्तमान घाटे की समस्या का हल अपेक्षाकृत सरल हो जाए। आगामी वर्ष मे हमारी वित्तीय स्थिति विनिमय तथा उन लोगो की स्थिति पर निर्भर है जो किसी भी भाँति चाँदी के मूल्य को प्रभावित कर सकते हैं। यदि हम १५,६५,१०० रुपये के घाटे का बजट तैयार करें और विनिमय-दर एक पैंस ही बढ जाए तो हमे काफी बचत होगी और यदि एक पैंस और कम हो जाए तो ३ करोड से अधिक का घाटा होगा। यदि हम १½ करोड रुपये का कर लगाएँ तो समय-चक्र इतने ही रुपये का कर बार-बार लगाने को बाध्य करेगा और हमे बाद मे ज्ञात होगा कि कर की कोई आवश्यकता नही थी।*"

७ विनिमय-दर की गिरावट का भारतीय जनता पर प्रभाव[2]—पौण्ड देनदारियों को चुकता करने के लिए सरकार को अधिक रुपयो की आवश्यकता थी, जिसके कारण रुपये मे और अधिक कर लगाया गया। विनिमय की गिरावट के कारण स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत निश्चित मालगुज़ारी देने वालो का भार कुछ कम हो गया और इसी प्रकार उन लोगो का भी भार कम हो गया जिनकी मालगुज़ारी का बन्दोवस्त अभी हाल मे नही हुआ था। इसके अतिरिक्त बढे हुए नमक-कर से लोगो को बहुत कठिनाई हुई और उन लोगो पर कर और अधिक भारी हो गया जो लोग रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो जाने के कारण ऊँचे मूल्यो से त्रस्त हो चुके थे।

आयात और निर्यात की क्रमश स्थायी हानि और लाभ को छोड देने पर भी राज्य की निर्बाधता के विरुद्ध प्रमुख तर्क यह था कि भारतवर्ष के आयात का ७४% सोना प्रयोग करने वाले देशो से और २६% चाँदी प्रयोग करने वाले देशो से आती थी[3]। इस प्रकार स्वर्ण-प्रमाप वाले देशो से घनिष्ठ वित्तीय और वाणिज्य सम्बन्ध

१. हरशल कमेटी रिपोर्ट, पैरा ३-६।
२. पूर्वोद्धृत रिपोर्ट, पैरा ३१-३४।
३. इसके लिए ई० डब्ल्यू० की 'माडर्न करेन्सी रिफार्म्स', पृ० २७-२८ देखिए।

स्थापित हो चुके थे और रुपये के मूल्य मे लगातार कमी होने से भारत के विदेशी व्यापार की कठिनाइयों की वृद्धि तथा परिकल्पना का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था। इसके अतिरिक्त रुपये के मूल्य की कमी से नियोक्ताओ को स्थायी लाभ मिला, परन्तु यह कारण मजदूरो के मत्थे जाता था क्योकि मूल्यो की तुलना मे मजदूरी की वृद्धि शिथिलतर होती है। भारत के हित को ध्यान मे रखते हुए हम यह नही कह सकते कि विनिमय का अनवरत गिराव लाभप्रद था।

८. **विनिमय और विदेशी पूँजी मे गिराव**—विनिमय का गम्भीर गिराव भारत मे विदेशी पूजी के विनियोग तथा अधिकाशतः उस पर निर्भर देश के विकास को रोकने लगा, क्योकि उधार देने वाला बाजार लन्दन था और वह स्वर्ण मे ही सोचता था। विनियोग पर ब्याज-सम्बन्धी अनिश्चितता तथा विनियोजित पूँजी को पुन इगलैण्ड स्थानान्तरित करने मे उसके मूल्य मे कमी की सम्भावना ने भारत मे ब्रिटिश पूँजी के प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया। विनिमय के गिराव के कारण यूरोप-निवासियो की सेवाएँ प्राप्त करने के लिए विदेशी फर्मों को कठिनाई का सामना करना पडता था। देश मे विदेशी पूँजी आकर्षित करने की कठिनाइयो का प्रतिकूल प्रभाव भारत की स्थानीय सस्थाओ के वित्त पर भी पडा।

९ **यूरोपीय अधिकारियों की दशा**—भारत सरकार को अपने अधिकारियो के सम्बन्ध मे भी अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा। विनिमय मे गिराव के कारण अधिकारी वर्ग क्षतिपूर्ति मॉगने लगा। उन्हे वेतन रुपये मे मिलता था तथा इगलैण्ड मे अपने परिवार की सहायता और बच्चो की शिक्षा के लिए उन्हें अपनी आय का पहले से अधिक भाग स्टर्लिंग के रूप मे भेजना पडता था। इससे अधिकारियो मे गहरा असन्तोष फैल गया।

१०. **हर्शेल समिति की सिफारिशें**—तत्कालीन द्रव्य-व्यवस्था के शीघ्र सुधार के सम्बन्ध मे दृढमत हो जाने पर हर्शेल समिति ने अपने सुझाव दिये। द्विधातु प्रणाली का अब कोई प्रश्न ही नही था। चॉदी के विमुद्रीकरण और स्वर्ण-प्रमाप करेन्सी के स्थान पर एक प्रकार की वस्तु प्रमाप की सिफारिश की गई, जिसके अन्तर्गत सोने या चाँदी के स्वतन्त्र टकन की मनाही कर दी गई।

भारत सरकार ने इसका अनुमोदन किया और १८७० के कानून और भारतीय कागजी चलार्थ अधिनियम (इण्डियन पेपर करेन्सी एक्ट) १८८२ के सुधार के लिए १८९३ मे एक कानून पास किया गया। चॉदी की स्वतन्त्र ढलाई के लिए टकसालो को तुरन्त बन्द कर देने की व्यवस्था थी, यद्यपि भारत सरकार को अपने-आप (अपने लिए) मुद्रा बनाने की इजाजत थी। उसी समय शासन सम्बन्धी तीन अधिसूचनाएँ जारी की गई। पहली अधिसूचना ने १६ पेंस=१ रु० की दर से स्वर्ण-मुद्रा और स्वर्ण-पिण्ड के बदले रुपया देने की व्यवस्था की। दूसरी अधिसूचना ने उसी भाव पर सार्वजनिक देन-दारी के लिए सावरेन और अर्द्ध सावरेन को स्वीकार करने को विहित ठहराया। तीसरी अधिसूचना ने उसी भाव पर स्वर्ण-मुद्रा और स्वर्ण-पिण्ड के बदले कागजी चलार्थ कार्यालय (पेपर करेन्सी ऑफिस) से कागज के नोट जारी करने की व्यवस्था की।

के सोने पर आधारित कर देगी। साथ ही अनिश्चित सीमा तक प्राप्त रुपयों के बदले लन्दन में सोने में अदा करने की देनदारी भी भारत की होगी।

फाउलर समिति के अनुसार सोने के स्वतन्त्र आवाह-प्रवाह पर आधारित स्वर्ण-प्रमाप और चलार्थ (करेन्सी) की स्थापना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य से उन्होंने अधोलिखित प्रस्ताव रखा—(१) सावरेन और अर्द्ध-सावरेन के टंकन के लिए भारत में टकसालें खोल दी जाएँ। १८९३ के निर्णय के अनुसार चाँदी के स्वतन्त्र टंकन के लिए टकसालें उस समय तक के लिए बन्द कर दी जाएँ जब तक चलार्थ में सोने का अनुपात जनता की आवश्यकता से अधिक न हो जाए। (२) अन्ततोगत्वा विनिमय-दर १ शि० ४ पैं० प्रति रुपया स्थिर कर दी जाए, क्योंकि यह पहले भी निश्चित की जा चुकी थी और इस दर से मूल्यों का सामञ्जस्य हो जाने के कारण किसी अन्य अनुपात की तुलना में इसका निर्वाह सरल था। (३) रुपया असीमित वैधानिक ग्राह्य बना रहे। (४) सरकार सोने के बदले में रुपया देना जारी रखे और अपने-आपको रुपये के बदले में सोना देने को बाध्य न करे, क्योंकि सोना देने के लिए बाध्य होना असुविधाजनक होगा तथा सरकार से सोने की आकस्मिक माँग भी की जा सकेगी, जिसकी पूर्ति के लिए भारी लागत पर स्टर्लिंग ऋण लेना आवश्यक हो जाएगा। (५) रुपये को सावरेन में बदलने के लिए भविष्य में चाँदी के टंकन का लाभ विशेष सुरक्षित कोष के रूप में एक स्वर्ण-कोष में जमा करना चाहिए जो पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष तथा सरकारी कोष से अलग हो। यद्यपि सरकार कानूनी तौर पर रुपये को सोने में बदलने के लिए बाध्य नहीं है, फिर भी लोगों के इच्छुक होने तथा कोष से अदायगी सम्भव होने पर सोना देना लाभप्रद होगा। (६) जिस समय व्यापारिक सतुलन विपरीत हो, उस समय सरकार को सोना सुलभ करने के लिए तैयार रहना चाहिए। समिति ने आशा की कि सोना सामान्यतः स्वर्ण सुरक्षित-कोष और विशेषतया उनके द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण-कोष से मिलेगा, यद्यपि अन्ततोगत्वा स्वर्ण-प्रमाप और स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) के पूर्णतया प्रारम्भ हो जाने के फलस्वरूप प्रचलन से भी सोना प्राप्त हो सकेगा।

सक्षेप में, फाउलर समिति का मत था कि निश्चित विनिमय-दर प्रभावपूर्ण स्वर्ण प्रमाप से ही प्राप्त की जा सकती है। समिति ने लैटिन यूनियन और संयुक्त-राज्य द्वारा अपनाये गए पंगु प्रमाप को नमूने के तौर पर स्वीकार किया। इस प्रमाप में सोना और चाँदी एक निश्चित वैधानिक अनुपात के साथ असीमित वैधानिक ग्राह्य मुद्रा माने गए, परन्तु टकसालों को केवल सोने की स्वतन्त्र टंकन करने की आज्ञा दी गई।

१२. द्रव्य-सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए अपनाये गए उपाय—(१) स्वर्ण का प्रचलन—फाउलर समिति की सिफारिशों को पूरा करने के लिए उपर्युक्त कदम उठाये जाने के बाद सरकारी नीति अपने ध्येय से विचलित होकर निरुद्देश्य इधर-उधर झुकने लगी और अन्ततोगत्वा कठिनाइयों को दूर करते-करते स्वर्ण विनिमय प्रमाप पर आ गई। टकसालों के बन्द करने से बड़ी तंगी आ गई जो व्यापार के

विस्तार और जनसंख्या में वृद्धि के कारण अत्यधिक अनुभव की जाने लगी। इस परिस्थिति के शमन के लिए १८९८ का एक्ट अस्थायी उपाय के रूप में पास हुआ। इस कानून के अन्तर्गत भारत सचिव द्वारा कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त राशि भारतीय पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के अंश के रूप में बैंक ऑफ इंगलैण्ड में सोने में रखी जा सकती थी। इस प्रकार सुरक्षित सोने के आधार पर भारत सरकार नोट जारी कर सकती थी और कोष की धनराशि को कम किये बिना भारत-सचिव के ड्राफ्टों को इन नोटों से खरीद सकती थी।[1] इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत सरकार के रुपयों के भण्डार की कमी घटती गई।

(२) नोट और रुपये जारी करना—१९०० में भारत सरकार ने लाचार होकर बड़े पैमाने पर टंकन क्रिया को फिर आरम्भ किया। इसके लिए अपेक्षित चाँदी लन्दन के पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के सोने से खरीदी गई। १८९८ का एक्ट पूर्णतया अस्थायी था। उसके अनुसार कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त तथा पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा किया गया सोना भारत-सचिव के पास इंगलैण्ड में रहेगा, जब तक कि वे स्वयं इसे भारत न भेज दें अथवा भारत सरकार कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त सोने के आधार पर जारी किये गए नोटों के बराबर सिक्के करेन्सी रिजर्व के भाग के रूप में अलग रखकर सोना न माँग ले। सर्वप्रथम यह कानून ढाई वर्ष के लिए बढ़ाया गया और १९०० में पुनः दो वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। इस प्रकार प्राप्त हुए सोने से भारत में सिक्का बनाने के लिए चाँदी खरीदने और उसे पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के अंश के रूप में स्वीकार करने का अधिकार भारत-सचिव को था। इस प्रकार इंगलैण्ड में स्वर्ण सुरक्षित कोष के तीन स्पष्ट उद्देश्य थे—(क) इससे आवश्यकता पड़ने पर टंकन के लिए चाँदी खरीदने हेतु लन्दन में धन मिल सकता था। (ख) व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल होने तथा कौंसिल बिलों का विक्रय असम्भव अथवा अलाभप्रद होने पर भारत को विदेशी विनिमय में सहायता मिल सकती थी। ऐसी परिस्थितियों में भारत सचिव अपने व्यय को पूरा करने के लिए पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष से सोना ले लेगा और समान राशि स्थानांतरित कर दी जाएगी।[2] (ग) अन्तिम, यह एक ऐसा कोष था जिसमें विनिमय-दर को अनावश्यक रूप से ऊँचा होने से रोकने तथा भारत के लिए अवांछनीय प्रवाह बन्द करने के लिए भारत-सचिव अपनी आवश्यकता से अधिक कौंसिल बिल बेचकर राशि जमा कर सकता था। इस जमा की हुई राशि के आधार पर भारत में नोट जारी किए जाते थे।

---

१. जैसा कैमरर ने कहा है, यह व्याय व्यवहारतः सरकार द्वारा जिसे योजना को अपनाने के बराबर था (जिसे एक साल बाद फाउलर समिति की सिफारिशों पर अस्वीकार कर दिया गया)। इसका अर्थ लन्दन में भारत-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के आधार पर विक्रय करना था (उन दरों पर जो व्यवहारतः लन्दन का स्वर्ण निर्यात-बिन्दु प्रदर्शित करती थीं तथा जिनका प्रमुख उद्देश्य भारत में द्रव्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करेन्सी प्राप्त करना था)—कैमरर, पूर्व उद्धृत, पृ० १०२।

२. देखिए, सेक्शन ५४।

१६०२ में ये सारे नियम स्थायी बना दिये गए। १६०५ में भारत के सुरक्षित कोष में ५० लाख पौण्ड जमा हो गया और यह रकम लन्दन-स्थित इंगलैण्ड बैंक को पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में रखने के लिए भेज दी गई। यह साधारण कार्यों के लिए नहीं खर्च किया जाता था। इसका एक भाग इंगलैण्ड की स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में जमा किया जाता था। १६०६ के बाद पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का अधिकांश भाग सोने के रूप में रखा जाने लगा।

१३. स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष—१६०० में भारत सरकार ने एक सुरक्षित स्वर्णकोष को भारत में रखना प्रस्तावित किया, जिसे फाउलर समिति भी चाहती थी। उन्होंने यह भी प्रस्ताव रखा कि पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष धीरे-धीरे अपनी पूर्व स्थिति पर पहुँच जाए और इसका प्रयोग केवल करेन्सी नोटों के भुगतान के लिए ही किया जाए। इसका निर्माण मुख्यतः रुपयों और प्रतिभूतियों से ही हो। इसके विपरीत सुरक्षित स्वर्ण-कोष में प्रधानतः सोना ही रखा जाए।

भारत सचिव की योजना के अनुसार रुपयों के टंकन का लाभ लंदन भेज दिया जाता था और होता यह था कि भारत में टंकित रुपयों के बदले लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में से सोना ले लिया जाता था। १६०६ में रुपयों की माँग की कठिनाई दूर करने के लिए पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष से अलग एक विशेष रुपया सुरक्षित कोष बनाया गया, जिसे स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष की रजत शाखा का नाम दिया गया।[1] रुपया सुरक्षित कोष का उद्देश्य रुपये की विनिमय-दर को १ शि० ४ पैं० से आगे न बढ़ने देना था। अतएव इसी दर पर सावरेन के बदले में रुपयों की दर निश्चित हो गई। १८६३ की अधिसूचना, जिसने ब्रिटिश स्वर्ण-मुद्रा से भिन्न स्वर्ण के बदले रुपयों और नोटों के प्रचलन का अधिकार दिया था, वापस ले ली गई। इसी बीच, विभिन्न कोषों में एकत्रित सोने को लन्दन भेजने का कार्य आवश्यक रूप से व्ययशील माना गया। इसलिए १६०४ में कौंसिल ड्राफ्ट बेचने की प्रथा अपने प्रारम्भिक उद्देश्य से आगे बढ़ गई। भारत-सचिव ने १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पैं० की दर पर असीमित मात्रा में कौंसिल बिल बेचने की इच्छा घोषित की। यदि इसके लिए भारत के नकद कोष अपर्याप्त हों, तो इसकी पूर्ति भारत के पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष से रुपया निकालकर की जा सकती थी और इसके बराबर सोना लंदन में पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा कर दिया जाता था। भारत सरकार के पास सावरेन एकत्रित हो जाने तथा उन्हें १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पैं० पर भारत में निर्यात करना सदैव मँहगा न होने के कारण मिस्र और आस्ट्रेलिया से भारत भेजे जाने वाले सावरेन के आधार पर तार द्वारा स्थानान्तरण (टेलिग्राफिक ट्रांसफर) करना निश्चित किया गया। स्थानान्तरण की दर १ शि० ४ पैं० और १ शि० ४$\frac{3}{32}$ पैं० के बीच थी (जो कौंसिल बिल की दर से भी कम थी)[2] ताकि ऐसे सावरेन के स्वामियों को उन्हें भारत से लन्दन भेजना लाभप्रद हो सके।

---

१. इस तिथि से स्वर्ण सुरक्षित कोष का नाम स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष हो गया।

२. इस प्रथा की कार्य-विधि के वर्णन के लिए देखिए, जे० एम० केन्स की पुस्तक 'इण्डियन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स', पृ० ११४-१८।

जून १६०७ मे भारतीय रेलवे वित्त सम्बन्धी मैके समिति ने सिफारिश की कि १६०७ मे रुपये के टकन म हुए लाभ मे से १० लाख सावरेन रेलो पर खर्च किया जाए। भारत-सचिव ने इस समिति की सिफारिश के आगे यह निर्णय किया कि जब तक स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष २०० लाख पौण्ड तक न पहुँच जाए, रुपये के टकन से हुए लाभ का आधा रेलो पर खर्च किया जाएगा।

१४. १६०७ और १६०८ का सकट—भारत के कुछ भागो मे फसलो के आंशिक रूप से खराब होने तथा अन्य भागो मे यथार्थत अकाल पड जाने के कारण भारतीय निर्यात कम हो गए। यूरोप मे भी उन्नति-काल के बाद, जो १६०७ मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया, अवनति का प्रारम्भ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप व्यापारिक मन्दी और बेकारी फैलने लगी। इस प्रकार यूरोप की क्रय-शक्ति नष्ट हो गई और सामान्य द्राव्यिक कठिनाई के कारण परिस्थिति और खराब हो गई। यह कठिनाई न्यूयार्क मे वित्तीय सकट से उत्पन्न हुई थी, जबकि जूट, रुई और गेहूँ इत्यादि के भारतीय निर्यात कम हो गए। चाँदी का आयात, विशेषकर उसकी कीमत मे काफी कमी आ जाने से बढ गया। इन सभी कारणो के फलस्वरूप भारत की विदेशी विनिमय-स्थिति और खराब हो गई। सावरेन भण्डार शीघ्रता से घटने लगा और विनिमय बैंको ने इगलैण्ड के तार द्वारा स्थानान्तरण (टेलिग्राफिक ट्रान्सफर) के विक्रय पर जोर दिया। सरकार ने इसे अस्वीकार कर दिया और पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष से कुछ शर्तों पर सोना देना स्वीकार किया। एक व्यक्ति को एक दिन मे १०,००० पौण्ड से अधिक सोना नही दिया जा सकता था। स्थिति और खराब हो जाने पर भारत-सचिव ने भारत सरकार को टेलिग्राफिक ट्रान्सफर या रिजर्व कौंसिल को १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पै० प्रति रुपये की दर से बेचने की राय दी और भारत के कोषो (ट्रेजरी)[1] से लन्दन मे पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष को रुपया स्थानान्तरित करने के बदले उसी कोष मे से सोना दिया। उन्होंने रिजर्व कौंसिल की भुगतान की माँग को स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष की स्टर्लिंग प्रतिभूतियो को बाजार मे बेचकर पूरा किया, यद्यपि इन प्रतिभूतियो का अधोमूल्यन हो चुका था। इन साधनो से सुधार हुआ और दूसरे वर्ष विनिमय-दर १ शि० ४ पै० पर स्थिर हो गई जिसका प्रधान कारण समुत्थान था।

१५ स्वर्ण प्रमाप अथवा स्वर्ण विनिमय प्रमाप—सकट का सामना करने के लिए सरकार ने जाने अनजाने मे स्वर्ण-विनिमय प्रमाप की दिशा मे कदम उठाए। सर्वप्रथम आन्तरिक प्रयोग के लिए रुपये के बदले सोना स्वतन्त्र रूप से दिया गया, परन्तु व्यक्तिगत रूप से सोना बाहर भेजने के सम्बन्ध मे बहुत अनिच्छा प्रगट की गई। इससे प्रकट था कि सरकार ने अभी तक अच्छी प्रकार न विचार ही किया था और न निश्चित रूप से स्वर्ण विनिमय प्रमाप को अपनाया ही था। लेकिन बाद मे रिजर्व कौंसिल की बिक्री ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जिसने भारतीय करेन्सी को लिण्डसे योजना के समीप ला दिया। लन्दन के पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के स्वर्ण निक्षेपो के बदले

---

१ भारत के कोषो से तात्पर्य इण्डियन ट्रेजरीज से है।

रुपया और नोटो से भुगतान करने की क्रिया पहले से ही प्रचलित थी और १९०४ मे भारत-सचिव ने निश्चित दर पर असीमित राशि के लिए अनिश्चित काल के लिए कौंसिल बिलो के बेचने की इच्छा प्रकट की। १९०७-८ मे अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए रुपयो को स्टर्लिंग मे बदलने की क्रिया अर्थात् रिजर्व कौंसिल की बिक्री ने स्वर्ण विनिमय प्रमाप की नीव डाली।

सकट का सामना करने हेतु उठाये गए कदमो के परिणामस्वरूप सरकार के सोने के साधन खाली हो गए। लन्दन मे करेन्सी कोष मे सावरेन ७० लाख पौण्ड से घटकर १५ लाख पौण्ड रह गई, जबकि भारत मे सोने का सम्पूर्ण भण्डार समाप्त हो गया था।[1] इस प्रकार सरकार सुरक्षित स्वर्ण कोष को बढाने की आवश्यकता से प्रभावित हुई ताकि भविष्य मे ऐसे सकटो का स्थिर चित्त होकर सामना किया जा सके। १९०९ मे उन्होने भारत-सचिव के सामने प्रस्ताव रखा कि सुरक्षा के लिए आवश्यक न्यूनतम राशि २५० लाख पौण्ड होनी चाहिए और जब तक इतनी रकम पूरी न हो जाए तब तक उसका कोई भाग रेलो पर खर्च न किया जाए। उन्होंने स्वर्ण प्रमाप सुरक्षा कोष को तरल रूप मे रखने की भी सिफारिश की।

भारत-सचिव ने उत्तर दिया कि उनके अनुसार स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष और पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष दोनो को मिलाकर २५० लाख पौण्ड उचित राशि होगी और जब तक दोनो की सयुक्त राशि इतनी नही हो जाती, तब तक स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष से कोई भी रकम नही ली जाएगी। सयुक्त राशि के २५० लाख पौण्ड हो जाने पर इस पर विचार किया जा सकता है।

१९१२ मे भारत सरकार की इच्छा के प्रति आदर भावना तथा सार्वजनिक आलोचना के कारण भारत सचिव ने यह निर्णय किया कि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष का प्रमाप २५० लाख पौण्ड हो और ५० लाख पौण्ड का सोना बैंक ऑफ इगलैण्ड मे प्रक्षेप के रूप मे रखा जाए।[2]

उपर्युक्त कदम उठाने मे सरकार अनजाने में फाउलर समिति द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण प्रमाप के सीधे और सकुचित मार्ग से अलग हो गई और अनेक अवसरवादी उपायो के क्रम के फलस्वरूप लिण्डसे द्वारा प्रस्तावित योजना पर पहुँच गई। इस पद्धति के बारे मे १८९३ मे सोचा भी नही गया था और १८९८ मे फाउलर समिति और सरकार दोनों ने ही इसका विरोध किया था। कोई ऐसी निश्चित तिथि बताना भी सम्भव नही है जिस दिन से यह विचारपूर्वक अपनाई गई हो।

स्वर्गीय सर विट्ठलदास थैकरसे की प्रेरणा से सोने की टकसाल और टकन के प्रस्ताव पुन रखे गए। इन्होने १९१२ मे इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल मे इस आशय का एक प्रस्ताव रखा। इस सम्बन्ध मे एक वर्ष तक बातचीत चलती रही। उस समय यह निश्चित हुआ कि यह प्रश्न अन्य प्रश्नो के साथ करेन्सी आयोग के समक्ष

---

१. देखिए, एच० एफ० हॉवर्ड, 'इण्डिया एण्ड द गोल्ड स्टैण्डर्ड', पृ० ३५।

२. देखिए, शिराज, पूर्व उद्धृत, पृ० २१५।

रखा जाए जिसके बारे मे विचार किया जा रहा था।

१६. स्वर्ण विनिमय प्रमाप का स्वरूप—स्वर्गीय लार्ड केन्स ने, जो इस पद्धति के योग्यतम व्याख्याकर्ताओ मे से थे तथा जिसका विकास ऊपर किया जा चुका है और जो १८९८-९९ से १९१५-१६ तक भली-भाँति कार्यशील रही, सक्षेप मे निम्न विशेषताएँ बताई हैं—(१) रुपया असीमित वैधानिक ग्राह्य मुद्रा है, विधानत. अपरिवर्तनीय है, (२) सावरेन भी १ पौण्ड=१५ रुपये की दर से असीमित वैधानिक ग्राह्य मुद्रा है और जब तक १८९३ की अधिसूचना वापस नहीं ली जाती तब तक वह इसी पर परिवर्तनीय है अर्थात् सरकार को १ पौण्ड के बदले १५ रुपये देने पड़ेंगे, (३) शासन की दृष्टि से सरकार इस दर पर रुपये के बदले सावरेन देगी, परन्तु यह कार्य कभी-कभी रोका भी जा सकता है और रुपये के बदले यथेष्ट मात्रा मे सोना सदैव प्राप्त नही किया जा सकता, और (४) शासन प्रबन्ध के विचार से सरकार लन्दन मे रुपये के बदले में चुकता होने वाले बिलो को १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पैं० प्रति रुपया की दर से कलकत्ता मे बेचेगी।

इन प्रस्तावो मे चौथा प्रस्ताव रुपये के स्टर्लिंग मूल्य को सहायता देने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसे ठीक रखने के लिए सरकार ने कोई प्रतिबन्ध नही लगाया है, फिर भी इस सम्बन्ध मे असफलता उनकी पद्धति को एकदम छिन्न-भिन्न कर देगी।

इस प्रकार द्वितीय प्रस्ताव रुपये के १ शि० ४ पैं० के स्टर्लिंग मूल्य को भारत मे सावरेन भेजने के खर्चे से अधिक नही बढने देगा और चौथा प्रस्ताव उसे १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पैं० से नीचे गिरने से रोकेगा।

स्वर्ण विनिमय प्रमाप के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि स्वर्ण प्रमाप और स्वर्ण करेन्सी से कहीं अधिक सस्ता होने के साथ ही यह स्वर्ण करेन्सी के सभी लाभो से पूर्ण है। यह स्पष्ट है कि भारत मे इसका प्रधान उद्देश्य रुपये और सोने का सतुलन बनाये रखना था। जिस समय विनिमय निर्बल होता उस समय तो सरकार स्टर्लिंग (रिवर्स कौंसिल) बेचने लगती और जब रुपये का मूल्य बढता, तो वह स्थानीय (करेन्सी कौंसिल बिल) बेचने लगती। सरकार के ऐसे हस्तक्षेप का प्रभाव सोने और रुपयों के सुरक्षित कोष के पर्याप्त होने पर निर्भर था।

१७. कौंसिल ड्राफ्ट प्रथा—१९१४ तक रिवर्स कौंसिल और कौंसिल बिल स्वर्ण विनिमय प्रमाप के महत्त्वपूर्ण अग बन चुके थे, परन्तु सरकार रिवर्स कौंसिल बेचने के लिए कभी भी विधानत: बाध्य नही थी। इसके अतिरिक्त उन्हें बेचने के अवसर भी बहुत काम आए, परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, कौंसिल ड्राफ्ट पद्धति कौंसिल बिल और टेलिग्राफिक, ट्रान्सफर भारतीय करेन्सी विनिमय और वित्त के प्रबन्ध का आधार रही है।

भारत मे हुडियाँ (बिल्स ऑफ एक्सचेंज) बेचकर धन एकत्र करने की प्रथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से प्रचलित थी।[1] १८९३ तक नियम के रूप मे कौंसिल

१. यह विवरण 'चेम्बरलेन कमीशन रिपोर्ट' से सक्षिप्त रूप मे लिया गया है, पैरा १७०-७६।

ड्राफ्ट की बिक्री गृह-व्यय की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए भारत-सचिव द्वारा ही की जाती थी। यह प्रथा भारत-सचिव को अनुकूलतम दरो पर अधिक धन प्राप्त करने मे सहायक होती थी। व्यापार के लिए भी यह सुविधाजनक थी, क्योकि भारत के आयात से निर्यात की अधिकता होने के कारण भारत के प्रति अन्य देशो की देनदारी तय करने का यह सरल साधन था। सच तो यह है कि सामान्य परिस्थितियो मे निर्यात की अधिकता से हुई बचत के कारण ही कौंसिल ड्राफ्ट प्रथा सम्भव और लाभप्रद हो सकी।

१८९३ के बाद कुछ वर्षों तक इस प्रथा का नकारात्मक प्रयोग किया गया, अर्थात् कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री बन्द करके रुपये के विनिमय मूल्य को बढाने की चेष्टा की गई। इसका प्रभाव यह हुआ कि रुपया स्वतन्त्रता से मिलना बन्द हो गया और स्टर्लिंग मे उसका मूल्य बढने लगा।

यह हम देख चुके हैं कि किस प्रकार १८९८ मे जब रुपया १ शि० ४ पैं० के बराबर हो गया था, १८९८ के एक्ट ने भारतीय पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष के अश के रूप मे बैंक ऑफ इगलैण्ड मे जमा सोने के आधार पर कौंसिल ड्राफ्ट बेचने का अधिकार दिया तथा किस प्रकार कौंसिल ड्राफ्ट के लिए समान मूल्य के नोट और रुपये भारत मे जारी किये जाते थे। इसका उद्देश्य केवल गृह-व्यय को पूरा करने के लिए धन एकत्रित करना नही था, बल्कि द्रव्य-सम्बन्धी कठिनाइयाँ होने पर जब भारत सरकार के पास कौंसिल ड्राफ्ट के लिए सरकारी खजानो मे अतिरिक्त धन नही होता, तो व्यक्तिगत रूप से भारत को सावरेन भेजने के विकल्प के रूप मे करेन्सी का विस्तार करना भी इसका उद्देश्य था।

१९०९-१० मे लन्दन मे सोना प्राप्त करने के लिए कौंसिल ड्राफ्टो का विक्रय स्वतन्त्रतापूर्वक किया गया। इसका विक्रय रुपयो की उस बडी मात्रा के स्थान पर किया गया था जो सकट-काल मे लन्दन मे रिवर्स कौसिल की बिक्री से भारत के स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष मे जमा हो गई थी। इसका फल यह हुआ कि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष पुन लन्दन चला गया।

रुपयो के टकन का लाभ, जो स्पष्टतः रुपये के रूप मे होता था, लन्दन मे स्टर्लिंग मे परिवर्तित कर दिया गया। लाभ प्रदर्शित करने वाले रुपये लन्दन मे बेचे गए कौंसिल ड्राफ्टो के बदले भारत मे जारी कर दिए जाते थे। इस प्रकार कौंसिल ड्राफ्ट की प्रथा भारत-सचिव को धन एकत्रित करने का साधन प्रदान करने के अतिरिक्त कही अधिक विस्तृत थी। उसका उद्देश्य व्यापार मे सुविधा प्रदान करना तथा सरकारी साधनो को इस प्रकार व्यवस्थित करना था, ताकि करेन्सी, विनिमय और वित्तीय मामलो मे सरकारी नीति पूर्णतया प्रभावशाली रहे।

१८ चेम्बरलेन प्रयोग—स्वर्गीय सर आस्टिन चेम्बरलेन की अध्यक्षता मे अप्रैल, १९१३ मे सरकार के मुद्रा चलन और विनिमय नीति की आग्रहपूर्ण और गहरी आलोचना के कारण एक आयोग की नियुक्ति हुई, जिसने फरवरी १९१४ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसके निष्कर्ष और सिफारिशें नीचे दी जा रही है—

(१) रुपये के विनिमय मूल्य को स्थायी आधार पर स्थापित करना भारत के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण बात थी। (२) रुपये के विनिमय मूल्य को स्थिर रखने के लिए अपनाये हुए उपाय १८९८ की समिति की सिफारिशों के उतने अनुरूप नहीं थे जितने कि उसके पूरक थे। (३)१९०७-८ के संकट-काल में इनकी खूब परीक्षा हुई और उस समय इन्हें सन्तोषजनक पाया गया। ऐसे संकट-काल का सामना करने के लिए पहले से ही तैयार योजनाओं तथा अनुभव के अभाव में सरकार ने प्रारम्भ में कुछ गलतियाँ अवश्य कीं। उदाहरण के लिए भारत कार्यालय (इण्डिया ऑफिस) का विश्वास था कि कौंसिल बिल न बिकने पर लन्दन में भारत-सचिव की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष का एकमात्र अथवा प्रमुख उद्देश्य था, जबकि भारत सरकार ने पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में निर्यात के लिए सोना न देने की गलती की, यद्यपि आन्तरिक सोने के खर्च पर उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। दोनों ही अधिकारी इस बात को नहीं समझ सके कि सुरक्षित स्वर्ण कोष का प्रमुख उपयोग विनिमय के स्वर्ण बिन्दु से नीचे हो जाने पर विदेश भेजने के लिए सोने को स्वतन्त्र रूप से प्राप्य बनाना है। व्यवहार में गलतियाँ बड़ी जल्दी सुधार ली गईं। विनिमय-दर को पूर्व स्थिति पर लाने और बनाए रखने के लिए उठाये गए कदम अपर्याप्त सिद्ध हुए। (४) गत १५ वर्ष का इतिहास साक्षी है कि स्वर्ण मुद्रा का सक्रिय चलन स्वर्ण प्रमाप की अनिवार्य दशा नहीं है, क्योंकि इस दशा के बिना भी स्वर्ण प्रमाप दृढ़तापूर्वक स्थापित हो चुका था। (५) आन्तरिक प्रचलन के लिए सोने के अधिक प्रयोग को प्रोत्साहित करना भारत के लिए हितकर नहीं था। (६) भारत की जनता करेन्सी के रूप में प्रचलन के लिए न तो सोना चाहती थी और न वह अपेक्षित ही था। भारत की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्ततम करेन्सी रुपये और नोटों की थी। (७) करेन्सी या विनिमय हेतु स्वर्ण के टंकन के लिए टकसाल की कोई आवश्यकता नहीं थी, परन्तु यदि भारतीय भावनाएँ इसकी माँग करें और भारत सरकार खर्च सहने के लिए तैयार हो तो भारतीय अथवा शाही—किसी भी दृष्टि-कोण से इसे स्थापित करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए, बशर्ते कि टंकित सिक्का सावरेन या अर्ध-सावरेन हो। यह एक ऐसा प्रश्न था जिसमें भारतीय भावनाओं के अनुरूप कार्य होना चाहिए। (८) यदि स्वर्ण के टंकन के लिए टकसाल की स्थापना नहीं होती तो बम्बई की टकसाल पर करेन्सी के बदले परिष्कृत सोना स्वीकार किया जाए। (९) सरकार का उद्देश्य जनता को करेन्सी का वह रूप प्रदान करना होना चाहिए जो वह माँगती हो, चाहे वह रुपयों के रूप में हो अथवा नोट और सोने के रूप में, परन्तु नोट का प्रयोग प्रोत्साहित करना चाहिए। (१०) इस आन्तरिक करेन्सी को विनिमय कार्यों के लिए स्वर्ण और स्टर्लिंग पर्याप्त सुरक्षित कोष से सहायता दी जानी चाहिए। (११) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की कोई निश्चित सीमा नहीं होनी चाहिए। जब तक कि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष स्वयं भार सहन योग्य न हो जाए तब तक पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष पर ही भरोसा करना चाहिए (१२) रुपयों के टंकन का लाभ कम-से-कम कुछ समय तक केवल सुरक्षित कोष में जमा करना

चाहिए । (१३) सुरक्षित कोष का अधिकांश भाग सोने के रूप मे होना चाहिए। इस सुरक्षित कोष और पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के बीच सम्पत्ति के विनिमय से १०० लाख पौण्ड का सोना तुरन्त मिल सकता था। अवसर आने पर यह १५० लाख पौण्ड तक बढाया जा सकता था। इसके बाद अधिकारियो को कुल सुरक्षित कोष के आधे भाग को सोने मे रखना चाहिए। सुरक्षित कोष को सोने के रूप मे रखना अनावश्यक और फिजूल है। सकट-काल मे प्रतिभूतियो के वसूल करने से हुई हानि की रक्षा पर्याप्त राशि को सरल रूप मे रखने से होती है। (१४) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की भारतीय शाखा समाप्त कर देनी चाहिए, क्योकि इसके कारण बहुत आलोचना हुई है और सुरक्षित कोष की उपादेयता के सम्बन्ध मे सन्देह उत्पन्न करने के लिए भी यह उत्तरदायी थी। (१५) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष को रखने का उचित स्थान लन्दन ही था। (१६) आवश्यकता होने पर १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पें० प्रति रुपये की दर से लन्दन की हुण्डियाँ सरकार को भारत मे बेचना चाहिए।[1]

देश मे, बम्बई मे स्वर्ण टकसाल की स्थापना के लिए किये गए प्रदर्शन, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, सर विट्ठलदास के प्रस्ताव के रूप मे चरम सीमा को पहुँच गए। इस प्रदर्शन के प्रति सहानुभूति रखते हुए भारत सरकार ने १९१२ मे इस विषय पर भारत-सचिव को लिखा और ज़ोर देकर कहा कि जनता की स्वर्ण-टकन की माँग को वे अनसुनी कर दें। चेम्बरलेन आयोग ने सरकार के विचारो को एकदम नई दिशा मे मोडने का प्रयत्न किया। आयोग के अनुसार सरकार ने अन-जाने मे ही स्वर्ण विनिमय प्रमाप अपनाकर भारत को अन्य देशो के साथ प्रथम पक्ति मे ला दिया।

सिफारिशो पर विचार करने और उन्हे लागू करने के लिए पर्याप्त समय मिलने से पहले ही १९१४-१८ के विश्वयुद्ध ने एकदम नई प्रकार की परिस्थितियाँ और समस्याएँ उत्पन्न कर दी, जिन पर हम अब विचार करेंगे।

१९१४-१८ के युद्ध का भारतीय करेन्सी पर प्रभाव[2]

१९. प्रथम युग (अगस्त १९१४ से फरवरी, १९१५ तक)—विश्वयुद्ध के प्रभाव का विवेचन दो प्रधान कालों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) पहले काल की अवधि अगस्त १९१४ से फरवरी, १९१५ तक है। यह अव्यवस्था का काल था, जिसमे करेन्सी और विनिमय की स्थिति बहुत दुर्बल हो गई।

(२) द्वितीय काल की अवधि फरवरी, १९१५ से १९१९ के अन्त तक है। यह समुत्थान-काल था। इसकी विशेषता उत्पादन-सम्बन्धी अदम्य उत्साह था। इस काल मे विनिमय और चाँदी के स्वर्ण-मूल्य मे अपूर्व वृद्धि हुई।

युद्ध छिड जाने से जनता के विश्वास को बहुत बुरा धक्का लगा, जिससे

---

१. चेम्बरलेन कमीशन रिपोर्ट, पैरा २२३।

२. यह विवरण अधिकांशत बबिंग्टन स्मिथ समिति की रिपोर्ट पर आधारित है। दूसरे अध्याय में भारतीय करेन्सी पर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव का विवरण दिया गया है।

सामान्यत सभी व्यापार तथा व्यवसाय अस्त-व्यस्त हो गए। इसके प्रधान लक्षण विनिमय की निर्बलता, सेविंग्स बैंक मे जमा रुपयो को निकालना, नोटो के भुगतान की मॉग तथा भारत के स्वर्ण भण्डार की अत्यधिक मॉग होना है।

लडाई के पहले दो महीनो मे ही सेविंग्स बैंक मे जमा २४½ करोड रुपये मे से ६ करोड रुपया निकाल लिया गया। १९१५-१६ मे समय बदलने तक निकाले हुए रुपयो की मात्रा ८ करोड हो चुकी थी। रुपया निकालने की मॉग को स्वतन्त्रतापूर्वक पूरा किया गया, जिससे पुनः विश्वास उत्पन्न करने और निक्षेप आकर्षित करने मे बडी सहायता मिली। ये निक्षेप पुन १९१८-१९ तक १८ करोड रुपये हो गए (अर्थात् पूर्व राशि से ६½ करोड रुपये कम रहे)।

नोटो के रुपयो मे भुगतान की मॉग भी पूरी की गई। मार्च, १९१५ तक १० करोड रुपये के नोट खजानो को वापस किये गए, परन्तु उसके बाद नोटो के प्रचलन मे लगातार वृद्धि हुई।

अन्तिम, भारत के स्वर्ण भण्डार की मॉग नोटो के बदले सोना मॉगने के रूप मे बढ गई। इस प्रकार प्राप्त सोने के आन्तरिक प्रयोग के लिए बरती हुई सावधानियॉ व्यर्थ सिद्ध हुई। व्यक्तिगत कार्य के लिए सोना देना एकदम बन्द कर दिया गया और उसके बाद नोटो का भुगतान केवल चॉदी के सिक्को में ही किया जाने लगा।

प्रथम काल के अन्त तक ये लक्षण लुप्त हो गए। सरकार ने परिस्थिति का सामना साहस और सफलता के साथ किया। बैंकिंग और व्यावसायिक समाज को धन विदेश भेजने हेतु सम्बन्ध स्थापित करने के लिए लगातार पर्याप्त सुविधा प्रदान करने का आश्वासन और नोटो को रुपयो मे भुगतान करने की तत्परता से जनता मे शीघ्र ही विश्वास पैदा हो गया।

२० द्वितीय काल (फरवरी, १९१५ से १९१९ के अन्त तक)—युद्ध के प्रथम धक्के के समाप्त हो जाने के बाद करेन्सी यन्त्र कुछ समय के लिए बडी स्निग्धता से काम करता रहा। १९१६ के अन्त म गम्भीर जटिलता पैदा हो गई। चॉदी का मूल्य बडी तेजी से बढता जा रहा था, इसीलिए भारत में चॉदी के सिक्को की भारी मॉग को पूरा करने के लिए उसे प्राप्त करने की कठिनाइयॉ भी बढती जाती थीं।

भारत सरकार द्वारा ब्रिटिश सरकार की ओर से भारी व्यय करने के कारण परिस्थिति और जटिल हो गई। १९१४ से दिसम्बर, १९१९ तक युद्ध के पूर्वी रण-मचो मे सैनिक आवश्यकताओ और अविकृत क्षेत्रो मे नागरिक व्यय के ऊपर २४०० लाख पौण्ड खर्च किया गया। इसके अतिरिक्त कुछ डोमिनियम और उपनिवेश तथा भारतीय उत्पत्ति के अफ्रीकी आयातकर्ताओ की ओर से की गई खरीद के अर्थ प्रबन्धन के लिए भी इन्तजाम करना था।

इन सबका सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि करेन्सी की मॉग बहुत बढ गई। विदेशी सरकारो द्वारा बहुमूल्य धातुओ के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने के फलस्वरूप उनके आयात मे हुई कमी ने समस्या को और जटिल बना दिया। अनुकूल सन्तुलन

के निस्तारण के लिए युद्ध से पूर्व प्रयुक्त विधियो के उपलब्ध न होने के कारण युद्ध सफलतापूर्वक चलाने के लिए अति आवश्यक निर्यात व्यापार की रक्षा के लिए सरकार को एक प्रकार का स्थानापन्न प्रस्तुत करना पडा। अतएव उन्हे भारतीय निर्यात की अदायगी के लिए साधन प्रस्तुत करने हेतु लन्दन मे बहुत बडी मात्रा मे कौंसिल बिलो को बेचना पडा। इन कौंसिल बिलो की बिक्री के कारण भारत मे रुपये का अत्यधिक टकन आवश्यक हो गया। इस काम मे बडी कठिनाइयाँ थी, क्योकि अनेक परिस्थितियो के कारण चाँदी का मूल्य बहुत बढ गया था।

२१. **चाँदी के मूल्य मे वृद्धि**—करेन्सी-स्थिति पर चाँदी के मूल्य की असाधारण वृद्धि का प्रमुख प्रभाव था। युद्ध से पूर्व उत्पादन की तुलना म चाँदी की पूर्ति में अत्यधिक कमी आ गई थी, जिसका कारण मैक्सिको की आन्तरिक कलह और लागत मे वृद्धि थी। इसके विपरीत सम्पूर्ण विश्व मे करेन्सी के लिए इस धातु की माँग असाधारण रूप से बढ गई। चाँदी की माँग मे वृद्धि होने का प्रमुख कारण सोने की कमी तथा युद्ध मे लगी और तटस्थ सरकारो की सोने की पूर्ति को सुरक्षित रखने की चिन्ता थी। सबसे अधिक माँग भारत और चीन की थी। हम लोग भलीभाँति देख चुके है कि अनुकूल व्यापार सन्तुलन के निस्तारण और ब्रिटिश युद्ध-कार्यालयो (ब्रिटिश वार ऑफिस) की ओर से व्यय करने के लिए क्रय-शक्ति ढूँढने का भार मुख्यत भारत सरकार पर डाल दिया गया था। इसने स्थानीय करेन्सी, विशेषकर रुपयो की अत्यधिक माँग, का रूप धारण कर लिया। विधानतः मनाही होते हुए भी रुपया पिघलाने के कारण माँगे ये और बढ गई, क्योकि चाँदी के मूल्य मे वृद्धि होने के कारण रुपये का वास्तविक मूल्य इसके अकित मूल्य से बढ गया था। इसी दशा मे प्रभावित करने वाला दूसरा कदम डालर-स्टर्लिंग अथवा न्यूयार्क-लन्दन विनिमय का प्रभाव था। जिस समय मार्च, १९१९ मे डालर-स्टर्लिंग विनिमय से नियन्त्रण हटा लिया गया, तो इसका प्रभाव इगलैण्ड के प्रतिकूल ही हुआ और अन्त मे विनिमय-दर ३ ४० डालर=१ पौण्ड की निम्न सीमा पर पहुँच गई।

चाँदी की वृद्धि के कारणो को समझने के बाद अब इसकी वृद्धि का क्रम देखना चाहिए। १९१५ मे चाँदी का न्यूनतम मूल्य २७ पैंस प्रति औंस था। १९१६ मे यह ३७ पैंस प्रति औंस तथा १९१७ मे ४३ पैंस प्रति औंस हो गया। (जो रुपये के १ शि० ४ पैं० की विनिमय-दर पर उसके वास्तविक मूल्य के बराबर था।) सितम्बर, १९१७ मे यह ५५ पैंस प्रति औंस हो गया। सयुक्तराज्य, ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा आदि देशो ने चाँदी के व्यापार को नियन्त्रित किया और अनुज्ञा-प्राप्त निर्यात को छोड शेष निर्यात बन्द कर दिए। बाद मे चाँदी का अनुज्ञा-प्राप्त निर्यात भी निर्दिष्ट मूल्य पर होने लगा। इन उपायो के फलस्वरूप चाँदी का मूल्य ४१ और ४९ पैंस प्रति औंस की सीमाओ के अन्दर आ गया। परन्तु मई, १९१८ मे सयुक्तराज्य और ग्रेट ब्रिटेन ने इस नियन्त्रण को हटा दिया, जिससे चाँदी का मूल्य फिर बढ गया। उसी महीने मे चाँदी का मूल्य ५८ पैंस प्रति औंस हो गया। उसके बाद साल-भर यह बढता ही गया और दिसम्बर मे ७८ पैंस प्रति औंस हो गया। फरवरी, १९२० मे मूल्य उच्च-

तम हो गया, जबकि लन्दन मे चाँदी का भाव ८९ पैंस प्रति औंस हो गया।

२२. सरकार द्वारा किये गए उपाय—(१) **सरकार का विनिमय पर नियन्त्रण**—युद्ध के प्रथम धक्के सह लेने के बाद कौंसिल बिलो की माँग निर्यात-व्यापार के समुत्थान के साथ पुन उत्पन्न हो गई। अक्तूबर, १९१६ तक निर्यात स्पष्ट रूप से साधारण ही रहा। उसके बाद व्यापारिक सन्तुलन की अनुकूलता बढ़ने के साथ बढ़ता गया। इसका विस्तार सोने के आयात द्वारा सम्भव नही था। इससे भारत मे रुपये का सुरक्षित कोष खाली हो गया, जिससे नोटो की रुपयो मे परिवर्तनशीलता सदिग्ध हो गई। अतएव दिसम्बर, १९१६ मे कौंसिल बिल की बिक्री पर नियन्त्रण लगाया गया और इण्टरमिडियेट कौंसिल बिलो की बिक्री बन्द कर दी गई। इसके परिणामस्वरूप बाजार और सरकारी विनिमय दर मे अन्तर हो गया। यह निर्यात व्यापार के लिए हानिकारक था, परन्तु युद्ध के सफल सचालन के लिए निर्यात व्यापार को अबाध रूप से बनाए रखना भी अति आवश्यक था। इसलिए सरकार ने कुछ नियत्रण के उपायो से काम लिया तथा जनवरी, १९१७ मे विनिमय-दर १ शि० ४$\frac{1}{4}$ पैंस निश्चित कर दी गई। कौंसिल बिलो की बिक्री कुछ चुनी हुई बैंको और फर्मों तक सीमित कर दी गई, जिन्हे नियत दरो पर एक तीसरी पार्टी से व्यापार करना पड़ता था और अपने साधनो को कुछ चुनी हुई वस्तुओ के निर्यात व्यापार मे लगाना पड़ता था, जो मित्र-राष्ट्रो के लिए भी महत्त्वपूर्ण थी। नियत्रण के उपायो और बैंको के सहयोग से विनिमय के चढ़ाव-उतार कुछ समय के लिए बन्द हो गए।

(२) **विनिमय-दर की वृद्धि**—अगस्त, १९१७ मे विनिमय-दर बढ़ाकर १ शि० ५ पैंस कर दी गई और कुछ समय पश्चात् भारत-सचिव ने चाँदी के स्टर्लिंग मूल्य पर विनिमय दर को आधारित करने की घोषणा की।[1] नीचे दी हुई तालिका यह परिणाम दिखा रही है—

विनिमय-दर मे परिवर्तन

तारीख	स्टर्लिंग मे विनिमय-दर	तारीख	स्टर्लिंग मे विनिमय-दर
३ जनवरी, १९१७	१ शि० ४$\frac{1}{4}$ पैंस	१२ अगस्त, १९१९	१ शि० १० पैंस
२८ अगस्त, १९१७	१ शि० ५ पैंस	१५ सितम्बर, १९१९	२ शि० [illegible] पैंस
१२ अप्रैल, १९१८	१ शि० ६ पैंस	२२ नवम्बर, १९१९	२ शि० २ पैंस
१३ मई, १९१९	१ शि० ८ पैंस	१२ दिसम्बर, १९१९	२ शि० ४ पैंस

---

१. यह घोषणा भारत में १८७३ से पूर्व विद्यमान रजत प्रमाप को पुन स्थापित करने की घोषणा के बराबर थी। १८७३ से १८९३ तक चाँदी के स्वर्ण मूल्य के परिवर्तन के साथ भारत में मूल्य घट-बढ़ रहे थे। भारत में इस समय चाँदी के १६५ ग्रेन का स्वर्ण मूल्य वस्तुओं के विनिमय का माप था। उपर्युक्त परिस्थितियों के विचार में यही बात अब भी उचित थी" । वकील और मुरन्जन, 'करेन्सी एण्ड प्राइसेज इन इण्डिया', पृ० ११०।

बाजार-दर तथा फरवरी, १९२० के बाद रिवर्स कौन्सिल बिलो की विक्रय-दर जनवरी से मार्च, १९२० तक २ शि० ६ पैंस, २ शि० ८ पैंस, २ शि० १० पैंस और २ शि० ११ पैंस थी। सबसे ऊँची दर १९२० के प्रारम्भिक महीनो मे थी।

(३) **रजत-क्रय**—करेन्सी की पूर्ति के लिए विशेष उपाय अपनाने पड़े। फरवरी, १९१६ से इस काम के लिए चाँदी खरीदी जाने लगी। व्यक्तिगत खरीदारो की ओर से प्रतिस्पर्धा दूर करने के लिए सरकार ने सितम्बर, १९१७ से निजी तौर पर चाँदी के आयात को बन्द कर दिया। सयुक्तराज्य और भारत सरकार के बीच हुए पत्र व्यवहार के फलस्वरूप सयुक्तराज्य ने पिटमेन कानून पास किया, जिसने सुरक्षित कोष को चाँदी बेचने का अधिकार दिया। १०१½ सेण्ट प्रति शुद्ध औस के भाव से भारत सरकार ने २००० लाख औंस शुद्ध चाँदी खरीदी।

(४) **चाँदी की सुरक्षा और उसकी मितव्ययता**—चाँदी की सुरक्षा और मितव्ययता के लिए और उपाय भी अपनाये गए। सोने और चाँदी के सिक्को को पिघलाने और उसके निर्यात को रोकने के लिए सरकार ने जून, १९१७ मे करेन्सी विधान पास किया। दिसम्बर, १९१७ मे २½ और १ रु० के नोट जारी किये गए। सबसे पहले जनवरी, १९१८ मे २, ४ और ८ आने के गिलट (निकल) के सिक्के बनाये गए, जिन्हे १ रुपये तक कानूनी मुद्रा माना गया। जून, १९१७ से रुपये के स्टर्लिंग विनिमय मूल्य के आधार पर सरकार ने निजी तौर पर आयात किये हुए सोने को प्राप्त किया। इस प्रकार प्राप्त सोने के बल पर नोट जारी किये गए और चाँदी की करेन्सी तथा सोने की मुहर के पूरक के रूप मे सोने की मुहर और सावरेन बनाई तथा जारी की गई। जून, १९१९ मे उत्तरी अमेरिका से स्वर्ण-निर्यात पर लगे प्रतिबन्ध हटा लेने तथा आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के स्वर्ण बाजार स्वतन्त्र कर देने से देश म अधिक सोने का आयात होने लगा और सरकार ने भी अधिक सोना प्राप्त किया।

(५) **पत्रमुद्रा-प्रसार**—धातु रखे बिना जारी किये गए नोटो की वृद्धि करके भी स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया गया। इसकी परिवर्तनीयता पर प्रतिबन्ध लगा दिये गए, उदाहरणार्थ परिवर्तन के लिए अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओ को रोक दिया गया। नोट वालो के लिए प्रतिदिन जारी किये गए रुपयो को सीमित करके भी समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया।

(६) **आर्थिक उपाय**—साधारण और पूँजी-व्यय न्यूनतम रखे गए तथा सरकार की क्रय-शक्ति बढाने के लिए और अधिक कर लगाये गए। इसके अतिरिक्त भारत मे ऋण लिये गए, जिससे १९१७-१८ और १९१९ मे १३० करोड रुपया प्राप्त हुआ। अक्तूबर, १९१७ से १२ महीने की अवधि के अल्पकालीन ट्रेजरी बिल भी जारी किये गए। करेन्सी की प्रत्यक्ष माँग और भारत मे भेजने की भारी मांगो को पूरा करने मे इन उपायो ने बडी सहायता की।

२३. **बेबिंगटन समिति**—जिस समय चेम्बरलेन समिति की सिफारिशें विचाराधीन थी, उसी समय युद्ध प्रारम्भ हो गया। हम अभी देख चुके है कि युद्ध ने किस प्रकार अनेक समस्याओ को जन्म दिया। अतः सर हेनरी बेबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता मे

३० मई, १९१९ को एक दूसरी विशेष समिति की नियुक्ति की गई।

संक्षेप में समिति की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं—[1]

(१) रुपये को असीमित कानूनी मुद्रा ही रखना चाहिए। (२) इसका निश्चित विनिमय का मूल्य होना चाहिए, जो ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर हो, अर्थात् सावरेन के सोने के $\frac{1}{10}$ के बराबर हो। (३) सावरेन को, जिसकी पहली दर १५ रुपये = १ सावरेन थी, १० रुपया = १ सावरेन की नई दर पर कानूनी मुद्रा बनाना चाहिए। (४) सोने के आयात और निर्यात से सरकारी नियन्त्रण १० रुपया = १ सावरेन की दर स्थापित करते ही हटा लेना चाहिए। बम्बई में जनता द्वारा दिये गए सोने की सावरेन बनाने के लिए सोने की टकसाल खोलनी चाहिए। (५) सावरेन के बदले रुपया देने की सरकारी अधिसूचना वापस ले लेनी चाहिए। (६) निजी तौर पर चाँदी के आयात और निर्यात पर लगी बन्दिश हटा देनी चाहिए तथा राजकोषीय स्थिति के कारण आवश्यक होने तक चाँदी पर लगा आयात-कर हटा देना चाहिए। (७) स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष में प्राप्त अनुपात में सोना रखना चाहिए तथा शेष राशि को ब्रिटिश साम्राज्य की सरकारों (भारत सरकार को छोड़कर) द्वारा जारी की गई ऐसी प्रतिभूतियों के रूप में रखना चाहिए जो १२ महीने में परिपक्व होती हों। स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष का भाग, जो आधे से अधिक न हो भारत में रखना चाहिए। रुपये का विनिमय मूल्य सोने के बराबर निश्चित करने के सम्बन्ध में यह शर्त थी—

"यदि आशा के विपरीत विश्व के मूल्यों में शीघ्र कमी हो जाए और भारत में उत्पादन-लागत इन गिरे हुए मूल्यों से शीघ्र ही व्यवस्थित न हो सके, तो इस प्रश्न पर नये सिरे से विचार करना आवश्यक हो सकता है।"

२४ रिपोर्ट पर सरकारी कार्यवाही[2]—सरकार ने समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उन्हें लागू करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाए—

(१) विनिमय नियमण—जनवरी १९२० में कौंसिल ड्राफ्ट की माँग समाप्त हो गई और रिवर्स कौंसिल की बहुत माँग होने लगी। जनवरी में कौंसिल ड्राफ्ट २ शि० ४ पें० की दर पर बेचे गए। यह दर कौंसिल बिलों की बिक्री के लिए निश्चित की गई थी, परन्तु समिति की सिफारिशों के अनुरूप सरकार ने अधिसूचित किया कि कौंसिल ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर टेण्डर द्वारा बेचे जाएँगे और उनकी कोई निम्नतम दर नहीं होगी तथा अवसर आने पर भविष्य में रिवर्स ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर भारत में भी बेचे जाएँगे। इनका भाव (दर) ११ ३००१६ ग्रेन शुद्ध सोने का स्टर्लिंग मूल्य होगा, जो विद्यमान स्टर्लिंग डालर विनिमय द्वारा निश्चित किया जाएगा। इस दर में से सोना बाहर भेजने की लागत कम कर दी जाएगी।

---

१. उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण हिल्टन यंग कमीशन १९२५-२६ की रिपोर्ट की तीसरी परिशिष्ट से लिया गया है, परन्तु पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के विधान और स्थिति-सम्बन्धी सिफारिशों में छोड़ दिया गया है।

२. देखिए, रिपोर्ट ऑफ दि रायल कमीशन ऑन इण्डियन करन्सी एण्ड फाइनेंस १९२५, खण्ड २, परिशिष्ट ३ तथा एच० स्टेनली, जेवन्स 'बैंकिंग एण्ड एक्सचेंज इन इंडिया', अध्याय १५।

(२) सावरेन के कानूनी मुद्रा-मूल्य मे परिवर्तन—सावरेन और रुपये का १ : १० का आन्तरिक अनुपात उस समय तक प्रभावपूर्ण नही हो सकता जब तक समिति द्वारा प्रस्तावित अनुपात की तुलना मे स्वर्ण-पिण्ड अधिक पसन्द किया जाएगा। हम देख चुके है कि किस प्रकार १९१७ से ही सरकार ने स्वर्ण पिण्ड की पसन्दगी समाप्त करने के लिए निजी तौर पर आयात किये हुए सोने को प्राप्त करना तथा सितम्बर, १९१९ से हर पन्द्रहवे दिन उसे बेचना प्रारम्भ किया था। स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित मूल्य के ऊपर भी सोने की पसन्दगी बहुत अधिक बनी रही। फरवरी, १९२० मे सरकार ने घोषणा की कि प्रथम छ महीने मे १५० लाख तोला शुद्ध सोना बेचा जाएगा, परन्तु यह प्रोग्राम अगस्त और सितम्बर तक बढा दिया गया।

२१ जून, १९२० के आर्डिनेन्स ३ से सावरेन और अर्ध सावरेन की वैधानिक ग्राह्यता बन्द हो गई। परन्तु २१ दिन तक १५ रुपये की दर से उन्हें स्वीकार करने की व्यवस्था की गई। इस अवधि के समाप्त होने के बाद ब्रिटिश स्वर्ण मुद्राओ के आयात पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गए। २१ दिन की अवधि मे ही २५ लाख पौण्ड के सावरेन और अर्ध सावरेन करेन्सी कार्यालयो और खजानो मे पेश किये गए।

१५ रुपये के स्थान पर १० रुपये की दर से सावरेन को कानूनी मुद्रा बनाने के सम्बन्ध मे करेन्सी समिति की सिफारिश को जून, १९ ० के इण्डियन क्वायनेज (अमेंडमेण्ट) एक्ट ३६ द्वारा कार्यान्वित किया गया। इस कानून द्वारा सावरेन और अर्ध-सावरेन को कानूनी मुद्रा का रूप पुनः दे दिया गया, जिसे २१ जून, १९२० के आर्डिनेन्स ३ ने बन्द कर दिया था। नये कानून के अनुसार नई दर १० रु० प्रति सावरेन निश्चित की गई तथा खजानो और करेन्सी कार्यालयो को निर्देश दिया गया कि वे सावरेन और अर्ध-सावरेन क्रमश १० और ५ रुपये की दर पर स्वीकार करें, परन्तु इस दर पर सावरेन या अर्ध-सावरेन जनता को न दें। सावरेन का बाजारू मूल्य सदैव १० रुपये से अधिक रहने के कारण वह इस नई दर पर करेन्सी के रूप मे नही चल सकी। अतएव बम्बई मे एक स्वर्ण टकसाल खोलना आवश्यक समझा गया।

(३) युद्धकालीन प्रतिबन्धो की समाप्ति—फरवरी, १९२० मे चाँदी के आयात पर लगा हुआ प्रतिबन्ध (निर्यात का नही) हटा लिया गया और ४ आने प्रति औंस का आयात-कर भी समाप्त कर दिया गया। करेन्सी के अलावा अन्य कार्यों के लिए सोने और चाँदी को बन्द करने वाली युद्धकालीन अधिसूचनाएँ रद्द कर दी गई। चाँदी के मूल्य मे गिरावट तथा चाँदी के सिक्को के प्रचलन मे कमी हो जाने से बहुमूल्य धातुओ पर लगे शेष प्रतिबन्ध को समाप्त करना भी सम्भव हो गया। २१ जून को स्वर्ण-पिण्ड और विदेशी सिक्के के आयात पर से प्रतिबन्ध हटा लिया गया। कुछ दिनो के बाद सरकार की ओर से भुगतान करने के लिए चाँदी के प्रयोग पर से भी प्रतिबन्ध हटा लिया गया। खजानो को आदेश दिया गया कि प्राप्तकर्ता द्वारा इच्छित करेन्सी मे भुगतान किया जाए। अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओ को पुनर्जीवित करने के लिए (अर्थात् नोटो को रुपयो मे बदलने के लिए) भी कदम उठाये गए। ये सुविधाएँ पहले अस्थायी रूप से समाप्त कर दी गई थी। उदाहरणतः खजानों के

लागू करने की आशा छोड दी थी। यह दर छः महीने के अन्दर ही स्थापित की गई और गिर गई। बाजार-दर नीचे गिरती गई और सरकार उसके गिराव को नही रोक सकी। बाजार-दर के अनुसरण मे सरकार को अपनी दर भी कम करनी पडी और उसे बाजार-दर से कुछ ऊँचा रखने के नियम का ही पालन किया जा सका। परन्तु यह दर अनिश्चित काल तक नही रह सकती थी, अतएव सरकार ने विनिमय के नियमन के प्रयास छोड दिए। १९२० के प्रारम्भ से सितम्बर, १९२० तक रिवर्स कौंसिल की बिक्री ५५,३८२,००० पौण्ड तक हो गई। लन्दन मे रिवर्स कौंसिल की अदायगी पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष से सम्बधित स्टर्लिंग प्रतिभूतियो और ट्रेजरी बिल की बिक्री से प्राप्त राशि द्वारा होती थी। ये प्रतिभूतियाँ और बिल १५ रुपये प्रति पौण्ड की दर पर खरीदे गए थे और ७ से १० रुपये प्रति पौण्ड की दर पर बेचे गए। क्रय और विक्रय मूल्य के इस अन्तर के फलस्वरूप भारतीय खजानो को ३५ करोड रुपये की हानि हुई।

अधिकतम हानि का कारण व्यापारियो का सरकार द्वारा निर्धारित ऊँची दर पर विश्वास करना था। माल का ऑर्डर इस आशा और विश्वास से किया गया था कि विनिमय-दर ऊँची रहेगी, परन्तु माल आने तक विनिमय-दर बहुत गिर गई। इस कारण अनेक आयातकर्ताओ का दिवाला पिट गया, क्योंकि सरकार द्वारा ऊँची विनिमय-दर बनाए रखने के सम्बन्ध मे इन्हे इतना विश्वास था कि इन्होने कोई सावधानी ही न बरती।

२६ **सरकारी नीति की परीक्षा**—इन बातो से यह सिद्ध होता है कि अनेक व्यापारी ऐसी ऊँची दर को बनाए रखना असम्भव नही समझते थे, चाहे वे उसकी उपादेयता के बारे मे भले ही सन्देह करते हो।

सरकार स्वय २ शि० स्वर्ण दर की व्यावहारिकता के बारे मे सन्देह नही करती थी, क्योकि इस विषय पर उसे स्मिथ समिति के बहुमत का समर्थन भी प्राप्त था। यह सत्य है कि सर ददीबा दलाल ने अपना भिन्न मत प्रकट करते हुए इस उच्च दर से सम्भावित दोषो की योग्यतापूर्ण विस्तृत विवेचना की थी, परन्तु उन्होने भी इस दर को बनाए रखने की असम्भाव्यता पर विशेष बल नही दिया।

इसके साथ ही यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि जब सरकार बैबिंग्टन स्मिथ समिति की सिफारिशो को कार्यान्वित करने चली, उस समय अनेक ऐसी बाते थी जो करेन्सी प्रमाप मे ऐसे परिवर्तन करने से पहले सरकार को रुकने और सोचने के लिए बाध्य कर रही थी। उदाहरण के लिए, अगस्त १९२० मे, जिस समय परिवर्तित अनुपात लागू होने वाला था, उस समय सोना २३½ रुपये प्रति तोला बिक रहा था, परन्तु नये अनुपात के अनुसार उसे १५ रुपये १४ आने के भाव से बिकना चाहिए था। इस अन्तर को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि २ शि० स्वर्ण दर को बनाए रखना यदि असम्भव नही तो असाधारण रूप से कठिन अवश्य होगा। इसके अतिरिक्त पुन चाँदी का मूल्य गिरकर ४४ पैंस प्रति औंस हो चुका था और रुपया पिघलाने का भय लगभग समाप्त हो चुका था। यदि कही थोडा-बहुत

रुपया पिघलाया भी जाता तो प्रचलन में रुपयों की घटती हुई मात्रा को देखते हुए इसका कोई प्रभाव न होता।[१]

भारतीय विनिमय की वृद्धि के कारणों में चाँदी के मूल्य की वृद्धि को महत्ता देकर बैबिंगटन स्मिथ समिति ने परिस्थिति को बिलकुल गलत समझा। रुपये के स्टर्लिंग मूल्य के बढ़ने का प्रधान कारण रुपये के मूल्यों की तुलना में स्टर्लिंग के मूल्यों का अधिक बढ़ना था। सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त के अनुसार भी सन्तुलन[२] के लिए विनिमय-दर को ऊपर उठना चाहिए था। २ शि० स्वर्ण-दर का अर्थ क्रय-शक्ति की समता की तुलना में रुपये का अधिमूल्यन था। रुपये के लिए सोने का निश्चित मूल्य स्थापित करने का प्रयत्न अपरिपक्व था, क्योंकि सोने के मूल्य में स्वयं बहुत परिवर्तन हो रहे थे तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की परिस्थितियों में बड़ी अस्थिरता थी।[३]

सरकार के विरुद्ध प्रमुख आलोचना यह नहीं थी कि उसने अपनी नीति को प्रारम्भ में ही एक विशेषज्ञ समिति की सिफारिशों के आधार पर बना दिया, वरन् यह थी कि २ शि० स्वर्ण दर को प्रभावपूर्ण बनाने के सम्बन्ध में प्रयत्नों की निरर्थकता देखते हुए भी वे रिवर्स कौंसिल की बिक्री में लगे रहे। जून, १६२० के अन्त तक यह स्पष्ट हो गया कि सरकार ने एक असम्भव कार्य अपने ऊपर ले लिया था। अतः प्रारम्भ में ही अपनी हार मान लेना कहीं अधिक बुद्धिमानी और साहस का काम होता, परन्तु वे विनिमय-दर को बढ़ाने में लगे रहे तथा उन्होंने स्वर्ण-साधनों को रिक्त कर दिया और इस प्रकार औद्योगिक एवं व्यावसायिक दुनिया में बड़ी उथल-पुथल मचा दी। जैसा कि सर स्टनली रीड ने कहा है कि यह एक ऐसी नीति थी जो विनिमय की स्थिरता के लिए अपनाई गई थी, परन्तु जिसने देश के विनिमय में अत्यधिक परिवर्तन, व्यापारिक उथल-पुथल, राजकीय हानि तथा सैकड़ों व्यापारियों को दिवालिया बना दिया।[४]

२७ निष्क्रियता की नीति (१९२१-२४)—विनिमय को स्थिर करने के प्रयत्न में असफल होने पर सरकार कुछ समय तक कोई निर्णय किये बिना ही घटना-चक्र को शान्तिपूर्वक देखती रही।

१९२१ में भी व्यापारिक सन्तुलन भारत के प्रतिकूल था। विश्व के मूल्यों के सोने में गिरने के कारण निर्यात-व्यापार की दशा बुरी थी। इसका दूसरा कारण

---

१. देखिए, अम्बेडकर, पूर्व उद्धृत, पृ० २०७।

२. परिभ्रमण (मेकुलेगन के मत में चाँदी के मूल्य की वृद्धि केवल स्फीतकारी थी। समिति की आधी मौलिक भूल शायद परिवर्तन होने वाले मूल्य-स्तरों के महत्व को न समझने और केवल चाँदी के मूल्यों पर ध्यान देने में थी। रुपये का २ शि० सोने की दर से सम्बन्धित करने में इसने वृद्धि के वास्तविक कारण को भुला दिया और इस दर को बनाए रखने के लिए आवश्यक मुद्रा सङ्कुचन को कम आँका। अन्य देशों में मूल्यों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इसके अनुमान के आधार पर अनुमान ऐसे हैं जो कि कदाचित् ही इतिहास में मिलें। कीन्स, ..., पूर्व उद्धृत, पृ० २४०-४१।

३. मुद्रा केन्द्र मेमोरेण्डम और हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, खण्ड २, परिशिष्ट ६२।

४. बी० ई० दादाचंजी हिस्ट्री ऑफ इण्डियन करेन्सी एण्ड एक्सचेंज, पृ० १२७।

स्टर्लिंग मूल्यो मे तेजी से हुई कमी थी जो इंगलैण्ड द्वारा स्टर्लिंग को स्वर्ण समता पर लाने के लिए उठाये गए कदमो के फलस्वरूप हुई थी। इन परिस्थितियो मे, जैसा कि होना चाहिए था, रुपये का स्टर्लिंग मूल्य गिरता गया। १९२१ मे ३१,५८,००० रुपये की करेन्सी का सकुचन किया गया। यह विनिमय की निम्नगामी गति को रोकने के लिए पर्याप्त नही थी, जो १ शि० ३ पैंस के निम्न स्तर तक पहुँच गई थी।

१९२२-२३ मे यूरोपीय देशो मे क्रय शक्ति मे सुधार होने और भारत मे अच्छी फसल होने के कारण भारत के निर्यात का पुनरुत्थान हुआ। मुद्रा के सकुचन और निर्यात के पुनरुत्थान का सम्मिलित प्रयास रुपये के विनिमय मूल्य को धीरे-धीरे बढाना था। सितम्बर, १९२३ मे रुपया १ शि० ३½ पैंस सोने के बराबर था और १ शि० ४ पैंस का युद्ध के पूर्व का अनुपात किसी के हित को हानि पहुँचाए बिना ही पुनः स्थापित किया जा सकता था। इसके लिए भारतीय व्यापार मण्डल ने प्रार्थना भी की थी, जो असफल रही। सरकार १ शि० ६ पैंस के अनुपात को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रही थी। वास्तव मे रुपया १ शि० ६ पैंस स्टर्लिंग के स्तर पर अक्तूबर, १९२४ मे पहुँच गया। इसके बाद सरकारी कार्य रुपये के मूल्य को इस स्तर से अधिक न बढने की ओर प्रेरित हुआ। इस परिणाम को प्राप्त करने के लिए, सरकारी विप्रेषण के लिए आवश्यक, स्टर्लिंग खरीदने की विधि का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया गया और इस खरीद के बल पर नई करेन्सी चालू की गई, जिससे द्रव्य-सम्बन्धी कठिनाई भी कम हुई। अप्रैल, १९२५ मे रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ६ पैंस स्वर्ण हो गया और २१ सितम्बर, १९३१ तक इसी प्रकार बना रहा। जैसा कि आलोचको का कथन है, उसे इतना ही रखा गया।[1]

अब निष्क्रियता-नीति का अन्त दृष्टिगोचर होने लगा। अनेक ओर से की गई प्रार्थनाओ के उत्तर मे सरकार ने १९२८ के आरम्भ मे करेन्सी-स्थिति की जाँच करने के लिए एक अधिकृत समिति की स्थापना का वादा किया। सरकार को यह आशा थी कि तब तक विश्व की परिस्थितियो मे स्थिरता आ जाएगी। लेफ्टिनेण्ट कमाण्डर हिल्टन-यग की अध्यक्षता मे भारतीय करेन्सी और विनिमय के राजकीय आयोग की नियुक्ति हुई।

आयोग के मत और निर्णय पर विचार करने से पहले, हम भारतीय पत्र-मुद्रा पद्धति का विवरण देगे।

भारतीय पत्र-मुद्रा

२८ प्रारम्भिक इतिहास—१८०६, १८४० और १८४३ के कानूनो के अन्तर्गत बगाल, बम्बई और मद्रास के प्रेसीडेन्सी बैंको को यह अधिकार दिया गया कि वे नोट जारी करे, जिनका ग्राहको द्वारा माँगे जाने पर भुगतान कर दिया जाए। इन नोटो के जारी करने के सम्बन्ध मे अधिकतम सीमा और सुरक्षित कोष-सम्बन्धी नियमो का पालन

---

१ देखिए अध्याय १।

करना आवश्यक था। परन्तु उनका प्रयत्न व्यवहारतः तीन प्रेसीडेन्सी नगरों तक ही सीमित था। १८६० में भारत के प्रथम वित्त सदस्य श्री जेम्स विल्सन ने सरकारी पत्र-मुद्रा और प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा नोट जारी करने के अधिकारों के उन्मूलन के लिए योजना बनाई। १८४४ के इंगलिश बैंक चार्टर एक्ट के आधार पर उस समय के भारत-सचिव सर चार्ल्स वुड ने निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—

नोट जारी करने के दृष्टिकोण से पहले देश तीन निर्गम क्षेत्रों में विभाजित किया गया, जिनके प्रधान कार्यालय कलकत्ता, बम्बई और मद्रास थे। केन्द्रों की संख्या १९१० में बढ़कर सात हो गई। चार अतिरिक्त केन्द्र रंगून, कराची, कानपुर और लाहौर थे। १०, २०, ५०, १००, ५००, १०००, १०००० रुपये के नोट जारी किये गए। ५ रुपये का नोट १८९१ में जारी किया गया। ब्रिटिश स्वर्ण मुद्रा और रुपयों के बदले वे जनता में बेरोक-टोक जारी किये जा सकते थे। करेन्सी के कण्ट्रोलर की आज्ञा पर वे स्वर्ण-पिण्ड के बदले भी जारी किये जा सकते थे। अपने-अपने क्षेत्र के भीतर वे सरकारी खजानों और जनता के लेन-देन के लिए असीमित कानूनी मुद्रा मान गए।

जारी किये गए नोटों के बराबर मूल्य का सुरक्षित कोष धातु-पिण्ड और सिक्कों के रूप में बनाया गया, जिसका एक छोटा भाग भारत सरकार की 'रुपी सिक्योरिटीज़' में उनकी परिवर्तनीयता की गारण्टी देने के लिए विनियोजित था।

केवल नोट जारी करने वाले क्षेत्र के प्रधान कार्यालय पर ही नोटों का भुगतान कराने के अधिकार का प्रयोग किया जा सकता था, साथ ही सरकार खजाने, रेलवे कम्पनी और यात्रियों के लिए अन्य क्षेत्रों के नोटों का भी भुगतान करती थी। सरकारी देनदारियों का भुगतान किसी भी क्षेत्र के नोटों में किया जा सकता था।

२६. **नकद भुगतान और कानूनी मुद्रा-सम्बन्धी प्रतिबन्ध**—भारत एक विशाल देश है तथा व्यापारिक दशाओं के कारण वर्ष के विभिन्न समयों में देश के एक भाग से दूसरे भाग को रुपये भेजे या मँगाये जाते हैं। नोटों का सबसे पहला प्रयोग विप्रेषण के लिए सोना भेजने के बजाय अधिक सुविधापूर्वक नोट भेजना होगा, यदि सरकार ने जारी करने वाले क्षेत्र तक ही नोटों को कानूनी मुद्रा न बनाया होता, तो सरकार को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नकदी भेजनी पड़ती। इसके विपरीत, यदि नोटों को पूर्णतया कानूनी मुद्रा बना दिया जाता और उनका भुगतान केवल प्रेसीडेन्सी नगरों तक ही सीमित होता, तो निस्सन्देह वर्ष में कुछ समय लोग सिक्कों को अधिक पसन्द करते तथा नोटों की लोकप्रियता कम हो जाती।

क्षेत्र-पद्धति (सर्किल सिस्टम) के कारण नोटों की लोकप्रियता और विस्तार में बहुत बाधा पहुँची और इसे समाप्त करने के लिए १९०३ में पहला कदम उठाया गया, जबकि ५ रुपये का नोट बर्मा को छोड़कर सर्वत्र कानूनी मुद्रा बना दिया गया। यह रोक भी १९०९ में हटा ली गई। १९१४-१८ के युद्ध ने इस विकास को रोक दिया, क्योंकि इस समय रुपयों के टंकन में कठिनाई थी तथा विकसित आधार पर जारी किये गए नोटों का प्रचलन बढ़ गया था। बैबिंग्टन समिति ने युद्धकालीन प्रतिबन्धों को

समाप्त करने तथा नोटो को अधिक लोकप्रिय बनाने हेतु उनके भुगतान के लिए अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं के विस्तार की सिफारिश की। १९३१-३२ मे ५०० और १००० रुपये के नोट भी सर्वत्र कानूनी मुद्रा बना दिये गए।[1]

३०. *पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष*—*१८६१ के कानून के अन्तर्गत* सरकारी प्रतिभूतियो के रूप मे ४ करोड़ रुपये तक स्थायी विश्वासाश्रित निर्गम (फिक्सड फिडूशरी इश्यू) करने की व्यवस्था है। यह सीमा समय-समय पर विशेष कानूनो द्वारा बदल दी गई। यह १८७१ मे ६ करोड, १८९० मे ८ करोड, १८९७ मे १० करोड़ तथा १९०५ मे १२ करोड़ रुपये कर दी गई। अब तक ये प्रतिभूतियाँ भारत में रखी हुई भारत सरकार की रुपये वाली प्रतिभूतियाँ थी, परन्तु १९०५ के कानून ने २ करोड़ तक की स्टर्लिंग प्रतिभूतियो को इगलैण्ड मे रखने की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार सुरक्षित कोष मे विनियोजित भाग का कुछ अश स्टर्लिंग प्रतिभूति के रूप मे रखा जाने लगा।[2] १९११ मे प्रतिभूतियो की अधिकतम सीमा १४ करोड निश्चित की गई, जिसमे से ४ करोड स्टर्लिंग प्रतिभूतियो में रखने की व्यवस्था थी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १८९८ तक स्थायी विश्वासाश्रित भाग को छोडकर अतिरिक्त सम्पूर्ण पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष चाँदी के रूप में था। १८९८ में गोल्ड नोट एक्ट ने सरकार को सुरक्षित कोष के धातु वाले भाग के अश को स्वर्ण-मुद्रा मे रखने का अधिकार दिया। १९०० के कानून ने इन स्वर्ण मुद्राओं को लन्दन में रखने का भी अधिकार दिया। १९०५ के कानून ने सुरक्षित कोष के धात्वीय भाग को *अथवा उसके किसी अश को, लन्दन अथवा भारत में, स्वर्ण-मुद्रा या स्वर्ण-पिण्ड* या रजत-पिण्ड मे रखने का अधिकार दिया; परन्तु सभी टकित रुपयो को भारत में ही रखने की व्यवस्था थी।

इसके फलस्वरूप नोटो की परिवर्तनीयता निश्चित करने के लिए अत्यधिक सुरक्षित कोष रखा गया। कुल जारी किये गए नोटो के कुछ प्रतिशत या अनुपात को तरल रूप में रख और विनियोजित भाग को बढाकर इससे बचा जा सकता था। इस प्रकार भी विश्वासाश्रित सीमा बढाने के लिए वैधानिक आश्रय की आवश्यकता न पडती।

३१. पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष को आलोचना—१९१४ से पहले पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के विरुद्ध प्रमुख आलोचना इन आधारो पर थी—(१) धात्वीय कोष का अनावश्यक रूप से अधिक होना, (२) विशेष कानून के बिना स्थायी विश्वासाश्रित कोष को बढाने की असम्भावना और (३) पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के भाग का इगलैण्ड में स्टर्लिंग प्रतिभूतियो मे विनियोजित होना।

(१) और (२) के कारण व्यवस्था लोचहीन हो गई। जहाँ तक (३) का सम्बन्ध है इस प्रथा का समर्थन इस आधार पर किया गया कि स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ

---

१. रिपोर्ट ऑफ दि कण्टोलर ऑफ करेन्सी (१९३१-३२), पैरा ६०। १०० रुपये से अधिक के नोट का १९४७ से सरकारी आर्डिनेन्स द्वारा विमुद्रीकरण कर दिया गया।

२. पीछे सेक्शन १२, अन्तिम पैरा।

रुपये का विनिमय-मूल्य बनाए रखने के लिए आवश्यक थी और उनसे एक लाभ यह भी था कि भारत में आन्तरिक सकट आने की दशा में उनके अवमूल्यन की सम्भावना नहीं थी। इसके विपरीत यह कहा गया कि रुपये के विनिमय-मूल्य को बनाए रखना पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का काम नहीं है। भारत मे आन्तरिक सकट होने पर स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में अवमूल्यन भले ही न हो, परन्तु नोट निर्गम के सम्बन्ध मे जनता का विश्वास सम्पूर्ण सुरक्षित कोष को भारत मे रखने से ही हो सकता है।[1]

नोट निर्गम का कार्य पूर्णतया बैंकिंग के कार्यों से एकदम अलग कर दिया गया। केन्द्रीय बैंक की तरह की कोई चीज नहीं थी, इसलिए कोई सरकारी बैंकर भी नहीं था। केवल रिज़र्व ट्रेज़री व्यवस्था थी, जिसके अन्तर्गत विशेष सरकारी खजानों मे रुपया रखा जाता था, जिसके फलस्वरूप वर्ष मे कुछ समय के लिए द्रव्य बाज़ार मे कठिनाई उपस्थित हो जाती थी।

कुछ प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों को छोड़कर चैकों और निक्षेपों का तरीका भारत में अब भी अधिक प्रचलित नहीं है। दूसरा तरीका स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित किया गया था और स्वीकार भी कर लिया गया था। तीसरा तरीका भी रिजर्व ट्रेज़री की समाप्ति और सरकारी कोष को इम्पीरियल बैंक मे रखकर अपनाया गया है। रिजर्व बैंक के खुलने से पहले १९२१-३५ के इम्पीरियल बैंक ने सरकारी बैंक की तरह काम किया। सामान्य लोचहीनता दूर करने के लिए स्मिथ समिति का सुझाव था कि धात्वीय भाग कुल निर्गम के ४०% से कम नहीं होना चाहिए। उनका विचार था कि कारोबार के दिनों म परिनियत निम्नतम सीमा स अधिक कर रखना ही वाछनीय होगा। इस प्रकार कानून का आश्रय लिये बिना ही प्रचलन के विस्तार के साथ-ही-साथ विश्वासाश्रित सुरक्षित कोष भी बढ जाएगा। जैसा कि हम बाद मे देखेंगे, सरकार ने स्मिथ समिति के सुझाव को १९२० मे स्वीकार कर लिया, यद्यपि उन्होंने धात्वीय कोष की अधिक प्रतिशत को अर्थात् ५०% को अपनाया।[2]

३२. १९१४-१८ के युद्ध का पत्र-मुद्रा पर प्रभाव—हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार, १९१४ में युद्ध के छिड़ने पर, प्रारम्भ में भय के कारण नोटों के भुगतान के लिए लोग पेपर करेन्सी ऑफिस पर जमा होने लगे तथा किस प्रकार विश्वास के उत्पन्न हो जाने पर नोट प्रचलन मे विस्तार हुआ। मार्च, १९१५ से आगे पत्र-मुद्रा पर युद्ध के प्रभावों को सक्षेप म इस प्रकार दिखाया जा सकता है -

(१) करेन्सी की अत्यधिक माँग के कारण पत्र-मुद्रा का प्रसार हुआ, जिसकी पूर्ति रुपये जारी करने से नहीं की जा सकती थी। इस असाधारण माँग के कारणों का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। (२) विभिन्न कानूनों के परिणामस्वरूप विश्वासाश्रित (फिडूशरी) सुरक्षित कोष बहुत बढ गया। इन कानूनों के पूरक ऑर्डिनेन्स गवर्नर जनरल द्वारा जारी किए जाते थे। सुरक्षित कोष म रखने के लिए पर्याप्त

---

१. पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष की आलोचना के लिए अगला अध्याय देखिए।

२. देखिए, सेक्शन ४३।

मुद्रा पाने की कठिनाई के कारण सुरक्षित कोष का अपूर्व विस्तार आवश्यक हो गया। इंगलैंड की ओर से भारत मे किये गए युद्ध के व्यय भारत सचिव द्वारा लन्दन मे ले लिये गए। इसे लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष मे सोने के रूप मे रखना राजकीय हित के विरुद्ध समझा गया। अतएव उसे ब्रिटिश ट्रेजरी बिल्स अथवा अल्पकालीन स्टर्लिंग प्रतिभूतियो मे रखने के विकल्प को अपनाया गया।[1] यद्यपि कुछ भाग का विनियोग भारतीय ट्रेजरी बिल मे भी किया गया। (३) धात्वीय सुरक्षित कोष १९१४ मे ७८.९% था। १९१९ मे यह ३५.८% रह गया। (४) चाँदी की मित-व्ययता के उपाय के रूप मे १९१७ और १९१८ मे क्रमशः १ और २½ रुपये के नोट जारी किये गए जो स्पष्टतः इंगलैण्ड में जारी किये गए १ पौण्ड और १० शि० के नोट के अनुकरण-मात्र थे। जनता ने प्रारम्भ मे इनके प्रति उदारता नही दिखाई। १ रुपये का नोट खूब चलने लगा। ३१ मार्च, १९१९ को १०५० लाख रुपये के एक रुपये वाले नोट चल रहे थे जबकि २½ रुपये के नोट का प्रचलन केवल १८४ लाख रुपया था।[2] (५) रुपये की कमी के कारण नकदी भुगतान के लिए, अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं[3] को समाप्त कर दिया गया। (६) १९१८ के पत्र-मुद्रा एक्ट का सामना करने के लिए पिटमैन कानून के अन्तर्गत २००० लाख औंस अमरीकी चाँदी का आयात हुआ।

३३. पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का पुनर्निर्माण—सितम्बर, १९१९ मे पत्र-मुद्रा कानून के अस्थायी सुधार से पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के विनियोग की अधिक सीमा १२० करोड रुपये कर दी गई, जिसमे १०० करोड रुपया ब्रिटिश ट्रेजरी बिलो मे लगाना आवश्यक था।

मार्च, १९२० मे छः महीने के लिए एक अस्थायी कानून बनाया गया जिसने सुरक्षित कोष के विनियोजित भाग को १२० करोड रुपया रखने की आज्ञा दी, परन्तु इसने विनियोग के स्थान और उसके स्टर्लिंग अथवा रुपये के प्रकार-सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटा दिए। इंगलैण्ड को सोना भेजने की तत्कालीन माँग और राजसचिव के नकद कोष से इसे पूरा करने की असम्भावना ने इसे अनिवार्य कर दिया। लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष मे रखी स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के विक्रय से माँग पूरी की गई। वर्तमान कानून के अनुसार रुपये के मूल्य मे स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के बराबर १५ रु०=१ पौं० की दर से नोटो की वापसी और रद्दगी आवश्यक हो गई।

---

१. ब्रिटिश ट्रेजरी बिल में विनियोग करने का प्रधान कारण यह था कि अल्पकालिक होने के कारण उनके अधोमूल्यन का भय नहीं था। इसके विपरीत स्टर्लिंग प्रतिभूतियों मे होने वाले युद्ध के कारण अधोमूल्यन हो रहा था।

२. भारत सरकार ने १ जनवरी १९२६ [illegible] १ और २½ रुपये के नोट को समाप्त करने का निश्चय किया। उनका स्थान चांदी के रुपये और १० रुपये के नोट ने ले लिया। देखिए अगला अध्याय।

३. जैसा कि कहा गया है, ये सुविधाएँ १९२०-२१ मे पुनः प्रारम्भ कर दी गई और इम्पीरियल बैंक की शाखाओं की वृद्धि के साथ बढती गईं, जहां जनता की सुविधा के लिए नोटों के भुगतान की व्यवस्था है।

चेम्बरलेन आयोग और स्मिथ समिति की आलोचना तथा युद्ध काल मे प्राप्त अनुभव को ध्यान मे रखते हुए मार्च, १९२० के अस्थायी कानून के स्थान पर नया कानून पास करना आवश्यक हो गया। अतएव भारत मे पेपर करेन्सी अमेण्डमेण्ट एक्ट' १ अक्तूबर, १९२० को कानून बना दिया गया। इस कानून के विधान (१) स्थायी और (२) अस्थायी दो भागो मे विभाजित किये जा सकते हैं।

(१) स्थायी विधान'

(क) कुल सुरक्षित कोष का ५०% धात्विक रूप म होना चाहिए। स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित ४०% से अधिक (५०%) को स्वीकार करने का कारण यह था कि भारत जैसे देश मे नोटो का तुरन्त नकद भुगतान करना और कारबार के दिनो मे फसलो की गति के लिए आर्थिक सहायता हेतु, जब नोट सामान्यत भुगतान के लिए उपस्थित किए जाते हैं, पर्याप्त सिक्का सुरक्षित रखना आवश्यक होता है।

(ख) २० करोड रुपये की प्रतिभूतियो को छोडकर, जो भारत मे रखी जाती थीं, शेष रुपया स्मिथ समिति के अनुसार १२ महीने या उससे कम अवधि की अल्प-कालीन प्रतिभूतियो के रूप म इगलैण्ड मे रखा जाता था।

(ग) ९० दिन म परिपक्व होन वाली भुनाई हुई अन्तर्देशीय हुण्डियो के आधार पर करेन्सी का कण्ट्रोलर ५ करोड रुपये के नोट जारी कर सकता था। अतिरिक्त निर्गम इम्पीरियल बक को दिये ऋण के रूप मे हो सकता था, जिस पर बैंक को ८% ब्याज और स्वीकार की हुई हुण्डियां सरकार को देनी पडती थी। १९२३ के इण्डियन पेपर करेन्सी अमण्डमेण्ट एक्ट द्वारा ५ करोड की सीमा बढाकर १२ करोड कर दी गई। परिनियत धात्विक कोष के ५०% सम्बन्धी विधान का अतिरिक्त निर्गम से कोई सम्बन्ध न था, क्योंकि धात्विक कोष निश्चित करने के लिए इस निर्गम पर विचार नही किया जाता था।

(घ) राज्य सचिव लन्दन मे ५० लाख पौण्ड के स्वर्ण-पिण्ड से अधिक नही रख सकता था।

(२) अस्थायी विधान

१५ रु०=१ सावरेन के स्थान पर १० रु०=१ सावरेन की दर से सोने और प्रतिभूतियो का पुन मूल्याकन करने हेतु उत्पन्न कठिनाई के कारण स्थायी विधान होने तक अस्थायी विधान बनाना आवश्यक समझा गया। १० रु० की दर से पुन मूल्याकन करने पर सुरक्षित कोष का धात्विक भाग ५०% स कम हो जाता, अतएव कुछ समय के लिए विनियोजित पूंजी ८५ करोड रुपये निश्चित कर देन की

---

१. यह सामान्यत १९२३ के पेपर-करेन्सी एक्ट की ओर संकेत करता है जो कन्सॉलिडेटेड एक्ट कहलाता है।

२. ये विधान व्यवहारत स्मिथ समिति की सिफारिशों के समान थे।

व्यवस्था की गई।[1] दूसरी कठिनाई सोना और प्रतिभूतियो को पहली दर की $\frac{3}{5}$ पर पुन मूल्यन करने से उत्पन्न अन्तर को पूरा करने के सम्बन्ध मे थी। इस कठिनाई को हल करने के लिए सरकार को अधिकार दिया गया कि वह रुपये वाली प्रतिभूतियाँ (जिन्हे तदर्थ प्रतिभूतियाँ कहा जाता था) उत्पन्न करे और उन्हे पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष को निर्गमित करे। चूंकि ये प्रतिभूतियाँ रुपये वाली प्रतिभूतियो की कानूनी सीमा पार कर जाएँगी, इसलिए यह प्रस्तावित किया गया कि इस सीमा से आगे बढ़ी हुई प्रतिभूतियाँ धीरे धीरे स्टर्लिंग प्रतिभूतियो मे परिवर्तित कर दी जाएँ। चूंकि यथेष्ट स्टर्लिंग प्रतिभूतियो को खरीदने के लिए कोष नही था, अतएव १२ करोड़ रु० की अनुज्ञेय सीमा से अधिक उत्पन्न की गई रुपये वाली प्रतिभूतियो को कम करने के लिए यह व्यवस्था की गई कि पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का ब्याज, नये रुपयो के टकन का लाभ तथा ४०० लाख पौण्ड से अधिक होने पर (३० सितम्बर १९२१ को यह अधिक हो गया था) अस्थायी निर्गम की सुरक्षा के लिए कण्ट्रोलर ऑफ करेन्सी के पास जमा व्यापारिक हुण्डियो के ब्याज का लाभ पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष मे जमा कर दिया जाए।

१९२७ के इण्डियन पेपर करेन्सी एक्ट के अनुसार १ अप्रैल, १९२७ से पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की प्रतिभूतियाँ, जिनका मूल्यन १९२० मे १० रुपये प्रति सावरेन की दर पर हुआ था, अब इनका मूल्यन १३ रु० १ आ० ३ पा० की दर से किया गया। इसके परिणामस्वरूप सोना और स्टर्लिंग मे ३० लाख रु० की वृद्धि हो गई, जिसे इतनी ही मात्रा के भारतीय ट्रेज़री बिल रद्द करके बराबर कर दिया गया। इसके फलस्वरूप ट्रेज़री बिल ४६७७ लाख रुपये से घटकर ४०४७ लाख रुपये रह गए।[2]

३४ **३१ मार्च १९२५ और १९३५ के बीच पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की बनावट और स्थिति**[3]—१९२५ और १९३५ के बीच पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष मे परिवर्तन किये गए। १९२९-३० और १९३०-३१ के वर्षों मे नोटो के प्रचलन मे बहुत कमी आ गई, जिसका कारण वस्तुओ के गिरते हुए मूल्य के साथ मुद्रा-सकुचन का होना था। मूल्यो मे सामान्य कमी १९२९-३० के अन्तिम भाग से प्रारम्भ हुई। दूसरा कारण निर्यात व्यापार मे मूल्यो के गिर जाने के कारण विनिमय मे कमज़ोरी आने की प्रवृत्ति थी, जिसके लिए अशात भारत की अनिश्चित राज-

---

१ द्रव्य-सम्बन्धी कठिनाई दूर करने के लिए फरवरी, १९०५ के सशोधन कानून द्वारा यह सीमा १०० करोड़ कर दी गई। इस कानून के अनुसार भारत सरकार द्वारा उत्पन्न की हुई प्रतिभूतियों की मात्रा ५० करोड रु० से अधिक नहीं होनी चाहिए।

२. १९३१-३२ के लिए केन्द्रीय बजट और अध्याय ९ का सेक्शन १७ भी देखिए।

१९२४ २५ से १९३४ ३५ तक करेन्सी कण्ट्रोलर की रिपोर्ट देखिए। १९३५ के पत्र-मुद्रा चलन सुरक्षा कोष की बनावट और स्थिति का अक ११वें अध्याय में दिया गया है।

३. पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध में हिल्टन यग आयोग की सिफारिशों और द्वितीय महायुद्ध के प्रभावों के लिए अगला अध्याय देखिए। निगम काय रिजर्व बैंक को सुपुर्द करने तथा नोटों के लिए सुरक्षित कोष रखने के लिए नये प्रबन्ध रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट (१९३४) के अन्तर्गत अध्याय ११ म दिये गए हैं।

नीतिक और सामाजिक दशा तथा १ शि० ४ पैं० की दर की पुनःस्थापना की परिकल्पना के कारण पूंजी स्थानान्तरित करने की प्रवृत्ति भी उत्तरदायी थी। घरेलू व्ययों को पूरा करने के लिए राज्य सचिव को विप्रेषण (रेमिटेन्स) करने में कठिनाई पैदा हो गई और यही पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष म १९३१ से १ स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के पूर्ण लोप का कारण बताती है, क्योंकि भारत में नोटों के संकुचन के अनुसार इन प्रतिभूतियों को भारत सचिव को हस्तान्तरित करना पड़ता था। रुपया प्रतिभूति में १९३०-३१ म और कमी आ गई जो इन प्रतिभूतियों के साथ करेन्सी के संकुचन से स्पष्ट है। इसी वर्ष सुरक्षित कोष में सोने की मात्रा में कमी होने का प्रमुख कारण ८$\frac{1}{2}$ करोड़ रु० का सोना स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की भारतीय शाखा को चुका देना था। नवम्बर, १९३० और फरवरी, १९३१ के बीच विनिमय-सम्बन्धी परिकल्पना और राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित जनता की मांग के प्रत्युत्तर में गृह-कोष (होम ट्रेज़री) की सहायता तथा १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पैं० की परिगणित दर पर स्टर्लिंग की बिक्री को पूरा करने के लिए ६२ लाख पौं० की स्टर्लिंग प्रतिभूतियां पत्र-मुद्रा कोष के इंगलैण्ड स्थित भाग से निकाल लेने के कारण ही उपर्युक्त राशि (८$\frac{1}{2}$ करोड़ रु०) भारतीय शाखा को दी गई थी। पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष क निर्माण म अन्य उल्लेख्य परिवर्तन कोष म चांदी के सिक्कों की वृद्धि थी, जिसके कारण नीचे दिये गए हैं।[1] इसमें और वृद्धि हुई होती, परन्तु हिल्टन यंग आयोग की सिफारिश के अनुसार विक्रय के लिए कुछ चांदी निकाल लेने के कारण ऐसा नहीं हुआ।

मार्च १९ – से १९३५ तक भारत सरकार ने २२८,१८२,२५५ औंस शुद्ध चांदी बेची। इस विक्रय से प्राप्त राशि का विनियोग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में किया गया जो स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष को स्थानान्तरित कर दी गई, परन्तु इसके विरुद्ध इस कोष ने सोना पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष को स्थानान्तरित कर दिया जाता था जिसमें समान मूल्य की रुपया प्रतिभूति रद्द कर दी जाती थी। स्टर्लिंग की चालू आवश्यकताओं से अधिक खरीद के अतिरिक्त (सरप्लस) का प्रयोग भी इसी प्रकार किया गया। इन कारणों के फलस्वरूप पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष का स्वर्ण भाग बढ़ गया, परन्तु चांदी और चांदी के सिक्के कम हो गए। १९३३-३४ और बाद के वर्षों म गृह कोष (होम ट्रेज़री) के अतिरिक्त धन और चांदी के विक्रय के लाभ का प्रयोग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के क्रय में किया गया और इस प्रकार पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की स्टर्लिंग सम्पत्ति बढ़ाई गई। सरकारी करेन्सी कार्यों को रिज़र्व बैंक को हस्तान्तरित करते समय पत्र-

---

१ देखिए स्थान ३५।

२ रिज़र्व बैंक को हस्तान्तरित करते समय ३१ मार्च, १९३५ को भारत सरकार का स्वर्ण-भंडार ४४ ४२ करोड़ था, [illegible] में ४१ ५५ करोड़ पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में था और २ ८७ करोड़ रु० स्वर्ण प्रमाप [illegible] था। यह स्वर्ण [illegible] (दर) (१ रु० = ८ ग्रेन सोना) [illegible] था। उसका [illegible] लगभग [illegible] करोड़ रुपये था।

मुद्रा कोष की यह स्थिति स्वागत योग्य थी।[१]

२० सितम्बर, १६३१ को इगलैण्ड के स्वर्ण प्रमाप त्यागने तथा रुपये का मूल्य १ शि० ६ पैं० निश्चित करने के फलस्वरूप रुपयो मे सोने का मूल्य बढ जाने से ३१ दिसम्बर १६३७ तक ३०८ करोड रुपया बाहर भेजा गया।[२]

३५. नोट प्रचलन और करेन्सी की खपत—इस भाग मे २ मुख्य प्रश्नो का विवेचन प्रस्तावित है—

(१) कुल और सक्रिय नोट प्रचलन—जब हम पत्र-मुद्रा के प्रचलन की बात करते हैं तो हमे जानना चाहिए कि हम कुल प्रचलन की बात कर रहे हैं अथवा सक्रिय प्रचलन की।

(क) कुल प्रचलन का अर्थ जारी किये गए नोटो के कुल मूल्य से है जिनका भुगतान नही हुआ है। (ख) १ अप्रैल, १६३५ से जब नोट चलाने का कार्य रिजर्व बैंक ने ले लिया, सक्रिय प्रचलन का अर्थ बैंकिंग विभाग मे रखे हुए नोटो को छोडकर जारी किये गए शेष नोटो की सख्या से है।

हाल के वर्षों मे सक्रिय नोट प्रचलन की वृद्धि से देश मे नोटो का अधिक प्रयोग और पुनरुत्थान प्रकट होता है। युद्धजनित दशाओ के परिणामस्वरूप १६३६-४० मे हुई वृद्धि को दूसरे अध्याय मे समझाया गया है।

(२) करेन्सी के विभिन्न रूपों की खपत—१६१४-१८ के युद्ध के पूर्व, मध्य और बाद मे मुद्रा चलन के शोषण और नोट तथा रुपये की अपेक्षाकृत लोकप्रियता मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए। नोट और रुपये के रूप मे बड़े पैमाने पर युद्धकालीन मुद्रा चलन का प्रसार भली प्रकार जाँचे गए साधनो के कारण जिनो द्वारा स्पष्ट हो रहा है। १६२०-२१ मे मुद्रा चलन का विस्तृत सकुचन प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन और हुण्डियो के विक्रय के प्रभाव का प्रतिनिधित्व करता है। १६१४-१८ के बाद के २० वर्षों मे बिना अपवाद के एक ओर खजानो से चाँदी के रुपये के लाभ का काल था और दूसरी ओर नोटो द्वारा रुपयो का पक्षपातपूर्ण स्थान-परिवर्तन था। यह तालिका युद्ध-पूर्व, युद्ध-काल तथा युद्धोत्तर-काल मे सिक्को और पत्र-मुद्रा की सापेक्षिक खपत और लोकप्रियता के विशेष परिवर्तन को स्पष्ट करती है। इन आँकडो से रुपये और नोटो का युद्धकालीन विस्तार भली भाँति प्रकट हो जाता है। १६२०-२१ मे मुद्रा का सकुचन प्रतिकूल व्यापारिक सतुलन और रिवर्स कौसिल की बिक्री प्रदर्शित करता है। १६१४-१८ के बाद २० वर्ष तक का समय चाँदी के रुपयों की वापसी तथा अशतः सिक्को का नोट से प्रतिस्थापन का युग था, यद्यपि कुछ थोडे-बहुत अपवाद भी थे। रुपयो की वापसी का एक कारण यह था कि लोग धन जोडने के लिए उसके स्थान पर सोने का प्रयोग करने लगे, क्योंकि २१ सितम्बर, १६३१

१. देखिए अध्याय ११, करेन्सी कन्ट्रोलर की रिपोर्ट (१६३३-३४), पैरा ३६ और (१६३४-३५) पैरा ३१।

२ अधिक स्पष्टीकरण के लिए अगला अध्याय देखिए और नोट प्रचलन के आकडों के लिए ११वाँ अध्याय देखिए।

को भारत के स्वर्ण प्रमाप छोडने से पहले सोने का मूल्य १९१४-१८ के स्तर से भी नीचा हो गया था (दूसरा अध्याय देखिए)। सर जार्ज शुस्टर का कहना था कि करेन्सी का सकुचन विश्व मूल्यो मे कमी आने का फल था तथा अत्यधिक सकुचन नही किया गया था।[1] मूल्यो की वृद्धि और अशतः आर्थिक पुनरुत्थान के कारण नोटो की खपत बढ गई, परन्तु चांदी के सिक्के की वापसी के कारण यह अशत. समाप्त हो गई। बेचे गए, बाहर भेजे गए तथा जोडे गए सोने के स्थान पर नोट की सार्वजनिक माँग का सकेत हम ऊपर दे चुके हैं। १९३६-३७ मे करेन्सी की कुल खपत की मात्रा २३.०४ करोड रु० थी। आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप १९३७-३८ मे १४.७५ करोड रु० और १९३८-३९ मे ६.६२ करोड रु० की वापसी हुई। १९३९-४० मे करेन्सी की खपत की मात्रा ५९.५३ करोड रु० थी। खपत मे १०.०८ करोड रु० और ४९.४५ करोड रु० के नोटों की वृद्धि हुई। १९१८-१९ को छोडकर, जबकि सितम्बर, १९३९ मे युद्ध छिडने के उपरान्त मूल्यो की वृद्धि और व्यापारिक तेजी के कारण खपत ६४.२० करोड रुपये हो गई थी, अन्य किसी वर्ष करेन्सी की इतनी खपत नही हुई। यह भारत मे व्यापारिक क्रियाओ की वृद्धि और १९३९ के युद्ध के बाद मूल्य की वृद्धि को चिह्नित करती है। १९१९-२० के बाद किसी भी वर्ष करेन्सी की खपत १९३९-४० से अधिक नहीं हुई। किसी हद तक यह व्यापारिक तेजी और अच्छी फसलो के कारण भी थी, परन्तु अशत युद्धजनित परिस्थितियो के कारण धातु और सिक्कों को जोडने की प्रवृत्ति भी इसका कारण थी। युद्धजनित तनाव बढने के साथ यह प्रवृत्ति भी बढती गई। तब जुलाई १९४० मे भारत सरकार को एक रुपया के प्रचलन द्वारा इसे रोकना पडा (अगला अध्याय देखिए)। १४ फरवरी, १९४७ को जारी किये गए कुल नोटो की मात्रा १२१७ करोड रुपये से कुछ अधिक थी।

युद्ध चलाने हेतु सामान की भारी खरीद के लिए अपनाई गई विशेष विधि के फलस्वरूप इगलैण्ड-स्थित करेन्सी कोष मे स्टर्लिंग प्रतिभूतियो की अत्यधिक वृद्धि हुई, जिससे देश के नोट प्रचलन म बहुत वृद्धि हो गई, जैसा कि १९४०.४१ से १९४४-४५ तक के आँकडो से प्रकट है।[2] १९४५ मे युद्ध समाप्त होने के साथ करेन्सी की वृद्धि की गति शिथिल होती गई।

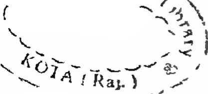
प्रत्येक महीने मे करेन्सी की खपत का अध्ययन इस तथ्य को प्रकट करता है कि करेन्सी की खपत सामान्यतः नवम्बर से जून तक कारोबार के महीनो मे और जुलाई से अक्टूबर तक के मन्दे महीनो मे करेन्सी कार्यालयो और खजानो को वापस लौट आती है।[3]

---

१. केन्द्रीय बजट १९३१-३२, पृष्ठ ७८-७९, अध्याय ६ का सेक्शन १७ भी देखिए।

२. देखिए अध्याय १२, स्टर्लिंग सन्तुलन का सेक्शन।

३. अध्याय ११ भी देखिए।



अध्याय २२

चलार्थ और विनिमय (भाग २)

कार्यरत हिल्टन यग कमीशन

१ स्वर्ण विनिमय प्रमाप के दोष—४ जुलाई, १९२६ को हिल्टन यग आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। भारत के लिए द्रव्य प्रमाप-सम्बन्धी अपनी योजना के प्रतिपादन के पूर्व ही आयोग ने पद्धति की निम्नलिखित विद्यमान बुराइयो की ओर सकेत किया।[1]

(१) यह पद्धति सरल और ग्राह्य नही थी। करेन्सी मे दो सकेत मुद्राएँ—रुपया और नोट—तथा पूर्ण मूल्य की सावरेन नामक एक तीसरी मुद्रा थी, जिसका लेश-मात्र प्रचलन नही था। सकेत मुद्रा का एक रूप, अर्थात् रुपया, जिसमे दूसरी सकेत मुद्रा अर्थात् नोटो को परिवर्तित करने का असीमित दायित्व था, बहुत ही व्ययशील था और चाँदी का मूल्य एक निश्चित स्तर से ऊपर हो जाने पर जब यह सकेत मुद्रा नही रह जाता, तो इसके गुप्त होने की सम्भावना थी।

(२) सुरक्षा स्वर्ण प्रमाप तथा पत्र-मुद्रा और बैंकिंग सुरक्षित कोष के रूप मे दोहरे सुरक्षित कोष थे। करेन्सी और साख नीति के नियन्त्रण के लिए उत्तरदायित्व का पुराना और भयानक विभाजन था। जबकि अन्य देशो म यह दायित्व किसी एक केन्द्रीय बैंक पर होता है, भारत मे करेन्सी का नियन्त्रण सरकार के हाथ मे था और साख का नियन्त्रण केवल इम्पीरियल बैंक द्वारा किया जाता था।

(३) इस पद्धति म करेन्सी का स्वाभाविक प्रसार और सकुचन सम्भव नही था। इस प्रकार का प्रसार या सकुचन पूर्ण रूप से करेन्सी अधिकारी अर्थात् सरकार की इच्छा पर निर्भर था। सुरक्षित कोष के रिक्त होने के साथ-साथ इस पद्धति मे स्वभावत आन्तरिक करेन्सी का सकुचन नही होता था।

इस प्रकार करेन्सी प्रसार के सम्बन्ध मे अनेक अवसरो पर सरकार ने मुद्रा-प्रसार के बिना ही स्टर्लिंग खरीदने के दायित्व को पूरा किया—पहले पहल सरकारी कोष से क्रय किया गया और मुद्रा प्रसार सरकार के विवेक पर छोड दिया गया।

(४) अन्तत इस पद्धति मे लचक नही थी। स्मिथ समिति की सिफारिश पर की गई लचक की व्यवस्था को भारतीय व्यापार के अर्थ प्रबन्धन के विभिन्न ढगो द्वारा कार्यान्वित किया गया। ये ढग नकद साख अथवा अभियाचन प्रतिज्ञा ग्रथपत्र

१. देखिए हिल्टन यग कमीशन की रिपोर्ट, पैरा २१।

(डिमाण्ड प्रोमेसरी नोट्स) के आधार पर अग्रिम देन पर आधारित थे, इसलिए करेंसी की सामयिक वृद्धि की सुरक्षा के रूप में देश के अन्दर व्यापारिक हुण्डियों की कमी हो गई और सितम्बर, १९२४ में सरकार ने घोषित किया कि आवश्यकतानुसार वे लन्दन-स्थित पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा ट्रेजरी बिल के आधार पर करेन्सी जारी करने के अधिकार का प्रयोग करेंगे।

२. सुरक्षित कोष और शेष (बैलेन्सेज)—हम देख चुके हैं कि किस प्रकार एक विशेष उद्देश्य के लिए निर्मित सुरक्षित कोष और शेष अन्य कार्यों के लिए विवेकहीनता से प्रयुक्त होते थे। सुरक्षित कोष और शेष का उपयोग किसी उचित नीति से नियन्त्रित नहीं होता था, जिसके फलस्वरूप उन्हें कभी एक-दूसरे से अलग समझा जाता था और कभी दोनों को मिला दिया जाता था, जिससे काफी गड़बड़ पैदा होती थी।

जहाँ तक स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की रचना (बनावट) का सम्बन्ध है, स्थिति असन्तोषजनक थी। प्रधानतया इसे दीर्घकालीन प्रतिभूतियों में लगाया जाता था और इसका बहुत थोड़ा भाग द्रव्य रूप में रखा जाता था। चैम्बरलेन आयोग[1] ने सिफारिश की कि इसके अधिकांश भाग को तरल रूप और सरलतापूर्वक वसूल होने वाली प्रतिभूतियों में रखना चाहिए तथा स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की रजत शाखा का उन्मूलन कर देना चाहिए। अन्तिम प्रस्ताव को सरकार ने स्वीकार कर लिया, परन्तु शेष सिफारिशें १९१४ का युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण कार्यान्वित न हो सकीं। उस युद्ध के समय लगभग सारा कोष लन्दन में प्रतिभूतियों के रूप में रखा था और ब्रिटिश युद्ध बॉण्ड और ट्रेजरी बिल खरीदे गए। अल्पकालीन प्रतिभूतियों में धन लगाकर सरलता से वसूल होने वाली प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में की गई सिफारिश पूरी की गई।

समिति ने सिफारिश की थी कि सुरक्षित कोष के पर्याप्त भाग का सोने में रखना वाञ्छनीय था। उन्होंने यह भी सिफारिश की थी कि ये प्रतिभूतियाँ भारत सरकार के अतिरिक्त ब्रिटिश साम्राज्य की किसी अन्य सरकार द्वारा जारी की गई अल्पकालीन प्रतिभूतियों के रूप में होनी चाहिए।

पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के मिलने से पहले और १ अप्रैल, १९३५ से रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया को हस्तान्तरित होने से पूर्व, स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की स्थिति यह थी कि इसका अधिकांश भाग विभिन्न रूपों में अल्पकालीन पत्रों में लन्दन में रखा गया।

पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का एक भाग लन्दन में रखा गया। चैम्बरलेन आयोग ने लन्दन में स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की स्थिति को इस आधार पर उचित ठहराया कि लन्दन विश्व का निकास गृह और ऋण-बाजार है। इसके अतिरिक्त भारत का प्रधान ग्राहक इंगलिस्तान (यूनाइटेड किंगडम) था और लन्दन वह प्रधान स्थान था

१. देखिए अध्याय ८, सेक्शन १८।
२. आगे सेक्शन २४ और अध्याय ११ देखिए।

जहाँ भारत की ओर से राज सचिव के व्यय और इगलैण्ड तथा विश्व के प्रति भारत की व्यापारिक देनदारियाँ चुकाने के लिए रुपये की आवश्यकता होती थी। यदि सुरक्षित कोष भारत मे रखा जाता तो इसे लन्दन भेजना पडता जिससे अनावश्यक विलम्ब और व्यय होता। भारत मे कोई अल्पकालीन साख बाजार नही था और सुरक्षित कोष का यहाँ रखना बेकार ही था, क्योकि उस पर किसी प्रकार का ब्याज नही मिल सकता था। इसके अतिरिक्त कुछ यूरोपीय देशो की केन्द्रीय बैंको द्वारा हुण्डियाँ रखने की प्रथा ने लन्दन मे सुरक्षित कोष रखने की भारतीय प्रथा के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया।

सुरक्षित कोष की स्थिति-सम्बन्धी यह पेचीदा व्यवस्था सम्भवत व्यापार के प्रतिकूल सन्तुलन द्वारा उत्पन्न विनिमय की कठिनाइयो का ठीक रखने के लिए की गई थी। इस तथ्य को दृष्टि मे रखने पर कि भारत के लिए प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन एक असाधारण बात थी (जो हर दस वर्ष मे होती थी) यह प्रतीत होगा कि कभी होनवाली इस घटना के लिए ऐसे विस्तृत और स्थायी प्रबन्ध आवश्यक न थे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल होने पर अन्य देश विदेशी केन्द्रो मे सुरक्षित कोष नही रखते है। उदाहरण के लिए, प्रतिवर्ष व्यापारिक देनदारियो के भुगतान के लिए अन्य देशो द्वारा भारत मे कोई सुरक्षित कोष नही रखा जाता था।

इन दिशाओ मे कोई प्रयास करने के बजाय, सरकार ने चाँदी के आयात पर कर लगाकर ऐसे बाजार के विकास को रोक दिया। अगर क्रय लन्दन मे ही किये जाते थे, तो कोष वहाँ रखने के बजाय आवश्यकता पडने पर भारत से हस्तान्तरित करने मे ही कौनसी विशेष हानि थी ? प्रचलित सन्देह और असन्तोष को कम करने के लिए आवश्यक धन इगलैण्ड भेजने की असुविधा और अतिरिक्त व्यय उचित ही थे। यह भी प्रकट ही है कि आवश्यकता पडने पर भारत से हस्तान्तरण न होने पर इगलैण्ड मे आवश्यक धन एकत्र करने का प्रबन्ध, उदाहरणार्थ बैंक ऑफ इगलैण्ड की सहायता से, किया जा सकता था। अन्तत चाँदी की खरीद के सम्बन्ध मे बरती जाने वाली गोपनीयता ने स्वभावत ही अनेक विरोधी आलोचनाओ को जन्म दिया।

३ विप्रेषित धनराशियो (रेमिटेन्सेज) का प्रबन्ध—जैसा कि हम कह चुके हैं, राज-सचिव द्वारा कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री भारत से लन्दन मे कोष जमा करने का एक यन्त्रमात्र थी। इस सम्बन्ध मे यह शिकायत थी कि अत्यधिक धनराशि, विशेषकर १६०४ के बाद से, इस प्रकार अनावश्यक रूप से लन्दन भेजी गई। इसका समर्थन इस आधार पर किया गया कि इससे राज-सचिव की आर्थिक स्थिति दृढ हो गई, परन्तु इस सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का स्पष्टीकरण नही किया गया कि इस प्रकार की दृढता की क्यो आवश्यकता थी। इसी प्रकार यह भी कहा गया कि राज-सचिव के लिए यह वाञ्छनीय है कि वह कौंसिल बिलो की अत्यन्त लाभपूर्ण दरो का, जब कभी वे प्राप्त हो, लाभ उठाए। यहाँ पुन यह अनुमान निहित है कि धन की अपेक्षा का प्रश्न एक गौण प्रश्न है। प्राय इस बात का भी दावा किया गया कि अपने व्यय

की आवश्यकता से अधिक रुपया एकत्र करने से राज-सचिव ने ऋण से बचाव या उसमें कमी सम्भव कर दी। इस प्रकार अधिक धन लेने की प्रवृत्ति ने भारत में बचत की आय-व्यय की नीति को प्रोत्साहित किया। ऋणों से बचाव करने या उन्हें कम करने के स्थान पर भारत में कर कम करने की क्रिया का अनुसरण कहीं अधिक वाञ्छनीय होता।[1] इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया कि राज-सचिव का नकद शेष (बाकी) अधिक होने पर भी लन्दन में भारी ऋण लिये गए।

इस प्रकार राज-सचिव के हाथ में एकत्र अतिरिक्त रुपया लन्दन में बहुत थोड़े ब्याज पर 'स्वीकृत' ऋणकर्ताओं को उधार दिया जाता था। इन ऋणकर्ताओं की एक सूची राज-सचिव के पास रहती थी। सामान्य शिकायत यह थी कि इन ऋणों के सम्बन्ध में काफी पक्षपात दिखाया जाता था और ये शिकायतें इसलिए और गम्भीर हो गईं क्योंकि राज-सचिव की कौंसिल की वित्त समिति के सदस्य ही वे सचालक और व्यापारी थे जो ऋण देने के लिए व्यक्तियों का चुनाव करते थे।

लन्दन में रुपये की आवश्यकता न होने पर भी कभी-कभी स्वर्ण आयात बिन्दु से निम्न दर पर भी कौंसिल बिलों की बिक्री की प्रथा पर आपत्ति की गई।

राज सचिव की आवश्यकता से ऊपर कौंसिल बिलों की बिक्री का समर्थन मुख्यतया इस आधार पर किया गया कि यह भारत के विदेशी व्यापार के लिए बहुत सहायक था। परन्तु व्यापार को इस सहायता की आवश्यकता ही नहीं थी। वास्तव में व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन के लिए व्यापार को वैकल्पिक साधन ढूंढने में कोई कठिनाई न थी और कौंसिल बिलों की बिक्री कम कर देने पर भी व्यापार को कोई कठिनाई नहीं हुई। अतः व्यापार की सहायतार्थ सरकार को अपना मार्ग छोड़ने के लिए कोई विशेष कारण तो नहीं था। उन्हें केवल इतना ही करने की आवश्यकता थी कि निर्यात के लिए स्वर्ण को स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्य बना देते।

बैबिंग्टन स्मिथ समिति को दिये गए अपने स्मृतिपत्र में, सर स्टैनली रीड ने भारतीय विनिमय पर राज-सचिव के नियन्त्रण के उन्मूलन की जोरदार सिफारिश की। उन्होंने कहा कि भारत की सरकार और राज-सचिव दोनों पर ही भारत की अधिकांश जनता सन्देह करती थी। राज-सचिव भारत के बड़े वित्तीय केन्द्रों से ६००० मील की दूरी पर बैठकर काम करते थे। वे अभारतीय हितों से आवृत और स्वभावतः उन्हीं के पोषक थे। वे गोपनीयता के साथ काम करते थे और भारत में उन उपायों के मूल आधारों की—भले ही वे उपाय कितने ही बुद्धिमानी से भरे और आवश्यक क्यों न हों—कोई भी सूचना प्राप्त करना असम्भव था। ऐसे पूर्ण अधिकार, जो जनता से इतनी दूर गोपनीय ढंग से कार्यान्वित होते थे, की राजनीतिक हानियों की अतिरंजना नहीं की जा सकती।

भारतीय प्रथा के प्रति मुख्य आपत्ति उसके प्रचलित होने के सम्बन्ध में यह

---

१. देखिए, अध्याय १०।

थी—क्योंकि सभ्य देशों में किसी-न-किसी रूप में प्रबन्ध तो आवश्यक ही होता है—वरन् उसके कुप्रबन्ध के सम्बन्ध में थी। प्रोफेसर निकल्सन के शब्दों में, 'किसी देश की अधिकांश जनता का यह सोचना कि करेन्सी में कुछ दोष है, उस देश के लिए बुरा है। स्वर्ण विनिमय प्रमाप की निहित विशेषताएँ चाहे कुछ भी हों, परन्तु उसके कारण निश्चय ही भारतीय यह सोचने लगे थे कि देश की करेन्सी प्रथा बड़ी गड़बड़ है।''

४. मुद्रास्फीति और मूल्यों की वृद्धि—जैसा हम देख चुके हैं कि हिल्टन यंग आयोग ने कहा था कि भारतीय पद्धति स्वयं चालित नहीं थी और अतिरिक्त करेन्सी को सकुचित करने की दृष्टि से विशेष रूप से दोषपूर्ण थी। इसका स्वाभाविक परिणाम मुद्रा स्फीति और मूल्यों की अत्यधिक वृद्धि हुई।[1] जैसा कि चेम्बरलेन आयोग की रिपोर्ट की आलोचना में प्रोफेसर निकल्सन ने कहा था, रुपये की परिवर्तनीयता आंशिक होने और कभी-कभी बन्द कर देने तथा और अधिक रुपया जारी करने के सम्मिलित प्रभाव से मूल्य-वृद्धि अवश्यम्भावी थी।

अत्यधिक शुभचिन्तना के बावजूद भी देश की करेन्सी-सम्बन्धी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में सरकार के अनुमान गलत होने की सम्भावना तो थी ही। रुपयों की माँग वास्तविक और आवश्यक होने पर भी बहुधा ऐसी ही प्रतीत होती थी, अतएव गलत निर्णय बहुत सरल थे, क्योंकि जनता को एक बार जारी किया गया रुपया पूरे देश में फैलकर शीघ्रता से वापस नहीं आता था।

५ अविचारित एवं व्ययशील पद्धति—किसी विचारपूर्वक अपनाये गए उद्देश्य के प्रतिकूल शासन-सम्बन्धी अधिसूचनाओं ने भारत में स्वर्ण विनिमय प्रमाप को जन्म दिया। बहुत-सी प्रथाएँ, जो इस पद्धति के मुख्य भाग के रूप में प्रचलित हो गई थीं, वैध नहीं थीं। जैसा कि अपना मतभेद प्रकट करते हुए (मिनट ऑफ डिसेण्ट, पैरा ५९-६०) स्वर्गीय सर ददीबा दलाल ने कहा था, इस पद्धति की स्पष्ट व्याख्या कभी नहीं की गई और सामान्यतः इसका प्रभाव स्थायित्व के प्रतिकूल ही पड़ा।

स्वर्ण प्रमाप की तुलना में स्वर्ण विनिमय प्रमाप का सस्तापन ही प्रधानतः इसकी प्रशंसा का कारण था। यदि हम ऊपर स्पष्ट की गई सारी हानियों का उचित मूल्य आँकें तो हमारा यह निष्कर्ष क्षम्य होगा कि यह सस्ती पद्धति सचमुच बहुत मँहगी पड़ी।

यह पद्धति जनता की आत्मचयन प्रवृत्ति को नष्ट करने और करेन्सी के मितव्ययी रूपों के प्रयोग के लाभ सिखाने में असफल रही।

६. आन्तरिक बनाम बाह्य स्थिरता—स्वर्ण विनिमय प्रमाप के प्रति न्याय करने के लिए हमें इसकी सफलता और असफलता दोनों पर ही ध्यान देना चाहिए। इसे श्रेय देने वाली एक सफलता यह है कि इसने देश को विनिमय स्थायित्व का दीर्घ काल प्रदान किया। सचमुच १९१४-१८ के युद्ध में यह बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो गया, परन्तु उस समय विश्व में लगभग प्रत्येक देश की करेन्सी भी ऐसी ही हो गई

१. देखिए अध्याय १०।

थी। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि रजत प्रमाप की तुलना मे स्वर्ण विनिमय प्रमाप विदेशी विनिमय को अधिक स्थायित्व प्रदान करने मे अवश्य सफल रहा। परन्तु समस्त आलोचक इतना भी स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे। उनका कहना था कि युद्धकाल को निकाल देने पर भी स्वर्ण विनिमय प्रमाप प्रस्तावित (स्थायित्व प्रदान करने की) कसौटी पर खरा नही उतरता। युद्ध से पहले केवल १६०७ ८ के सकटकाल मे ही इसकी परीक्षा हुई थी और उस समय इसे बाहरी सहायता से ही बनाए रखा जा सका। सरकार ने प्रमाप को बनाए रखने के लिए आवश्यकता पडने पर उधार लेने का आश्वासन दिया और सोने को रखने के लिए मजबूरन कर बढाया, अतएव यह केवल अनुकूल परिस्थितियो की प्रथा थी तथा प्रतिकूलता के चिह्न-मात्र उपस्थित होने पर इसके निष्प्राण होने का भय रहता था।

७. स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप—सुधार के अनेक प्रस्तावो की परीक्षा करने के अनन्तर आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भारत की तत्कालीन परिस्थितियो मे सच्चे स्वर्ण प्रमाप की आवश्यकता थी। उन्होने यह भी कहा कि स्वर्ण को प्रचलन मे लाए बिना भी सच्चा स्वर्ण प्रमाप सम्भव था। उन्होने प्रस्तावित किया कि भारत मे प्रचलन का साधारण माध्यम वर्तमान नोट और चांदी का रुपया ही रहे और स्वर्ण मे करेन्सी का स्थायित्व करेन्सी को प्रत्यक्ष रूप से सारे उद्देश्यो के लिए सोने म परिवर्तनीय बना देने से प्राप्त किया जाए, परन्तु सोने को करेन्सी के रूप मे आदि मे अन्त तक कभी नही चलना चाहिए। (पैरा ५४)

आयोग क अनुसार सोने के प्रचलन के विरोध का प्रधान कारण यह था कि प्रचलन म सोने की जितनी ही अधिक मात्रा लाई जाएगी उतना ही स्वर्ण सुरक्षित कोष कम होता जाएगा और उस पर आधारित साख-व्यवस्था अधिक बेलोचदार हो जाएगी। उन्होंने चेम्बरलेन आयोग के इस विचार का समर्थन किया कि विनिमय की सहायता के लिए स्वर्ण प्रचलन की उपादेयता सन्दिग्ध थी। आयोग ने यह भी कहा कि स्वर्ण पिण्ड प्रमाप से तुरन्त ही पूर्ण स्वर्ण प्रमाप की स्थापना हो जाएगी तथा अन्य योजनाओ मे विचारित कोई सक्रमण-काल भी नही होगा। विश्व की स्थितियो मे कोई गडबडी उत्पन्न किए बिना ही इससे स्वर्ण सुरक्षित कोष तो अधिक दृढ होगे ही, साथ ही वह स्वर्ण करेन्सी के चलन के साथ व्यवस्थित भी की जा सकती थी। यद्यपि स्वर्ण करेन्सी का तुरन्त प्रचलन असम्भव था, परन्तु इसके लिए द्वार खुला रखना ही पडेगा। आयोग का मत था कि किसी भी स्थिति मे स्वर्ण करेन्सी का चलन बुद्धिमानी की बात न होगी और उन्होंने आशा प्रकट की कि कुछ समय बाद भारत इसे जीर्ण-शीर्ण और पुराना आदर्श मानने लगेगा। युद्ध न यूरोपीय देशो को स्वर्ण-मुद्रा की व्ययशील विलासिता से दूर रहना सिखा दिया। वास्तव मे कुछ ऊँचे अधिकारियो के अनुसार स्वर्ण करेन्सी का प्रचलन पिछडी हुई सभ्यता का चिह्न समझा जाने लगा। आयोग की योजना के अन्तर्गत करेन्सी अधिकारियो पर कानूनन केवल इतना दायित्व रखा गया कि वे कम-से-कम ४०० औस शुद्ध सोने की मात्रा म, सोने और रुपये की समता के हिसाब से निश्चित दरो पर सोने का क्रय-विक्रय करेंगे ताकि रुपये के मूल्य

और निर्दिष्ट समता के स्वर्ण-बिन्दुओ के बीच (विदेशी) विनिमय की स्थिरता बनी रहे। स्वर्ण प्राप्त करने के उद्देश्य पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया गया।

८. स्वर्ण की क्रय-विक्रय दरें—आयात लागत अथवा स्वर्ण समता की दृष्टि से करेन्सी के मूल्य के परिवर्तन पर ध्यान दिये बिना रुपये के सम-मूल्य के आधार पर निश्चित स्वर्ण की क्रय विक्रय दरे करेन्सी अधिकारियो को सोने के लिए सबसे सस्ता बाजार बना देंगी। ये केवल भारत मे स्वर्ण-पिण्ड बाजार को ही नही नष्ट करेंगी वरन् करेन्सी अधिकारियो को अद्रव्यात्मक कार्यो के लिए सोना बेचने का कार्य भी सौंप देंगी, जो वास्तव मे इनका कार्य नही है। इस बन्धन से स्वतन्त्र करने के लिए आयोग ने सिफारिश की कि स्वर्ण का विक्रय मूल्य ऐसी दरो पर निश्चित किया जाए ताकि सोने के भण्डार की पुनः पूर्ति किसी हानि के बिना ही इगलैण्ड से आयात करके सम्भव हो सके।[1]

आयोग ने सावरेन के कानूनी मुद्रा होने के गुण को तब तक के लिए हटाने का प्रस्ताव किया, जब तक कि सुरक्षित कोष मे स्वर्ण करेन्सी को प्रारम्भ करने के लिए पर्याप्त सोना न हो जाए तथा स्वर्ण करेन्सी प्रारम्भ करने के पक्ष मे निश्चित निर्णय न हो जाए, अन्यथा करेन्सी के सकुचन को रोकते और विनिमय के क्षतिपूरक प्रभावो का प्रतिरोध करते हुए सोना सुरक्षित कोष से प्रचलन मे चला जाएगा।

९. नोटो की परिवर्तनीयता—आयोग ने भारतीय करेन्सी पद्धति मे एक प्रकार के नोट को अर्थात् कागजी नोट को दूसरे प्रकार के नोट अर्थात् रुपया, जो केवल चाँदी पर अकित नोट है, मे बदलने के दायित्व से उत्पन्न गडबडी को दूर करने की सिफारिश की ताकि पद्धति चाँदी के मूल्य की वृद्धि से उत्पन्न भय से मुक्ति पा सके। निस्सन्देह वर्तमान नोटो को रुपये मे बदलने की प्रतिज्ञा तो पूरी करनी ही चाहिए, परन्तु नये नोटो को चाँदी के रुपयो मे बदलने का कोई दायित्व नही होना चाहिए। फिर भी यह वाञ्छनीय था कि जनता का विश्वास और नोटो की लोकप्रियता बढाने के लिए धातु के रुपये और नोटो के स्वतन्त्र विनिमय की सुविधाएँ दी जाएँ।

नोटो की रुपयो मे परिवर्तनीयता के कानूनी अधिकार को वापस लेने के कारण यह आवश्यक हो गया कि एक रुपये के नोट को छोडकर समस्त कानूनी द्रव्य के छोटे नोटो और चाँदी के रुपयो मे बदलने का परिनियत दायित्व करेन्सी अधिकारियो पर रखा जाए। नोटो के बदले चाँदी के रुपये देना करेन्सी अधिकारियो की इच्छा पर था, यद्यपि धात्विक करेन्सी के लिए जनता की समस्त उचित माँगो को व्यवहार मे पूरा करना चाहिए।

१०. सुरक्षित कोष का एकीकरण और बनावट—आयोग ने सिफारिश की कि पत्र-मुद्रा और स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष को मिलाकर एक सुरक्षित कोष कर देना चाहिए ताकि इसकी कार्य-क्षमता का आश्वासन हो सके तथा यह और अधिक सरल होकर जनता की समझ मे आ सके।

---

१. आयोग द्वारा प्रस्तावित रुपये का सम-मूल्य १ शि० ६ पैंस था (८.४७ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण)।

नये सुरक्षित कोष के सम्बन्ध मे आयोग ने निम्न सिफारिशें प्रस्तुत की—(१) विनिमय के क्षतिपूरक प्रभाव, करेन्सी के प्रसार और सकुचन को निश्चित करने के लिए सुरक्षित कोष की बनावट और प्रगति कानून द्वारा निर्धारित होनी चाहिए। (२) आनुपातिक सुरक्षित कोष पद्धति अपनानी चाहिए। स्वर्ण तथा स्वर्ण प्रतिभूतियाँ सुरक्षित कोष का कम-से-कम ४० प्रतिशत भाग हो। करेन्सी अधिकारियो को चाहिए कि वे इन्हे सुरक्षित कोष का ५० या ६० प्रतिशत तक कर दे। शीघ्र-से शीघ्र स्वर्ण सुरक्षित कोष का २० प्रतिशत यथाशीघ्र स्वर्ण के रूप मे हो जाना चाहिए और १० वर्ष के अन्तर्गत यह स्वर्ण २५ प्रतिशत हो जाना चाहिए। इस बीच मे सोना सुरक्षित रखने के लिए किसी भी प्रकार का अनुकूल अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए। स्वर्ण भण्डार का कम-से-कम $\frac{1}{2}$ भाग भारत मे रहना चाहिए। (३) १० वर्ष के सक्रमण-काल मे सुरक्षित कोष मे रजत भण्डार को काफी कम कर देना चाहिए। (४) शेष सुरक्षित कोष व्यापारिक हुण्डियो और भारत सरकार की प्रतिभूतियो के रूप मे रखना चाहिए। १० वर्ष के अन्तर्गत 'उत्पन्न की गई प्रतिभूतियो' का स्थान विपणन योग्य प्रतिभूतियो को ले लेना चाहिए। (५) रुपया प्रचलन के सकुचन की दृष्टि से ५० करोड रुपये का दायित्व पर्याप्त समझना चाहिए। प्रचलन मे चाँदी के रुपय की सख्या मे की गई वृद्धि अथवा कमी के $\frac{2}{5}$ भाग के बराबर की मात्रा इस दायित्व मे जोडना अथवा घटाना चाहिए और इस प्रकार होने वाला लाभ अथवा हानि सरकारी आगम को सहना चाहिए।

आयोग ने कहा कि ऊपर कहे गए रूप मे स्वर्ण सुरक्षित कोष का दृढ करने मे निम्नतम जोखिम और व्यय होगा और यह निम्न कारणो से आवश्यक भी था—(१) ताकि करेन्सी अधिकारी करेन्सी के बदले सोना बचने के दायित्व को पूरा कर सकें—विशेषकर नये नोटो की स्वर्ण मे परिवर्तनीयता के कारण। (२) स्वर्ण प्रमाण-पत्रो (गोल्ड सर्टीफिकेट्स) के लोकप्रिय होने पर सरकार उन्हे भुनाने योग्य बना सके। (३) स्वर्ण करेन्सी के प्रचलन को सुविधा देने के लिए यदि इसे रखने का निश्चय किया जाए।

आयोग न सिफारिश की कि सुरक्षित कोष मे भारत सरकार की रुपया-प्रतिभूतियो की मात्रा वापस न होने वाले प्रचलन के बराबर और इतनी अधिक राशि तक सीमित कर दी जाए जो सरकार की साख को बिगाडे बिना ही सरलता से वसूल हो सके, क्योकि ये प्रतिभूतियाँ व्यापारिक हुण्डियो से कम वाञ्छनीय है। रुपया-प्रतिभूतियो की तुलना मे व्यापारिक हुण्डियाँ करेन्सी अधिकारियो की इच्छा और निर्णय से स्वतन्त्र देश की आवश्यक्ताओ के अनुसार करेन्सी के स्वाभाविक प्रसार और सकुचन का गुण रखती हैं। इसके अतिरिक्त आवश्यक्ता पडने पर सरकारी प्रतिभूतियो का वसूलना कठिन हो जाएगा। १९३५ मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के बाद से पत्र-मुद्रा के निर्गम और सुरक्षित कोष की स्थिति-सम्बन्धी नये प्रबन्धो का विवेचन अध्याय ११ मे किया गया है।

स्वर्ण-पिण्ड बनाम स्वर्ण करेन्सी प्रमाप

११. स्वर्ण पिण्ड प्रमाप की आलोचना—आयोग ने स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप का समर्थन किया और इसके पक्ष मे कहा कि इससे स्वर्ण ही एकमात्र अर्थ का प्रमाप हो जाएगा और हर काम के लिए आन्तरिक करेन्सी की स्वर्ण मे परिवर्तनीयता का आश्वासन रहेगा, यद्यपि इसके अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था की गई कि देश मे करेन्सी के बदले स्वर्ण सदैव उपलब्ध रहेगा तथा करेन्सी के विनिमय-मूल्य की सहायता के लिए केन्द्रीय सुरक्षित कोष मे भी रहेगा परन्तु वह प्रचलन मे नही आएगा।[1] अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति सावरेन के विमुद्रीकरण और दण्ड (बार) के रूप मे करेन्सी अधिकारियो द्वारा सोने के विक्रय से की गई। गैर-मुद्राचलन उद्देश्यो के लिए अधिकारियो द्वारा जनता से स्वर्ण-क्रय के प्रति इस प्रकार सावधानी बरती गई कि कम-से-कम ४०० औंस (१०६५ तोला) की मात्रा मे प्रस्तुत किये जाने पर ही सरकार खरीद करे तथा खरीद की दर मे लन्दन से बम्बई तक सोना भेजने की लागत भी शामिल हो।

१९१४-१८ के युद्ध के पहले स्वर्ण विनिमय प्रमाप के अन्तर्गत अनुमानत. ६,०००,००० पौण्ड की सावरेन जनता के हाथ मे थी। इगलैण्ड मे भी १९२५ के करेन्सी-सम्बन्धी नये प्रबन्धो के अन्तर्गत सावरेन का विमुद्रीकरण नहीं किया गया।

१२. भारत मे स्वर्ण करेन्सी प्रमाप का पक्ष—आयोग की स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप वाली योजना स्पष्टत अग्रेजी पद्धति से प्रभावित थी। यह कहा गया कि १९२५ मे इगलैण्ड मे पिण्ड प्रमाप के रूप मे स्वर्ण प्रमाप की पुनर्स्थापना १९२२ मे जेनेवा सम्मेलन की सिफारिशो के अनुसार विश्व करेन्सी की आदर्श पद्धति—अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय प्रमाप—के विकास की ओर कड़ा कदम था। इस पद्धति के अन्तर्गत आन्तरिक करेन्सी अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की होगी और स्वर्ण केवल विदेशी ऋणो के भुगतान के लिए उपलब्ध होगा। १९२६ मे भारतीय परिस्थितिया स्वर्ण प्रमाप एव स्वर्ण मुद्रा चलन का निर्देश कर रही थी। इन परिस्थितिया मे स्वर्ण मुद्रा अनावश्यक विलासिता अथवा स्वर्ण प्रमाप से सम्बद्ध परम्परागत शिष्यता नही समझी जा सकती थी। इसीलिए लगभग असन्दिग्ध सभी भारतीय साक्षी और कुछ यूरोपीय साक्षी, जैसे डॉ० कैनन और डॉ० ग्रेगरी[2], ने हिल्टन यग आयोग से स्वर्ण करेन्सी प्रमाप अपनाने के लिए आग्रह किया।

१३ आयोग के प्रस्तावो के विरुद्ध अन्य आपत्तियाँ—आयोग द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण की क्रय-विक्रय दरे भी प्रतिकूल आलोचना का विषय थी। दरो के ऐसे व्यवस्थापन से, कि करेन्सी अधिकारी सबसे सस्ता होने पर सोना खरीदे और सबसे मँहगा होने पर बेचे, भारत मे स्वर्ण का क्रय-विक्रय लगभग नही के बराबर हो जाएगा। यह बात करेन्सी अधिकारियो द्वारा स्वर्ण-विक्रय पर विशेष रूप से लागू होगी। जनता तो निर्यात कार्य के लिए आवश्यक होने पर ही खरीद करेगी। इसके अतिरिक्त विनिमय-

---

१. २३ नवम्बर, १९२८ को दिल्ली में सर बेसिल ब्लैकेट का भाषण देखिए।

२. देखिए, हिल्टन यग कमीशन रिपोर्ट, परिशिष्ट ८० और ८१।

दर उच्चतर स्वर्ण-बिन्दु से नीचे होने पर बम्बई की तुलना मे लन्दन मे अधिक अनुकूल दर पर सोने की बिक्री के सम्बन्ध मे आयोग के प्रस्ताव का उद्देश्य लन्दन मे स्वर्ण देने (विक्रय के लिए) को प्रोत्साहित करना था। इससे स्वर्ण विनिमय प्रमाप की बुराइयाँ तो बनी ही रहेगी, इसीलिए इसका विरोध किया गया।[1] इस सम्बन्ध म हम आयोग की इस सिफारिश की ओर सकेत कर सकते हैं कि रिजर्व बैंक स्वर्ण सिक्को अथवा स्वर्ण-पिण्ड का कम-से-कम आधा भाग भारत म रखेगा। शेष आधा भाग देश से बाहर उसकी शाखाओ, एजेन्सियो अथवा उसके खाते मे अन्य बैंको मे रखा जा सकता है। बैंक के स्वर्ण की कोई भी मात्रा, चाहे वह टक्साल मे हो अथवा विप्रेषण के मार्ग मे, कोष का एक भाग मानी जाएगी। आयोग की सिफारिश के अनुसार स्वर्ण प्रतिभूतियो के रूप मे विशाल भण्डार रखने का अर्थ यह है कि उस सीमा तक हमारा सुरक्षित कोष बाहर विनियोजित किया जाएगा। लन्दन मे सुरक्षित कोष रखने के कारण उत्पन्न सन्देह और अविश्वास के कारण भारतीय द्रव्य के लन्दन म रखन से सम्बन्धित किसी भी प्रबन्ध को प्रस्तावित करने के लिए विशेष ध्यान देना आवश्यक था।

रुपये का स्थायित्व

१४ स्थायित्व का अनुपात—आयोग ने सिफारिश की कि स्वर्ण के साथ रुपय का स्थायित्व १ शि० ६ पैस की विनिमय दर पर किया जाए और इस प्रकार रुपय को ८.४७ ग्रेन शुद्ध सोन के मूल्य के बराबर कर दिया गया। उनका विचार था कि उस दर पर विश्व के मूल्यों के साथ भारत के मूल्य व्यवस्थित हो चुके थ और उसम परिवर्तन करन का अर्थ व्यवस्थापन का कठिन समय तथा अत्यधिक आर्थिक अस्त-व्यस्तता होगी।

आयोग ने तर्क उपस्थित किया कि जब विनिमय और मूल्य पर्याप्त समय तक स्थिर रहे तो विपरीत सकेतो के अभाव मे यह स्वीकार करना उचित ही था कि मजदूरी का उनसे सामजस्य हो चुका था। विदेशी व्यापार के आँकडो से भी इस अनुमान की पुष्टि होती थी। संविदा के सम्बन्ध मे आयोग का तर्क यह था कि वे अधिकतर अल्पकालीन थे और इसलिए उच्चतर अनुपात से प्रभावित नही थे।

यदि मूल्य और श्रम के साथ १ शि० ६ पैस की दर के व्यवस्थापन को हम न भी मानें तो भी यह गम्भीरतापूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वे किसी भी तरह १ शि० ४ पैंस की दर से व्यवस्थित थी, क्योकि गत ८ वर्ष म यह दर कभी भी पर्याप्त रूप स प्रभावपूर्ण नही रही। जहाँ तक व्यवस्थापन अथवा सामजस्य का प्रश्न है, यह १ शि० ६ पैस पर ही हुआ होगा। इन परिस्थितियो म १ शि० ४ पैंस की दर स्थापित करने स मूल्यो म $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत वृद्धि होना अवश्यम्भावी था जिससे

१. देखिए, पी० बी० जुनरकर, एन इन्क्वायरी इन्टू दि करन्सी बर्तमान रिपोर्ट, पृष्ठ ५५।

साधारणतया उपभोक्ताओ और विशेष रूप से कम वेतन वाले शिक्षित वर्ग की कठिनाइयाँ बहुत बढ जाएँगी। इससे श्रमिको की वास्तविक मजदूरी मे भी कमी होगी, जिसके औचित्य अथवा आवश्यकता का किसी भी आधार पर समर्थन नही किया जा सकेगा। १ शि० ४ पैंस की दर से केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनो सरकारो की वित्त-व्यवस्थाएँ बुरी तरह से अव्यवस्थित हो जाएँगी जिससे प्रान्तीय अनुदानो की समाप्ति अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो जाएगी।

१५. विमति टिप्पणी (मिनट ऑफ डिसेण्ट)—सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने अपनी विमति टिप्पणी मे बताया कि किस प्रकार सरकार ने विनिमय दर बढाकर १ शि० ६ पैंस कर देने का विचार किया और इस निश्चय से आयोग की जाँच और निष्कर्ष दोनो को प्रभावित किया। उन्होने स्पष्ट रूप से बताया कि किस प्रकार सितम्बर और अक्तूबर, १९२४ मे युद्ध के पहले की १ शि० ४ पैंस की दर पर रुपये को स्थिर करने के अवसर को सरकार ने त्याग दिया और विनिमय दर बढाने के लिए २ शि० स्वर्ण की झूठी दर का प्रयोग किया, जिससे करेन्सी मे भयावह रूप से सकुचन हुआ।

उनके प्रधान निर्णय इस प्रकार थे—

(१) मजदूरी मे कोई भी सामजस्य नही हुआ था। बिना झगडे के कोई सामजस्य सम्भव भी नही था। (२) पूर्ण सामजस्य होने तक १ शि० ६ पैंस की दर ने अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी निर्माताओ को १२½ प्रतिशत की आर्थिक सहायता दी, जिससे भारतीय उद्योग पर अधिक भार पडा। (३) अनुपात मे परिवर्तन का अर्थ ऋणकर्ताओ पर, जो कृषक है, १२½ प्रतिशत का अतिरिक्त भार बढाना था। ऋण पुराने होने के कारण यह अनुमान करना स्वाभाविक था कि अधिकाश ऋण १ शि० ४ पैंस के आधार पर ही लिये गए होगे। (४) अत १ शि० ४ पैंस की दर स्थापित करने से राजस्व पर पडने वाले प्रभावो को बढा-चढाकर कहा गया था। (५) १ शि० ४ पैंस का बुरा प्रभाव जनता के छोटे भाग (लगभग २१ प्रतिशत) तक ही सीमित था जिसमे कम वेतन वाले शिक्षित वर्ग के लोग थे। इसकी तुलना मे ऊँची दर से ७९ प्रतिशत व्यक्तियो को कष्ट होगा। जहाँ तक श्रम का सम्बन्ध है, १ शि० ४ पैंस की दर अपनाने से मूल्य मे सम्भावित वृद्धि से पारिश्रमिक की वर्तमान दरे, जो काफी ऊँची थी, व्यवस्थित हो जाएँगी। प्रत्येक दशा मे निम्न दर से उद्योग और कृषि अधिक समृद्ध होते और इससे रोजगार बराबर मिलता रहता, जबकि उच्च अनुपात से इन दोनो को हानि पहुँचती। (६) १९१४-१८ के पूर्व-प्रचलित १ शि० ४ पैंस का अनुपात विश्व के अन्य देशो के अनुपात की तरह ही अव्यवस्थित हो गया, परन्तु अन्य देशों ने स्थायी रूप से युद्ध के पहले के अनुपात को पुन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि दोनो दशाओ मे उत्पन्न गडबडी समान थी, तो निर्णय १ शि० ४ पैंस के ही पक्ष मे होगा।

१६. विनिमय दर के विवाद का परीक्षण—बहुमत की रिपोर्ट और विमति टिप्पणियो ने एक ऐसा शस्त्रागार प्रस्तुत किया जिससे दोनो ओर के प्रतिद्वन्द्वियो ने भयानक विवाद मे अपने-अपने हथियार खीच लिए। देखने मे तर्क कितने ही युक्तिसगत क्यो

न दिखाई पड़े, परन्तु सूक्ष्म परीक्षण पर नये अनुपात के समर्थकों और विरोधियों द्वारा दिये गए तर्कों में अनेक दोष दिखाई पड़ेंगे।

(१) **बहुमत के तर्कों की आलोचना**—बहुमत के अनुसार १ शि० ६ पैंस की दर पर मूल्यों के व्यवस्थापन का तर्क देशनाकों पर आधारित था। देशनाक किसी प्रकार भी पथ-प्रदर्शक नहीं थे।[१]

जूट उद्योग के अतिरिक्त किसी अन्य उद्योग में १ शि० ६ पैंस के साथ मजदूरी का सामजस्य दिखाने के लिए बहुमत ने कोई सांख्यिकीय साक्षी प्रस्तुत नहीं की। दीर्घकालीन संविदाओं के सम्बन्ध में आयोग ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि १ शि० ६ पैंस की दर कठोर सिद्ध नहीं होगी क्योंकि, उदाहरण के लिए, १६१४ के मूल्यों में वृद्धि के कारण मालगुजारी बन्दोबस्त का वास्तविक आपात (इन्सीडेन्स) कम हो गया था। उन्होंने विनिमय के हेर-फेर के कारण मजदूरों के पारिश्रमिक की छिपी हुई कमी के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत किया। तर्कसंगत होने के लिए उन्हें मालगुजारी की छिपी हुई वृद्धि को १ शि० ६ पैंस की दर के विरुद्ध समझना चाहिए।

बहुमत का दृढ़तम तर्क यह था कि उच्चतर दर लगभग १ वर्ष से अधिक लागू रही और इसलिए पर्याप्त सामजस्य अवश्य हो गया होगा। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि पर्याप्त सामजस्य के लिए एक वर्ष का समय काफी नहीं था, अतएव यह तर्क सामजस्य के विपक्ष में अधिक पड़ता है।[२]

(२) **१ शि० ४ पैंस की दर के पक्ष का आलोचनात्मक परीक्षण**—यह भी भली भाँति सिद्ध किया जा सकता है कि १ शि० ४ पैंस के समर्थकों ने भी ऐसे तर्कों का आश्रय नहीं लिया जिनका कोई अपवाद न हो। उदाहरण के लिए उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि १ शि० ६ पैंस के अनुपात को ठीक रखने के लिए सरकार ने मुद्रा का अत्यन्त संकुचन किया। यदि मुद्रा संकुचन सचमुच इतना अधिक किया गया था, तो वह अवश्य ही मूल्य के सामान्य स्तर को काफी नीचे ले आता। मूल्यों में पर्याप्त कमी को स्वीकार करने का अर्थ होगा कि हम १ शि० ६ पैंस की दर पर सामजस्य को स्वीकार करते हैं।

उच्चतर अनुपात के विरोधियों ने ग्रामीण ऋणिता के बढ़ते हुए भार पर तो बल दिया, परन्तु किसानों को सस्ते औजारों की उपलब्धि और सामान्यतः कम लागत के रूप में प्राप्त अनुपात के क्षतिपूरक प्रभावों पर कोई ध्यान नहीं दिया। वे यह समझने में भी असफल रहे कि अधिकांश कृषि ऋण वस्तुओं के रूप में लिया जाता है और

---

१. देखिए, हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, पैरा १६८-६।

२. अपनी विनति टिप्पणी (मिनट आफ डिसेन्ट) में (पैरा ८०) सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने केन्स के इस विचार को उद्धृत किया कि इंगलिस्तान-जैसे देश में विनिमय के १० प्रतिशत परिवर्तन के सामजस्य के लिए लगभग २ वर्ष का समय आवश्यक है। यदि एक ऐसे देश में, जिसके व्यापार का अधिकांश भाग बाह्य है, इतना समय आवश्यक है, तो भारत-जैसे देश में यह समय अवश्य ही अधिक होना चाहिए, जिसका आन्तरिक व्यापार विदेशी व्यापार की तुलना में कहीं अधिक है।

इसका कुछ भाग अल्पकालीन होता है।[1]

भविष्य के आर्थिक इतिहासवेत्ता नये अनुपात के बाद के समय को वैभवशाली समय के रूप मे अकित नही करेंगे तथा नये अनुपात के बाद देश के कठिन समय और १६२६-३३ के आर्थिक अवसाद ने सरकारी विनिमय पर किये जाने वाले आक्रमणो को और उग्र बना दिया था। तर्क के रूप मे यह कहा जा सकता है कि यदि देश पुराने अनुपात को रखता तो उद्योग और वाणिज्य की और भी बुरी दशा हो गई होती। परन्तु इस तर्क मे तो यह मान लिया गया है कि १ शि० ६ पैंस की दर पर आधे से अधिक सक्रमण पूरा हो चुका था, जबकि यही सिद्ध करना है। हम लोग ऊपर कह चुके है कि सामजस्य-सम्बन्धी आयोग के विचार के पक्ष मे दी गई साक्षियाँ विश्वसनीय नही है। हम तो यहाँ तक कह चुके हैं कि यदि १ शि० ४ पैंस० की दर मे अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक अव्यवस्था की सम्भावना को मान भी लिया जाए—समस्त साक्षी पर निष्पक्ष रूप से विचार करने वाला व्यक्ति भी इससे अधिक नही मान सकता—तो भी पुराने अनुपात के लिए इस अवस्था की जोखिम उठाना श्रेयस्कर था। यह नितान्त स्पष्ट होना चाहिए कि जितने अधिक समय तक नई दर[2] बनी रहेगी, उतनी ही उसके सदर्भ मे परिस्थितियो के व्यवस्थित होने की भावना दृढ होती जाएगी और पुराने अनुपात को पुन स्थापित करने का पक्ष निर्बल होता जाएगा।[3]

१७ अनुपात (विनिमय दर) के विवाद का तदनन्तर विकास (अप्रैल १६२० से सितम्बर १६३१ तक)—शरद १६२६ मे अमेरिका से प्रारम्भ होने वाली आर्थिक सकट की हवा धीरे-धीरे विश्व-भर मे फैल गई और सम्पूर्ण विश्व मे वस्तुओ और प्रतिभूतियो के मूल्य एकदम गिर गए। भारतीय प्रतिभूतियो का भी यही हाल हुआ। इन परिस्थितियो मे विनियोक्ताओ की दुर्बलता विनियोग-सम्बन्धी हिचक के रूप मे प्रकट हुई। इस प्रवृत्ति को कठिन राजनीतिक विरोध से और भी बल मिला। विश्व आर्थिक अवसाद की प्रमुख विशेषता मूल्यो, विशेषकर कृषि-मूल्यो, का तीव्र गिराव था, जिससे भारत के कच्चे माल के निर्यात को बहुत हानि पहुँची।

इन परिस्थितियो मे सरकार १ शि० ६ पैं० की विनिमय दर बनाये रखने और विशेष आर्थिक उपायो को अपनाने के लिए विवश हो गई। विनिमय की दृढता के लिए साख नियन्त्रण हेतु अपनाये गए इन उपायो मे विनिमय बैंको तथा अन्य क्रेताओ को ट्रेजरी बिलो के निर्गम तथा इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की बैंक दर की वृद्धि को गिनाया जा सकता है।

विश्व आर्थिक अवसाद के बीच मन्दी की व्याख्या के लिए एकमात्र नये अनुपात

---

१. देखिए, सर जे० सी० कोयाजी, इण्डियाज करेंसी, एक्सचेंज एण्ड बैंकिंग प्राब्लेम्स, पृष्ठ १०।

२. देखिए, नीचे सेक्शन १६, मार्च, १६२७ के इण्डियन करेन्सी ऐक्ट द्वारा १ शि० ६ पैं० की नई दर वैध घोषित की गई।

३. देखिए, सेक्शन २०, २३ और २५।

को मुख्य कारण के रूप में चुनना असम्भव है। हम यह आशा कर सकते हैं कि अनुपात के कारण उत्पन्न आर्थिक अव्यवस्था अनुपात स्थापित करने की निकटतम अवधि में उग्रतम होगी और धीरे-धीरे समय बीतने के साथ यह कम होती जाएगी।

परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन होने पर अनुपात किसी भी समय बदला जा सकता है, चाहे हो किसी समय उसका कितना ही सामंजस्य क्यों न हो गया हो। सितम्बर, १९३१ में इंगलैण्ड द्वारा स्वर्ण प्रमाप त्यागने के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं जिनके कारण यह कहा जा सकता है कि इस विषय पर पुनः विचार करना आवश्यक हो गया था।[1] एकमात्र आर्थिक दृष्टिकोण से भी प्रश्न १ शि० ६ पैं० और १ शि० ४ पैं० के बीच चुनाव करने का ही नहीं है। नये अनुपात के परित्याग की सम्भावना का अर्थ १ शि० ४ पैंस के पुराने अनुपात की स्थापना नहीं है। हम इसके लिए तत्पर रहना चाहिए कि यदि स्थिति का सम्पूर्ण और निष्पक्ष पुनर्विलोकन वर्तमान अनुपात का परिवर्तन आवश्यक समझता है (१ शि० ६ पैं० स्टर्लिंग) तो यह भी सम्भव हो सकता है कि इन परिवर्तित परिस्थितियों में उपयुक्ततम अनुपात १ शि० ४ पैंस न होकर कोई अन्य अनुपात ही हो।

१८ सरकार द्वारा हिल्टन यंग आयोग की रिपोर्ट का स्वीकरण—१६ जनवरी १९२७ को सरकार ने तीन बिल प्रकाशित किए जिनमें आयोग की सिफारिशें निहित थीं—(१) पहला बिल ब्रिटिश भारत के लिए स्वर्ण प्रमाप करेन्सी स्थापित करने और रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण करने के लिए था। (२) दूसरा बिल १९२० के इम्पीरियल बैंक कानून को सुधारने के लिए था। (३) तीसरा बिल कुछ उद्देश्यों के लिए १९२३ के पत्र-मुद्रा कानून और १९०६ के टकन कानून को सुधारने और स्वर्ण विनिमय (बाद में बदलकर स्टर्लिंग हो गया) के खरीदने और बेचने के सम्बन्ध में सरकार पर कुछ दायित्व रखने के लिए था। बैंकिंग के अध्याय में हम पहले और दूसरे बिल की चर्चा करेंगे। यहाँ हम तृतीय बिल से सम्बन्धित हैं जो विधान-सभा में ७ मार्च, १९२७ को सर बेसिल ब्लैकेट द्वारा प्रस्तावित किया गया। वित्त-मन्त्री ने करेन्सी बिल के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया, जिसमें कहा गया कि रुपये को स्थिर करने का समय आ गया था और भारत के वित्तीय इतिहास में पहली बार इस प्रकार निश्चित दर अनुपात को बनाए रखने के लिए करेन्सी अधिकारियों को कानूनन उत्तरदायी ठहराया।

१९. मार्च १९२७ का करेन्सी एक्ट—बम्बई की टकसाल में २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला शुद्ध स्वर्ण की दर से कम-से-कम ४० तोला (१५ औंस) वाले स्वर्ण-दण्ड के रूप में असीमित स्वर्ण क्रय सम्बन्धी कानून बनाकर सरकार ने १ शि० ६ पैंस के नये अनुपात को स्थापित किया। चाँदी के रुपयों और कागजी नोटों के स्वामी कलकत्ता के करेन्सी-नियन्त्रक (करेन्सी कण्ट्रोलर) अथवा बम्बई के करेन्सी

---
१. इंडिया, मार्च १९३१ पृ० २५।

उपनियन्त्रक (डिप्टी करेन्सी कण्ट्रोलर) को प्रार्थना-पत्र देकर बम्बई की टकसाल से सोना अथवा सरकार की इच्छानुसार लन्दन मे तुरन्त अर्पित करने के लिए स्टर्लिंग प्राप्त कर सकते थे, परन्तु शर्त यह थी कि २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला शुद्ध स्वर्ण की दर पर कम-से-कम १०६५ तोला (४०० औंस) शुद्ध सोना अथवा स्टर्लिंग की माँग करे और उसका दाम चुकाएं।[१] बम्बई से लन्दन तक के यातायात व्यय की छूट देकर स्टर्लिंग का विक्रय भी उसी कीमत पर होता था। इन दायित्वों को पूरा करने के लिए स्टर्लिंग की सरकारी विक्रय दर १ शि० ५$\frac{४९}{६४}$ पैं० नियत की गई।[२] १ अप्रैल, १६२७ को, जब इण्डियन करेन्सी एक्ट लागू किया गया, बम्बई टकसाल मे स्वर्ण स्वीकार करने की शर्तें प्रकाशित की गईं।

इस कानून के अनुसार सावरेन और अर्ध-सावरेन भारत मे कानूनी मुद्रा न रही[३], परन्तु सरकार पर यह दायित्व रखा गया कि वह इन सिक्को को सभी करेन्सी कार्यालयो और खजानो मे २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला शुद्ध स्वर्ण के मूल्य पर अर्थात् १३ रुपया ५ आना ४ पाई प्रति सावरेन की दर पर स्वीकार करे। इन सिक्को के कानूनी मुद्रा न रहने पर भी भारत मे सावरेन का प्रशसनीय आयात हुआ। १६२७ के करेंसी एक्ट ने देश मे स्वर्ण-पिण्ड एव स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप की स्थापना की। स्टर्लिंग देना सरकार की इच्छा पर निर्भर होने के कारण सकुचित अर्थ मे इस प्रकार स्थापित प्रमाप स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप था, यद्यपि व्यवहार मे २० सितम्बर, १६३१ तक इसने स्वर्ण विनिमय प्रमाप के रूप मे काम किया, क्योकि तब तक स्टर्लिंग और सोने का मूल्य समान था। यदि सरकार रुपयो के बदले मे स्वर्ण देने के विकल्प का प्रयोग करती तो व्यवहारत भारत मे स्वर्ण प्रमाप ही होता। १६२७ के स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप मे स्वर्ण प्रमाप बनने की क्षमता थी। इससे यह प्रकट होता था कि स्वर्ण प्रमाप निश्चय ही सरकार का उद्देश्य था।[४]

२०. स्टर्लिंग और स्वर्ण का सम्बन्ध तथा भारत मे इसकी प्रतिक्रियाएँ—ग्रेटब्रिटेन तथा अन्य कई देशो मे स्वर्ण प्रमाप की समाप्ति के फलस्वरूप विश्व-करेन्सी तथा विनिमय स्थिति मे हुए नाटकीय परिवर्तनो के कारण १६२७ के कानून द्वारा स्थापित प्राविधिक प्रमाप को मौलिक स्वर्ण (पिण्ड) प्रमाप मे परिवर्तित होने का उचित अवसर नही मिला। २१ सितम्बर, १६३१ से ग्रेटब्रिटेन ने स्वर्ण प्रमाप को त्याग दिया। उसी तिथि को सोना अथवा स्टर्लिंग बेचने के दायित्व को स्थगित करते हुए गवर्नर जनरल ने एक आर्डिनेन्स जारी किया और राज-सचिव ने १ शि० ६ पैं० स्टर्लिंग की दर पर रुपये को बनाये रखने के निर्णय की घोषणा की। २४ सितम्बर को गवर्नर जनरल

१. देखिये एल० सी० जैन, मॉनिटरी प्राबलेम ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ३३।
२. रिपोर्ट ऑफ दि कण्ट्रोलर ऑफ करेन्सी (१६२६-२७), पृष्ठ ३।
३. यहाँ यह जानना आवश्यक है कि ब्रिटिश गोल्ड स्टैंडर्ड एक्ट १६२५ द्वारा स्वर्ण मुद्रा का विमुद्रीकरण नहीं किया गया, हालांकि स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर दिया गया।
४. जैन, पूर्वोधृत, पृ० ३५।

ने गोल्ड एण्ड स्टर्लिंग सेल्स रेगुलेशन ऑर्डिनेन्स को जारी किया, जिसने पुराने ऑर्डिनेन्स को रद्द कर दिया और पारिभाषिक रूप मे १६२७ के करेन्सी कानून के विधानो को पुन लागू किया, परन्तु इस ऑर्डिनेन्स के अन्तर्गत व्यवहार मे स्टर्लिंग की बिक्री पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखा गया और इस प्रकार नियन्त्रित स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप प्रारम्भ किया गया। नये ऑर्डिनेन्स के अन्तर्गत, स्टर्लिंग कुछ मान्यता प्राप्त बैंको को ही बेचा जा सकता था जो इस सम्बन्ध मे अपना उत्तरदायित्व समझते थे। व्यापार की सामान्य आवश्यकताओ और २१ सितम्बर तक किये गए ठेको के अर्थ-प्रबन्धन तथा उचित व्यक्तिगत एव घरेलू उद्देश्यो के लिए यह पहली दर अर्थात् १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पैंस की पुरानी दर पर बेचा जाता था। यह पिण्ड (बुलियन) के आयात अथवा परिकल्पनात्मक विनिमय क अर्थ प्रबन्धन के लिए नही बेचा जाता था। भारत से धन के प्रवाह को रोकने और सरकार के स्वर्ण एव स्टर्लिंग साधनों पर अनुचित भार न पडने देने के लिए इस प्रकार की सावधानियाँ बरती जाती थी। इन नियन्त्रणो के लिए इम्पीरियल बैंक की एजेन्सी से काम लिया जाता था। स्टर्लिंग से सम्बन्ध होने के कारण सोने तथा उस पर आधारित अन्य करेन्सियो, जैसे डालर और फ्रैंक, के सम्बन्ध मे रुपया स्टर्लिंग क अवमूल्यन एव उतार-चढाव मे स्वाभाविक रूप से भागी होता था। स्टर्लि डालर-क्रास रेट म द्रष्टव्य स्वर्ण के मूल्य की स्टर्लिंग मे वृद्धि का अर्थ रुपयो मे भी स्वर्ण के मूल्य की वृद्धि होता था। सोने का मूल्य अगस्त, १६३१ के अन्त तक २१ रुपया १३ आना ३ पाई प्रति तोला था, परन्तु दिसम्बर, १६३१ मे यह बढकर २६ रुपया २ आना प्रति तोला हो गया।[1] ऊँचे मूल्यो की प्रेरणा और प्रभात ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रचलित आर्थिक कठिनाई ने जनता को सोना बेचने के लिए प्रस्तुत कर दिया।

सरकार की करेन्सी और विनिमय सम्बन्धी नीति के इस पहलू ने तीक्ष्ण विवाद को जन्म दिया। भारतीय विधानमण्डल की राय लिये बिना ही राज-सचिव ने एक नई करेन्सी नीति की घोषणा कर दी, जिससे लोग अप्रसन्न हो गए। इसके अतिरिक्त सरकार के विपरीत की गई आलोचनाएं दो भागो मे विभाजित हो गईं—(१) १ शि० ६ पैंस पर रुपये का स्टर्लिंग स सम्बन्ध, (२) भारत से सोने का अनियमित निर्यात।

२१ रुपये को १ शि० ६ पैंस से सम्बन्धित करना—सरकार द्वारा अपनाई गई नीति क समथन मे दिए गए मुख्य तर्क निम्नलिखित है—(१) सरकार के पास दो विकल्प थे। रुपय को स्टर्लिंग से सम्बद्ध कर अपेक्षाकृत स्थायित्व प्राप्त करना तथा रुपये के विनिमय मूल्य को नियमित करने क किसी प्रयास के अभाव म पूर्ण अस्थायित्व का जोखिम उठाना। इन विकल्पो म से पहला विकल्प निश्चय ही अधिक पसन्द करने

१ बाद के वर्षो में सोने का मूल्य और अधिक हो गया। ७ मार्च, १६३५ को ३६ रुपया १३ आना ३ पाई प्रति तोला हो गया। जिसे द्वारा स्वर्ण प्रमाप छोडने क बाद यह सबसे ऊँचा मूल्य था। एनुअल मार्केट रिव्यू (प्रेमचन्द रायचन्द एण्ड सन्स) १६३५, पृष्ठ ८०।

योग्य था। (२) यद्यपि हिल्टन यग आयोग का मत रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध करने के विपरीत था, परन्तु इस विचार का, जो साधारण समय मे बहुत ठीक था, कठिन परिस्थितियो मे अनुसरण नही किया जा सकता था। भारत का वार्षिक दायित्व ३२० लाख पौण्ड स्टर्लिंग का था और १५० लाख पौण्ड का स्टर्लिंग ऋण १९३२ के प्रारम्भ में परिपक्व होने वाला था। रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध किये बिना इन उद्देश्यो के लिए आवश्यक कोष एकत्र करने मे अनेक कठिनाइयाँ थी। स्टर्लिंग रुपये की स्थिरता के अभाव मे भारतीय आय-व्ययक (बजट) विनिमय की द्यूत क्रीडा (जुआ) हो जाएगा। (३) जब तक भारत ऋणी देश था, तब तक रुपये को अकेला छोडकर एक अज्ञात दिशा मे अचानक कूद पडने का जोखिम इगलैण्ड-जैसे साहूकार देशो की तुलना मे बहुत अधिक था। (४) स्टर्लिंग पर आधारित देश तथा लन्दन से होने वाला भारत का व्यापार उसके कुल विदेशी व्यापार का बहुत बडा भाग था, अतएव इस व्यापार के लिए स्थायी आधार प्राप्त करना उचित ही था। (५) सोने मे रुपये के अवमूल्यन के कारण स्वर्ण प्रमाप वाले देशो के साथ भारत के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन—चाहे वह अल्पकालीन क्यो न हो—मिलेगा। (६) सरकार के जो आलोचक रुपये को १ शि० ६ पैं० से कम पर स्थिर करना चाहते थे, उनसे तब यह शिकायत करते नही बनी जब प्रचलित क्रास रेट पर रुपये का मूल्य १ शि० ४ पैंस से कही कम था।

दूसरे पक्ष के प्रधान तर्क इस प्रकार थे—(१) रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध करने से भारत स्टर्लिंग के उतार-चढाव का भागी हो गया, जिससे भारत की ही नही वरन् इगलैड की आर्थिक दशा प्रदर्शित होती थी। इसके विपरीत रुपये को अकेला छोड देने से निस्सन्देह अस्थायित्व पैदा हो जाता, परन्तु वह स्वय भारत की दशाओ को प्रदर्शित करता। इस प्रकार विदेशी व्यापार और आन्तरिक मूल्य-स्तर के सम्बन्ध मे अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल विनिमय-दर अपनाने की स्वतन्त्रता भारत से छीन ली गई। (२) उत्तरी अमरीका जैसे स्वर्ण प्रमाप वाले देशो को निर्यात के लाभ के विपरीत इन देशो से आयात की हानियो को भी ध्यान मे रखना चाहिये। साथ ही इस बात को भी ध्यान मे रखना चाहिये कि रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित करना इगलैण्ड को दिये गए साम्राज्य अभिमान का एक रूप ही था। ( ) यह भय भी था कि १ शि० ६ पैंस की दर पर रुपया स्थिर करने के प्रयास से देश के शेष सुरक्षित स्वर्ण-कोष समाप्त हो जाते। उसे सुरक्षित रखने के लिए सरकार द्वारा किये गए प्रबन्धो, यथा जनता को स्टर्लिंग बेचने के प्रतिबन्ध, के कारण यह भय अधिक गम्भीर नही था। (४) अन्त मे यह तर्क भी उपस्थित किया गया कि यद्यपि सोने मे रुपये का अवमूल्यन हो गया था, फिर भी १ शि० ६ पैंस की दर पर रुपया अधिमूल्यित था, जबकि येन और अन्य करेन्सियो का स्टर्लिंग मे अवमूल्यन हो चुका था। इस प्रकार भारत को काफी हानि उठानी पडी।[1]

१. भारत में स्वर्ण-निर्यात-विवाद के दोनों पक्षों की विवेचना के लिए, बी० आर० शिनाय और बी०

२२. भारत से स्वर्ण-निर्यात—सितम्बर, १६३१ मे ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्वर्ण प्रमाप त्यागने के बाद से जनवरी, १६४० के अन्त तक भारत से ३५१·४० करोड रुपये के स्वर्ण का निर्यात किया गया। इस निर्यात की व्याख्या भारत के स्वर्ण साधनो की बरबादी, देशी बैंकिग प्रणाली की छिन्न भिन्नता तथा पीढियो की बचत की समाप्ति के रूप मे की गई। यह तर्क उपस्थित किया गया कि स्वर्ण निर्यात के आकस्मिक सहयोग ने १ शि० ६ पेंस की दर पर रुपये के अधिमूल्यन को छिपा दिया और सोने के अनियन्त्रित निर्यात ने देश का स्वर्ण-प्रमाप के उद्देश्य तक पहुँचना असम्भव बना दिया। ऐसे अपूर्व पैमाने पर निर्यात किये गए सोने का पुन खरीदना भारत के लिए आसान नही था। भारत के विपरीत विश्व के अन्य देश अपने स्वर्ण-भण्डारो को सुरक्षित रखे हुए थे और सम्भव होने पर उनमे वृद्धि करते जाते थे।

सरकारी नीति के समर्थन मे यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि विक्रीत सोना करेन्सी-स्वर्ण नही था वरन् व्यापारिक स्वर्ण था और मूल्य के भण्डार के रूप मे काम करने वाली वस्तु थी। यह इसलिए बेचा गया क्योकि इसके स्वामियो को इससे लाभ प्राप्त हो रहा था। इसे बेचने का एक अन्य कारण यह भी था कि अपने दायित्वो को पूरा करने के लिए अनेक व्यक्ति अपनी सम्पत्तियो को नकद रुपये मे बदलने के लिए विवश थे। प्रचलित आर्थिक कठिनाई अत्यन्त शोचनीय थी, परन्तु स्पष्टतया परेशान व्यक्तियो का हित सबसे महँगे बाजार मे सोना बेचने के लिए दी गई असीमित स्वतन्त्रता मे था। पुन यह भी ध्यान म रखना चाहिए कि व्यक्तिगत अधिकार से सरकार सोन को उस समय तक प्राप्त नही कर सकती जब तक कि सोन का मूल्य उसके अधिकारियो के लिए पर्याप्त रूप से आकर्षक न हो। निर्यात किया हुआ सोना भारत के कुल सोने का एक अशमात्र था। कुल स्वर्ण भण्डार ७५०० लाख पौण्ड अनुमानित किया गया था। इस देश मे जनता की प्रसिद्ध स्वर्ण-भूख का अकस्मात् लोप नही हो सकता था, अतएव कालान्तर मे मूल्यो के सामान्य हो जाने पर वह पुन खरीदकर वापस आ जाएगा। इस बीच मे स्वर्ण-विक्रय व्यापारिक चक्र को स्निग्ध तथा उत्पादन की सहायता कर रहा था। व्यापारिक सन्तुलन पर इसका प्रभाव अनुकूल पडा और इसने गतिहीन धातु की सजीव मुद्रा का रूप प्रदान किया। राजसचिव के लिए स्टर्लिंग विप्रेषण और स्टर्लिंग सुरक्षित कोष को दृढतर करन की दृष्टि से सरकार की आर्थिक स्थिति पर इसका अच्छा प्रभाव पडा। इसने रुपया स्टर्लिंग विनिमय को १ शि० ६ पैस की दर पर स्थायित्व प्रदान करने मे भी सहायता पहुँचाई और लन्दन तथा विश्व मे भारत की साख को सुधार दिया। स्वर्ण निर्यात ने नोट प्रचलन, पोस्टल केश सर्टिफिकेट, पोस्टल सेविंग्स डिपाजिट, बैंक की जमा आदि मे वृद्धि की सामान्यत सस्ते द्रव्य की स्थिति उत्पन्न कर देश के व्यापारिक पुनरुत्थान मे सहायता पहुँचाई।

पी० अदारकर के लेख 'इण्डियन जनरल ऑफ इकनामिक्स' जुलाई १६३५ और जनवरी १६३६ में देखिए।

२३. अनुपात का प्रश्न और रिज़र्व बैंक बिल—हम देख चुके है कि किस प्रकार सितम्बर, १९३१ मे रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध किया गया और मार्च, १९२७ के करेन्सी एक्ट लागू रहने पर भी किस प्रकार भारतीय द्रव्य प्रमाप स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप के रूप मे काम करने लगा। प्रस्तावित रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया पर लगाए जाने वाले विनिमय-सम्बन्धी दायित्वो और बन्धनो की प्रकृति के सम्बन्ध मे उचित द्रव्यात्मक प्रमाप और अनुपात का सम्पूर्ण प्रश्न पुन विवाद का विषय बन गया। रिज़र्व बैंक विधान को लन्दन कमेटी ने अपनी रिपोर्ट (अगस्त, १९३३) मे कहा कि बैंक पर लगाए जाने वाले विनिमय-दायित्व के सम्बन्ध मे उठने वाले प्रश्न वर्तमान परिस्थितियो मे कठिनाई उपस्थित करते है। विश्व की वर्तमान द्रव्यात्मक अस्तव्यस्तता के समय मे (रिज़र्व बैंक) बिल मे उन प्रस्तावो को रखना असम्भव है जो द्रव्यात्मक पद्धति के पुन स्थिर होने पर उचित होगे। इन परिस्थितियो में भारत के लिए सबसे सुन्दर मार्ग स्टर्लिंग प्रमाप पर रहना ही है। इस आधार पर बिल मे निहित विनिमय-दायित्व बिल पेश करते समय विद्यमान रुपया और स्टर्लिंग के अनुपात के अनुसार होना चाहिए। यह कथन वर्तमान अनुपात के गुण और अवगुण पर कमेटी का कोई मत प्रकट नही करता है। बिल मे अनुपात-सम्बन्धी प्रस्तावो से यह स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक एक्ट के कार्यान्वित होने से ही वस्तुस्थिति मे कोई परिवर्तन नही होगा। हम सब लोग इसमे सहमत है कि किसी भी दशा म इसको प्रस्तावना मे स्पष्ट कर देना चाहिए कि भारत के लिए उचित द्रव्यात्मक प्रमाप पर उस समय पुन विचार किया जाए जब अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति स्पष्ट रूप से समक्ष आ जाए और स्थायी विधान के लिए पर्याप्त रूप से स्थिर हो जाए। (पैरा १९) जैसा कि कमेटी ने स्वय स्वीकार किया है, भारतीय प्रतिनिधियो के बहुमत ने अपने इस विचार को अंकित करना अपना कर्त्तव्य समझा कि रिज़र्व बैंक के कार्यों की सफलता के लिए उचित विनिमय-अनुपात का होना आवश्यक था। पिछले कुछ वर्षों मे विश्व के लगभग सारे देशो मे करेन्सी के आधारो और करेन्सी नीति मे पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे। उनके अनुसार भारत को करेन्सी पद्धति पर निम्नतम भार रखने के विचार से भारत सरकार और विधानमण्डल को इन बातो की परीक्षा करनी चाहिए। एक पृथक् नोट मे सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया के उद्घाटन से पूर्व अनुपात के पुनर्विलोकन का जोरदार समर्थन किया और आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड और सयुक्तराज्य के उदाहरण प्रस्तुत किये, जिन्होने व्यापारिक सन्तुलन के सुधार और मूल्य-वृद्धि के लिए अपनी करेन्सियो का अवमूल्यन किया था। उन्होने भारत के इस दृढमत को उद्धृत किया कि १ शि० ६ पें० के वर्तमान अनुपात की कमी से किसानो को बहुत सहायता मिलेगी। रिज़र्व बैंक बिल सितम्बर, १९३३ मे सयुक्त प्रवर समिति (ज्वायण्ट सलेक्ट कमेटी) को सौपा गया।

२४ नये करेन्सी अधिकारी के रूप मे रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया का विनिमय-दायित्व—१९३४ के कानून मे निहित अनुपात-सम्बन्धी धाराओ (४० और ४१) ने रिज़र्व बैंक विधान के लिए नियुक्त लन्दन समिति की सिफारिशो को कार्यान्वित

किया। रिज़र्व बैंक से वर्तमान अनुपात (१ शि० ६ पैं० स्टर्लिंग) को उच्चतर और निम्नतर बिन्दु के बीच व्यवस्थित करने के लिए कहा गया, मानो रुपया स्वर्ण-प्रमाप पर था। चालीसवीं धारा के अनुसार रिज़र्व बैंक अपने कार्यालयों—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली और रंगून—में कानूनी मुद्रा में भुगतान करने पर किसी भी व्यक्ति को लन्दन में देने के लिए १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पैंस की दर पर स्टर्लिंग बेचने के लिए बाध्य था। इस विधान का अर्थ रुपये को १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पैंस से नीचे गिरने से बचाना है, जो रुपये के निम्नतर बिन्दु के अनुरूप था। (१ शि० ६ पैंस—स्टर्लिंग की इस मात्रा को लन्दन में रखने का व्यय) इसके विपरीत धारा ४१ के अनुसार तत्काल ही लन्दन में देने के लिए १ शि० ६$\frac{3}{16}$ पैंस की दर पर किसी भी व्यक्ति से स्टर्लिंग खरीदना बैंक के लिए आवश्यक था। यह दर रुपये के उच्चतर बिन्दु के अनुरूप थी (१ शि० ६ पैंस+इस मात्रा की स्टर्लिंग को लन्दन से बम्बई आयात करने का व्यय)। यह भी निर्धारित किया गया कि कोई भी व्यक्ति १० हज़ार पौण्ड से कम मात्रा में स्टर्लिंग की माँग बेचने और खरीदने के लिए नहीं कर सकता।[1]

करेन्सी के सम्बन्ध में आधुनिक व्यवस्था

मूल अधिनियम के अन्तर्गत यह प्रस्तावित था कि जारी किये गए नोटों के पीछे एक निश्चित अनुपात में सोना और विदेशी प्रतिभूतियाँ रखी जाएँ। कुल सम्पत्ति (एसेट) का ४० प्रतिशत सोना, सोने का सिक्का और विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में होना चाहिए, किन्तु किसी भी समय सोने और सोने के सिक्कों का मूल्य ४० करोड़ रुपये से कम नहीं होना चाहिए। यह व्यवस्था लगभग २० वर्ष तक चलती रही।

नोट निर्गमन को विदेशी प्रतिभूतियों से सम्बन्धित करना अब भूतकाल की बात हो गई है। युद्ध एवं युद्धोत्तरकालीन वर्षों में केन्द्रीय बैंक-सम्बन्धी अधिनियमों की सामान्य प्रवृत्ति नोट निर्गमन से विदेशी सुरक्षित कोष को असम्बद्ध करने की रही है। अब लगभग सभी यह मानते हैं कि विदेशी विनिमय के सुरक्षित कोष का सामान्य उद्देश्य यही है कि देश भुगतान सन्तुलन के प्रतिकूल परिवर्तनों का सफलतापूर्वक सामना कर सके। भारतीय अर्थ व्यवस्था में द्रव्य के प्रसार तथा विकास-योजनाओं के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं की तीव्र प्रगति के फलस्वरूप चलार्थ (करेन्सी) में पर्याप्त विस्तार अपेक्षित होगा। इन सम्भावनाओं को दृष्टिगत रखकर ही रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम १९५६, जो ६ अक्तूबर १९५६ से लागू हुआ, के अन्तर्गत आनुपातिक व्यवस्था के स्थान पर विदेशी सुरक्षित कोष की एक निम्नतम राशि अर्थात् ४०० करोड़ रु० की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड़ रु० का सोना या सोने के सिक्के रखने का विधान है। इस अधिनियम ने अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष (आई० एम० एफ०) द्वारा मान्य सोने का मूल्य रु० ६२.५० प्रति तोला

१. अप्रैल, १९४७ के रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया अमेंडमेंट एक्ट ने धारा ४०-४१ को रद्द कर दिया और इसलिए अब स्टर्लिंग को बेचने और खरीदने का कोई परिनियत दायित्व रिज़र्व बैंक पर नहीं है।

निश्चित किया जबकि पहले यह मूल्य रु० २१·२४ प्रति तोला था।

यह परिवर्तन नितान्त अनौपचारिक था और इसका अभिप्राय बैंक के स्वर्ण कोष के अर्थ को नये मूल्य के अनुसार प्रदर्शित करना था। इसके परिणामस्वरूप ही सुरक्षित स्वर्ण-कोष की मात्रा ११५ करोड रु० निश्चित की गई थी जबकि पहले (अर्थात् जब सोने का मूल्य रु० २१ २४ प्रति तोला था) यह ४० करोड रु० था। १९५७ मे अधिनियम मे पुन परिवर्तन किया गया। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (द्वितीय सशोधन) अधिनियम १९५७ ने यह निर्धारित किया कि सोना, सोने के सिक्के तथा विदेशी प्रतिभूतियो का कुल मूल्य किसी भी समय २०० करोड रु० से कम नही होना चाहिए। पहले की तरह इसमे से ११५ करोड रु० के मूल्य का सोना अथवा सोने का सिक्का होना चाहिए। इस अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को यह अधिकार भी दिया गया है कि केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति के बाद वह विदेशी प्रतिभूतियो के रूप मे कुछ भी न रखे, किन्तु ११५ करोड रु० के मूल्य का सोना उसे सदैव रखना चाहिए।

२५. अवमूल्यन का पक्ष और विपक्ष[१]—उपर्युक्त प्रबन्ध सरकार की करेन्सी नीति के आलोचको और भारतीय व्यापारिक समाज मे अवमूल्यन के समर्थको को सन्तुष्ट न कर सका (सेक्शन २३ भी देखिए)। इसके अतिरिक्त वित्त सदस्य के विचार मे अनुपात कम करने से भारत की आय-व्ययक-सम्बन्धी समस्याएँ, जो अभी बहुत कठिन हैं, हल न हो सकेंगी। (१९३९-४५ के युद्ध के कुछ पूर्व के आय व्ययक की बचत इस तर्क के विरुद्ध थी।) सस्ते द्रव्य की विद्यमान प्रचुरता ने, जो मूल्य-वृद्धि का मान्यता-प्राप्त सामान्य साधन है, भारत मे अस्वास्थ्यकर परिकल्पना की परिस्थितियो को जन्म दिया, जिससे प्रतीत होता था कि कृषि-प्रधान देश मे मूल्य की वृद्धि के लिए सस्ता द्रव्य-मात्र ही पर्याप्त नही है। वित्तमन्त्री के विचार मे सस्ते द्रव्य के अतिरिक्त यह भी आवश्यक था कि विश्व के देशो मे अपनी-अपनी करेन्सियो को स्थिर करने और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्रतिबन्ध कम करने की सहमति हो अक्तूबर, १९३६ मे रुपये के अवमूल्यन के सम्बन्ध मे विवाद उठ खड़ा हुआ, जो सितम्बर मे फ्रांस तथा स्वर्ण-समूह देशो की करेन्सियो के अवमूल्यन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारत मे उत्पन्न हुआ था। अवमूल्यन के समर्थको ने विधानसभा मे काम स्थगित करने का प्रस्ताव पेश किया जो केवल सभापति के वोट से ही हराया गया।

इसके विपरीत अवमूल्यन के विरोधियो ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि उस समय भारत द्वारा करेन्सी का अवमूल्यन (१९३६) इगलिस्तान (यूनाइटेड किंगडम), सयुक्तराज्य और फ्रांस द्वारा किये गए त्रिपक्षी द्राव्यिक समझौते को भग कर देगा और इससे विश्व की करेन्सियो के स्थिरीकरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। भारत द्वारा रुपये का अवमूल्यन अन्यत्र प्रतिकारो को उत्तेजित करेगा और करेन्सी-युद्ध को

१. अवमूल्यन-सम्बन्धी विवाद के विस्तृत आलोचनात्मक विवरण के लिए देखिए, बी० एन० अदारकर 'डिवेल्युएशन ऑफ दी रुपी' (१९३७)।

पुनर्जीवित कर देगा। स्टर्लिंग से सम्बद्ध होकर सोने की तुलना मे रुपये का ४० प्रतिशत अवमूल्यन हो चुका था। अतएव रुपये के और अधिक अवमूल्यन की आवश्यकता नही थी, क्योकि उपर्युक्त अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत स्टर्लिंग क्षेत्र के आर्थिक पुनरुत्थान मे भाग लेने योग्य हो गया था। रुपये को अधिमूल्यित नही कहा जा सकता था, क्योकि करेन्सी के अधिमूल्यन का कोई चिह्न ही न था। उदाहरण के लिए, बजट का घाटा, द्रव्य की ऊँची दर, करेन्सी सुरक्षित कोष मे सोने की कमी, ह्रासमान व्यापारिक सन्तुलन और मुद्रा-सकुचन-जैसे कोई चिह्न विद्यमान नही थे। यूरोपीय करेन्सियो के अवमूल्यन ने भारत को अधिक प्रभावित नही किया और विदेशी करेन्सियो के अवमूल्यन के फलस्वरूप हुए राशिपतन से अपने उद्योगो की सुरक्षा के लिए १८९४ के प्रशुल्क अधिनियम (टेरिफ एक्ट) से भारत सुसज्जित था। जहाँ तक हमारे अति अभिलषित निर्यात व्यापार के पुनरुत्थान का सम्बन्ध है, अवमूल्यन प्रतिकार की भावना को उत्तेजित कर स्थिति को और बिगाड देगा। वास्तविक कठिनाई विदेशो की आर्थिक राष्ट्रीयता और व्यापारिक प्रतिबन्ध थे, अतएव इसका उचित हल अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और शान्ति की वृद्धि तथा करेन्सियो का स्थिरीकरण था। अन्त मे यह भी कहा गया कि अवमूल्यन करना भारत के लिए बुद्धिमानी न होगी, क्योकि इससे नए विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्राप्त होने के समय ओटोनिमेयर (आर्थिक) निर्णय गडबड हो जाएगा।

१९३७-३८ की आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप सोने और व्यापारिक माल के निर्यात मे अवनति से रुपये के विनिमय मूल्य मे हुई कमी ने अवमूल्यन आन्दोलन को पुन जाग्रत करने के लिए समर्थन प्रदान किया। इण्डियन नेशनल काग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने रुपये के अनुपात को सशोधित कराने का काम अपने हाथ मे ले लिया। भारत सरकार परिनियत अनुपात मे किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विरुद्ध थी और उसने घोषणा की कि रुपये का वर्तमान मूल्य बनाए रखना भारत के हित मे आवश्यक था तथा इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक और भारत सरकार के पास स्वर्ण एव स्टर्लिंग सम्पत्ति प्रचुर मात्रा मे थी। फिर भी आन्दोलन जोर पकडता गया और सितम्बर, १९३८ मे भारतीय द्रव्यात्मक पद्धति के स्थायी आधार को निश्चित करने तथा रुपये के अनुपात के सम्पूर्ण प्रश्न पर रिपोर्ट देने के लिए एक कमेटी की नियुक्ति का असफल प्रयत्न केन्द्रीय विधान सभा के कुछ गैर सरकारी सदस्यो द्वारा किया गया।

रुपया, जो १९३८ मे अधिमूल्यित समझा जाता था, मित्र राष्ट्रो द्वारा जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा करने के बाद अवमूल्यित समझा जाने लगा।[1]

२९. अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष और रुपये का सम-मूल्य—३१ दिसम्बर, १९४५ से पहले दोनो समझौतो पर हस्ताक्षर करके भारत सरकार ने ब्रेटन वुड्स समझौते पर डटे रहने तथा अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष एव अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की प्रारम्भिक सदस्यता के लाभ भारत के लिए प्राप्त करने का निर्णय

१. देखिए, एनुअल मार्केट रिव्यू (१९३९), पृष्ठ १८ और सेक्शन २८ भी देखिए।

किया ।[1]

देश के जानकार लोग केवल भौतिक लाभ के लिए ही नही वरन् देश की अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता और प्रतिष्ठा के कारण भी इन महत्त्वपूर्ण सगठनो मे भारत के भाग लेने के पक्ष मे थे। इसलिए सरकार ने विधानसभा की स्वीकृति से पहले ही कदम उठाना उचित समझा, ताकि प्रारम्भिक सदस्यता का लाभ समाप्त न हो जाए। बाद मे विधानसभा की स्वीकृति प्राप्त कर ली गई। प्रारम्भिक सदस्यता के निम्नलिखित लाभ थे—(१) भारत को सदस्यता की शर्ते और अपना कोटा ज्ञात था, जबकि ३१ दिसम्बर, १९४५ के बाद सदस्यता की शर्ते कोष और बैंक द्वारा निश्चित की जाती। (२) प्रारम्भिक सदस्य की हैसियत से भारत प्रारम्भ से ही प्रशासन सचालको मे स्थान ग्रहण करने का अधिकारी होता, जबकि बाद मे इस अधिकार के लिए भारत को कम से-कम दो वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष के समझौते की धाराओ मे धारा २० सेक्शन ४ (क) के अन्तर्गत १२ सितम्बर, १९४६ को भारत सरकार से निवेदन किया गया कि वह २८ अक्तूबर, १९४५ अर्थात् समझौते प्रारम्भ होने से साठ दिन पूर्व प्रचलित दरो के अनुसार रुपये का सम-मूल्य अमरीकी डालर अथवा सोने के रूप मे स्पष्ट कर १२ अक्तूबर, १९४६ तक कोष को सूचित कर दे। उस दिन प्रचलित विनिमय दरो, जैसे १ रु०=१ शि० ६ पैं, १ पौण्ड=४०३ डालर और १ औंस शुद्ध सोना=३५ डालर, के आधार पर सोने के रूप मे रुपये का सम-मूल्य ०.००८६३५७ औंस शुद्ध सोना हुआ और यही कोष को सूचित कर दिया गया।

सोने को भाजक सख्या के रूप मे प्रयोग करते हुए सिद्धान्तत एक रुपये मे ४.१४५१४२८५७ ग्रेन शुद्ध सोने के तत्त्व समझे जाने चाहिए। सोने के इस वजन से रुपये और डालर की दर ३.३०८५११४ रुपया (अमरीकी) हुई और स्वर्ण का सम-मूल्य ३११५ रु० १२—६.२५०५६ प्रति औंस शुद्ध सोना हुआ।[2]

सम-मूल्य को परिवर्तित न करने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(१) प्रचलित आर्थिक दशाओ की अनिश्चितता और सक्रमणकालीन रूप को देखते हुए विश्वास के साथ यह कहना सम्भव नही था कि उपयुक्ततम अनुपात कौनसा होगा। अतएव परिस्थितियो के और अधिक स्थायी होने तक अनुपात परिवर्तन के प्रश्न को स्थगित करना वाञ्छनीय था।

---

१. भारत की ओर से वाशिगटन में भारत के एजेण्ट जनरल ने जिस दिन दस्तखत किये वह दिन २७ दिसम्बर १९४५ था।

२. यह १९१४ के पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप का सुधार-मात्र ही नहा था। अब स्वर्ण और पूँजी के प्रवाह का १९१४ की पद्धति-जैसा महत्त्व नहीं रहेगा। इसका एक कारण यह है कि अब केन्द्रीय बैंकों ने ऐसे प्रवाहों को प्रभावहीन बनाने की विधि पूर्ण कर ली है। इसके अतिरिक्त सदस्य देशों की स्थिति को ठीक करके विनिमय स्थायित्व बनाए रखने की जिम्मेदारी अन्तराष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष की होगी। इस रूप में स्वर्ण का पहले जैसा निर्णयात्मक भाग नहीं रहेगा।

(२) यद्यपि ब्रिटेन और संयुक्तराज्य की तुलना मे भारत के ऊँचे मूल्य स्तर रुपये के अवमूल्यन की आवश्यकता का संकेत करते प्रतीत हो रहे थे, परन्तु इस बात की भी सम्भावना थी कि निकट भविष्य मे मूल्य के दोनो स्तर भारत मे मूल्यो के गिराव और इगलिस्तान (युनाइटेड किंगडम) तथा संयुक्तराज्य मे मूल्यों की वृद्धि के फलस्वरूप एक-दूसरे के अत्यन्त निकटतर आ जाएँगे।

(३) अवमूल्यन भारतीय मूल्यो के अत्यन्त ऊँचे स्तर को और ऊँचा कर देगा और अत्यधिक ऊँचे मूल्यो को कम करने के लिए अत्यधिक समर्थन-प्राप्त घोर उत्पादन तथा स्वतन्त्र आयात की नीति मे बाधक सिद्ध होगा।

अवमूल्यन से मशीनो आदि के मूल्य मे वृद्धि हो जाएगी। औद्योगीकरण के लिए भारत विदेशो से इनका आयात करने के बारे मे सोच रहा था। अतएव इनका रुपया-मूल्य बढ़कर अवमूल्यन औद्योगीकरण मे भी बाधक सिद्ध होगा।

(४) कोष की योजना के अन्तर्गत भविष्य मे यदि अनुपात मे उचित परिवर्तन करना आवश्यक हो, तो यह सदैव सम्भव होगा। सदस्य देश स्वयं सम-मूल्य के १० प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकता था और मौलिक असन्तुलन को ठीक करने के लिए और अधिक परिवर्तन बाद मे कोष की आज्ञा से किया जा सकता था।

२७ **रुपये का अवमूल्यन (सितम्बर १९४९)**—*१८ सितम्बर, १९४९ को ब्रिटिश सरकार ने पौंड स्टर्लिंग के अवमूल्यन की घोषणा की। पौंड डालर विनिमय की सरकारी दर १ पौंड=४.०३ डालर थी। नया अनुपात १ पौण्ड=२.८० डालर निश्चित किया गया। भारतीय रुपये ने इसका अनुसरण किया। परिणामत रुपया १ शि० ६ पैं० के बराबर रहा, परन्तु डालर मे ३०.२२५ अमरीकी सेण्ट के स्थान पर वह २१ सेण्ट के बराबर ही रह गया।*[1]

आवश्यक आयात की कमी होने पर आर्थिक विकास और औद्योगिक प्रसार की हमारी योजनाओ को पूरा करना कठिन हो जाएगा। अन्य देशो मे सामान्यत आशा यह थी कि इगलिस्तान द्वारा अवमूल्यन किये जाने पर भारत भी अवमूल्यन से बच नही सकेगा, अतएव पुरानी विनिमय-दरो पर किसी भी प्रकार का व्यापार करने मे यह भावना मनोवैज्ञानिक बन्धन का काम करती और व्यापार ठप हो गया होता। इसलिए भारत ने भी *अन्य स्टर्लिंग वाले देशो की तरह एक रक्षात्मक उपाय के रूप मे रुपये का अवमूल्यन करने के लिए अपने को विवश पाया। सरकार को आशा थी कि अवमूल्यन का प्रभाव मुख्यत देश मे उत्पन्न वस्तुओ पर नही पड़ेगा* जो प्रधानत हमारे रहन-सहन के व्यय से सम्बन्धित हैं। चालू वर्ष से डालर वाले देशो से खाद्यान्नो का कोई आयात होने वाला नही था इसलिए यह आशा की गई कि खाद्यान्नो के मूल्य पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा तथा व्यापार के लिए डालर क्षेत्र

---

१. यदि १ पौण्ड २८० सेण्ट के बराबर हो तो १ शि० ६ पैंस, जो रुपये का सम-मूल्य है, २१ सेंट के बराबर हुआ। मास में शुद्ध स्वर्ण का सम-मूल्य प्रति रुपया ०.१८६६२१ हुआ, जिसके अनुसार प्रति औंस शुद्ध सोने का मूल्य १६६.६६६६ रुपया हुआ।

की अपेक्षा स्टर्लिंग क्षेत्र पर हमारी निर्भरता अधिक होने के कारण सामान्य मूल्य-स्तर अथवा उत्पादन लागत मे वृद्धि नही होगी और वस्तुओ का आन्तरिक मूल्य भी प्रभावित नही होगा। इसके अतिरिक्त मूल्यो की वृद्धि की किसी भी प्रवृत्ति का सामना नियमन अधिकार युक्तीकरण और उत्पादन की वृद्धि से किया जा सकता है।

स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो मे केवल पाकिस्तान ने अपनी करेन्सी के अवमूल्यन के विरुद्ध निर्णय किया, क्योकि देश के व्यापारिक भुगतानो मे मौलिक असन्तुलन नही था, तथा पाकिस्तान के निर्यात का कोई विशेष प्रसार, जो प्राय कच्चे माल का ही था, अवमूल्यन से सम्भव नही था। मुद्रा अवमूल्यन न करने से देश की आर्थिक व्यवस्था को हानि तो होगी ही नही वरन् इसके विपरीत देश को अनेक महत्त्वपूर्ण लाभ भी होगे। इससे आयात सस्ते हो जाएँगे, जिसका देश मे रहन-सहन के व्यय पर स्वागत-योग्य प्रभाव पड़ेगा—विशेषकर पूर्वी पाकिस्तान मे, जहाँ कुछ समय से मुद्रा स्फीति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही है। मशीनें और आवश्यक कच्चे माल को मुद्रा-अवमूल्यन वाले देशो से कही अधिक अनुकूल मूल्यो पर प्राप्त किया जा सकेगा और इस प्रकार औद्योगिक विकास मे सुविधा होगी।

२८. द्वितीय विश्वयुद्ध का भारतीय चलार्थ (करेन्सी) और विनिमय पर प्रभाव[1]—भारत की आर्थिक व्यवस्था पर युद्ध के प्रारम्भिक प्रभाव अनेक क्षेत्रों में युद्धजनित अवश्यम्भावी अस्तव्यस्तता के बावजूद भी देश के लिए लाभदायक थे, उत्पादन-मूल्य और विदेशी व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला और कृषक की स्थिति मे भी सुधार हुआ। १९१४-१८ के युद्ध के प्रारम्भ होने पर रुपया-स्टर्लिंग विनिमय की निर्बलता के बिलकुल विपरीत है। उस समय (१९१४-१८) तो रुपया अनुपात की सहायता के लिए सरकार द्वारा स्टर्लिंग की बिक्री की गई थी।

यद्यपि स्टर्लिंग के सम्बन्ध मे रुपया स्थिर रहा, परन्तु डालर, येन और महाद्वीपीय करेन्सियो के सम्बन्ध मे पौण्ड की मन्दी के बाद इसका (रुपये) मूल्य कम हो गया। (जर्मनी द्वारा घिरे होने अथवा अधिकृत होने के कारण प्रमुख महाद्वीपीय करेन्सियो की विनिमय-दरो की सूचनाएँ समाप्त हो गई) १ पौंड=४ ०२ डालर की दर पर स्टर्लिंग को डालर के साथ स्थिर करने के कारण रुपया और डालर की विनिमय दर १००० डालर=३३२ रुपये के आसपास स्थिर रही। युद्ध प्रारम्भ होने के बाद बढ़ती हुई व्यापारिक क्रियाशीलता और वस्तुओ के मूल्यो की वृद्धि के प्रत्युत्तर मे जब बैंक ऑफ इण्डिया ने १९३९ मे सितम्बर और दिसम्बर के बीच बैंक नोट और सिक्कों के रूप मे ४८ करोड रुपये से करेन्सी का विस्तार किया तो सक्रिय प्रचलन मे नोटो की औसत सख्या सितम्बर, १९३९ मे १८६ ०६ करोड रुपये थी। जून, १९४० मे यह २३७·२९ करोड रुपये हो गई। करेन्सी का यह विस्तार रिज़र्व बैंक द्वारा

---

१. देखिए, 'एनुअल रिपोर्ट ऑफ दि रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया' (फरवरी १९४०, पृ० १४, २३-२४; अगस्त १९४०, पृ० ११-१२, १८), और 'रिपोर्ट ऑन करेन्सी ऐण्ड फाइनेन्स' (१९३९-४०), पैरा २३-२४।

ट्रेजरी बिल और स्टर्लिंग की पर्याप्त खरीद के फलस्वरूप हुआ। अत कोई आश्चर्य नहीं कि इस बीच रुपया-स्टर्लिंग विनिमय बहुत स्थिर रहा।

२९ रुपये के सिक्के को प्रचलन से वापस लेना और एक रुपये के नोट का प्रचलन—यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भारतीय करेंसी पद्धति ने युद्ध की कठिनाइयो का सामना भली प्रकार किया और सामान्यत कागजी करेंसी मे विश्वास बना रहा, परन्तु यूरोप मे युद्ध-स्थिति खराब हो जाने से १९४० की मई-जून मे प्रतिकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। रुपये के सिक्के मे नोटो का भुगतान करने के लिए रिजर्व बैंक से माँग की गई। बैंको से निकाला जाने वाला रुपया, जो पहले औसतन एक करोड रुपया प्रति सप्ताह निकाला जाता था, अकस्मात ४ ५ करोड रु० प्रति सप्ताह हो गया। युद्ध होने के बाद रिजर्व बैंक ने ४३ करोड से अधिक रुपये के सिक्को की पूर्ति की, जिनका आसचयन कर लिया गया जो निर्गम विभाग (इश्यू-डिपार्टमेण्ट) मे रुपये के सिक्के के भण्डार की कमी से भी स्पष्ट है। युद्ध के प्रारम्भ मे निर्गम विभाग मे ७५ ४७ करोड रुपये के सिक्के थे और ५ जुलाई, १९४० को केवल ३२ करोड रुपये के सिक्के थे। इन परिस्थितियो मे सरकार ने रुपये की स्वतन्त्र वापसी की प्रारम्भिक नीति मे परिवर्तन करने का निश्चय किया। यद्यपि भारत सरकार का रजत-भण्डार पर्याप्त था, तथापि भारत की टकसालो मे उस दर पर रुपया बनाना असम्भव मालूम पडता था, जिस दर पर रुपया जनता द्वारा आसचित किया जा रहा था। इसलिए २५ जून, १९४० को भारत सरकार ने व्यक्तिगत अथवा व्यापारिक आवश्यकता से अधिक रुपये के सिक्के की प्राप्ति के लिए दण्ड की व्यवस्था करने वाली एक अधिसूचना प्रकाशित की। कुछ समय तक रुपये के सिक्को को नोटो से अधिक मूल्य पर माँगा गया और रुपये के सिक्को तथा छोटे-छोटे सिक्को (रेजगारी) का अभाव हो गया। इन कठिनाइयो को शीघ्रता से हल किया गया और रिजर्व बैंक ने छोटे सिक्को के विस्तृत प्रचलन तथा रुपये की उचित माँग को पूरा करने के लिए प्रबन्ध किया।

३०. चाँदी के सिक्कों के रजत-तत्त्व मे कमी—देश के रजत साधनो को सुरक्षित रखने का दूसरा उपाय कुछ सिक्को के रजत-तत्त्व की शुद्धता के स्तर को कम करना था। अप्रैल, १९४० मे केन्द्रीय विधानमण्डल ने सरकार को चवन्नी के $\frac{11}{12}$ रजत-तत्त्व को $\frac{1}{2}$ रजत-तत्त्व तक कम करने का अधिकार दिया। इसका उद्देश्य साधारण तौर पर धातुओ के सरकारी भण्डार को और अधिक सेवा योग्य बनाना है। इस उद्देश्य के लिए १९०६ के इण्डियन क्वॉयनेज एक्ट को सुधारने के लिए २९ जुलाई, १९४० को भारत सरकार द्वारा प्रकाशित एक आदेश के अन्तर्गत अठन्नी के रजत-तत्त्व मे भी इसी प्रकार की कमी की गई। रुपये के आसचयन के बाद चवन्नी और अठन्नी की बढती हुई माँग के फलस्वरूप यह कदम उठाया गया। २२ दिसम्बर, १९४० को रुपये मे भी आधी चाँदी और मिलावट की व्यवस्था की गई। अप्रैल, १९४७ मे इण्डियन क्वॉयनेज एक्ट को सुधारने के लिए एक बिल पास हुआ, जिसके फलस्वरूप गिलट के रुपये ने चाँदी के रुपये का स्थान ग्रहण कर लिया। इस प्रकार सयुक्त राज्य को

चुकाने के लिए २२६० लाख औंस चाँदी की बचत हुई, जिसे भारत ने उधार-पट्टे के अन्तर्गत उधार लिया था।

दशमलव प्रणाली—दशमलव प्रणाली लागू करने के लिए १९०६ के भारतीय टंकन अधिनियम (इण्डियन क्वायनेज एक्ट) को संशोधित करने के लिए ७ मई, १९५५ को लोक सभा मे एक बिल पेश किया गया। यह बिल २७ जुलाई, १९५५ को पास हो गया तथा १ अप्रैल, १९५७ से लागू हुआ। इस तिथि से रुपयो को १०० नये पैसे के छोटे सिक्को मे विभाजित किया गया। एक न० पै०, दो न० पै०, पाँच न० पै०, दस न० पै०, पचास न० पै० के सिक्को के जारी करने की व्यवस्था की गई। १ अप्रैल, १९५७ से सारे सरकारी विभाग, मिश्रित पूँजी वाली तथा सहकारी बैंकें—सभी नई प्रणाली के अनुरूप हिसाब रखने लगे। पुराने सिक्को के ३ वर्ष तक चलते रहने की व्यवस्था की गई थी।

१९६० मे जनता के हाथ मे द्रव्य की मात्रा २७४० करोड रु० (जिसमे हाली सिक्का भी शामिल था) थी जो १९५९ की तुलना मे २१८ करोड रु० अधिक थी। इस मात्रा मे १२४९·८७ लाख रु० के मूल्य के दशमलवी सिक्के भी सम्मिलित थे। दशमलव सिक्को का यह मूल्य ३१ अक्तूबर, १९६० तक प्रचलन मे आये हुए सिक्को के लिए है।

३१. विनिमय-नियन्त्रण—युद्ध प्रारम्भ होने पर केन्द्रीय सरकार ने भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक को सिक्को, धातु-पिण्डो, प्रतिभूतियो और विदेशी विनिमय के लेन-देन सम्बन्धी नियमो को कार्यान्वित करने का अधिकार दिया।

विदेशी विनिमय का लेन-देन अधिकृत व्यापारी विनिमय बैंक तथा अनुज्ञा-प्राप्त सम्मिलित पूँजी वाली बैंक ही कर सकती थी। कुछ अपवादो को छोडकर साम्राज्य की करेन्सी के क्रय-विक्रय पर सामान्यत कोई प्रतिबन्ध नही लगाया गया, परन्तु साम्राज्य के बाहर की करेन्सियो का क्रय विक्रय व्यापारिक उद्देश्यो, यात्रा-व्यय और व्यक्तिगत विप्रेषण तक सीमित कर दिया गया। विनिमय नियन्त्रण की नीति इस बात को निश्चित करने के लिए थी कि भारत मे विदेशी विनिमय का सारा लेन-देन लन्दन विनिमय नियन्त्रण द्वारा उद्धृत दरो तथा स्टर्लिंग के लिए रुपये की चालू दरो के आधार पर किया जाए। विदेशियो से प्रतिभूतियो की खरीद पर भी नियन्त्रण लगाया गया और रिज़र्व बैंक की आज्ञा लिये बिना प्रतिभूतियो का निर्यात नही हो सकता था। इन उपायो का अभिप्राय भारत से पूँजी के निर्यात तथा युद्ध-जनित परिस्थितियो से प्रोत्साहित विनिमय सम्बन्धी परिकल्पना को रोकना था।

मई, १९४० मे सरकार ने विदेशी विनिमय को सुरक्षित रखने तथा रोक लगी वस्तुओ का बिना आज्ञा भुगतान रोकने के लिए आयात को अनुज्ञा प्रदान करने की पद्धति का प्रारम्भ किया। ये प्रतिबन्ध, जो प्रारम्भ मे वस्तुओ की छोटी सूची पर ही लागू थे, दूसरे वर्ष कनाडा की कुछ वस्तुओ को छोडकर सभी देशो की वस्तुओ पर लगा दिये गए। ये उपाय केवल विदेशी विनिमय के व्यय मे मितव्ययता प्राप्त करने के लिए ही आवश्यक नही थे, वरन् संयुक्तराज्य मे जहाजो मे स्थान तथा

उत्पादन-क्षमता सुरक्षित रखने के लिए भी आवश्यक थे, क्योंकि यूरोप से पूर्ति बन्द हो जाने के कारण इस देश से आयात बढ रहे थे। जापान के युद्ध मे उतर आने के बाद जहाज़रानी की स्थिति और भी खराब हो गई। अतएव अनुज्ञा (लाइसेंस) देने मे जहाजो मे स्थान की सुलभता पर अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। १९४२-४३ मे आयात की अदायगी से प्राप्त डालरो मे काफी कमी हुई। यह कमी प्रधानत मशीन और स्टील आदि के आयात के कारण हुई, जिसके लिए पहले बहुत अधिक मात्रा मे डालर की आवश्यकता होती थी तथा जो उधार-पट्टे के अन्तर्गत थे। इस प्रकार के माल का आयात करने वाले भारत सरकार को रुपये मे ही भुगतान कर देते थे और विदेशी विनिमय का कोई लेन-देन नही होता था। १९४४-४५ मे तत्कालीन विनिमय-नियन्त्रण पद्धति मे कोई परिवर्तन नही हुआ। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर वाली करेन्सियो की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा रहा और इन देशो को निर्यात की आज्ञा इस शर्त पर दी जाती थी कि प्राप्त राशि विदेशी विनिमय के अधिकृत व्यापारियो के हाथ बेची जाए। इस प्रकार देश के विदेशी विनिमय के साधनो की पूर्ण सुरक्षा और उनका उपयोग किया गया। यद्यपि पद्धति मे कोई परिवर्तन नही हुआ, तथापि विदेशी विनिमय की माँग के लिए अपनाई गई नीति मे परिवर्तन किया गया और देश के लिए महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले कामों के लिए विदेशी विनिमय को उदारतापूर्वक सुलभ किया जाने लगा।

आयात की घनीभूत माँग को पूरा करने और मुद्रास्फीति को समाप्त करने के साधन के रूप मे १९४५-४६ मे भारत सरकार ने आयात अनुज्ञा पद्धति (इम्पोर्ट लाइसेन्स सिस्टम) के अन्तर्गत, उपभोग की वस्तुओं का आयात का कोटा काफी बढा दिया। इससे विशेषकर संयुक्तराज्य के साथ भारत के (अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के) लेन-देन के सन्तुलन की अनुकूलता मे तेज़ी से कमी आ गई।

१९४५ मे युद्ध के समाप्त होने पर विनिमय-नियन्त्रण-नीति मे कोई परिवर्तन नही हुआ। जहाज़रानी की दशा म सुधार होने के कारण विनिमय-विचारो से अप्रभावित स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो के आयात पर लगे प्रतिबन्ध ढीले कर दिय गए, परन्तु संयुक्तराज्य के डालर के व्यय के सम्बन्ध मे कठोर मितव्ययता चलती रही।

३२ स्वर्ण के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध—ब्रिटिश भारत के अन्दर सोने के स्थानान्तरण पर कोई प्रतिबन्ध नही था, परन्तु स्वर्ण का आयात-निर्यात रिजर्व बैंक द्वारा दी गई अनुज्ञा के आधार पर ही हो सकता था। साधारणतया आयात के लिए अनुज्ञा दे दी जाती थी, परन्तु निर्यात की अनुज्ञा तभी मिलती थी जबकि सोना बैंक ऑफ इगलैण्ड को भेजा जाता हो। अमरीका भेजने के लिए अनुज्ञा उस समय दी जाती थी जब प्राप्त डालर बैंक ऑफ इगलैंड की ओर से फेडरल रिजर्व बैंक को बेच दिये जाएँ।

यद्यपि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के निर्गम विभाग (इश्यू डिपार्टमेंट) मे स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ १ सितम्बर, १९३९ को ५९ ५० करोड रुपया थी और १ सितम्बर,

१६४० को ये बढकर १३१·५० करोड रुपये हो गईं, परतु रिजर्व बैंक[1] के स्वर्ण-भण्डार मे कोई वृद्धि नही हुई तथा वह ४४ ४२ करोड रुपया ही रहा।[2]

३३. साम्राज्य का डालर सचय तथा युद्धोत्तर डालर कोष (अम्पायर डालर पूल एण्ड पोस्ट-वार डालर फण्ड)[3]—युद्ध से पूर्व बहुत-से देश, जो सामान्यतया स्टर्लिंग समूह के देश कहे जाते थे, अपने सम्पूर्ण विदेशी विनियम या उसका अधिकाश भाग स्टर्लिंग के रूप मे लन्दन मे रखा करते थे। उस समय स्टर्लिंग अन्य करेन्सियो मे स्वतन्त्रतापूर्वक परिवर्तनीय था, इसीलिए अपने-अपने विदेशी विनियम का स्टर्लिंग के रूप मे रखने वाले देश अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो को पूरा करने के लिए अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार उन्हे किसी भी करेन्सी मे बदल सकते थे। युद्ध के प्रारम्भ होने और स्टर्लिंग की परिवर्तनीयता की कठिनाई के साथ इस पद्धति मे कठोरता आ गई, जिसका पहले अनुमान ही नही किया गया था। स्टर्लिंग समूह के उन सदस्यो ने, जो स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य बने रहे, विदेशी विनिमय को अपने सरक्षण मे रखने का अधिकार छोड दिया तथा विदेशी विनिमय के व्यय पर प्रतिबन्ध लगाना तय किया ताकि स्टर्लिंग क्षेत्र के विदेशी विनिमय के सीमित साधनो का युद्ध चालू रखने के लिए भली प्रकार उपयोग किया जा सके। सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र के विदेशी विनिमय की राशि एक ही स्थान पर बैंक ऑफ इगलैड तथा ब्रिटिश ट्रेज़री के सरक्षण मे रखी हुई थी। इस सचय म डालर सबसे महत्त्वपूर्ण करेन्सी थी, अतएव इसका नाम स्टर्लिंग एरिया पूल ऑफ फारिन एक्सचेंज न होकर अम्पायर डालर पूल पड गया। साम्राज्य डालर सचय मे स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो द्वारा व्यय के लिए व्यक्तिगत रूप से विभिन्न विदेशी करेन्सियो का भाग निर्दिष्ट नही किया गया था।

भारत सरकार दुर्लभ करेन्सी के अर्जन और व्यय का हिसाब रखती थी। युद्ध के प्रारम्भ से ३१ मार्च, १६४६ तक भारत ने ४०५ करोड रु० के अमरीकी डालर का अर्जन किया और २४० करोड रुपये का डालर व्यय किया। इस प्रकार उसके पास १६५ करोड रुपये के डालर की बचत हुई, परन्तु अन्य दुर्लभ करेन्सियो (जैसे कनाडा, स्वीडन, स्विट्ज़रलैण्ड और पुर्तगाल) के सम्बन्ध मे भारत ने अर्जित राशि से ४१ करोड रुपये अधिक व्यय किये, इसलिए १६४५-४६ के अन्त तक सचय मे भारत का वास्तविक अशदान लगभग १२४ करोड रुपया था।

१६४६ मे जून तक खाद्यान्न के आयात तथा अन्य सरकारी मदो के भुगतान की अदायगी के लिए सचय से भारत ने काफी रुपया लिया।

---

१. स्टर्लिंग ऋण के भुगतान के लिए कुछ स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विवरण के लिए अध्याय ११ और १२ देखिए।

२. स्वर्ण का मूल्याकन २१ रुपया ३ आना १० पाइ प्रति तोला की दर पर ही किया गया, जबकि बाजार में ३१ मार्च, १६४७ को सोने का भाव १०३ रुपया ८ आना था।

३. यह सेक्शन अधिकाशत ■ अक्तूबर, १६४६ को भारत सरकार द्वारा प्रकाशित प्रेस नोट से उद्धृत किया गया है।

पोस्ट-वार डालर फण्ड नाम का एक और कोष था जिसने १६४४ के लिए संचय ने २०० लाख डालर दिया। १६४३-४४ में साम्राज्य डालर सचय के प्रति पर्याप्त प्रदान देने और संयुक्त राज्य को पारस्परिक सहायता देने की हमारी इच्छा के कारण राजाधिराज सरकार ने जापान के साथ युद्ध समाप्त होने पर संयुक्त राज्य म पूंजी व्यय के लिए २०० लाख डालर का एक पृथक् कोष भारत को दिया। इन उद्देश्यों के सारे व्यय को इसी कोष में पूरा किया जाता था और इसके समाप्त होने तक इस प्रकार के व्ययों के लिए संचय से डालर नहीं लिये जा सकते थे। यह २०० लाख डालर हमारे १६४४ के व्यापारिक खाते का प्रतिशत अंश था तथा राजाधिराज सरकार इस बात पर राजी हो गई कि १६४५ में हमारी अर्जित आय १६४४ के बराबर होने पर वह इस कोष में हमें अधिक-से-अधिक २०० लाख डालर १६४५ के वर्ष के लिए भी देगी। १६४५ के लिए राजाधिराज सरकार ने २०० लाख डालर देने की सूचना दी।

सरकार की आयात-नियन्त्रण नीति की आलोचना दो बातों पर आधारित थी—(१) आयात अनुज्ञा प्रदान करने वाला शासन-यन्त्र शिथिल और अकुशल था। (२) विनिमय नियन्त्रण की सख्ती के कारण आयातकर्ताओं के लिए मशीन और अन्य वस्तुएँ स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर से मँगाना बहुत कठिन हो गया। युद्ध की समाप्ति के कारण परिवर्तित परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत सरकार ने इस आशा के साथ आयात-नियन्त्रण के शासन में परिवर्तन किया कि आयात के लिए अनुज्ञा प्राप्त करने की विधि संक्षिप्त और सरल हो जाए। उन्होंने नियन्त्रित वस्तुओं की सूची से यथा-सम्भव वस्तुओं को हटाने और उन्हें स्टर्लिंग क्षेत्र के लिए अनुज्ञायुक्त (ओपन जनरल लाइसेन्स) करने की नीति अपनाई। कुछ अन्य वस्तुएँ पूर्णतया अनुज्ञायुक्त सूची (यूनिवर्सल ओपन जनरल लाइसेन्स) के अन्तर्गत रखी गईं, जिसका अर्थ यह था कि वस्तुओं का आयात स्वतन्त्रतापूर्वक स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्दर या बाहर कहीं से भी किया जा सकता था।

स्टर्लिंग क्षेत्रों में तुलनात्मक वस्तुओं के गुण, मूल्य और उन्हें प्राप्त करने की अवधि का ध्यान में रखते हुए अलभ्यता को निश्चित किया जाता था। अलभ्यता सिद्ध करने का भार आयातकर्ताओं से हटाकर सरकार को दे दिया गया, ताकि सरकार अपनी जाँचों से सन्तुष्ट हो सके कि बाहर से आयात की जाने वाली वस्तुएँ स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्दर सुलभ थीं अथवा नहीं। एक दूसरा परिवर्तन करेन्सियों को प्राप्त करने की कठिनाई के अनुसार उनको क्रमबद्ध करना तथा उन्हें प्राप्त करने की सरलता के अनुसार आयातों के लिए अनिवार्यता और अलभ्यता की कसौटियों को ह्रासमान कठोरता के साथ अपनाना था।

जुलाई १६४७ से स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों को भी सम्मिलित करने की दृष्टि से विनिमय-नियन्त्रण का क्षेत्र बढ़ा दिया गया। भौगोलिक निकटता तथा व्यापार के अनौपचारिक रूप के कारण अफगानिस्तान और पाकिस्तान के लिए यह नियन्त्रण फरवरी, १६५१ से लागू हुआ।

१९४७ के बाद विनिमय-नियन्त्रण मे कोई सरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) परिवर्तन नही हुए हैं, किन्तु पचवर्षीय योजनाओ के सदर्भ मे उसका अर्थ और आशय बदल गया है। प्रारम्भ मे विनिमय-नियन्त्रण युद्धजनित आवश्यकताओ को पूरा करने या युद्ध के समय लागू रोक (रेस्ट्रिक्शन) से उत्पन्न परिस्थितियो के लिए अपनाया गया था। यह स्थिति १९५० तक समाप्त हो गई। इसके पश्चात् विकास योजनाओ को पूरा करने के लिए, जो स्वभावत: कई वर्षों तक चलेंगी, विनिमय-नियन्त्रण आवश्यक हो गया। १९५७ तक आयात की चालू आवश्यकताओ को निम्नतम कर दिया गया था। विकास-सम्बन्धी आयात तथा विदेशी ऋण की अदायगी को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भविष्य मे भी विनिमय-नियन्त्रण का महत्त्व बना रहेगा। विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम, १९४७ के २५ मार्च १९४७ से लागू होने पर विनिमय-नियन्त्रण की व्यवस्था को स्थायी रूप मिल गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार और रिजर्व बैंक को भारत मे विदेशी विनिमय और विदेशी प्रतिभूतियो के नियन्त्रण और नियमन आदि का अधिकार मिला।

३४ साख संभरण तथा मुद्रा—१९६४ मे साख का सभरण जनता के पास ३६१ ३ करोड रुपया (१०·२%) बढ गया। मुद्रा का परिभ्रमण (रुपया तथा छोटे सिक्के) २८०२ १ करोड तक जा पहुँचा और इस प्रकार १९५२-६४ मे मुद्रा-परिभ्रमण १५२९ ६ करोड बढ गया (१२० ३%)। यह बढोतरी अधिकतर बैंक साख सरकार के प्रति है (फरवरी १९६६ मे परिसख्या बैंको का रिजर्व बैंको के पास जमा धन २९२२ करोड रुपया था)। दूसरे कारण मुद्रा बढने के ये थे—

(१) कुल (Net) बैंक साख निजी क्षेत्र मे।

(२) कुल विदेशी पूँजी की परिसम्पत्ति रिजर्व बैंक के पास बढना।

(३) सरकारी मुद्रा देयता जनता के लिए।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस मुद्रा सभरण मे नोटो तथा छोटे सिक्को का थोडा हाथ है और रुपयो का अधिक। पहली जून १९६४ को नये पैसे के स्थान पर पैसा शब्द निर्धारित किया और पैसे के सिक्के १ जुलाई १९६४ से चालू किये गए। अक्तूबर १९६४ से तीन पैसे वाले सिक्के भी पहली बार चालू किये गए। १४ नवम्बर १९६४ मे जवाहरलाल नेहरू की स्मृति मे ५० पैसे तथा एक रुपये के सिक्के जारी किये गए जो कि देश के वैधानिक रूप से चालू मुद्रा के अन्य सिक्को मे सम्मिलित कर लिये गए।

अध्याय २३

भारतवर्ष में मूल्य

१. १८६१ से हुए मूल्य-परिवर्तनों पर एक विहंगम दृष्टि—१८७३ को आधार वर्ष मानकर नीचे दी हुई तालिका १८६१ से मूल्य-परिवर्तनों की साधारण गति दिखा रही है।[1] सामान्य देशनाक (इण्डेक्स नम्बर) ३९ वस्तुओं के थोक-मूल्यों पर

वर्ष[1]	३९ वस्तुओं का सामान्य देशनाक (अभारित)[2]	भारित देशनाक (१०० वस्तुएँ) १८७३ में १०० के बराबर	वर्ष[3]	३९ वस्तुओं का सामान्य देशनाक (अभारित)	भारित देशनाक (१०० वस्तुएँ) १८७३ में १०० के बराबर
१८६१	९०	९३	१९२४	२२१	२५७
१८६५	१०७	१०९	१९२६	२१६	२६०
१८७०	१०२	१०७	१९२७	२०२	—
१८७५	९४	९६	१९२८	२०१	—
१८८०	१०४	१०९	१९२९	२०३	—
१८८५	८७	१०६	१९३०	१७१	—
१८९०	१००	११७	१९३१	१२७	—
१८९५	१०४	१२०	१९३२	१२६	—
१९००	११६	१४३	१९३३	१२१	—
१९०५	११०	१३५	१९३४	११९	—
१९१०	१२२	१५०	१९३५	१२७	—
१९१४	१४७	१८७	१९३६	१२५	—
१९१८	२२५	२१५	१९३७	१३६	—
१९१९	२७६	३०१	१९३८	१३२	—
१९२०	२८१	३०२	१९३९	१४२	—
१९२१	२३८	२७३	१९४०	१६३	—
१९२३	२१५	२४६	१९४१ (फरवरी)	१७४	—

१. १८७३ को आधार वर्ष इसलिए चुना गया है, क्योंकि उस वर्ष ऋतु सामान्य थी तथा उसी वर्ष से चांदी और उसके परिणामस्वरूप रुपये का अवमूल्यन प्रारम्भ हुआ।

२. देखिए, इण्डेक्स नम्बर आफ इण्डियन प्राइसेज, १८६१-१९३१ तथा वार्षिक परिशिष्ट। उपर्युक्त तालिका के तीसरे तथा छठे खाने में दिये हुए देशनाक इण्डियन फाइनेन्स डिपार्टमेण्ट के एफ० जी० एटकिन्सन द्वारा संकलित किये गए थे। १९०९ के बाद के देशनाक उनके आधार पर डिपार्टमेण्ट ऑफ स्टेटिस्टिक्स ने संकलित किये।

३. सन् १९३७ से एक वस्तु आयात की हुई वस्तुओं की सूची से निकाल दी गई है।

४. सन् १९४२-४३ से (१९ अगस्त, १९३९ सप्ताह की समाप्ति पर = १००) थोक-मूल्य के देशनाक

आधारित है (जिनमे से २८ निर्यात की तथा ११ आयात की वस्तुएं है)। खाद्यान्न अर्थात् ज्वार, बाजरा, जौ, राई और चना को छोडकर उपर्युक्त वस्तुओ के १८९७ से पहले के थोक-मूल्य प्राप्त नही हैं।

चूंकि १८७३ को आधारवर्ष मानकर बताया गया अखिल भारतीय देशनाक पुराना पड गया है, अत बम्बई और कलकत्ता की थोक कीमतो के अको की ओर निर्देश किया जाता है। अब १८७३ का आधार वर्ष तुलना के लिए उचित नही कहा जा सकता। इसी प्रकार वस्तुओं का सापेक्षिक महत्त्व भी घट-बढ गया है।

२ १८६१ से १८९३ तक—इस काल मे कीमतो का सामान्य चढाव-उतार निम्न-प्रकार है—(१) **चढती हुई कीमतें १८६१-६**—अमरीकी गृह-युद्ध के कारण कपास की कमी हो गई। इस प्रकार चढी कीमतो के कारण भारत मे बहुत स्वर्ण आया और चाँदी के सिक्को का टकन खूब हुआ जिससे कीमतें बढ गईं। इस प्रकार भारत के मूल्य-स्तर पर प्रथम बार बाह्य कारणो का प्रभाव स्पष्ट हुआ। (२) **गिरते हुए मूल्य १८६६-८३**—१८७६ से १८७९ तक दुर्भिक्ष के कारण खाद्यान्नो के मूल्य मे हुई आकस्मिक वृद्धि के अतिरिक्त इस काल की कीमतें गिरती रही। मूल्यो का यह गिराव १८७४ मे पाश्चात्य देशो की कीमतो की निम्नगामी प्रवृत्ति का प्रतिरूप मात्र था। स्वर्ण के उत्पादन मे शिथिलता, रजत प्रमाप के देशो द्वारा स्वर्ण प्रमाप अपनाना, चाँदी का स्वतन्त्र टकन बन्द होने से रजत करेन्सी के प्रसार मे रुकावट, बैंकिंग का शिथिल विकास, भाडे मे कमी हो जाने से व्यापार का प्रसार, और उत्पादन-विधि मे सुधार आदि इसके कारण थे।[1] (३) **बढती हुई कीमतें १८८३-९३**—पश्चिम के स्वर्ण प्रमाप देशो की अपेक्षा भारत मे गिरती हुई कीमते शीघ्रता से रुक गईं। इसका कारण रुपये का अवमूल्यन था। यह स्वीकार करना होगा कि हालांकि स्वर्ण की तुलना मे चाँदी का मूल्य १८७४ से ही घटने लगा था, किन्तु उत्पादन मे सामान्य वृद्धि के कारण १८८३ तक कीमते गिरती ही रही। १८८५ के बाद जब रजत का उत्पादन वस्तुओ के उत्पादन से निश्चित रूप से बढ गया तो कीमते बढने लगी। १८९३ से १८९९ के अल्प मध्यान्तर को छोडकर १९२० तक ऐसा ही रहा।

३ मूल्य जाँच-समिति (मूल्य १८९० से १९१२)—१९१० म भारत सरकार न दत्ता समिति नियुक्त की। इसका काम मूल्यो की लगातार वृद्धि के कारणो का पता लगाना था। इसने छानबीन के लिए १८९० से १९१२ तक का समय चुना। इस

इस प्रकार थे

१९४२-४३	१७१	१९४७ (मार्च)	२९२ [illegible]
१९४३-४४	२३६ ५	१९४८ (अप्रैल)	३४८
१९४४-४५	२४४ २	१९४९ (मार्च)	३७० ७
१९४५-४६	२४४ ९	१९५० (अक्तूबर)	४११ ४
१९४६-४७	२७५ ४		

१. देखिए, इरविंग फिशर, 'परचेजिंग पॉवर ऑफ़ मनी', पृ० १४२।

कालावधि मे समस्त भारत मे सामान्य रूप से मूल्य बढ रहे थे। १९०५ से यह वृद्धि स्पष्टत लक्षित हुई, विशेषकर चमडा, खाद्यान्न, निर्माण सामग्री, तिलहन इत्यादि मे, जिनमे ४०% से भी अधिक वृद्धि हुई। कपास और जूट मे क्रमश ३३% और ३१% वृद्धि हुई, जबकि अन्य सामग्रियो—खाद्यान्न, धातुए तथा अन्य कच्चे और निर्मित माल के मूल्य २५% तक बढ गए। देशी चीनी मे थोडी-सी वृद्धि हुई, लेकिन इसके विपरीत चाय, कहवा, आयात की हुई चीनी, सोने और सिआने के सामान, विशेष रूप से नील, कोयला, लाख आदि की कीमतो मे काफी कमी हुई। कपडो की कीमतें थोडी सी गिरी। मूल्यो की वृद्धि भारत मे सबसे अधिक थी। यदि १९०७-११ के पचवर्षीय काल के मूल्य-स्तर की तुलना १८९४-९८ के पचवर्षीय मूल्य स्तर से की जाए, तो भारत की कीमतो मे ४०% वृद्धि हुई, जबकि इसी समय मे इगलिस्तान मे २१%, अमरीका मे ३८% और आस्ट्रेलिया मे २०% वृद्धि हुई।

४ १९१४-१८ के युद्ध से पूर्व मूल्यों की वृद्धि के कारण—मूल्य जाँच समिति ने कारणो को दो वर्गों मे विभाजित किया—(१) विशेष रूप से भारतीय कारण और (२) ऐसे कारण, जो भारत तक ही सीमित न थे अर्थात् विश्वव्यापी कारण, हालाँकि उन्होंने स्वीकार किया कि ये दोनो कारण एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

(१) विशेष रूप से भारतीय कारण—(क) कृषि उत्पादनो, विशेषकर खाद्यान्न एव कच्चे माल की कमी,[1] (ख) इन वस्तुओ की माँग मे वृद्धि, (ग) भारत मे रेलवे तथा अन्य सचार-साधनो मे विकास और प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से भारत तथा उसके बन्दरगाहो और विदेशो के बीच परिवहन लागत मे कमी, सामान्य रूप से बैंकिंग सुविधाओ, द्रव्य और साख इत्यादि में सुधार, (घ) करेन्सी के आकार मे वृद्धि।

(२) विश्व-व्यापी कारण—इनमे (क) दुनिया के बाजारो मे प्रधान वस्तुओ की पूर्ति मे कमी और माँग मे वृद्धि, (ख) दुनिया की खानो से सोने की अधिक पूर्ति, (ग) साख का विकास, (घ) विनाशकारी युद्ध तथा थल और जल-सेना म वृद्धि, जिससे पाश्चात्य देशो और सयुक्त राज्य म श्रम और पूँजी अनुत्पादक मार्गों मे लगाई जाने लगी। इससे कितनी ही प्रकार की सामग्रियो की माँग भी बढ गई। १८९३ मे रजत प्रमाप का परित्याग करने के कारण भारत भी शेष दुनिया के साथ मुद्रा-मान (करेन्सी गेज) के प्रवाह म आ गया और असदिग्ध रूप से दुनिया मे होने वाली कीमतो के परिवर्तन का भागी बना।

१९०८ मे विशेषज्ञ श्री हैरिसन ने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल मे इस मत को प्रकट किया कि अधिक टकन के कारण ही कीमतें ऊँची उठी हैं। १८९८ मे गोखले ने भारत मे रुपये का भण्डार १३० करोड रु० अनुमानित किया था। विगत दस वर्षो मे सरकार ने लगभग १०० करोड रुपयो का और टकन किया। इस प्रकार की आक-

१. समिति के मत में इस कमी के कारण (क) जनसख्या के साथ किसी भी उत्पादन का न बढना, (ख) अनिश्चित वृष्टि, (ग) खाद्य फसलों के स्थान पर अखाद्य फसलों का प्रतिस्थापन और (घ) जुताई के लिए ली गई जमीन की हीनता थे।

स्फिक स्फीति का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि कीमतें बढ जाएँगी। सरकार द्वारा निर्गमित रुपये देश के आन्तरिक भाग मे वास्तविक क्रेताग्रो के हाथो मे पहुँच जाते हैं, लेकिन वे शीघ्रता से व्यापार केन्द्रों या बैंको की ओर नही बहते। इस प्रकार सौदो के लिए नये रुपयो की आवश्यकता पडती है, जिसके लिए पुराने रुपये ही पर्याप्त होते। इसी बीच रुपयो का गलाना बन्द हो गया, क्योंकि रुपया अब चाँदी का नही रहा और उसका कृत्रिम विनिमय-मूल्य वास्तविक मूल्य से कही अधिक हो गया, अतएव प्रत्येक निर्गम करेन्सी के आकार को प्रसारित करता है।[1] १९०३-७ के प्रत्येक वर्ष मे मुद्रा की अनुमानित वृद्धि और मूल्य-स्तर मे बडी ही समानता थी।

५. पूर्व अवसाद-काल तथा युद्ध-काल (१९१४-१८) मे मूल्य—पूर्व युद्ध-काल मे—१९१४ से १९२०—विशेपकर इस अवधि के उत्तरार्ध मे युद्ध-जनित परिस्थितियो के कारण मूल्यो मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई। किन्तु भारत मे अन्य देशो, विशेपकर युद्ध मे सलग्न देशो, की अपेक्षा कीमतें कम बढी। विदेशी मूल्यों की वृद्धि साधारणत: आयात की कमी और निर्यात के प्रसार से ठीक की जा सकती थी। तज्जनित स्वर्ण के आयात से भारत की आन्तरिक कीमतें इतनी अवश्य बढती कि वे बाह्य कीमतो के बराबर हो जातीं। किन्तु सरकार द्वारा सोने के आयात और वस्तुओ के निर्यात पर लगाये गए प्रतिबन्धो तथा युद्धकालीन कीमतो के नियन्त्रण के कारण यह व्यवस्थापन सम्भव न हो सका। यही कारण था कि भारत अधिक सुरक्षित कोप का निर्माण न कर सका और युद्धकालीन समृद्धि के अनन्तर मन्दी आने पर प्रतिस्पर्धी सामग्रियो का आयात करने वालो की तुलना मे घाटे मे रहा। फिर सरकारी हस्तक्षेप के अभाव मे विनिमय पहले ही और अधिक शीघ्रता से ऊपर उठ गया होता। इसमे आयात को प्रेरणा मिलती तथा आयात की कीमतो मे वृद्धि भी अपेक्षाकृत कम होती। भारत को अपने निर्यात का अधिक मूल्य मिलता और वह युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण का खर्च आसानी से प्राप्त कर सकता, किन्तु विनिमय की स्वतन्त्रता के कारण युद्ध की नाजुक स्थिति के समय व्यापारिक विस्थापन के भय से भारत सरकार ने हस्तक्षेप करना उचित समझा।

१९१४-१८ मे भारत मे प्राय सभी कीमतें बहुत ऊँची हो गईं। युद्ध प्रारम्भ होने के बाद १९१९ मे खाद्यान्न के मूल्य ९३% बढ गए। आयात किये हुए कपडो तथा भारत मे बने कपडे के मूल्यो मे क्रमश १९०% तथा ६०% वृद्धि हुई। हम पहले ही कह आए है कि आयात की गई वस्तुओ—कपडा, लोहा, इस्पात, चीनी, रग आदि—का मूल्य निर्यात सामग्रियो से कही अधिक ऊँचा उठा। जहाजो मे स्थान की कमी और निर्यात पर लगे सरकारी नियन्त्रण के कारण मूल्यो की वृद्धि भी कुछ हद तक रुक गई।

६. मुद्रा-स्फीति—हम पहले ही देख चुके है कि १९१४-१८ का युद्ध प्रारम्भ होने के कुछ समय बाद तक व्यापारिक सन्तुलन भारत के पक्ष मे था। इसी समय खजाने के आयात

१. देखिए, श्री गोखले के भाषण, पृ० १५०।

मे भी काफी कमी हो गई। इस प्रकार निर्यात व्यापार की सारी जिम्मेदारी सरकार पर पड़ी। इस आर्थिक कमी को सरकार ने अधिक नोट छापकर पूरा किया। व्यापार की मात्रा मे वृद्धि की अपेक्षा सब प्रकार की मुद्रा मे बहुत अधिक वृद्धि हुई। सरकार द्वारा अपनाई गई युद्ध के अर्थ-प्रबन्ध की पद्धति से मुद्रा-स्फीति को और भी बल मिला। युद्ध के विशाल खर्च को पूरा करने के लिए सरकार ने अप्रत कर और कर्ज से रुपया प्राप्त किया तथा अप्रत नोट छापे। सरकार द्वारा लिये गए युद्ध-ऋणो मे भी मुद्रा-स्फीति बढी। ऋण का अल्पाश ही जनता की वास्तविक बचत से प्राप्त हुआ। शेष ने बैंक साख और निक्षेप का रूप धारण किया। बैंको ने सरकार की ओर से भी अपने उन ग्राहको की ओर से, जो युद्ध ऋण देना चाहते थे, चेक दिये।[1] भारत सरकार द्वारा जारी किये गए अल्पकालीन ट्रेजरी बिल भी, जो आय-व्ययक के घाटे को पूरा करने के लिए प्रचलित किये गए थे, तथा युद्ध बन्ध-पत्र (वार फण्ड) भी मुद्रा-स्फीति के कारण सिद्ध हुए, क्योंकि बैंक उनकी सुरक्षा पर निर्भय ऋण दिया करते थे। इस प्रकार बैंको के निक्षेप मे भारी वृद्धि हो गई। उनके प्रचलन की गति[2] भी तीव्र हो गई। इससे क्रय शक्ति की वृद्धि हुई और कीमतें ऊँची उठी।[3] अन्य कारण भी थे जिनसे कीमतें बढी—उदाहरणार्थ युद्ध-वर्षों मे रोलिंग स्टॉक की कमी १९१८-१९ तथा बाद मे १९२० मे भी मानसून की असफलता। १९२० मे कीमतें चरम शिखर पर जा पहुँची।

७. ऊँची कीमतो का प्रभाव—मूल्य जाँच समिति के मत मे युद्ध (१९१४-१८) के पूर्व मूल्यों मे हुई वृद्धि से देश को लाभ ही हुआ। सरकार ने भी इससे सहमति प्रकट की, जबकि १९१४ म उन्होंने समिति की रिपोर्ट पर प्रस्ताव पास किया। समिति के अनुसार भारत एक ऋणी देश था, अत उन वस्तुओ के मूल्य बढ जाने से उसे लाभ ही हुआ जिनका निर्यात वह अपने दायित्वो की पूर्ति के लिए किया करता था। अब वह वस्तुओ की थोडी मात्रा निर्यात करके अपने विदेशी दायित्वो की पूर्ति कर सकता था, किन्तु इन बढती हुई कीमतो के विरुद्ध हमे आयात के बढते हुए खर्च और बढती हुई उत्पादन लागत का भी ध्यान रखना होगा। लकिन यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि मुद्रा-प्रसार से उत्पन्न हुई ऊँची कीमतो की परिधि अपने-आपमें कोई ऐसे स्थायी लाभ प्रदान कर सकती है, जो उसकी सर्वविदित हानियो को दूर कर सकें। जोशी का मत इस सम्बन्ध मे अत्यन्त पुष्ट है कि "धन तथा समृद्धि की वृद्धि राष्ट्र और व्यक्तियो मे एक ही प्रकार से आती है। यह वृद्धि न तो रुपयो के ढेर से और न कीमतो की वृद्धि से ही आती है, जो (कीमतो की वृद्धि) भारत मे फसल की कमी, मानसून की असफलता तथा दुर्भिक्ष के कारण होती है। देश की वास्तविक समृद्धि औद्योगिक क्रियाशीलता, कुशलता और कार्य क्षमता तथा पूँजी के उत्पादक

---

१ फर्नन्दिवर, 'दि इकनामिक कान्सिक्वेंसिज आफ दि वार', पृ० ३१७-१८।

२ देखिए, अध्याय ११।

३. देखिए, फिनले शिराज, पब्लिक फाइनेन्स, पृ० २३२ और ४१०-११।

प्रयोग से होती है ।'[1] १९१४-१८ के पूर्वकाल के लिए कीमतो तथा पारिश्रमिक की गतिविधि से श्रीमती वेरा एन्स्टे[2] ने राष्ट्रीय समृद्धि के सम्बन्ध मे कुछ निष्कर्ष निकाले हैं । उनका कहना है कि इस प्रकार से निकाले गए निष्कर्ष विभिन्न तिथियो पर तथा अनुमानित राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी आँकडो के निष्कर्षो से अधिक विश्वसनीय हैं जिनकी चर्चा अध्याय ४ मे की जा चुकी है । यह ध्यान मे रखना चाहिए कि मूल्य-परिवर्तनो की छानबीन स्वत धन-उत्पादन की प्रगति या गतिरोध या प्रगतिगामिता का कोई अनुमान नही दे सकती । इससे केवल इस बात का पता लगता है कि विभिन्न वर्गों मे वितरित धन कीमतो के स्तर के परिवर्तन से किस प्रकार प्रभावित होता है । इसके अतिरिक्त राष्ट्र के होने वाले लाभ या हानि के निष्कर्ष विभिन्न वर्गों के कल्याण की सापेक्षिक महत्ता-सम्बन्धी सन्दिग्ध मान्यताओ पर आधारित है । यह कहा जाता है कि भारत के अधिकाश व्यक्ति उस वर्ग के हैं जो कीमतो के बढ जाने से लाभान्वित होते है । ऋणी वर्ग इस लाभ के योग्य है । यद्यपि उनका लाभ कर्ज देने वाले वर्ग की हानि होती है, परन्तु यह शोचनीय नही है क्योकि ऋण देने वाले खून पीने वाली जोक के समान होते है । किन्तु इस प्रकार का 'योग्य'-'अयोग्य' वर्ग-सम्बन्धी विभाजन अनुचित है । सब वर्गों की समृद्धि ही वास्तविक राष्ट्रीय समृद्धि है । साथ ही कठिनाई यह है कि कितने ही व्यक्ति ऋणी और साहूकार दोनो ही हैं तथा सम्पूर्ण ऋणदाता-वर्ग की भर्त्सना भी अनुचित है । श्रीमती एन्स्टे के मतानुसार प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व के मूल्य-परिवर्तनो से देश के अधिकाश किसान अवश्य ही लाभान्वित हुए होगे, क्योकि निर्यात की सामग्री, जिन्हे किसान बेचता है, उदाहरणार्थ जूट (४३%), चमडा और खाल (५९%), तिलहन (४५%), और खाद्यान्न (४२%) के मूल्यो मे अधिक वृद्धि हुई । इसके विपरीत आयात सामग्री मे अपेक्षाकृत कम वृद्धि हुई । उदाहरणार्थ कपडे की सामग्री (२५%), धातु (२०%), चीनी (९%), मिट्टी का तेल (कोई परिवर्तन नही), और नमक मे ३०% कमी हुई । इस प्रकार की वस्तुओ के मूल्यो के सापेक्षिक परिवर्तन से निश्चय ही किसानो को लाभ पहुँचता है ।

युद्ध-काल मे आयात-मूल्य निर्यात की अपेक्षा अधिक बढे । परिणामस्वरूप किसानो का व्यय आय से अधिक होने लगा । इसे सभी स्वीकार करते हैं कि इससे कृषक-वर्ग को हानि हुई । यहाँ इस साधारण मत का खण्डन होता है कि कीमतो की वृद्धि से भारतीय जनता के अधिकाश को अवश्य लाभ होता है ।

८. किसानो पर प्रभाव—ऐसा कहा जाता है कि गाँव मे जमीन वाले और सामान्यत ग्रामीण वर्ग कृषि-उत्पादनो के मूल्योकी वृद्धि से अवश्यमेव लाभान्वित होते हैं । लेकिन यह स्पष्ट है कि जिनके पास बेचने के लिए सामग्री बचती होगी केवल उन्ही को लाभ होगा और यह लाभ तभी होगा, जबकि उनके द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओ का

१. जोशी, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्ज, पृ० ६१० ।
२. दि इकनामिक डिवेलपमेंट ऑफ इण्डिया, पृ० ४४५ ।

मूल्य उनके द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं के अनुपात मे नहीं बढ़ता। भारत मे कृषकों को होने वाला लाभ मध्यस्थों द्वारा हड़प लिया जाता है। फलत ऊँची कीमतो से किसानो की आर्थिक दशा मे कोई उन्नति नही होती। हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि अपनी भूमि या लम्बे पट्टे की जमीन के किसान, जो अपने श्रम पर निर्भर रहते हैं तथा, जिनके पास बेचने के लिए कुछ बचता है, ऊँचे मूल्यो से लाभान्वित होते हैं, परन्तु यह बात दूसरो से लगान पर भूमि लेने वाले कृषकों या श्रमिकों से मजदूरी पर काम कराने वालों पर लागू नहीं होती।

श्री दत्ता के अनुसार ग्रामीण मजदूरों की मजदूरी १९१४-१८ के युद्ध मे फुटकर कीमतो से अधिक बढ़ी। ग्रामीण क्षेत्रों मे यह वृद्धि ३८% थी। इस प्रकार युद्ध और युद्धोत्तर-काल मे ग्रामीण मजदूरी और कीमतों मे व्यवस्थापन होता रहा। १९२१ के बाद कीमतो के घटने पर ग्रामीण मजदूरो की वास्तविक मजदूरी मे वृद्धि हुई।

१९२६ के बाद ग्रामीण क्षेत्रों मे मजदूरी घटने लगी। १९२९-३३ की आर्थिक मन्दी मे इसकी गति और तीव्र हो गई। मजदूरी बड़ी तेजी से घटी, हालांकि खाद्यान्नो एवं जीवन की अन्य आवश्यक सामग्रियों का मूल्य भी कम हो गया।

लगान पर कीमतो की वृद्धि के प्रभाव के सम्बन्ध मे सुरक्षित या सुविधा-प्राप्त तथा अरक्षित वर्ग के किसानो मे भेद करना आवश्यक होगा। दखीलकार (मौरूसी) किसानों (जो पहले वर्ग के किसानो का उदाहरण है) का लगान धीरे-धीरे बढ़ेगा, जबकि अरक्षित किसान के लगान में अधिक वृद्धि होगी।

९ उद्योगो पर प्रभाव—(१) दस्तकारी—हम देशी दस्तकारी मे लगे व्यक्तियों के आर्थिक पतिराष की चर्चा कर चुके हैं। इसका कारण मशीनो से बनी वस्तुओं की होड थी। कीमतो के बढ़ जाने से यह होड भी बढ़ गई। इससे दस्तकारो की दशा और खराब होती गई। (२) पूंजीपति-निर्माता—१९१४-१८ के युद्ध के पहले और बाद मे निर्माताओं को असंदिग्ध रूप से लाभ हुआ। लेकिन ये लाभ उच्च लाभांशों के वितरण मे समाप्त हो गए और इनसे सुरक्षित कोष नहीं बनाया जा सका। परिणामों पर ध्यान न देकर आगे बढ़ने रहने का दण्ड उन्हे भुगतना पड़ा।

१०. ग्रामीण क्षेत्रों तथा नगरों के श्रमिक—१९१४ के पहले वास्तविक और नकद मजदूरी बढ़ी। गाँवो मे वृद्धि ३८% और नगरों मे २८% रही। १९१७-२० के बीच कीमतो मे तीव्रता से होने वाली वृद्धि के कारण हड़तालो की महामारी फैल गई। कितनी ही दशाओं मे दंगे हुए और बाजार तक लूट गए। किन्तु १९२१ के बाद औद्योगिक श्रमिको की दशा निश्चित रूप से सुधरने लगी, मजदूरी भी बढ़ी और रहन सहन का खर्च भी कम हुआ। किन्तु मन्दी के दिनो मे फिर उद्योग की हालत खराब हो गई। मजदूरी घट गई, व्यापक रूप से बेकारी फैली और श्रमिक वर्ग को बड़ा कष्ट हुआ। १९३८ मे आंशिक सुधार हुआ। बम्बई मे मजदूरो की कटौती बन्द कर दी गई तथा कुछ अन्य प्रान्तो मे भी ऐसा ही किया गया (देखिए अध्याय ३)।

११. स्थिर आमदनी वाले व्यक्तियों पर प्रभाव—कीमतों के ऊँची होने से सबसे अधिक कष्ट स्थिर आमदनी के व्यक्तियों—क्लर्कों, पेन्शन वालों, निम्न श्रेणी के सरकारी और व्यावसायिक कर्मचारियों, प्रतिभूतियों तथा लाभांशों की आय पर निर्भर करने वालों तथा पेशेवर लोग, जिनकी फीस निश्चित थी—को हुआ। ये वर्ग—जिन्हें सामूहिक रूप से मध्य वर्ग कहा जाता है—कीमतों के ऊँची होने पर कष्ट उठाते हैं। कारण यह है कि इनकी आमदनी तो स्थिर होती है, किन्तु अन्न, वस्त्र, प्रकाश, किराया-मकान तथा उनके द्वारा रखे जाने वाले मजदूरों की मजदूरियाँ आदि सभी बढ़ जाती हैं।

१२ अवसाद और उसके बाद के समय में मूल्य—१९२० में चरम शिखर पर पहुँच कर कीमतें १९२१ में घटनी शुरू हुईं। कुछ समय तक इंगलिस्तान में प्रक्रिया भारत से तीव्रतर थी। इससे सरकार की रुपये के मूल्य को दो शिलिंग पर स्थिर करने की नीति खतरे में पड़ी। १९२० में रिवर्स-कौंसिल के विक्रय तथा तज्जन्य मुद्रा-सङ्कुचन के कारण कीमतें घटीं। १९२०-२१, १९२१-२२ के प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन के परिणामस्वरूप भारत से स्वर्ण का निर्यात हुआ।

विश्व आर्थिक-मन्दी के काल में कीमतों की अधोमुखी गति और तीव्र हो गई। विश्व-मन्दी अक्तूबर, १९२९ में अमेरिका में वॉलस्ट्रीट पतन के साथ प्रारम्भ हुई।[1] इससे सभ्य जगत् का कोई कोना न बच सका, यह नीचे की तालिका से स्पष्ट है। प्राथमिक (कृषि) वस्तुओं की कीमतें निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा अधिक गिरीं और भारत जैसे औद्योगिक देश ब्रिटेन और अमरीका-जैसे औद्योगिक देशों की अपेक्षा अधिक बुरी तरह प्रभावित हुए। कलकत्ता का थोक मूल्य देशनाक (जुलाई १९१४=१००) सितम्बर, १९२९ में १४३ था। सितम्बर, १९३१ में जब ब्रिटेन ने स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग किया तो देशनाक ९१ हो गया, अर्थात् युद्ध-पूर्व काल के अंक से भी नीचे चला गया। रुपया उस समय पौण्ड से सम्बद्ध था। उसकी प्रतिक्रियास्वरूप मूल्य-स्तर दिसम्बर, १९३१ में ९८ हो गया। १९३२ में यह लाभदायक स्थिति न रही। कीमतें नीचे गिरीं। देशनाक दिसम्बर, १९३२ में ८८ और मार्च में ८२ हो गया। लेकिन इसके पश्चात् मूल्य-स्तर स्थिर हो गया। क्रमिक आर्थिक पुनरुत्थान भारत में भी होने लगा। अप्रैल, १९३३ से १९३७ तक मूल्यों का आंशिक पुनरुत्थान हुआ। अगस्त, १९३७ तक जब कलकत्ता देशनाक १०५ हो गया, कीमतें ११ दरजा ऊँची उठ गईं। यह वृद्धि विश्वजनीन शस्त्रीकरण का परिणाम थी। इसमें समृद्धि-दशा और सट्टेबाजी ने भी योग दिया। इस आंशिक पुनरुत्थान को अमरीका तथा अन्य देशों में होने वाली व्यापारिक विश्रान्ति (प्रत्यावर्तन) से धक्का पहुँचा (१९३७ के मध्य में)। इसका भारत के मूल्यों पर बुरा प्रभाव पड़ा। विश्व के बाजारों के साथ कलकत्ता के बाजार का मूल्य देशनाक भी गिरने लगा और १९३८ के अप्रैल में निम्नतम स्तर पर पहुँच गया। जून, १९३८ तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जुलाई, १९३८ से

१. देखिए अध्याय, ६, ७।

जनवरी, १९३१ तक देशनाक ९५ रहा। धीरे-धीरे मई, १९३९ तक बढकर यह १०१ हो गया। इसका कारण चीनी, चाय, कच्चे जूट और निर्मित जूट की स्थिरता थी। जुलाई मे देशनाक बढकर १०० हो गया जबकि युद्ध की छाया तथा राजनीतिक अस्थिरता के बादल यूरोप मे छा गए थे। अगस्त तक कोई परिवर्तन नही हुआ, यद्यपि युद्ध के चिह्न क्षितिज पर दृष्टिगोचर होने लगे थे। इस प्रकार कलकत्ता का देशनाक १०० पर स्थिर रहा, जैसा कि प्रथम युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व १९१४ में था।

उदाहरण के लिए १९२९ के शिखर से मन्दी के निम्नतम गर्त तक प्रतिशत कमी भारत मे ४४ ३, ब्रिटेन मे ३० ४, अमेरिका मे ३८, आस्ट्रेलिया मे २८ ५ और जापान मे ३५·५ थी। अमेरिका मे मार्च, १९३३ मे भयकर पतन के बाद परिस्थिति धीरे-धीरे सुधरने लगी। देश के थोक मूल्य-स्तर मे १९३५ मे ८ दरजे की वृद्धि हुई। इसके कारण डॉलर का अवमूल्यन, राष्ट्रीय पुनरुत्थान प्रशासन (नेशनल रिकवरी एडमिनिस्ट्रेशन) और कृषि व्यवस्थापन प्रशासन (एग्रीकल्चरल एडजस्टमेण्ट एड-मिनिस्ट्रेशन) थे। १९३१ मे स्वर्ण प्रमाप त्यागने वाले जापान में, विशेषकर १९३५ से ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति लक्षित होने लगी। स्वर्ण प्रमाप दल के सबसे महत्त्वपूर्ण देश फ्रास मे मूल्यो की गति अधोगामी रही, यहाँ तक कि फ्रैंक के अवमूल्यन के बाद सितम्बर, १९३६ के अन्त मे उसे भी स्वर्ण प्रमाप त्यागना पडा। इसके बाद फ्रास की कीमतें भी शीघ्रता से बढी। पुनरुत्थान-काल मे भारत की कीमतें अन्य देशो के बराबर नही बढी। देशनाक का उच्चतम बिन्दु १९३७ मे ७५ था (१९२९=१००) जबकि इगलिस्तान का ९७·५ और सयुक्तराज्य का ९१·८ था।

भारत म मूल्यो के गिराव का एक गम्भीर पहलू निर्मित और कच्चे माल की कीमतो की विषमता थी। यह निर्यात और आयात की वस्तुओ के देशनाको से स्पष्ट है, जिनम क्रमश प्रधानतया कच्चा माल तथा निर्मित वस्तुएँ होती थी। १९३२ के मार्च मे सितम्बर, १९२९ की अपेक्षा कलकत्ता देशनाक के अनुसार निर्यात-वस्तुओ[1] का मूल्य ५१% गिरा, जबकि आयात-वस्तुओ का मूल्य २७% ही गिरा। इस विषमता से कृषि प्रधान वस्तुओ का विनिमय करने वाले भारत को अधिक हानि हुई। १९३६ के बाद मूल्यो के आशिक पुनरुत्थान-काल मे निर्मित वस्तुए धीरे-धीरे निर्यात वस्तुओ के साथ सन्तुलन स्थापित करने लगी। यह इससे स्पष्ट है कि निर्यात-मूल्य मार्च १९३७ मे ३१% कम हुए, जबकि आयात-सामग्रियो का मूल्य २१% ही घटा (आधार-वर्ष १९२९)। इस प्रकार दोनों के बीच का अन्तर ४०% ही रह गया। भारत की आर्थिक व्यवस्था पर इसका लाभकारी प्रभाव पडा, किन्तु इस कृषि और उद्योग-वस्तुओ के मूल्यो का सन्तुलन फिर आर्थिक विश्रान्ति-काल म नष्ट हो

१. १९३०-३३ में कृषि के प्रधान उत्पादन चावल, गेहू, जौ, जूट, तिलहन और कपास के मूल्यों में भयकर कमी हुई।

गया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राथमिक (कृषि) वस्तुएँ मूल्य-परिवर्तन-चक्र से शीघ्र प्रभावित होती हैं।

१३. मूल्यों के घटने के कारण और प्रभाव—मूल्यों के विश्वव्यापी गिराव के कारण द्राव्यिक और अद्राव्यिक दोनों थे। चीन, भारत और दक्षिणी अमेरिका में राजनीतिक अशान्ति होने के कारण मन्दी की दशा और भयकर हो गई। हम पहले ही कह आए हैं कि रुपये का मूल्य १ शि० ६ पेंस कर देने से भारत की कीमतें गिर गईं। यह असन्तुलन की प्राथमिक अवस्था की बात है। इससे स्पष्ट है कि आन्तरिक कारणों की तुलना में विश्वजनीन कारण अधिक दोषी थे। १९३७ (अप्रैल) में प्रारम्भ हुई अमरीकी आर्थिक विश्रान्ति—जो भारत में मूल्यों के परिवर्तन के लिए भी उत्तरदायी थी—सट्टेबाजी के पतन का परिणाम थी। इसमें स्वर्ण-भय—प्रेसिडेण्ट रूजवेल्ट की चेतावनी की कीमतें अधिक ऊँची उठ रही हैं—तथा बैंकों द्वारा साख-सुविधाओं पर लगाये गए प्रतिबन्धों का भी बहुत-कुछ हाथ था।[1] भारतीय कीमतों की अधोगामी प्रवृत्ति चीन-जापान के युद्ध के कारण अधिक तीव्र हो गई। इससे भारत के प्रधान कपास-क्रेता के घट जाने से भारत की व्यापार-शक्ति कम हो गई। भारत के विदेशी व्यापार और व्यापारिक सतुलन पर पड़े प्रभाव का (मन्दी और विश्रान्ति-काल में) विवरण किया जा चुका है। (देखिए, अध्याय ६, सेक्शन ८ और २३) किसानों को बड़ी कठिनाई हुई, क्योंकि उनकी आमदनी शीघ्रता से घटने लगी और इसके विपरीत मालगुज़ारी, लगान, ब्याज इत्यादि के रूप में लिये जाने वाले भुगतान यद्यपि नाम में वैसे ही रहे, किन्तु वास्तविक रूप में बढ गए। इससे किसानों की क्रय-शक्ति घट जाने से आर्थिक मन्दी और भी बदतर हो गई। यह ध्यान में रखना होगा कि कीमतों के घट जाने से हमारा कृषि-उत्पादन नही गिरा। कुछ क्षेत्रों में उत्पादन बढने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई। भारतीय दशाओं में कृषक को जो कीमत मिले वही लेनी पड़ती है। इस प्रकार एक विषाक्त चक्र प्रारम्भ हो जाता है, जिससे कीमतें घट जाने से उत्पादन अधिक हो जाता है और अधिक उत्पादन होने से कीमतें और घट जाती हैं। रबर और जूट-जैसी औद्योगिक सामग्रियों के उत्पादन में कुछ कमी हुई। इस आर्थिक अधड से राजस्व भी बुरी तरह प्रभावित हुआ। कर बढ गए, छँटनी प्रारम्भ हो गई, मुद्रा-सकुचन होने लगा, सोना बाहर जाने लगा तथा बजट में घाटा होने लगा।

मार्च, १९३३ से अगस्त, १९३७ के पुनरुत्थान-काल में भारत की आर्थिक दशा में थोड़ा सुधार ही हुआ। शेष दुनिया की तरह भारत में भी वस्तुओं के मूल्य, प्रतिभूतियों के लाभ तथा औद्योगिक लाभ कम हो गए। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने के पहले ही विश्रान्ति घटने लगी थी और इसके बाद कीमतें शीघ्रता से बढ़ने लगी।

१४. सितम्बर १९३९ के बाद कीमतें—युद्ध प्रारम्भ होने के बाद सितम्बर, १९३९

१. एच० वी० हडसन, स्लम्प एण्ड रिक्वरी, पृ० ४४०-४२।

२. देखिए, रिपोर्ट ऑफ करेन्सी एण्ड फाइनेन्स, १९३९-४० से १९४६-४७।

मे औद्योगिक उत्पादन और सामग्रियो की कीमतें बढने लगी, क्योंकि यह आशा की जाने लगी थी कि युद्ध के कारण भारतीय कृषि और उद्योग का भविष्य उज्ज्वल होगा।

जापान के युद्ध मे प्रवेश तथा अफ्रीका मे युद्ध तीव्र होने से संयुक्त राष्ट्रो के पूर्वी और मध्य-पूर्वी मोर्चे का आधार भारत ही बना। पूर्ति-विभाग द्वारा दिए गए युद्ध के ठेको की मात्रा बढती गई। ब्रिटेन की सरकार द्वारा युद्ध की सामग्री और सेवाओ के लिए किए गए भुगतान से ब्रिटेन मे पौण्ड पावना (Sterling Balances) जमा होने लगे और देश मे भुगतान करने के लिए बहुत मात्रा मे करेन्सी निर्मित की जाने लगी। देश का सुरक्षा-व्यय भी काफी बढ गया। इसी प्रकार ऋण भी बढ गया। इस वर्ष मे नोटो का प्रचलन, अनुसूचित बैंको की माँग और देनदारी भी बढी। इसी प्रकार रिजर्व बैंक द्वारा निरीक्षित विकास गृहो मे चैको की संख्या भी बढ गई। आगे दी गई तालिका से स्पष्ट है कि १६३६ से १६४४ के बीच कीमतें काफी ऊँची उठ गईं। तालिका की सहायता से विदेशो से तुलना भी की जा सकती है। थोक कीमतें (आर्थिक परामर्शदाता देशनाक) ५% बढ गईं। कलकत्ता का देशनाक और भी ऊँचा उठा (७६%)। जीवन यापन का व्यय भी थोक कीमतो का अनुसरण करने लगा। बम्बई का देशनाक ५२% बढ गया।

युद्ध प्रारम्भ होने के बाद तुरन्त ही भारत मे वस्तुओ की कीमतें शीघ्रता से बढने लगी, क्योंकि लोगो का यह विश्वास था कि आर्थिक युद्ध के घनीभूत होने से भारतीय उद्योग और कृषि का भविष्य उज्ज्वल होगा। भारतीय वस्तुओ की बढती माँग के कारण निर्यात-गति तीव्र थी। जहाजो की कठिनाइयाँ, बीमा के खर्च के कारण आयात मे कमी, मुनाफे और भविष्य की व्यवस्था के लिए खरीद, सट्टेबाजी तथा वस्तुओ के मूल्यो की भावी गतिविधि के सम्बन्ध मे आशापूर्ण वातावरण का प्रसार, इन सबके सम्मिलित प्रभाव से युद्ध प्रारम्भ होने के प्रथम चार महीनो (सितम्बर, १६३६—दिसम्बर, १६३६) मे कीमतें ऊपर उठ गईं।

जनवरी, १६४० से जून, १६४० तक कीमतो की ऊर्ध्वगति मे होने वाला आकस्मिक परिवर्तन, सट्टेबाजी की वजह से बढी कीमतो के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम था, जो कि प्रथम चार महीनो मे क्रियाशील रही थी। मूल्य-नियन्त्रण के शीघ्रता से लगाए जाने, मूल्यो पर सरकारी नियन्त्रण के बढने का भय, अधिक लाभ-कर (एक्सेस प्रॉफिट टैक्स) की घोषणा तथा महाद्वीप के बाजारो के समाप्त होने से कीमतें कुछ घटने लगी। अन्य सहायक कारणो मे निर्यात-प्रतिबन्ध, विनिमय-नियन्त्रण तथा ४० करोड से अधिक मूल्य के साख को जो बकाए धातु के रूप मे बन्द थी, वापस लेने का नाम लिया जा सकता है।[1]

१६४२ से कीमतो की गति ऊर्ध्वमुखी रही है (देखिए पृ० २६६ पाद-

---

१. देखिए, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, सदस्यों की ६वीं वार्षिक रिपोर्ट और रिजर्व बैंक १६४० की वार्षिक रिपोर्ट।

टिप्पणी) । द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न मुद्रास्फीति प्रथम युद्ध से अधिक दिनो तक रही । प्रथम युद्ध समाप्त होने के तीन वर्ष बाद (१९२१) से ही कीमतें नीचे गिरने लगी, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के पाँच वर्ष बाद तक भी मुद्रास्फीति की प्रक्रिया वैसी ही बनी रही, क्योकि प्रथम महायुद्ध की अपेक्षा द्वितीय महायुद्ध से अधिक धन तथा उत्पादन-क्षमता का विनाश हुआ। इस महायुद्ध मे व्यय भी अधिक हुआ तथा कही अधिक क्रय-शक्ति की भी वृद्धि हुई । परन्तु क्रय-शक्ति की यह वृद्धि बचाने वालो की अपेक्षा उन लोगो के हाथ मे गई जिन्हे उसे खर्च करने की आवश्यकता थी। अन्त मे, प्रथम महायुद्ध के बाद का तो बहुत-सा समय शान्तिमय कार्य-सम्पादन मे ही बीता था, पर १९४५ मे समाप्त हुए युद्ध के बाद के समय की विशेषता ज़ोर-शोर से शस्त्रीकरण तथा सामरिक और बुनियादी सामग्रियो की माँग ही रही । २५ वर्ष पूर्व की अपेक्षा आज भारतवर्ष बाह्य जगत् के अधिक सम्पर्क मे है, अत. उस पर इन सभी विश्वव्यापी कारणो का प्रभाव भी अधिक पडा ।

१५. द्वितीय महायुद्ध-काल तथा युद्धोत्तर-काल में मूल्य-परिवर्तनो का प्रभाव—द्वितीय महायुद्ध के कारण कीमतो मे हुई वृद्धि के फलस्वरूप भारतीय कृषको की उन्नति की आशा की जाती थी। लोगो की धारणा थी कि मदी की लम्बी अवधि के बाद कृषक-वर्ग अपने ऋण को चुकाकर काफी मुनाफा प्राप्त करेगा । यह भी आशा की जाती थी कि कालातीत ऋणो के भार से दबा हुआ सहकारी आन्दोलन उससे छुटकारा प्राप्त कर सके और इस प्रकार उसे विकास की प्रेरणा मिले। पर यथार्थत: लडाई के उन प्रारम्भिक चार महीनो मे भी, जबकि मूल्य काफी अधिक था, किसानो को कोई विशेष लाभ न मिला, क्योकि वे अपनी फसल को पहले ही बेच चुके थे ।

कीमतो मे १९४० से हुई अत्यधिक वृद्धि का काफी प्रभाव भारत के धन-वितरण पर पडा । व्यापार तथा उद्योग मे लगे हुए व्यक्ति अत्यधिक समृद्धिशाली हो गए । यह लाभ कुछ अशो म कृषि-वस्तुओ के उत्पादको तक भी पहुँचा, जिससे कृषीय ऋण तथा सरकारी देनदारी का भार भी हलका हो गया, परन्तु निश्चित आय वाले व्यक्तियो की हालत बहुत बुरी हो गई, जिसका स्पष्ट दृष्टान्त बगाल के अकाल मे काल-कवलित लगभग दस लाख व्यक्ति हैं । इगलिस्तान तथा सयुक्तराज्य ने इस विपत्ति का सामना राशनिंग, मूल्य-नियन्त्रण तथा मुद्रास्फीति विरोधी उपाय अपनाकर बडी सफलता से किया ।

स्वतन्त्रता के उपरान्त मूल्य

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ । कांग्रेस ने स्वतन्त्रता-सग्राम के दिनो मे पूँजीवाद के विरुद्ध जो आवाज़ उठाई थी अब उसके कार्यान्वियन की आशका से उद्योगपति भी दुविधा मे पड गए । इसका प्रभाव उत्पादन पर अच्छा नही पडा। ऐसी स्थिति मे मूल्यो के गिरने की कोई सम्भावना नही थी । कुछ वस्तुओ पर युद्ध-कालीन मूल्य-नियन्त्रण बने रहे । धीरे-धीरे मूल्य-नियन्त्रण हटाने की नीति अपनायी

गई । १६५१ से पचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ हुई । अतएव खाद्यान्न और कृषि-वस्तुओ के मूल्यो के परिवर्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गए ।

प्रथम पचवर्षीय योजनावधि मे कृषि और खाद्यान्न के मूल्यो ने कोई समस्या उपस्थित नही की । वस्तुत कृषि-उत्पादन-सम्बन्धी लक्ष्य पूरे हो जाने के कारण कृषि-मूल्यो पर इसका प्रभाव स्वास्थ्यप्रद ही पडा । दूसरी योजना मे भारी उद्योगो को महत्त्व देने के कारण क्रय-शक्ति तो जनता के हाथ मे आ गई किन्तु उत्पादन मे उतनी वृद्धि नही हुई । परिणामत मूल्य बढने लगे । द्वितीय योजना के प्रत्येक वर्ष मे मूल्य बढते रहे ।

१६५६-६० के वर्ष मे सामान्य मूल्य-स्तर मे हुई वृद्धि 'औद्योगिक कच्चे माल' तथा 'निर्मित' वस्तुओ के समूह म मूल्यो की वृद्धि के फलस्वरूप हुई । खाद्य-पदार्थों के मूल्यो मे अपेक्षाकृत कम वृद्धि हुई । १६५६-६० मे मूल्य वृद्धि अधिकाशत ऊँची दर पर विनियोग करने तथा पर्याप्त मात्रा मे द्रव्य की पूर्ति और बैंक की साख के विस्तार क फलस्वरूप हुई । कुछ विशेष वस्तुओ की मूल्य-वृद्धि उत्पादन की कमी के फलस्वरूप हुई । उदाहरण क लिए रेशे वाले पदार्थों की मूल्य-वृद्धि का यही कारण था ।

द्वितीय योजना-काल म हुई मूल्यो की वृद्धि के कारणो को इस प्रकार गिनाया जा सकता है (१) विकास-कार्यक्रमो के फलस्वरूप विनियोग की ऊँची दर, (२) द्रव्य की पूर्ति और बैंक साख का विस्तार, (३) कुल माँग (एग्रीगेट डिमाण्ड) मे वृद्धि तथा कतिपय विशेष वस्तुओ की माँग मे वृद्धि, जैसे औद्योगिक कच्चा माल, (४) उत्पादन की सापेक्षिक वृद्धि की न्यूनता, (५) उत्पादन के उचित वितरण का अभाव आदि ।

मूल्य नीति—मूल्यो की वृद्धि को रोकने के लिए उठाये गए उपायो को दो वर्गों मे बाँटा जा सकता है, या यो कहिए कि मूल्य-नीति के दो पहलू हैं (क) द्रव्यात्मक तथा साख-सम्बन्धी उपाय तथा (ख) गैर-द्रव्यात्मक उपाय ।

(क) के अन्तर्गत निम्न उपाय अपनाये गए (१) चयनित साख नियन्त्रण (सलेक्टिव क्रेडिट कण्ट्रोल), *जिसका १६५६-६० मे और अधिक विस्तार किया गया, (२) नैतिक आग्रह तथा (३) प्रथम बार सुरक्षित कोष के अनुपात मे परिवर्तन*, जो १६५६-६० के अन्त मे अपनाया गया ।

(ख) के अन्तर्गत अपनाये गए उपायो मे मुख्य (१) आयात तथा वसूली द्वारा खाद्यान्नो की पूर्ति मे वृद्धि, (२) उचित मूल्य की दुकानो द्वारा नियन्त्रित वितरण की प्रथा का विस्तार, (३) (क) खाद्यान्न के अग्रिम व्यापार (फारवर्ड ट्रेडिंग) पर रोक जारी रखना, (ख) आवश्यक परिवर्तनो सहित खाद्यान्नो के अन्तर्राज्यीय आवागमन पर रोक तथा क्षेत्रीय व्यवस्था (जोनल एरेन्जमेण्ट) को जारी रखना, (ग) आटे की चक्कियो द्वारा गेहूँ की खुली खरीद पर रोक, (४) आवश्यक पदार्थ अधिनियम १६५५ (एसेन्शियल कमोडिटीज एक्ट) की धारा ३ की उपधारा (३अ) की व्यवस्था का विस्तार, जिसके अन्तर्गत सरकार किसी भी व्यक्ति के खाद्यान्न के भण्डार

को पिछले तीन महीनो के बाज़ार-मूल्य के औसत मूल्य पर बेचने को बाध्य कर सकती है तथा सरकार स्वय उनके स्टॉक ले सकती है। (५) सम्पूर्ण खाद्यान्न व्यापार तक अनुज्ञा-पद्धति का विस्तार।

इस प्रकार हम देखते है कि १९४९ को आधार वर्ष मानते हुए उपभोक्ता मूल्यांक १९५५-५६ मे ९६ से बढकर मार्च १९६१ मे १२५ हो गया। तीसरी पच-वर्षीय योजना मे यह और भी बढ गया और १९६५ मे १५९ तक पहुँच गया। १९६५-६६ मे विशेष तौर से पाकिस्तान से लडाई तथा १९६६ के बजट के बाद कीमतें बढती ही चली गई है, यहाँ तक कि देश मे योजना तथा प्रजातन्त्र एक सकट मे पड गया है। दुःख की बात तो यह है कि द्वितीय योजना मे कीमतो के बढने पर भी तीसरी योजना मे कोई विशेष रूप से मूल्य-नीति निर्धारित नही की गई। तीसरी योजना मे मूल्य नीति का अध्याय उपोद्घर्षण तथा असामर्थ्य है। इस बात पर कोई विशेष ध्यान नही दिया गया कि एक वर्धन अर्थव्यवस्था के लिए मूल्य-नीति का कितना महत्त्व है। इस समय देश मे कुल माग कुल पूर्ति से कही अधिक है। और इस प्रकार हर उद्योग तथा खेती का क्षेत्र एक प्रकार से विक्रेता बाज़ार मे बँट गया। इस बात को हमे याद रखना होगा कि जिस प्रकार मुद्रास्फाति मे से हम गुजर रहे है, इससे छुटकारा नही मिल सकता जब तक कि खाद्य पदार्थों का उत्पादन न बढाया जाए, बढती जनसख्या की रोकथाम हो, कीमतो को स्थिर रखा जाए, चोरबाजारी को खत्म किया जाए और भ्रष्टीकरण धन पर कब्जा किया जाए। अगर चौथी योजना मे इन बातो पर विशेष रूप से ध्यान रखा गया तो लोकतन्त्र को राष्ट्र मे किसी प्रकार का खतरा नही होगा।



अध्याय २४

अधिकोषण (बैंकिंग) और साख[1]

भारतीय अधिकोषण का इतिहास

१ देशी अधिकोष—भारतीय अधिकोष प्रणाली इतनी ही पुरानी है जितनी कि यहाँ का व्यापार। सम्भवत भारतवर्ष मे ससार के अन्य देशो से भी पहले तथा उनसे भी अधिक, अधिकोष प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। चाणक्य के अर्थशास्त्र (३०० ई० पू०) मे ऐसे व्यापारी महाजनो के शक्तिशाली सघो का वर्णन है जो रुपया जमा लेते, उधार देते तथा अनेक ऐसे कार्यों का सम्पादन करते थे, जो आधुनिक अधिकोष करते हैं।

भारतवर्ष पर मुसलमानो के आक्रमण के साथ ही यहाँ उथल-पुथल तथा अ-रक्षा काल का प्रारम्भ होना है, जो अधिकोष व्यवस्था के लिए अति हानिकारक है। अपने सचित धन को किसी को सौंपना खतरे से खाली न था, अत इसे अब छिपाकर सचित किया जाने लगा। तो भी व्यक्तिगत साहूकार समृद्धिशाली होते ही गए। साधारणतया वे व्यापार तथा महाजनी दोनो कार्य साथ-साथ ही करते थे। वे राज्य को कर्ज देते थे तथा अनेक प्रभावशाली महाजन परिवारो का सम्बन्ध किसी-न-किसी देशी राजदरबार से होता था। 'बिना दरबारी महाजन के शाही दरबार अपूर्ण समझा जाता था। ऐसे महाजन को प्राय एक मन्त्री की शक्ति प्रदान की जाती थी।' बगाल के नवाबो के खानदानी महाजन जगतसेठ परिवार का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि इन महाजनो का देश की राजनीति मे कितना हाथ था।[2]

अब भी देशी अधिकोष प्रणाली इस देश की द्रव्य व्यवस्था का प्रधान अग है। प्रत्येक गाँव, कस्बे तथा नगर मे देशी महाजन[3] मौजूद हैं। एक ओर गाँव मे ये छोटे

---

१. भारतीय अधिकोष तथा साख विषयक प्रामाणिक सूचना १६२६-३० में नियुक्त विभिन्न प्रातीय अधिकोष खोज-समितियों तथा केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति के साक्ष्य के विवरण तथा पुस्तकों में विस्तारपूर्वक दी गई है। अपनी रिपोर्ट पेश करने के पूर्व केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति को प्रातीय समितियों की रिपोर्ट तथा ६ विदेशी विशेषज्ञों के दृष्टिकोण से भी विचार करना था। विदेशी विशेषज्ञों ने अलग से अपनी एक रिपोर्ट तैयार की थी, जिसे केन्द्रीय समिति ने अपनी रिपोर्ट में ही शामिल कर लिया। इन परिच्छेद में केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति तथा उसके अनुच्छेदों का निर्देश क्रमश "के० अ० रि०" तथा अकों द्वारा किया गया है।

२. देखिए, एच० सिन्हा द्वारा लिखित 'अर्ली यूरोपियन बैंकिंग इन इण्डिया', पृष्ठ १-३।

३. केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने निम्नलिखित परिभाषा दी है—"देशी महाजनों से हमारा अभिप्राय इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया, विनिमय बैंक, मिश्रित पूँजी के बैंक तथा सहकारी समितियों को

पूँजीपतियों के रूप मे हैं, दूसरी ओर देश-विदेश मे एजेन्सियाँ रखने वाले व्यापारिक महाजनो ने सम्पन्न और व्यक्तिगत साझेदारियाँ—विशेषत कौटुम्बिक साझेदारियाँ—बना रखी हैं, जो सम्पन्न तथा सुसगठित हैं। इन देशी महाजनो की एक विशेष श्रेणी मद्रास के चेट्टी हैं, जिनके व्यापार मे सारी जाति की करीब-करीब सम्मिलित जिम्मेदारी होती है।[1] मद्रास के मदुरा जिले के नाट्टुकोट्टई चेट्टी व्यापारी महाजन रूप मे विशेष प्रसिद्ध है और प्राय उनका कार्यक्षेत्र ससारव्यापी है। भारतीय सर्राफों तथा साहूकारो द्वारा सम्पादित कुल महाजनी व्यापार अवश्य अत्यधिक होगा तथा इन महाजनो की कारबार-सम्बन्धी नैतिकता अति उच्चकोटि की मानी गई है। भारतीय देशी अधिकोष प्रणाली का सगठन मिश्रित पूँजी के आधार पर नही है। निक्षेप रूप मे तो प्राय. थोड़ी-सी ही पूँजी आती है, पर इसकी वापसी चेक द्वारा नही, वरन् नकद मे होती है। यहाँ हिस्सा-पूँजी की प्रथा नही है और उत्तरदायित्व वैयक्तिक अथवा साझेदारी मे सम्मिलित और असीमित होता है।

आधुनिक अधिकोप तथा देशी अधिकोप प्रणाली के बीच दो महान् अन्तर हैं—(१) आधुनिक युग मे मिश्रित पूँजी वाले अधिकोषो का विकास और (२) निकासी गृह के माध्यम द्वारा रुपया भेजने के लिए चेक का सार्वभौमिक प्रयोग। अतीत काल मे सर्राफ लोगो का प्रधान काम मुद्रा भुनाई था।

२ **देशी अधिकोष की वर्तमान स्थिति**—सर्राफ वर्ग अब भी भारतीय द्रव्य बाजार तथा व्यापारी समुदाय के बीच की अनिवार्य कड़ी के रूप मे देश की आर्थिक व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण भाग ले रहा है। वह कृषको, साधारण शिल्पियो और व्यापारियो को रुपया उधार देता, उपभोग के स्थानो और बन्दरगाहो तक फसलो के पहुँचाने मे सहायक होता तथा देश के भीतरी भाग मे सब प्रकार की चीजो का वितरण करता है। फसल कटने के मौसम मे आवश्यकतानुसार अपने एजेंट को रेल द्वारा नकद रुपये के साथ भेजता है अथवा सरकारी खजाने पर हुण्डी खरीदता तथा रुपये की आवश्यकता पड़ने पर उस हुण्डी को इम्पीरियल बैंक या व्यावसायिक शहरो के अन्य बैंको मे बट्टा करा लेता है।[2] कुछ अशो मे ये देशी साहूकार आधुनिक प्रणाली के आधार पर सगठित मिश्रित पूँजी वाले बैंको के घोर प्रतियोगी भी हैं। ऊँची दर की सूद लेकर कभी-कभी ये बड़े-बड़े बैंको से भी अधिक निक्षेप (डिपाजिटस) इकट्ठा कर लेते हैं। निजी विश्वास पर भी ये कर्ज देते हैं तथा आधुनिक बैंको की अपेक्षा इन महाजनों द्वारा माँगी गई ज़मानत की पूर्ति अधिक आसानी से होती है। उन्हे एक और भी लाभ है। आज की स्थिति मे हमारे देश के आधुनिक बैंक मुट्ठी-भर बड़े व्यापारियो की सहायता भले ही कर सकें, पर वे समूचे देश के व्यापारी-वर्ग से निकट सम्पर्क

छोड़कर अन्य सभी महाजनों से है। निक्षेप लेने, हुण्डियों का कारबार करने तथा रुपया उधार देने वाले व्यक्तिगत तथा निजी फर्म भी इसी कोटि में आते हैं।" (अनुच्छेद १०७)। जो निक्षेप नहीं लेते उनकी गणना देशी साख एजेन्सी की अन्य कोटि में होती है।

१. एम० एस० एम० गुब्बे द्वारा लिखित 'इण्डीजेनस बैंकिंग इन इण्डिया', पृ०-११-१२।

२. देखिए, शिराज कृत 'इण्डियन फ़ाइनेन्स एण्ड बैंकिंग', पृ० २४१।

स्थापित कर उन्हें सुविधा प्रदान नहीं कर सकते। इस स्थिति मे भारतीय साहूकार अनिवार्य मध्यस्थ है। बैंबिंगटन स्मिथ समिति के निम्नलिखित शब्दो से यह स्पष्ट है कि देशी महाजनो तथा आधुनिक द्रव्य-व्यवस्था के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है—जिन लोगो का बैंको से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है वे प्राय प्रसिद्ध शहरो के अच्छी स्थिति वाले सर्राफ ही होते हैं। वे अपनी निजी पूँजी से कारबार करते है और साधारणतया छोटे छोटे सर्राफो तथा दूसरे लोगो की हुण्डियाँ[1] खरीद लेने के पश्चात् ही वे बैंको का आश्रय लेते हैं। जिन सर्राफो की हुण्डियाँ बड़े सर्राफ खरीदते हैं वे अपने से भी छोटे सर्राफो को रुपया देते हैं। इस प्रकार यह क्रम गाँव के बनियो, अनाज बेचने वालों तथा सुनारो तक चलता है।

३. पुरानी तथा नई अधिकोष प्रणाली के एकीकरण की आवश्यकता—साधारणतया यह अनुभव किया जा रहा है कि देश के पूँजी के साधनो का उपयोग करने तथा इसके साख के सगठन के नियन्त्रण मे एकता स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि देशी अधिकोष-पद्धति और आधुनिक मिश्रित-पूँजी-प्रणाली के बीच निकटतम घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाए। १६३३ मे सर जॉर्ज शुस्टर ने असेम्बली मे रिज़र्व बैंक विधेयक पर बोलते हुए कहा था कि "भारत के सम्पूर्ण बैंकिंग तथा साख के सम्बन्ध मे देशी महाजनो द्वारा किये गए कार्यों को बढा-चढाकर वर्णन करना अति दुष्कर है। यह कथन अत्युक्ति नही कि इनका सगठन सम्पूर्ण साख-सगठन के ६० प्रतिशत से भी अधिक है। दुर्भाग्यवश यह भी सत्य है कि सहकारी समितियो के विकसित होने तथा इम्पीरियल बैंक की सौ नई शाखाओ के खुल जाने के बावजूद भी देशी अधिकोष तथा आधुनिक अधिकोष-प्रणाली का सम्बन्ध अभी भी मामूली और अपरिपक्व दशा मे ही है। देशी महाजनो के रूप मे प्रकट (रिप्रेजेंटिड्) भारत के इस बृहत् अधिकोष तथा साख-सगठन का सहयोग जब तक आधुनिक द्रव्य बाजार के साथ, जिसका नियन्त्रण रिज़र्व बैंक करता है, नहीं होता, तब तक रिज़र्व बैंक के लिए साख तथा सिक्के पर पूर्ण नियन्त्रण करना असम्भव है, यद्यपि पाश्चात्य देशो के केन्द्रीय बैंको का यह कर्तव्य समझा जाता है। भारत के गाँवो मे निवास करने वाली जनता के लिए भी यह सम्भव नही होगा कि वह उचित शर्त पर साख तथा अधिकोष-सम्बन्धी वह लाभ प्राप्त कर सके, जिसे प्रदान करना एक सुसगठित अधिकोष-प्रणाली का कर्तव्य है।"

४. देशी साहूकारो से सम्बन्ध स्थापित करने की रिज़र्व बैंक की योजना—रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट १६३४ की धारा ५५ (१) (अ) के अनुसार रिज़र्व बैंक को तीन वर्ष के अन्तर्गत ही शीघ्रातिशीघ्र गवर्नर जनरल की परिषद (गवर्नर जनरल इन

१. हुंडियाँ तीन उद्देश्यों से लिखी जाती हैं—(क) कर्ज प्राप्त करने के लिए (इस हालत में हुंडी व्यावसायिक हुंडी तथा हस्तपत्रक (हैंड बिल) के समान होती है।) (ख) व्यापार को नैतिक योग देने के लिए जबकि यह विनिमय-पत्र के समान होती है, परन्तु विनिमय-पत्र की भाँति हुंडियों के साथ बिक्री के सौदे, बीजक, गोदाम की रसीद आदि स्वत्व-अधिकार-पत्र सदैव नत्थी नहीं किये जाते। साधारणतया केवल हुंडी ही दी जाती है। (ग) रुपये को व्यापार या किसी अन्य अभिप्राय से एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए।

कौंसिल) के सामने ऐसे प्रस्तावों के साथ विवरण प्रस्तुत करना था जिसके अनुसार रिजर्व बैंक एक्ट मे अनुसूचित अधिकोषो को प्रदत्त सुविधाएँ और ब्रिटिश भारत मे बैंकिंग व्यापार ऐसे व्यक्तियो और फर्मों को प्रदान किया जाए जो अनुसूचित नही हैं।[1]

१६३७ ई० मे रिजर्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर ने केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति की सिफारिश तथा १६३६ ई० मे सशोधित इण्डियन कम्पनी एक्ट मे बैंकिंग कम्पनी के नियमो के अनुसार ही निजी साहूकारो को सयुक्त करने की योजना का प्रारूप प्रस्तुत किया।[2] रिजर्व बैंक ने यह सुझाव रखा कि अगर देशी साहूकारो को रिजर्व बैंक से सम्बन्धित होना है तो उन्हे अपनी महाजनी व्यवस्था को मिश्रित पूँजी वाले बैंको के अनुरूप बनाना होगा तथा महाजनी के निक्षेप (डिपाजिट) पक्ष को अधिक विकसित करना होगा। जिन साहूकारो के पास कम-से-कम दो लाख की स्वीकृत पूंजी हो तथा जिसे वे ५ वर्ष मे ५ लाख तक कर लेंगे वे वैयक्तिक बैंक बनने के लिए रिजर्व बैंक को आवेदन-पत्र भेज सकते है। उन्हे एक निश्चित समय के भीतर गैर-महाजनी कारबार बन्द करना होगा। उनकी अभियाचना का उत्तरदायित्व (डिमाड लाइबिलिटी) जब तक उनकी निक्षेप देनी उनके कारबार मे लगी पूँजी पाँच गुना या उससे अधिक न हो जाएगी तब तक उन्हे रिजर्व बैंक मे अनिवार्य निक्षेप (डिपाजिट) नही रखना पड़ेगा। वे हिसाब के उचित खाते रखे तथा हिसाब का सम्प्रेक्षण किसी निबन्धित संख्याता से कराएँ। वे अपने हिसाब-किताब का सावधिक (पीरियोडिकल) वक्तव्य रिजर्व बैंक को भेजें तथा अधिकोषो की भाँति उनके लिए बने अधिनियम मे निर्धारित आँकड़ो को अपने निक्षेपको की जानकारी के लिए प्रकाशित करे। इन शर्तों को पूरा करने वाले देशी महाजन मान्य पत्रो के आधार पर अपने विनिमय-पत्रो का रिजर्व बैंक से सीधे बट्टा करा सकेंगे। अत रिजर्व बैंक ने भारत सरकार को सूचित किया कि वह रिजर्व बैंक अधिनियम मे सशोधनार्थ ऐसी कोई तात्कालिक सिफारिश नही कर सकता जिसके अनुसार अनुसूचित बैंक सम्बन्धी धाराओ को देशी साहूकारो के सम्बन्ध मे लागू किया जा सके।

अक्तूबर, १६५३ मे केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से रिजर्व बैंक न एक समिति (जिसे श्राफ समिति कहते हैं) यह विचार करने के लिए नियुक्त की कि वैयक्तिक साहस-क्षेत्र मे वित्त-व्यवस्था की, विशेषत अधिकोषो द्वारा, सुविधा कैसे उपलब्ध की जाए। समिति की रिपोर्ट मे साहूकारो और सर्राफो के सम्बन्ध मे भी कुछ सिफारिशें की गई है जिनमे से निम्नलिखित मुख्य है—

(क) सर्राफो और साहूकारो का रिजर्व बैंक से सम्बन्धीकरण करने की चेष्टा अधिक लगन के साथ की जाए।

(ख) सर्राफ उपयुक्त खाते हिन्दी या अंग्रेजी मे रखें और रिजर्व बैंक की

---

१. नीचे सेक्शन ४३ देखिए।
२. देखिए, सेक्शन ७६।

स्वीकृति से अपना अखिल भारतीय संगठन बना लें।

(ग) सर्राफ उद्योग तथा व्यापार को वित्तीय योग देते हैं। अत उन पर ऋण-सम्बन्धी अधिनियम न लागू हो।

(घ) सर्राफ दर्शनी हुण्डियो के स्थान पर ६० दिन की हुण्डियों का प्रयोग करें और प्रोत्साहनस्वरूप उनकी ऐसी हुण्डियो की आधी स्टाम्प ड्यूटी सरकार कम कर दे।

(च) रिजर्व बैंक, आवश्यकता हो तो, रिजर्व बैंक अधिनियम मे सशोधन कराके, अनुसूचित बैंको के माध्यम से सर्राफो, विशेषत शिकारपुरी सर्राफो की मुद्दती हुण्डियों का पुनर्बट्टा करे, जब तक सर्राफो का रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध नही स्थापित हो जाता।

(छ) व्यापारिक बैंको को चाहिए कि छोटे व्यापारियों तथा उद्योग-धन्धियो द्वारा लिखी तथा सर्राफो द्वारा पृष्ठाकित हुण्डियो का बट्टा करे, बशर्ते हुण्डी-सम्बन्धी पक्षो का बैंक को विश्वास हो।

५ **आधुनिक अधिकोष का उदय**—कलकत्ता के एजेन्सी हाउसो ने सर्वप्रथम इस देश मे यूरोपीय अधिकोष प्रणाली का आरम्भ किया। उन लोगो के कारोबार के सहायक अग क रूप मे ही इसका उदय हुआ। साहूकारो की हैसियत से ये एजेन्सी हाउस यहाँ के धनी सौदागरो तथा उद्योगपतियो के साथ कारोबार करते थे तथा उनके जहाजो तथा नील की फैक्ट्रियो को बधक रखकर उन्हे कर्ज देते थे। भारत मे निवास करने वाली यूरोपीय जाति तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारीगण अपनी बचत सरकारी सिक्यूरिटी की अपेक्षा ब्याज की ऊँची दर के लोभवश एजेन्सी हाउसो के हवाले करते थे। सट्टेबाजी के कारण एजेन्सी हाउसो को मुसीबत का सामना करना पड़ा और १८२६-३२ के व्यावसायिक सकट न तो उनका गला ही घोट दिया। अस्तु यूरोपीय प्रणाली के आधार पर सगठित बैंक न तो उस समय ही मिश्रित पूँजी वाले थे, न आज ही वे पूर्णतया वैसे है। ग्रिंडलेज-जैसी यूरोपीय फर्मों में निजी अधिकोष विभाग होता है। सर्वप्रथम अलेग्जेंडर एण्ड कम्पनी न कलकत्ता मे बैंक ऑफ हिन्दुस्तान की स्थापना की, जो पूर्णतया यूरोपीय प्रणाली पर आधारित प्रथम अधिकोष था। १८२६-३२ के व्यावसायिक सकट के समय अलेग्जेंडर कम्पनी और साथ मे उस बैंक का भी दिवाला निकल गया। उसी ध्वसावशेष पर तत्पश्चात् कलकत्ता के प्राय सभी प्रमुख एजेन्सी हाउसो के सहयोग से यूनियन बैंक नामक मिश्रित पूँजी वाले बैंक की स्थापना की गई, पर १८४८ मे वह भी बन्द हो गया।[1]

६. **प्रेसीडेन्सी बैंक**—प्रेसीडेन्सी बैंको मे सबसे पुराने तथा शक्तिशाली बैंक ऑफ बगाल की कलकत्ता म १८०६ मे ५० लाख की पूँजी के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी की एक सनद द्वारा स्थापना हुई। इन पूँजी म १० लाख रुपया ईस्ट इण्डिया कम्पनी

१ इनके बाद भारत में मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की उन्नति का विवरण आगे पैरा १३ व १७ म दिया है।

ने ही दिया था। १८४० मे पहली 'बैंक ऑफ बम्बई' की स्थापना ५२ लाख रुपये की पूंजी के साथ हुई। इसमे सरकार ने तीन लाख रुपये के हिस्से लिये थे। अमरीका के गृह-युद्ध तथा कपास के अकाल से उत्पन्न तीव्र सट्टेबाज़ी मे इस बैंक ने भी हिस्सा बंटाया और उसी के कारण १८६८ मे इसका दिवाला भी निकल गया। द्वितीय बैंक ऑफ बम्बई की स्थापना उसी साल एक करोड रुपये की पूंजी के साथ हुई। १८४३ मे बैंक ऑफ मद्रास की स्थापना ३० लाख रुपये की पूंजी के साथ हुई, जिसमे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तीन लाख रुपये के हिस्से लिये थे। कुछ दिनो से यह कल्पना की जा रही थी कि बैंक ऑफ बगाल अखिल भारतीय बैंक का स्थान ग्रहण कर लेगा, पर इन तीनो बैंकोकी स्थापना ने इस सम्भावना की समाप्ति कर दी। प्रारम्भ से ही प्रेसीडेन्सी बैंक का निकट सम्पर्क सरकार के साथ था, जिसने केवल उनकी हिस्सा-पूंजी मे ही योग नही दिया वरन् कुछ डाइरेक्टरो की नामदजगी का भी उसे अधिकार था। १८५७ तक सिविल सर्विस दरजे के अफसर ही बैंक का मन्त्री, सेक्रेटरी तथा कोषाध्यक्ष हुआ करते थे। इसके बदले बैंको को कुछ रिआयतें मिलती थी, जिसमे सरकारी अधिकोषीय व्यापार का एकाधिकार सर्वप्रमुख था। उस समय बैंक के पास नोट छापने का अधिकार तो था, पर इस पर भी कुछ नियन्त्रण थे, जैसे दर्शनी उत्तरदायित्व नकद कोष का तीन गुना—और बाद में चौगुना से अधिक नही होना चाहिए। इन प्रतिबन्धो की वजह से व्यवहार मे इस अधिकार का मूल्य नही के बराबर था। १८३९ के बाद तो नोट छापे जा सकने की कुल मात्रा तक निश्चित कर दी गई। जैसा हम देख ही चुके हैं, १८६२ मे सरकार ने नोट छापने का अधिकार भी छीन लिया और स्वय अपनी पत्र-मुद्रा का निर्गमन किया। बैंक की क्षतिपूर्ति स्वरूप सरकारी नकद प्रेसीडेन्सी नगरो के प्रेसीडेन्सी बैंको मे रखे गए।

भारत सरकार ने १८७६ के प्रेसीडेन्सी एक्ट के अनुसार अपने हिस्से की पूंजी वापस ले ली तथा डाइरेक्टर, मन्त्री और कोषाध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार भी त्याग दिया। इसके बाद प्रेसीडेन्सी बैंको का सरकारी स्वरूप न रहने पर भी अन्य बैंको से उनकी भिन्नता इस अर्थ मे थी कि वे १८७६ के विशेष अधिकोष-अधिनियम द्वारा शासित थे तथा जनता और सरकार दोनो ही उन्हे इस देश की पद्धति का प्रधान अग तथा सरकारी खजानो का अनिवार्य अग मानती थी।

७ सुरक्षित कोष पद्धति—१८६२ से सन् १८७६ ई० तक मुख्यावासो (हैड क्वार्टर्स) की सारी सरकारी रकम प्रेसीडेन्सी बैंको मे ही रखी जाती थी, लेकिन बगाल तथा बम्बई के बैंको से इन निधियो की वापसी मे कठिनाई अनुभव होने के कारण भारत सरकार ने १८७६ मे बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास मे निजी सुरक्षार्थ खजानो की स्थापना की। तदनन्तर सरकारी रकम विशेषतया इन्ही तीन सुरक्षित खजानो मे रखी जाती थी। जिला और ताल्लुका के खजाने मे तो थोडी रकम सुरक्षा तथा दैनिक आवश्यकता के लिए रहती थी। १८७६ मे प्रारम्भ होने वाली नई व्यवस्था के अनुसार सरकार इस बात से सहमत हो गई कि अगर वास्तविक निक्षेप निश्चित निम्नतम निक्षेप से कम पडे तो वह अन्तर-निधि पर बैंको को सूद देगी। वास्तविकता

तो यह थी कि बैंको मे निम्नतम से भी अधिक रकम रहती थी, लेकिन वे तो इतने से ही सन्तुष्ट नही थे। राजस्व का एक बडा भाग सरकारी खाते मे ऐसे समय मे पडा रहता था, जबकि द्रव्य-बाजार मे उसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। हमारे देश मे साधारणतया नवम्बर से जून तक कारोबार का मौसम तथा जुलाई से अक्तूबर तक शिथिल मौसम होता है। केवल कलकत्ता मे कारोबार का मौसम जुलाई से अक्तूबर तक का होता है। जनवरी से अप्रैल तक के ही चार महीनो मे लगान की वसूली होने के कारण लगान का मौसम तथा व्यस्त कारोबारी मौसम एक ही साथ पडते हैं। सरकार को बहुत बडी मात्रा म कार्यशील रकम रखनी होती थी, क्योकि मालगुजारी की प्राप्ति बारहो मास तो एक समान होती नही, पर उसे लगान वसूल करने का व्यय तो सालभर समान रूप से करना पडता है। इन सब परिस्थितियो से इस बात की सम्भावना समझी गई कि कारोबार के मौसम मे सरकार अपनी दैनिक स्थिति को क्षति पहुँचाए बिना ही द्रव्य बाजार को अधिकाधिक सहायता कर सकती है।

८ **प्रेसिडेन्सी बैंक के कारोबार तथा विकास**—प्रेसिडेन्सी बैंको को (१) विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कार्य करने और (२) दूसरे पक्षो से द्रव्य उधार लेने से मना कर दिया गया तथा (३) ऋण देने के लिए ऋण की मात्रा, ऋण-काल, ऋण के बन्धक-पत्रो सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए गए।

इन सब प्रतिबन्धो तथा विघ्नो के होते हुए भी प्रेसिडेन्सी बैंको की अनवरत समृद्धि रुकी नही। जिस तेजी के साथ उनका विकास हो रहा था उसमे इन प्रतिबन्धो ने प्रभाव तो अवश्य ही डाला, पर दूसरी ओर इन्ही सबके कारण उन बैंको की स्थिरता तथा शक्ति मे वृद्धि भी हुई—विशेषत १९१४-१८ के युद्ध के पूर्वकाल मे इन बैंको मे निजी निक्षेपो की मात्रा मे सतत वृद्धि हुई। भारतवर्ष के मिश्रित-पूंजी वाले बैंको से भिन्न प्रेसीडेन्सी बैंक अपने उत्तरदायित्व के ३० प्रतिशत से भी अधिक रक्षित नकद रखकर अपनी स्थिति सुदृढ बनाये हुए थे। इन बैंको मे सरकार हर समय कुछ-न-कुछ रकम रखती थी, जो प्राय निश्चित निम्नतम सीमा से अधिक ही हुआ करती थी तथा जहां-जहां भी इन बैंको की शाखाएं होती वहां वे कुछ सामान्य सरकारी कारोबार कर दिया करते थे, जिसके बदले उन्हे निश्चित पारिश्रमिक की प्राप्ति हो जाती थी। इसके अतिरिक्त करेन्सी नोटो को प्रचलित करने के उद्देश्य से ये बैंक अपनी शाखाओ मे नोटो को भुनाने मे भुगतान का सुभीता भी प्रदान करते थे। सरकारी सहयोग प्राप्त बैंको के असोसियेशन ने लाभदायक शर्तो पर निजी निक्षेप तथा बैंकिंग कारबार को आकर्षित कर बैंको की प्रतिष्ठा मे चार चांद लगा दिए और देश की अधिकोष-पद्धति मे इन बैंको को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

९ **विनिमय बैंक (विदेशी बैंक)**—ऊपर हम उल्लेख कर ही चुके हैं कि प्रेसिडेन्सी बैंको को विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कार्य करने तथा विदेश मे पूंजी इकट्ठा करने की मनाही थी, लेकिन इस देश के विदेशी व्यापार की वृद्धि के साथ इन दोनो कार्यो का

महत्त्व बढता ही गया। अतः अब एक ऐसी श्रेणी के बैंक के लिए काफी क्षेत्र उपलब्ध हो गया जो विशेषतया विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कार्य करे।

१९१४ के पूर्व केवल इण्डियन स्पीशी बैंक ही प्रमुख भारतीय मिश्रित पूँजी वाला बैंक था, जिसकी विनिमय बैंको की भाँति लन्दन मे एक शाखा थी जिसको खोलने का उद्देश्य विदेशो मे बैंक के चाँदी तथा मोती के कारोबार मे सहायता प्रदान करना था। अपने जीवन के कुछ प्रारम्भिक वर्षो मे भारत के किसी भी विनिमय बैंक ने विनिमय का जितना कारोबार किया[1] उससे कम एलायेन्स बैंक ऑफ शिमला (१९२३ मे जिसका दिवाला निकल गया), टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक (सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया के साथ इसका एकीकरण १९२३ मे हुआ) ने नही किया। आज भी कुछ मिश्रित पूँजी वाले बैंक इस कारोबार मे हाथ बँटाते तो हैं, पर अभी वे इस क्षेत्र मे विशेष विकास नही कर पाए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश के विदेशी विनिमय के व्यवसाय पर विदेशी बैंको का ही एकाधिकार रहा है। विदेशी केन्द्रो मे शाखाओ को स्थापित करने के सम्बन्ध मे निम्नलिखित प्रमुख कठिनाइयो का सामना करना पडता है—(१) इतनी अधिक पूँजी नही है कि इन केन्द्रो के द्रव्य-बाजार मे साख बनी रहे, (२) जब तक विदेश स्थित ये शाखाएँ आत्मनिर्भर नही हो जातीं, तब तक इनके सचालन मे घाटा उठाना पडता है, (३) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय कार्य की शिक्षा पाये हुए ऐसे कर्मचारियो की कमी, जिन पर निर्भर रहा जा सके, (४) विदेशी बैंको का वैर-भाव, तथा (५) भारतीय बैंको के प्रधान कार्यालयो के भारतवर्ष मे ही रहने की वजह से वे अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य की स्थिति के निकट सम्पर्क मे नही रहते तथा आयात निर्यात की हुण्डी (इम्पोर्ट एण्ड एक्सपोर्ट बिल) एव वसूली के लिए विनिमय-पत्रो का व्यापार प्राप्त करने मे कठिनाई का सामना करना पडता है। १९३६ मे बार्कलेज बैंक, लदन के साथ इसका एकीकरण हो गया।

लेकिन बाद मे इस देश का सम्पर्क अन्य राष्ट्रो के साथ बढा, जिसके परिणाम-स्वरूप अन्य देशो के प्रमुख बैंको की शाखाएँ भी यहाँ खुलने लगी। भारतवर्ष के व्यापार मे होने वाले विघ्न तथा कुछ विदेशो के, जिनका पहले भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अति छोटा स्थान था, महत्त्वपूर्ण आधिपत्य के कारण विदेशी बैंको को इस देश मे अपनी शाखाएँ खोलने का प्रोत्साहन मिला। अत भारत स्थित विनिमय बैंक अधिकाश लन्दन-स्थित बैंको की शाखाएँ हैं। अब यूरोपीय देशो, सुदूरपूर्व तथा अमरीका की बैंको की शाखाओ की सख्या भी बढ रही है। विनिमय बैंको का वर्गीकरण हम यो कर सकते हैं—(१) जो भारत मे अत्यधिक कारोबार करते है, और (२) जो सारे एशिया मे कारोबार करने वाले बैंको की एजेन्सी मात्र है।

१०. विनिमय बैंकों के कारोबार तथा उनकी वर्तमान स्थिति—प्रारम्भ मे विनिमय

---

१ सिन्हा, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ २२० ।

बैंकों का कार्य केवल देश के बाह्य व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने तक ही सीमित था, पर इधर हाल में उनमें से अधिकांश ने देश में, जहाँ-जहाँ इनकी शाखाएँ हैं, वहाँ के आन्तरिक व्यापार का वित्तीय योग देना काफी आरम्भ कर दिया है। विनिमय-बैंकों की अधिकांश हुण्डियाँ भारतीय निर्यातकों की निर्यात-हुण्डियाँ हैं, जो लन्दन में उन बैंकों या साख गृहों के नाम होती हैं जिनसे निर्यात को साख-सुविधा प्राप्त होती है। ये निर्यात हुण्डियाँ अधिकतर त्रैमासिक तथा स्वीकार करने पर दी जाने वाली डी० ए० होती हैं, यद्यपि कुछ मूल्य-प्राप्ति पर दी जाने वाली (डी० पी०) भी होती हैं। लन्दन में विनिमय बैंक डी० पी० हुण्डियों को अपने पास तब तक रखते हैं जब तक ये लौटा नहीं ली जाती या इनकी अवधि पूरी होने पर ये चुकता नहीं हो जाती। डी० ए० बिल का बट्टा (या पुनर्बट्टा) प्रायः स्वीकृति के तुरन्त ही बाद में हो जाता है। इंगलैण्ड में इनका पुनर्बट्टा इंगलैण्ड तथा स्काटलैण्ड की मिश्रित पूँजी वाले बैंकों या बैंक ऑफ इंगलैण्ड द्वारा होता है। इस प्रकार विनिमय बैंकों द्वारा भारतवर्ष में दिये रुपये के बराबर इंगलैण्ड में पौंड मिल जाते हैं। व्यापार मन्दा होने या भारतवर्ष में कोष की तात्कालिक माँग न होने की हालत में कभी कभी वे हुण्डी को अवधि पूरी होने तक रोक भी लेते हैं।[1] इस प्रकार भारतवर्ष के निर्यात व्यापार की वित्तीय व्यवस्था मुख्यतः ब्रिटिश बैंकों की पूँजी से ही होती है। लन्दन के द्रव्य बाजार में हुण्डियों का पुनर्बट्टा कराने की सुविधा—भारत की अपेक्षा वहाँ बट्टा दर भी कम होती है—विशेष लाभदायक है, क्योंकि विनिमय बैंक जितनी निधि की हुण्डियों को अवधि पूरी होने तक अपने पास रख सकते हैं उससे अधिक निधि की हुण्डियाँ खरीद लेते हैं।

विनिमय बैंकों द्वारा भारत की निर्यात-हुण्डी खरीदने का अर्थ है अपने कोष को लन्दन भेजना। जब तक कौंसिल बिल तथा टलीग्राफिक ट्रान्सफर खरीदने की पद्धति थी, तब तक विनिमय बैंक अपने कोषों की भारत वापसी के लिए खुलकर इन दोनों का क्रय लन्दन में करते रहे। अब वे अपनी निधि को लन्दन भेजने के लिए अपनी स्टर्लिंग की बिक्री रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के हाथ करते हैं। भारत में अपने कोष की वृद्धि करने के उनके कुछ अन्य तरीके भी हैं, जैसे आयात की हुण्डी के पक जाने पर उसे भुना लेना, विदेश स्थित भारतीय छात्रों, मुसाफिरों तथा अन्य भारत से रकम भेजने वाले व्यक्तियों को ड्राफ्ट बेचकर तथा टेलीग्राफिक ट्रान्सफर करके तथा लन्दन में खरीदे गए भारतीय ऋणपत्रों को भारत में बेचकर, इत्यादि। अप्रैल १९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के पश्चात् इस बैंक से वे लन्दन में भुगतान के लिए स्टर्लिंग ड्राफ्ट खरीद सकते हैं।[2]

भारतीय आयात व्यापार की वित्तीय व्यवस्था या तो भारतीय आयातकों पर किये गए साठ दिनों की दर्शनी हुण्डी द्वारा या लन्दन बैंक की स्वीकृत 'हाउस

---

१ भारतवर्ष तथा यूरोप, संयुक्तराज्य अमरीका तथा उपनिवेशों के बीच स्टर्लिंग में ही हुण्डियाँ की जाती हैं। भारत और जापान के बीच येन में तथा भारत और चीन के बीच हुण्डियाँ रुपये में की जाती हैं।

२ हाल में की गई विनिमय नियन्त्रण की युक्तियाँ, ६वें परिच्छेद के २६वें पैरा में देखिए।

पेपर' हुण्डी द्वारा की जाती है। भारतीयो द्वारा किये गए आयात के लिए प्राय पहले तरीके का उपयोग होता है। स्टर्लिंग मे लिखे ऐसे ड्राफ्ट को लन्दन-स्थित विनिमय बैंक भुगतान करते हैं और फिर अपनी भारत-स्थित शाखाओ के पास वसूली के लिए भेज देते है जो इन्हे स्वीकृति तथा भुगतान के लिए आयातको के सामने पेश करते हैं। आयात करने वाले बिना पूरा भुगतान किए ही वस्तुओ को दो तरीको से प्राप्त कर लेते हैं—(१) विनिमय बैंक की ओर से ट्रस्ट रसीद पेश करके आयातक वस्तुओ को प्राप्त करना तथा चीजो की अन्तिम चुकती होने के पूर्व उन्हे अपने पास धरोहर स्वरूप रखकर। दूसरा उपाय यूरोप के उन आयातकर्ताओ को प्राप्य है, जिनके लन्दन मे पुराने बैंक है। ये अपनी लन्दन-स्थित बैंको के नाम हुण्डियां लिखते हैं जो उन बैंको द्वारा स्वीकृत होने पर लन्दन मे ही बट्टे पर भुनाई जा सकती हैं। उनका बट्टा करने वाले बैंक सम्बन्धित पत्रो को अपनी भारत-स्थित शाखाओ को भेज देते हैं। शाखाएँ हुण्डियो की अवधि पूरी होने के पहले रकम वसूल करके लन्दन भेज देती है। विनिमय बैंक के विदेश-स्थित कार्यालय तथा शाखाएँ भारतवर्ष के आयात व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने मे प्रमुख भाग लेती हैं। भारतीय शाखाओ का तो साधारणतया यही कार्य होता है कि वे आयात की हुण्डी की अवधि पूरी हो जाने पर उसकी वसूली करें तथा हुण्डी भुगतान करने वालो की शक्ति तथा स्थिति-सम्बन्धी सूचना अपनी शाखाओ को दे। निर्यात की हुण्डियो के विपरीत आयात की हुण्डियो का भारतवर्ष मे पुनर्बट्टा न होने के कारण विनिमय बैंक निर्यात-व्यापार की अपेक्षा आयात व्यापार को ही अधिक वित्तीय सहायता देते हैं। अगर आयात की हुण्डी के बट्टा बाजार को हम विकसित करना चाहते है तो यह आवश्यक है कि इन्हे रुपये मे ही किया जाए तथा ये स्वीकृति पर देय हो। इन सुधारो द्वारा भारत के आयातकर्ताओ की यथार्थ शिकायतो को दूर करने मे भी सहायता मिलेगी।

सन् १९५७ मे भारत मे विनिमय बैंको—विदेशी बैंको की सख्या १७ थी। इस वर्ष निक्षेप की राशि २०४ १४ करोड रु० थी जबकि १९५६ मे यह १८७ ५४ करोड रु० थी। फरवरी, १९६६ मे भारत मे विनिमय बैंको की सख्या १५ थी और इनका कुल निक्षेप ३५२ ८६ करोड रुपया था।

११. विदेशी बैंको पर प्रतिबन्ध—अब हम विनिमय बैंको के दोष और उन्हे दूर करने के लिए प्रस्तावित प्रतिबन्धो की चर्चा करेंगे। अनुमान है कि इस देश के विदेशी व्यापार मे भारतीयो का हिस्सा केवल १५ से २० प्रतिशत है।[१] अत कमीशन, दलाली तथा बीमा के रूप मे गैर भारतीयो को बहुत-सी रकम देकर हमे काफी घाटा उठाना पडता है। लोगो की यह धारणा है कि भारत के विदेशी व्यापार मे विदेशी सस्थाओ की अधिकता इसलिए है कि य विदेशी विनिमय बैंक भारत के साथ व्यापार करने वाले अपने देशवासियो को बहुत सुविधा प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, इन बैंको को विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था

१. विमल सा० घोष द्वारा लिखित 'द स्टडी ऑफ दि इडियन मनी मार्केट', पृ० ८७।

करने का एकाधिकार है और यह कहा जाता है कि भारतीय व्यापारियों की हानि करने के लिए वे इस अधिकार का दुरुपयोग करते हैं।[1]

केन्द्रीय अधिकोष समिति से कुछ गवाहों ने विनिमय बैंकों के कार्यों के सम्बन्ध में कानून बनाने की प्रार्थना की, क्योंकि उन पर किसी प्रकार का भारतीय कानूनी प्रतिबन्ध नहीं था, यहाँ तक कि वे भारत में रजिस्टर्ड मिश्रित पूंजी वाले बैंकों पर लगाये गए अल्पसंख्यक कानूनी प्रतिबन्धों से भी मुक्त थे। यह भी कहा गया है कि यद्यपि वे भारत में ही निक्षेप इकट्ठा करते हैं, फिर भी भारतीय निक्षेपकों को किसी प्रकार का संरक्षण प्रदान नहीं किया गया है। अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी जापान तथा अन्य देशों के ही समान विनिमय बैंकों की भारत विरोधी नीति के शोधकस्वरूप तथा भारतीय व्यापारियों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए भी उनके नियन्त्रण का समर्थन किया गया (के० अ० रि०, ४७७)।

अगर कोई विदेशी बैंक भारत में महाजनी का कारोबार करना चाहता हो तो उसे लाइसेंस की निम्नलिखित शर्तों को पूरा करना चाहिए—

(१) रिज़र्व बैंक के आदेशानुसार वे अपने भारतीय कारोबार-सम्बन्धी आदेय तथा दायित्व का वार्षिक विवरण रिज़र्व बैंक को दें।

(२) कम से-कम कुछ वर्ष तक वे अपने भारतीय तथा अभारतीय कारोबार का विवरण समय-समय पर रिज़र्व बैंक को दें।

(३) पारस्परिकता के आधार पर अन्य शर्तें भी रखी जा सकती हैं। अनेक देशों ने अपने यहाँ कार्यशील अन्य राष्ट्रीय बैंकों पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया है। भारत सरकार भी भारतवर्ष में अधिकार-पत्र-प्राप्त विदेशी बैंकों पर इन्हीं शर्तों को लगाने की अपनी शक्ति का उपयोग करे। इस प्रकार भारत सरकार विदेशी बैंकों के साथ परस्परानुवर्ती व्यवहार कर सकती है (के० अ० रि०, ४५१)।

१२ भारतीय विनिमय बैंक का श्रीगणेश—विदेशी बैंकों पर लगाये गए इस तरह के प्रतिबन्ध हमारी वर्तमान स्थिति में कितना ही सुधार ला दें, पर वे हमारी कमजोरी के मूल कारण को दूर नहीं कर सकते, क्योंकि भारतवासी आयात और निर्यात व्यापार तथा ऐसे व्यापार की बैंक-सम्बन्धी सुविधा के निर्देश में बहुत ही कम हिस्सा

१. केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति के समक्ष अनेक व्यावसायिक संस्थाओं ने कहा था कि विनिमय बैंक विदेशी निर्यातकों को भारतीय व्यवसायियों के बैंकों के सम्बन्ध में असंतोषजनक सूचना देते हैं, भारतीय आयातकों को स्वीकृत होने पर देय ड्राफ्ट की सुविधा प्राप्त नहीं होती; स्वीकृत साख उल्लेख-पत्र की प्राप्ति के लिए भारत के आयातकर्ताओं को वस्तुओं की कीमत का १० से १५ प्रतिशत तक विदेशी बैंकों में जमा करना पड़ता है (जबकि विदेशी आयात पर यह शर्त लागू नहीं है), आयात-हुण्डी स्टर्लिंग मुद्रा में की जाती तथा इस पर ब्याज-दर ऊँची (६%) होती है, भारत के जहाजों तथा बीमा कम्पनियों के साथ विनिमय बैंकों का व्यवहार प्रतिकूल होता है, उनमें भारतीयों की नियुक्ति जिम्मेदार पद पर नहीं की जाती, इत्यादि। देखिए के० अ० रि० ४३६-४५। रिपोर्ट में भारत सरकार को यह सुझाव दिया गया कि वह इन शिकायतों को दूर करने के लिए विनिमय बैंकों के साथ उपयुक्त परिपाटी का सृजन करे।

लेते है। केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति न निम्नलिखित युक्तियाँ बताई जिनके द्वारा भारतवर्ष बैंकिंग तथा व्यापार मे उचित स्थान प्राप्त कर सकता है (के० अ० रि०, ४८१)—(१) सुस्थापित मिश्रित पूंजी वाले बैंको को इस प्रकार का विदेशी सम्पर्क करना चाहिए जो उनके ग्राहको के लिए लाभदायक हो। (२) रिजर्व बैंक की स्थापना के साथ-ही-साथ इम्पीरियल बैंक पर विदेशी विनिमय कार्य-सम्बन्धी प्रतिबन्धो को हटाने के पश्चात् इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया को भारत के विदेशी व्यापार मे सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। (१ अप्रैल १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के विदेशी विनिमय कार्य सम्बन्धी पुराने प्रतिबन्धो को हटा दिया गया है तथा इम्पीरियल बैंक की नियुक्ति रिजर्व बैंक के एकाकी एजेंट-रूप मे भी हुई है।) (३) समिति ने यह भी सिफारिश की कि अगर इम्पीरियल बैंक भारत के विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था ठीक तरह से नही कर पाता तो एक भारतीय विनिमय बैंक की स्थापना की जाए (के० अ० रि० ४८५)। इस बैंक की ३ करोड रुपय की ऐसी पूंजी होनी चाहिए जिसे भारत मे रजिस्टर्ड मिश्रित पूंजी वाले बैंक पहली किस्त मे ही खरीद लें। अगर सम्पूर्ण हिस्सा-पूंजी की बिक्री निर्दिष्ट समय के भीतर नही हो जाती तो सरकार बाकी रकम की पूर्ति करके उसे जनसाधारण के हाथ बेच दे। जब तक ५० प्रतिशत स अधिक पूंजी सरकार की हो, तब तक सचालकों की नियुक्ति मे उसका विशेष हाथ होना चाहिए। सरकार के प्रेषण-सम्बन्धी कार्यों को रिजर्व बैंक द्वारा नियन्त्रित किसी नए बैंक को सौंपने के प्रश्न पर इस शर्त पर रिजर्व बैंक के साथ विचार करना चाहिए कि उस नये बैंक को यह स्वीकृति न दी जाएगी कि वह एजेन्ट की हैसियत से खुले बाजार मे इस प्रेरणा का उपयोग मुनाफा कमाने के लिए करे।[1] (४) ऐसे बैंको की स्थापना की जानी चाहिए जिन पर भारतीय तथा विदेशी सम्मिलित नियन्त्रण बराबरी के हिस्सेदार की हैसियत से हो।

इस समय विदेशी बैंको का नियन्त्रण करने की दृष्टि से बैंकिंग कम्पनी अधिनियम १९४९ में निम्नलिखित व्यवस्था की गई है—

(क) प्रत्येक विदेशी बैंक के पास त्रैमासिक के अन्त पर उसके भारतीय दायित्व (मांग और सावधि) के ७५% के आदेय भारत मे होने चाहिए।

(ख) बम्बई और कलकत्ता मे स्थित विदेशी बैंकों की पूंजी तथा रिजर्व कम से-कम २० लाख रुपये तथा अन्य स्थानो मे स्थित होने पर १५ लाख रु० होना चाहिए। ये विधियाँ भारतीय बैंको के लिए निर्धारित सीमाओं से अधिक हैं।

(ग) विदेशी बैंक का दिवाला निकलने पर भारतीय निक्षेपकों और ऋण-दाताओं का उनके भारत-स्थित आदेय पर प्राथमिक अधिकार होगा।

---

१. समिति के ६ सदस्यों की (जिनमें सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास भी थे) विमति टिप्पणी में इस बात की जोरदार सिफारिश की गई थी कि राज्य द्वारा अपनी ही ३ करोड़ रुपये की पूंजी के साथ शीघ्रातिशीघ्र विनिमय बैंक की स्थापना की जाए।

(घ) प्रत्येक वर्ष विदेशी बैंक अपने भारतीय कारोबार का हानि-लाभ विवरण तथा स्थिति-विवरण तैयार करके प्रकाशित करेंगे।

१३ मिश्रित पूंजी के बैंको का इतिहास—भारतवर्ष के बढते हुए व्यापार के कारण आधुनिक और सुव्यवस्थित श्रेणी के बैंको की आवश्यकता थी। पर इस आवश्यकता की पूर्ति न तो प्रेसीडेन्सी बैंक ही कर सकते थे जो अनेक प्रतिबन्धो से मुक्त अर्ध-सार्वजनिक सस्था थे तथा कुछ ही बडे शहरो मे जिनकी शाखाएँ थी और न विनिमय बैंक ही, जिन पर विदेशी व्यापार की पूंजी ने पहले से ही अपना अधिकार जमा रखा था। व्यवस्थित बैंकिंग की प्रगति १८६० तक, जबकि इस देश मे पहले-पहल सीमित दायित्व का सिद्धान्त अपनाया गया, बहुत ही धीमी रही। इस यथेष्ट प्रगति के रुके रहने के कारण थे, रुई की तेजी द्वारा लाया हुआ १८६५ का वित्तीय सकट तथा रुपये के विनिमय मूल्य का गिर जाना। इस श्रेणी का सर्वप्रथम बैंक था बैंक ऑफ अपर इण्डिया (१८६३), जिसका अनुसरण इलाहाबाद बैंक (१८६५) तथा कुछ अन्य बैंको ने भी किया, जिनमे एलाएस बैंक ऑफ शिमला भी (१८७४), जिसका दिवाला १९२३ मे निकल गया, एक था। १८७० मे इस प्रकार के सात बैंक थे। १८९४ में यह सख्या १४ हो गई। उस समय उनमे से अधिकाश यूरोपीय प्रबन्ध मे थे तथा अब भी उनकी वही दशा है। अवध कमर्शियल बैंक पहला बैंक था जिसकी स्थापना १८८१ मे केवल भारतीय साहसियो द्वारा की गई। १८९४ मे लाला हरकिशन लाल के प्रयत्नो से पजाब नेशनल बैंक की स्थापना हुई। १९०१ मे पीपुल्स बैंक की स्थापना का श्रेय भी इन्ही को था। पीपुल्स बैंक की प्रगति बहुत ही अच्छी रही। १९१३ म इसका दिवाला निकलने के समय इसके पास १०० शाखाएँ तथा १½ करोड रुपये से अधिक निक्षेप थे।[1]

१४ बैंकों का दिवाला[2]—प्रारम्भ के कुछ दिनो तक तो इन बैंको ने अवश्य ही बडी प्रगति दिखाई, पर असल मे बहुतो का कारोबार सट्टेबाजी से पूर्ण और अरक्षित था, तथा उनका नकद रिजर्व दायित्व की अपेक्षा इतना क्षीण था कि केन्स-जैसे विद्वान् के लिए उनके शीघ्र पतन की भविष्यवाणी करना कठिन बात नही थी। केन्स ने दुख के साथ अपनी इस भविष्यवाणी को सच होते भी देख लिया।[3] १९१३-१४ के बीच लगभग ५५ बैंको की प्रतिक्रिया हुई। १९१४-१८ के युद्ध के समय तथा बाद की

१. देखिए बी० टी० ठाकुर द्वारा लिखित आर्गनाइजेशन ऑफ इण्डियन बैंकिंग, पृ० ३१-३२।

२. देखिए, श्री एस० के० मुरञ्जन द्वारा लिखित 'मॉडर्न बैंकिंग इन इण्डिया' का ९वां परिच्छेद, जिसमें कुछ बैंकों के विशेष उल्लेख के साथ भारतवर्ष के बैंकों के दिवाले का अति पठनीय और स्पष्ट विश्लेषण दिया गया है।

३ केन्स ने भारतीय बैंकों के दिवाला निकलने के पूर्व १९१३ में लिखा था कि "छोटे-छोटे बैंकों का कारोबार ऐसे देश में है जहाँ अब भी सचय की ही प्रधानता है तथा ऐसे लोगों के साथ है, जिनके लिए बैंकिंग एक नई चीज है एवम् इन बैंकों की नकद रकम भी अति अपर्याप्त दिखाई पडती है। अत: इसमें सन्देह करने की कोई भी गुञ्जाइश नहीं कि आगामी मन्दी के समय ये तहस-नहस हो जाएँगे।"

नेजी ने नये बैंको को खडा होने की और भी प्रेरणा प्रदान की, पर बाद की मन्दी ने अनेकों का दिवाला निकाल दिया। भारत के मिश्रित पूँजी वाले बैंको के लिए १९१३-२४ के बीच के वर्ष अति भयावह थे। इस अवधि मे लगभग ६$\frac{3}{4}$ करोड रुपये के प्राप्त हिस्सा-पूँजी वाले करीब १६१ बैंको का दिवाला निकला। युद्धोत्तर-कालीन दिवालो मे १९२३ मे हुए बैंक ऑफ शिमला का दिवाला प्रमुख है। इसका प्रभाव सुदूर व्यापी तथा अति दु खदायी था।

१५. बैंको का दिवाला निकलने के कारण—बैंको के दिवाले के, विशेषत १९१३-१४ मे होने वाले दिवालो के, कारण निम्न प्रकार थे—(१) निक्षेप-दायित्वो के अनुपात मे नकद का प्रतिशत कम अर्थात् औसतन १० से ११ प्रतिशत था, (२) प्राप्त हिस्सा-पूँजी की कमी की पूर्ति हेतु निक्षेप आकर्षित करने के लिए दी जाने वाली ब्याज-दर अधिक थी, (३) स्वीकृत और बिकी हुई हिस्सा पूँजी मे तथा बिकी हुई हिस्सा-पूँजी और प्राप्त हिस्सा-पूँजी के बीच उचित अनुपात का अभाव, (४) बैंकिंग कारोबार जानने वाले योग्य प्रबन्धको तथा निर्देशको का अभाव और सचालक-मण्डल द्वारा उचित निरीक्षण का न होना[1], (५) कुछ सचालको तथा प्रबन्धको का कपट व्यवहार, (६) भोले-भाले निक्षेपको का आँकडो की तडक-भडक तथा पूँजी मे से भी बाँट लाभाश के कारण ठगा जाना, (७) ऐसे शमनकारी उपायो का अभाव जिनकी पूर्ति केवल सरकारी या अर्द्ध-सरकारी सस्थाओं द्वारा हो सकती थी, तथा (८) आपस मे बैंको के बीच सहयोग की परम्परा का अभाव।

जैसा कि श्री डोरास्वामी ने लिखा है भारतीय बैंको के दिवालापन के पथ पर यूरोपियनो द्वारा सचालित सस्थाओ के दिवाले भी पडे मिलते हैं।[2] इसकी पुष्टि वह प्रथम बैंक ऑफ बम्बई (१८६८), आर्बथनाट बैंक तथा एलाएन्स बैंक ऑफ शिमला की असफलताओ के दृष्टान्त द्वारा करते हैं। यद्यपि कुछ हद तक कपट-प्रबन्ध इन बैंकों के दिवालापन का कारण अवश्य ही पाया गया, पर उनका प्रधान कारण तो अनुभव तथा ज्ञान की कमी ही थी। बैंको की इन असफलताओं ने यह सबक सिखाया कि बैंकिंग न तो सीधा कारोबार है, न केवल कपटपूर्ण ही तथा सक्राति के खतरो को कम करने के लिए बैंक की व्यवस्था-प्रणाली के सुधार, कर्मचारियो का सावधानी से चुनाव और स्वस्थ बैंकिंग व्यवस्था का पालन करना अति आवश्यक है।

१९३८ के दक्षिण भारत के बैंकिंग सकट ने अनुसूचित बैंको को रिजर्व बैंक के घनिष्ठ सम्पर्क मे रहने की आवश्यकता का अनुभव करा दिया, ताकि इसके समक्ष वे अपनी स्थिति तथा व्यापार का स्पष्ट चित्रण रख सकें, जिससे सकट के समय रिजर्व बैंक योग्य सस्थाओ को साख सहायता दे सकें।[3] इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि

१. 'यह बात ठीक वैसी ही है कि बिना किसी शिक्षित अफसर को साथ लिये तथा अधिकारियों की आज्ञा लिये ही सेना लडाई में चली जाए।'—शिराज लिखित इण्डियन फिनान्स एण्ड बैंकिंग, पृष्ठ ३३६।

२. देखिए, श्री एस० वी० डोरास्वामी द्वारा लिखित इण्डियन फिनान्स, करेन्सी एण्ड बैंकिंग, पृ० ३।

३. यह पहला बैंकिंग सकट था जिसका मुकाबला रिजर्व बैंक को करना पडा।

अनुसूचित बैंकों के पास पुनर्भुगतान योग्य पर्याप्त आदेय का न होना उन्हें पेशगी प्रदान करने की कठिनाइयों में से एक है। १९१३-१४ तथा बाद में होने वाले दिवालों ने भी अधिकोषण सिद्धान्त तथा व्यवहार-सम्बन्धी उचित शिक्षण की व्यवस्था की आवश्यकता को स्पष्ट कर दिया। विस्तीर्ण प्रचार का महत्त्व भी सुशिक्षित बैंक कर्मचारियों तथा बैंक-सम्बन्धी कानूनों से कम नहीं है। जनता इसके सहारे किसी भी समय बैंकों की स्थिति का अनुमान आसानी से लगा लेती है। इसके अलावा यह भी आवश्यक है कि बैंक अपनी गौरवशाली परम्परा तथा जनता के प्रति अपनी जिम्मेवारी को बनाए रखें।

१६. पर्याप्त नकद कोष का महत्त्व—बैंकों के पास पर्याप्त नकद का रहना स्वस्थ महाजनी की प्रारम्भिक आवश्यकता है, पर अनेक देशों में प्राय देखा गया है कि इसके प्रति असावधानी के कारण काफी बरबादी उठाने के बाद ही वे इस कल्याणकारी सबक को सीखते हैं। ऐसा लगता है कि भारत के मिश्रित पूँजी वाले बैंकों ने दिवाले के रूप में काफी शुल्क चुकाकर कम-से कम इस सबक को सीख ही लिया है। इसका प्रमाण है हाल में उनके द्वारा की गई काफी सुरक्षित धन रखने की स्पृहय आकांक्षा। इस विषय की महत्ता बम्बई अधिकोष खोज समिति के उस सुझाव से स्पष्ट हो जाती है जिसमें इसने कहा था कि सयुक्तराज्य अमरीका के समान हमारे देश के बैंक की एजेन्सियाँ पर्याप्त नकद कोष रखने के लिए कानून द्वारा बाध्य की जानी चाहिएँ। पर केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया। उन्हे इस बात का भय था कि कानून द्वारा निश्चित की गई निम्नतम सीमा को बैंक के प्रबन्धकर्त्ता अधिकतम सीमा मानने लगेंगे तथा कानूनी पाबन्दी से बचने के लिए अन्य उपायों का भी सहारा लिया जाएगा। समिति ने यह विषय बैंकों की ही सद्‌बुद्धि तथा विवेक पर छोड़ देना अच्छा समझा (के० अ० रि०, ७०६)। लेकिन १९३६ में सशोधित कम्पनी एक्ट द्वारा निम्नतम नकद रखने का विधान कर दिया गया है (आगे देखिए, पैरा १९) तथा १९३९ में रिजर्व बैंक ने एक बैंक एक्ट के लिए जो प्रस्ताव रखा उसका प्रयोजन बैंकों के साधनों की पर्याप्त तरलता की प्राप्ति करना ही है (आगे देखिए, पैरा २०)।

१७. बैंक सम्बन्धी नियमन—बार-बार होने वाली बैंकों की उपर्युक्त भयावह असफलताओं तथा स्वस्थ राष्ट्रीय आधार पर बैंकों को विकसित करने के विचार से इनका साभिप्राय नियमन आवश्यक समझा गया। सरकार द्वारा परम्परागत निःहस्तक्षेप की नीति अपनाए जाने के कारण इस सम्बन्ध में हमारे देश की स्थिति १९३६ तक असन्तोषजनक ही रही। दूसरी सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों के ही समान १९३६ तक सम्मिलित पूँजी वाले बैंक भी इण्डियन कम्पनी एक्ट १९१३ द्वारा शासित थे। इस कानून के केवल थोड़े से परिच्छेद ही सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों से विशेष रूप से सम्बन्धित थे। इस पुराने कानून में बैंकों के लिए वार्षिक बैलेन्स शीट को तैयार करने तथा साल में दो बार व्यवस्था-विवरण-पत्र को प्रकाशित करने की रीति के सम्बन्ध में थोड़े नियमों का पालन करने के अलावा और था ही क्या!

१८. सशोधित इण्डियन कम्पनीज एक्ट (१६३६) मे बैंकिंग कम्पनियों से सम्बद्ध विशेष विधान—पाँच वर्ष के विलम्ब के पश्चात् भारत सरकार ने अधिकोषो से सम्बद्ध विशेष विधानो को अपने इण्डियन कम्पनीज (एमेण्डेड) बिल मे सम्मिलित करने का निश्चय किया। नये विधान निम्नलिखित है और इनका प्रारूप तैयार करते समय केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति की सिफारिशो का ध्यान रखा गया।[1]

(१) बैंकिंग कम्पनी वह है जो रुपया उधार देने, हुण्डियो का बट्टा करने, विदेशी विनिमय की खरीद या बिक्री करने, साख-पत्रो की मजूरी देने, बेशकीमती वस्तुओ को सरक्षण मे रखने, पूँजी-हिस्से, ऋण-पत्र आदि का बीमा करने तथा उनका लेन-देन करने, और प्रन्यासो को ग्रहण तथा उनका सम्पादन करने आदि कार्यों मे से किसी एक या सभी को करने के अतिरिक्त चालू खाते पर या अन्य प्रकार से निक्षेप स्वीकार करने का, जिसकी वापसी चेक, हुण्डी या आर्डर द्वारा हो सकती है, अपना प्रमुख व्यवसाय करती है। (२) अधिकोष कम्पनी की रजिस्ट्री इस शर्त पर की जाएगी कि कम्पनी के विधान-पत्र मे यह उल्लिखित हो कि कम्पनी केवल साधारण बैंक-सम्बन्धी कार्य करेगी। (३) भविष्य मे बैंको के प्रबन्ध-हेतु प्रबन्ध अभिकर्ताओ की नियुक्ति निषिद्ध है। (४) हिस्सा-पूँजी के बँटवारे द्वारा ५०,००० रुपये की कार्यशील पूँजी एकत्र हो जाने का प्रमाण-पत्र देने पर ही कम्पनी कार्य आरम्भ कर सकती है। इस प्रकार निम्नतम पूँजी का रखना अनिवार्य हो गया है। (५) किसी भी बैंकिंग कम्पनी को यह अनुमति नही है कि वह अपनी अदत्त पूँजी पर किसी प्रकार का दायित्व लादे। (६) किसी भी प्रकार के वार्षिक लाभाश वितरण की घोषणा करने के पूर्व लाभ का कम-से-कम २० प्रतिशत सुरक्षित कोष मे जमा करना अनिवार्य है, जब तक यह कोष चुकाई हुई पूँजी के बराबर न हो जाए। इस प्रकार एक सुरक्षित रकम का होना अनिवार्य कर दिया गया है। अवधि-दायित्व (टाइम लाइबिलिटीज) का १½ प्रतिशत तथा माँग-दायित्व (डिमाण्ड लाइबिलिटीज) का ५ प्रतिशत का एक नकद निम्नतम नकद कोष रखना आवश्यक है तथा अनुसूचित बैंको को छोड़कर अन्य बैंकिंग कम्पनियो द्वारा इस प्रकार की रकम तथा दोनो प्रकार के दायित्वो का विवरण रजिस्ट्रार के यहाँ दाखिल करना आवश्यक है। (८) किसी बैंकिंग कम्पनी को यह इजाजत नही कि वह एक ऐसी कम्पनी के अतिरिक्त, जिसका निर्माण स्वय उसी ने, प्रन्यास को ग्रहण करने एव उनका सम्पादन करने या जायदाद के प्रबन्ध आदि को लेने आदि उद्देश्यो से, जो निक्षेप को स्वीकार करने से सम्बद्ध नही है, किया है, किसी अन्य सहायक कम्पनी के हिस्सा निर्मित करे या धारण करे। (९) बैंकिंग कम्पनियो को अल्पकालीन कठिनाइयो के कारण दिवालापन से बचाने के लिए अदालत को यह अधिकार दिया गया कि बैंकिंग कम्पनियो के दरखास्त करने पर, बशर्ते कि दरखास्त के साथ रजिस्ट्रार का विवरण भी हो, वह इन कम्पनियो के

१. देखिए १६३६ का एक्ट (जो कुछ विशेष अभिप्राय से भारतीय कम्पनी एक्ट १६१३ में सशोधन हेतु बना) भाग १० ए, धारा २७७ एफ से २७७एन तक।

खिलाफ की जाने वाली कार्यवाही को रोक सके। रजिस्ट्रार को यह अधिकार है कि इस हेतु वह कम्पनी के ही खर्च पर उसकी वित्तीय व्यवस्था की जाँच कर सके।

१६ बैंकिंग के नियमन-हेतु हाल मे की गई वैधानिक व्यवस्थाएँ[1]—नवम्बर, १९३९ मे रिज़र्व बैंक ने सरकार के सामने जिन थोड़े-से प्रस्तावो को रखा वे इस सामान्य सिद्धान्त पर आधारित थे कि निक्षेपको के हित की रक्षा करते देश मे जनता के मध्य अधिकोष-प्रणाली का प्रचलन बढ़ाना ही सर्वप्रधान उद्देश्य होना चाहिए। वे सुसचालित तथा आर्थिक दृष्टि से सुदृढ अधिकोषो का जाल फैलाना चाहते थे, जिससे रिज़र्व बैंक को देश के साख-सगठन का समन्वय करने तथा रिज़र्व बैंक ऐक्ट द्वारा निर्दिष्ट साख-विस्तार की शक्ति का उचित उपयोग करने में समर्थ बना सके।

११ अप्रैल, १९४५ को असेम्बली मे रिज़र्व बैंक के प्रस्ताव के आधार पर तैयार किए गए एक बिल (बैंकिंग कम्पनी बिल १९४५) को अपनी कार्य-सूची मे रख लिया, पर असेम्बली के भग हो जाने से यह विधेयक गिर गया। १५ मार्च १९४६ को इसे पुनर्निर्वाचित असेम्बली के सामने पुन रखा गया। जनमत को दृष्टि मे रखते हुए इस बिल मे कुछ सशोधन इस उद्देश्य से कर दिया गया कि बैंको के ऊपर रिज़र्व बैंक का अधिक नियन्त्रण रह सके।

जिस समय व्यवस्थापिका सभा में इस बिल पर विचार हो रहा था, उसी समय केन्द्रीय सरकार ने १९ जनवरी, १९४६ को एक अध्यादेश जारी करके [बैंकिंग कम्पनीज़ (इन्सपेक्शन) ऑर्डिनेन्स १९४६] सरकार को यह अधिकार प्रदान किया कि रिज़र्व बैंक के निरीक्षण के विवरण के अवलोकन के पश्चात् अगर सरकार यह समझती है कि किसी बैंकिंग कम्पनी की कार्यवाहियाँ उसके निक्षेपको के हित के विरुद्ध हैं तो वह उसे सुधारने का उपाय कर सकती है। जहाँ भी आवश्यकता पड़े सरकार तत्सम्बद्ध बैंकिंग कम्पनी को नया निक्षेप लेने से निषेध कर सकती, उसे अनुसूचित बैंको की सूची मे लेने से इन्कार कर सकती या अगर वह पहले से ही इस सूची मे हो तो उसे निकाल भी सकती है। बैंकिंग कम्पनीज़ बिल पर विचार-काल मे शाखाओं के अनियोजित विस्तार को नियन्त्रित करने तथा शाखाओ के साधनो की अपेक्षा उन पर अधिक खर्च करने एव अप्रशिक्षित (अनट्रेण्ड) कर्तृ-वर्ग को रखने आदि अवाछित विकास को रोकने के उद्देश्य से बैंकिंग कम्पनीज़ एक्ट (शाखाओं पर प्रतिबन्ध) १९४६ को पास किया गया जो २२ नवम्बर, १९४६ से लागू हो गया।

दि बैंकिंग कम्पनीज़ (कण्ट्रोल) आर्डिनेन्स, १९४८ में बैंकिंग कम्पनीज़ बिल की कुछ धाराओ को तुरन्त ही इस उद्देश्य से कार्यान्वित किया गया कि वह बैंकिंग पद्धति को ठीक तरह से नियमित करने मे रिज़र्व बैंक की सहायता कर सके। इसके

---

१. रिपोर्ट ऑन करेंसी एण्ड फाइनेन्स, १९४८-४९ का अनुच्छेद ६५ देखिए।

२. अनुसूचित बैंकों ने १९४६ में जनवरी से मार्च तक ९९, अप्रैल से जून तक ७४ तथा जुलाई से दिसम्बर, १९४६ तक १४० शाखाएँ खोलीं।

अन्तर्गत रिज़र्व बैंक को यह अधिकार मिला कि वह अपनी समझ के अनुसार पर्याप्त ज़मानत पर आवश्यक पेशगी दे और बैंकों की उधार देने की नीति तथा उनके कारोबार की जाँच कर सके। अधिनियम के अन्तर्गत यह आवश्यक होगा कि प्रत्येक बैंक त्रैमासिक अवधि के अन्त मे इस देश के अपने अवधि तथा माँग-दायित्व क कम-से-कम ७५% आदेय को भारत मे रखे। रिज़र्व बैंक की सहमति से ही बैंको के बीच एकीकरण प्रबन्ध की योजना तथा समझौते का होना सम्भव था।

अधिकोषीय अधिनियम, १९४९—अन्ततोगत्वा भारतीय ससद ने १७ फरवरी १९४९ क अधिकोष अधिनियम को पारित कर दिया तथा १६ मार्च, १९४९ से इसे लागू कर दिया गया। १९१३ के कम्पनी-अधिनियम के अन्तर्गत दी हुई बैंक-सम्बन्धी धाराओ तथा तब से अब तक के अधिनियमो और अध्यादेशो की बातो का नये अधिनियम मे समावेश था और जहाँ तक अधिकोषो का प्रश्न था, केवल नया अधिनियम ही उन पर लागू होगा। इसमे कतिपय नई धाराओ का समावेश भी है—

(१) यह कानून सहकारी बैंको को छोड़कर सभी अधिकोषो पर लागू है तथा भारतीय ससद को भारतीय सघ मे शामिल हो जाने वाले जिन राज्यो के लिए बैंकिंग कानून बनाने का अधिकार है वे राज्य तथा इस देश के सब प्रदेश इस अधिनियम के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत है। इस अधिनियम ने बैंक-कार्य की परिभाषा यो दी है—कर्ज़ देने या विनियोग के प्रयोजन से जनता से ऐसे निक्षेप स्वीकार करना, जिन्हे माँगते ही या अन्य प्रकार से लौटाना हो तथा जो चैक, हुण्डी, आर्डर या अन्य उपाय द्वारा वापस माँगे जाने के योग्य हो। सुरक्षा तथा तात्कालिक वापसी की दृष्टि स जिन सस्थाओ मे कोष जमा किया जाता है उन तक अधिनियम के क्षेत्र को सीमित करने तथा १९३० के इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट की २७७वी धारा मे दी 'प्रमुख व्यापार' शब्द की परिभाषा के कारण उत्पन्न कठिनाई को दूर करने के लिए उपर्युक्त सरल परिभाषा आवश्यक थी।

(२) रिजर्व बैंक इस कानून के अन्तर्गत आने वाले सारे बैंको की वित्तीय स्थिति की दृढता के प्रति निश्चित हो जाने के बाद उन्हे अधिकार-पत्र प्रदान करेगा, पर अगर कोई देश भारत मे निबन्धित बैंको के प्रति भेद-भाव प्रदर्शित करता है तो उस देश मे रजिस्टर्ड (इनकारपोरेटेड) बैंक को अधिकार-पत्र नही दिया जा सकता।

(३) अधिनियम मे बैंक के भौगोलिक कार्य-क्षेत्र को दृष्टि मे रखते हुए उसकी प्राप्त हिस्सा-पूँजी तथा सुरक्षित कोष की निम्नतम सीमा भी निर्धारित कर दी गई है।

(४) अधिनियम के अनुसार और अनुसूचित बैंको के लिए भी यह अनिवार्य है कि वे अपने पास या रिज़र्व बैंक मे कम-से कम अवधि दायित्व का २०% तथा माँग दायित्व का ५% धन सुरक्षित रखे तथा प्रत्येक शुक्रवार के नक्द एव समय व माग-दायित्व के आँकडे प्रतिमास रिज़र्व बैंक को प्रस्तुत करे।

(५) प्रत्येक बैंक के लिए यह आवश्यक है कि इस कानून के लागू होने के दो वर्ष पश्चात् अपने समय और माँग-दायित्व का २०% नकद मे या प्रचलित बाज़ार-

दर के अनुसार मूल्यांकित स्वर्ण या ऋणमुक्त स्वीकृत प्रतिभूतियों में रखें। इसके अतिरिक्त प्रत्येक त्रैमासिक अवधि के अन्त में उनके समय तथा माँग-दायित्व की ७५% निधि को अपने क्षेत्र में ही रखना भी आवश्यक है।

(६) किसी अधिकोष के सचालकगण को दूसरी कम्पनी का सचालन करने, प्रबन्ध अभिकर्ता (मैनेजिंग एजेण्टों) की नियुक्ति करने या किसी ऐसी फर्म को, जिसमे किसी सचालक का स्वार्थ निहित हो या किसी सचालक को असुरक्षित ऋण या पेशगी देने का निषेध है।

(७) रिजर्व बैंक के इस समय निम्नलिखित कानूनी अधिकार तथा कर्तव्य हैं—(क) बैंकों को ऋण-सम्बन्धी नीति तथा उसकी सीमा निश्चित करने व सूद लेने के सम्बन्ध मे निर्देश जारी करना, (ख) किसी विशेष कार्य व किसी प्रकार के कार्यों के सम्बन्ध मे चेतावनी देने या उन्हे करने से निषेध करना, समय-समय पर तथा एतदर्थ ब्यौरा माँगना एव उसे प्रकाशित करना, (घ) स्वय ही या सरकारी आज्ञानुसार बैंकों का निरीक्षण करना, (च) नये शाखा-कार्यालयों को खोलने या किन्हीं वर्तमान शाखा-कार्यालयों का अन्तरण (ट्रान्सफर) करने की अनुमति देना या न देना, (छ) किसी बैंकिंग कम्पनी के कारोबार को बन्द करने वाले मुकद्दमे के सिलसिले मे न्यायालय से स्वय को सरकारी निस्तारक की नियुक्ति की माँग करना, (ज) देश मे अधिकोषीय उन्नति व प्रवृत्ति के बारे मे केन्द्रीय सरकार को एक वार्षिक विवरण देना व इसे समृद्धिशाली बनाने के उपायों के बारे मे सुझाव देना। निरीक्षण के फल-स्वरूप पता चला है कि बैंकों के कार्यों मे निम्नलिखित उल्लेखनीय बुराइयाँ हैं—अपर्याप्त रिजर्व, अति कम नकद-आदेय, अवधि पर न चुकाए ऋण, अचल सम्पत्ति के आधार पर दिये अधिक ऋण तथा सन्देहात्मक ऋणों का अधिक अनुपात।

अधिकोषीय (सशोधन) अधिनियम १९५२ तथा अधिकोषीय (सशोधन) अधिनियम १९५६ के बाद १९५९ मे पुन अधिकोषीय (सशोधन) अधिनियम पास किया गया जो १ अक्तूबर १९५९ से लागू हुआ।

१९५९ के सशोधन अधिनियम की दो विशेषताएँ हैं. एक ओर तो वह बैंकों की कार्यवाही को लचीलापन प्रदान करता है, दूसरी ओर वह बैंकिंग व्यवस्था के ऊपर रिजर्व बैंक के अधिकारों का अज्ञात विस्तार करता है। उदाहरण के लिए इस सशोधन अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक की लिखित अनुमति प्राप्त होने पर बैंकिंग कम्पनियाँ विदेशों मे सहायक कम्पनियाँ खोल सकती हैं। बैंकों की हर आदेय (एसेट) की गणना के लिए रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, तथा रिफाइनेन्स कारपोरेशन से लिये गए ऋण देय-राशि मे नहीं सम्मिलित किये जाएँगे आदि। रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह किसी बैंक के अध्यक्ष (चेयरमैन), सचालक या प्रबन्धक या मुख्य प्रशासकीय अधिकारी को हटा सकता है, बशर्ते कि उसे किसी ट्रिब्यूनल या अधिकारी ने किसी विधान की व्यवस्था भग करते पाया हो तथा रिजर्व बैंक को यह सन्तोष हो कि बैंक के साथ ऐसे व्यक्ति का सहयोग अवाञ्छनीय ही है। किसी सचालक की नियुक्ति या पुन नियुक्ति तथा प्रतिफल (चाहे सचालक

पूरे समय काम करता हो या कुछ समय तक ही) सम्बन्धी व्यवस्था मे कोई परिवर्तन रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना नही हो सकता। १६५६ के संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक की अस्वीकृति केवल प्रबन्धक, सचालक (मैनेजिंग डाइरेक्टर), प्रबन्धक (मैनेजर) या मुख्य प्रशासकीय अधिकारी तक ही सीमित थी।

२०. निकासी-गृह—'निकासी-गृह' पद्धति का आरम्भ इंगलैण्ड मे १८वी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश मे हुआ। अनेक प्रतिदावो (क्रासक्लेम्स) का सन्धान (एडजस्टमेण्ट) इसने नकद या द्रव्य के वास्तविक उपयोग के बिना ही कर दिया। इस पद्धति के कारण ही इंगलैण्ड तथा अन्य देशो की चेक पद्धति का आशातीत विकास हुआ है। इस पद्धति की अत्यधिक सफलता के लिए यह आवश्यक है कि निकासी गृह के सदस्य बैंको मे से एक बैंक भुगतान बैंक या बैंको का बैंक के रूप मे कार्य करे तथा दूसरे बैंक इसके पास कुछ रकम रखें ताकि प्रतिदावो का भुगतान पूर्णरूपेण तथा आसानी से हो जाए।

केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति के सम्मुख इम्पीरियल बैंक के तत्कालीन मैनेजिंग गवर्नर श्री मैकडानल्ड ने निपटारा करने वाले बैंको की एक परिषद् की स्थापना का सुझाव रखा था। निकासी-गृह के निजी नियम होने चाहिए तथा प्रत्येक निकासी-गृह का विस्तारपूर्वक प्रबन्ध करना चाहिए। प्रत्येक सदस्य बैंक के अपने-अपने तथा निकासी-गृह के साहूकार बैंक होने चाहिएँ। हमारे देश मे रिजर्व बैंक की स्थापना होने के पहले तक इम्पीरियल बैंक ही इन कामो को करता था। इस कारण गडबडी भी पैदा हो जाती थी तथा अन्य बैंक प्राय इम्पीरियल बैंक मे रखे हुए अपने कोष को निकासी-गृह मे रखे हुए एक अश के समान ही इस निपटारे के अन्तर को बराबर करने का एक साधन मान लेते थे और वे इस बात को भूल जाते थे कि रकम की आवश्यकता केवल निपटारे की भिन्नता को ही पूरा करने के लिए ही न होकर अन्य बैंक-सम्बन्धी कार्य को पूरा करने के लिए भी है। चेक का व्यवहार केवल व्यावसायिक शहरो तक मे ही होने के कारण अभी यह अपने शैशव-काल से ही गुजर रहा है, पर अब धीरे-धीरे यह देहात की ओर भी फैल रहा है और इम्पीरियल बैंक की बहुत-सी शाखाओ के खुलने के बाद तो यह प्रवृत्ति विशेष स्पष्ट दिखाई पड रही है। सहकारी बैंको द्वारा जारी किये गए चेक भी आतरिक क्षेत्रो की जनता को चेक-पद्धति से परिचित बना रहे हैं। निकासी गृह-पद्धति को लोकप्रिय बनाने तथा उसका विस्तार करने के लिए यह आवश्यक है कि देहात की वैयक्तिक फर्मो के चेको के निपटारे के लिए उन्हे अधिक सुविधा दी जाए तथा निकासी-गृहो की सुविधा उचित स्थिति वाली रजिस्टर्ड निजी फर्मों को भी दी जाए। चेको का व्यवहार तो निरसन्देह ही दिन-ब-दिन बढता जा रहा है, तब भी इस देश के बृहत् आकार तथा जनसख्या की दृष्टि से अभी यह नही के ही बराबर है। दूर-दूर तक फैली हुई निरक्षरता भी इस पद्धति के विकास के बाधको मे है।

२१. पोस्टल सेविंग बैंक—१८३३ तथा १८३५ के बीच प्रेसिडेंसी नगरो मे सरकारी सेविंग बैंको की स्थापना की गई। १८१७ मे कुछ चुने हुए जिला खजानो से

सम्बन्धित जिला सेविंग बैंकों की स्थापना हुई। १९१४ में किसी व्यक्तिगत निक्षेप की सम्भावी वार्षिक तथा कुल निक्षेप की रकम की सीमा बढ़ाकर और निक्षेपों को सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करने की सहायता देकर सरकार ने निक्षेपकों को अधिक सुविधा प्रदान की। फलस्वरूप अत्यधिक संख्या में निक्षेप आने लगे। विशेषतः १९१३-१४ की बैंक असफलताओं के कारण व्यक्तिगत बैंकों पर जनता का विश्वास उठ गया था। १९१४-१८ का युद्ध डाकखाने के निक्षेपों में कुछ मंदी तो अवश्य ही लाया, पर युद्धोत्तर-काल में इस दिशा में काफी प्रगति भी हुई। १९२२-२३ के उपरान्त निक्षेप की रकम (२३.१९ करोड़ रुपया) १९१४-१८ की लड़ाई के पूर्व के निक्षेप की अपेक्षा बढ़ गई थी, पर यदि हम रुपये की क्रय-शक्ति के गिर जाने वाले समय का भी खयाल करें तो यह स्थिति उतनी सतोषप्रद नहीं रह जाती। विगत वर्षों में स्वर्ण-विक्रय के कुछ अंश का विनियोग कर देने के फलस्वरूप निक्षेप की रकम में अत्यन्त वृद्धि हो गई है। सितम्बर १९३९ में लड़ाई छिड़ते ही सेविंग बैंकों से वापस होने वाली रकम ७.९१ करोड़ तक थी, पर बाद के महीनों में पुनः विश्वास जमने के साथ-साथ इस दिशा में काफी प्रगति हुई।

सेविंग्ज़ बैंकों को अधिक लोकप्रिय बनाने के सुझावों में कुछ निम्नलिखित हैं—(१) निक्षेपों पर दिये जाने वाले सूद की दर अधिक हो, (२) आकस्मिक वापसी के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाकर हर साल जमा होने वाली रकम तथा रकम की बाकी की सीमा बढ़ा दी जाए,[1] (३) चेक द्वारा निक्षेप स्वीकार किये जाएं तथा चेक द्वारा रुपया निकालने दिया जाए, और (४) नये सेविंग्ज़ बैंक खोलने के लिए प्रचार किया जाए।

पोस्ट ऑफिस में जनता की बचत कैश-सर्टिफिकेट द्वारा भी आती है। ये सर्टिफिकेट १० रुपये या उसके अपवर्त्य (मल्टिपल) रकम में जारी किये जाते हैं तथा एक व्यक्ति अधिक-से-अधिक दस हज़ार रुपये के अंकित मूल्य तक के सर्टिफिकेट खरीद सकता है। क्रय के दिन से ५ वर्ष के पश्चात् उनका भुगतान होता है तथा वे बट्टे पर जारी किये जाते हैं, जिसका अर्थ है कि ५ वर्ष के बाद ही उनके अंकित मूल्य का भुगतान होता है। लड़ाई प्रारम्भ होते समय सितम्बर १९३९ में अत्यधिक कैश सर्टिफिकेट भुनाये गए तथा नये कैश सर्टिफिकेट की बिक्री काफी गिर गई। इन पर जनता का पुनर्विश्वास हो जाने पर कैश सर्टिफिकेट की भुनाई कम हो गई। निर्गमित कैश सर्टिफिकेट का कुल मूल्य १९४६-४७ में ३९.२२ करोड़ रु० तथा १९४८-४९ में (प्रारम्भ में) केवल ७.५० करोड़ रु० था।

१९४० में दसवर्षीय डिफेंस सेविंग्ज़ सर्टिफिकेट का प्रचलन हुआ। इनकी बाकी

१- साल-भर में निक्षेपक ७५० रुपये तक ही जमा कर सकता है और उसके हिसाब की कुल रकम ५००० रु० तक ही जा सकती है। एक बार कम-से-कम चार आना तक जमा किया जा सकता है तथा रुपये की वापसी सप्ताह में केवल एक ही बार हो सकती है। सूद की दर को घटाकर सन् १९३३ में ३% से $2\frac{1}{2}$%, १९३६ में २% तथा १९३८ में $1\frac{1}{2}$% कर दिया गया।

रकम १९४६-४७ में ५.४८ करोड रुपया तथा १९४८-४९ में (प्रारम्भ में)—७६ लाख रुपया थी। १ अक्टूबर, १९४३ से उनके बदले में द्वादशवर्षीय नेशनल सेविंग सर्टिफिकेटों को चलाया गया, जिनकी बाकी रकम १९४६-४७ में ७०.६२ करोड रुपया तथा १९४८-४९ में (प्रारम्भ में) २५ ०१ करोड रुपया थी। इसमें १ जून, १९४८ से प्रचलित किये गए पचवर्षीय तथा सप्तवर्षीय नेशनल सेविंग्ज सर्टिफिकेट की भी बाकी रकम थी। डिफेन्स सेविंग्ज बैंक का कार्यारम्भ १ अप्रैल, १९४१ को हुआ तथा इनका निक्षेप १९४६-४७ में १०.६३ करोड रुपया एवं १९४८-४९ में (प्रारम्भ में)—४ ०७ करोड रुपया था।

भारत तथा पाकिस्तान सरकार के बीच १५ अगस्त, १९४७ के पूर्व जारी किये गए एवं एक देश के पोस्ट ऑफिस में दूसरे देश के पोस्ट ऑफिस के नाम पर दर्ज पोस्ट ऑफिस कैश एवं डिफेन्स तथा नेशनल सर्टिफिकेटों को ३० जून, १९४९ तक हस्तान्तरित करने के लिए सुविधा प्रदान करने का समझौता हुआ। इसमें यह भी तय हुआ कि १५ अगस्त, १९४७ के पूर्व के बाकी तथा ३१ मार्च, १९४८ के पूर्व या उस दिन तक निर्गमन कार्यालय द्वारा हस्तान्तरणार्थ प्रमाणित सर्टिफिकेट साधारण ऋण के समान भारत का वित्तीय दायित्व होगा तथा उसके साथ इस प्रकार व्यवहार किया जाएगा मानो विभाजन के पूर्व वह एक भारतीय पोस्ट ऑफिस द्वारा जारी किया गया हो। ३१ मार्च, ४८ के बाद हस्तान्तरित सर्टिफिकेट उस देश के दायित्व होंगे, जिसमें मूल निर्गमन पोस्ट ऑफिस है तथा जिस देश से वे हस्तान्तरित हुए हैं उसी से उनके बोनस तथा निरसन (डिस्चार्ज) की प्राप्ति की जाएगी।

१ जून १९५७ से बारहवर्षीय राष्ट्रीय योजना सर्टिफिकेट जारी किये गए जिससे ७१४५ लाख रु० की प्राप्ति हुई। डाकखाने के सेविंग्ज बैंक निक्षेप १९५५-५६ में ३७ करोड रु० थे। १९५६-५७ तथा १९५७-५८ में वे घटकर २९ करोड रु० तथा १७ करोड रु० हो गए। १९५८-५९ में पुनः कुछ वृद्धि हुई और निक्षेप की राशि २१ करोड रु० हो गई। १९५९-६० के लिए डाकखाने के सेविंग्ज बैंक के निक्षेप की अनुमानित राशि २७ करोड रु० है। १९६४-६५ में डाकखाने के सेविंग्ज बैंक का निक्षेप बढकर २९३ ६८ करोड रुपया हो गया।

२२. **भारतीय द्रव्य बाजार की विशेषताएँ तथा त्रुटियाँ**—भारत के द्रव्य-बाजार की अनेक विशेषताएँ तथा त्रुटियाँ हैं, जिनमें से कुछ का नीचे उल्लेख किया जाता है। पहले ही वर्णन किया जा चुका है कि भारत का द्रव्य-बाजार अनेक हिस्सों में बँटा हुआ है तथा इन हिस्सों का आपसी सम्बन्ध भी बिलकुल ही शिथिल-सा है। स्टेट बैंक, विनिमय बैंक, मिश्रित पूँजी वाले बैंक, सहकारी बैंक, देशी साहूकार आदि खण्डों सम्बन्धी संस्थाएँ अलग अलग विशेष श्रेणी के कारोबार तक अपने को सीमित रखती हैं। द्रव्य-बाजार के सदस्यों के बीच का आपसी सम्बन्ध भी उत्तम नहीं है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के काम करते हुए बहुत दिन गुजर चुकने के पश्चात् भी निकट भविष्य में उसमें किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कारण उल्लेखनीय हैं—सर्वप्रथम, अभी तक रिजर्व बैंक

तथा देशी साहूकारो के बीच का सम्बन्ध स्थापित नही हो पाया है और दूसरी बात यह है कि इसके पूर्व किसी सुसम्बद्ध तथा सुव्यवस्थित द्रव्य-बाजार का आविर्भाव हो सके, कुछ समय का व्यतीत होना भी आवश्यक है जिसके बीच केन्द्रीय बैंकिंग ढांचे का प्रभाव देश की साख-व्यवस्था पर पड सके। रिजर्व बैंक की स्थापना हुए २५ वर्ष से अधिक हो गए हैं किन्तु सुव्यवस्थित द्रव्य-बाजार का सगठन अभी नही हो सका है। इसका एक कारण भारत मे बैंकिंग सेवाओ की सामान्य कमी है। इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। स्टेट बैंक स्वय शाखाएं खोलकर बैंकिंग सेवा का प्रसार कर रही है।

२३ **द्रव्य की दरो मे भ्रामकता तथा गोलमाल**—द्रव्य-बाजार की अन्य विशेपता द्रव्य-दर की भिन्नता है। इस देश की द्रव्य-व्यवस्था अनेक खण्डो मे विभाजित रहने के परिणामस्वरूप द्रव्य-दर मे भ्रामकता तथा अनेकरूपता का होना अनिवार्य है। केन्द्रीय अधिकोषण समिति ने यह कहकर अत्युक्ति नही की कि मांग-दर ¾%[1], हुडी-दर ३%[2], बैंक-दर ४%[3], तथा बम्बई मे छोटे छोटे व्यापारियो की हुण्डियो की बाजार-दर ६⅜%[4] एव कलकत्ता मे ऐसी ही हुण्डियो की बाजार-दर १०% एक ही साथ होने का स्पष्ट अर्थ यह है कि विभिन्न-बाजारो के बीच साख की गति शिथिल है। पर इसके ठीक विपरीत लन्दन के द्रव्य-बाजार मे द्रव्य की विभिन्न दरो मे बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अन्ततोगत्वा सभी दर बैंक दर पर ही निर्भर करती हैं तथा उस दर मे थोडा भी परिवर्तन होने पर ठीक उसी के अनुसार अपना भी समायोजन कर लेती हैं। भारत की द्रव्य दर की दूसरी विशेषता कलकत्ता तथा बम्बई-जैसे दो प्रमुख केन्द्रो की दरो के बीच स्पष्ट अन्तर का होना है। इसी कारण प्रतिभूतियो की कीमत मे उतार-चढाव तथा व्यापार की गति मे प्रतिक्रिया होती रहती है। १९५९ मे बम्बई मे अन्तर-अधिकोपीय द्रव्य दर लगातार दृढ रही। गत वर्षों से इसकी तुलना करने मे कठिनाई यह है कि सितम्बर, १९५८ तक प्रकाशित द्रव्य-दरो मे दलालो भी सम्मिलित थी। बम्बई की बडी बैंको की मांग-दर मई, १९५९ तक ३½-३¾ प्रतिशत रही। किन्तु जुलाई, १९५९ तक उतरकर ¾-३½ प्रतिशत तथा अक्तूबर के बाद ¾-२¼ प्रतिशत हो गई। कलकत्ता के द्रव्य-बाजार मे भी लगभग

---

१. मांग (या मांग-द्रव्य) दर से तात्पर्य उस ब्याज की दर से है जो कम-से-कम २४ घण्टे के विनियोग हेतु प्राप्य द्रव्य पर ली जाती है।

२. इम्पीरियल बैंक जिस दर पर त्रैमासिक बिल प्रथम श्रेणी की हुण्डी का बट्टा करे वह (इम्पीरियल बैंक की) हुण्डी-दर है।

३. रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व जिस दर पर इम्पीरियल बैंक सरकारी प्रतिभूतियों के निमित्त मांग ऋण देने को तैयार रहता था उसी दर का निर्देश यहाँ (पुराना) बैंक-दर से किया गया है। अब इसे इम्पीरियल बैंक की अग्रिम दर कहा जाता है। रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित बैंक दर के आधार का स्पष्टीकरण पैरा ४६ के नीचे किया गया है।

४. कलकत्ता तथा बम्बई में सर्राफ लोग जिस दर पर हुण्डियों का भुगतान करते हैं, उसे बाजार-दर कहा जाता है।

इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ लक्षित हुईं, यद्यपि अनिक्तम दर कुछ अधिक थी, विशेषकर मार्च और अप्रैल मे, जब वह ३$\frac{1}{2}$-४ प्रतिशत और ३$\frac{1}{2}$-४$\frac{1}{2}$ प्रतिशत थी।

विभिन्न द्रव्य-दरो की समानता का आविर्भाव शनैः-शनैः विकास द्वारा ही सम्भव है। 'हमारा अन्तिम उद्देश्य देश के सारे चल साधनो का एक ऐसे बृहत् कोष के रूप मे व्यवस्थित करना होना चाहिए जिससे हुण्डियो का भुगतान शीघ्रातिशीघ्र तथा कम-से-कम मध्यस्थो के हस्तक्षेप से हो जाए।'[1] रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् ऐसी आशा की जाती थी कि द्रव्य-दरो की गोलमाल की समाप्ति तथा द्रव्य-बाजार में प्रचलित अनियन्त्रित दर पर नियन्त्रण के पश्चात् हुण्डी के बाजार की उन्नति हो सकेगी (अगले सेक्शन देखिए)।

२४ द्रव्य-सम्बन्धी मौसमी तंगी (सीजनल मोनेटरी स्ट्रिंजेन्सी)—द्रव्य-सम्बन्धी मौसमी तङ्गी तथा साल के कुछ महीनो तक द्रव्य की दर का अधिक रहना हमारे देश के द्रव्य-बाजार की दूसरी विशेषता है। भारत मे साल स्पष्टतया दो पृथक् कालो मे विभाजित है—(१) नवम्बर से जून तक का समय कारोबारी है। इन दिनो फसल क देहाती इलाको से बन्दरगाहो तथा देश के भीतरी भागो मे उपभोग करने वाले केन्द्रो तक ले जाने क लिए द्रव्य की आवश्यकता पडती है। (२) जुलाई से अक्तूबर तक मन्दी का मौसम होता है। इस समय पाट (बुलियन) तथा अन्य वस्तुओ के मूल्य के रूप मे द्रव्य वित्तीय केन्द्रो को लौट आता है। हर साल के दोनो कालो के बीच द्रव्य-दरो मे बहुत ही उतार-चढाव होते रहते हैं।[2] १९५९ के मन्दी के मौसम मे बैंक द्वारा उधार दी गई राशि म ७९ करोड रु० की कमी हुई। नवम्बर १९५९ से अप्रैल १९६० तक के कारोबारी मौसम म बैंक द्वारा उधार दी गई राशि मे १८९ करोड रु० का विस्तार हुआ जो १९५८-५९ के कारोबारी मौसम क साख विस्तार (जो १८२ करोड रु० था) से अधिक था। यह विशेषकर चीनी के अधिक उत्पादन तथा चीनी उद्योग के मौसमी स्टाक की वृद्धि के कारण ऐसा हुआ।

फसलो क परिवहन हतु द्रव्य माँग के कारण द्रव्य-बाजार मे मौसमी तङ्गी उपस्थित हो जाती है, पर ठीक इसी समय त्योहारो तथा शादी आदि के लिए रुपये की अत्यधिक माँग इस कठिनाई को और भी बढा देती है। द्रव्य की ऊँची दर का एक मौलिक कारण पूँजी की कमी है, जो हमारे देशवासियो की गरीबी का साक्षात फल है। अधिकाश व्यक्तियो की आमदनी इतनी कम है कि वे कुछ भी बचा नही पाते। दूसरा कारण है हमारी सम्भाव्य पूँजी का सचित धन के रूप मे पडे रहना। लाभदायक विनियोग के लिए आकर्षित करने वाली बैंकिग सुविधाओ के न होने के कारण सचित राशि बकार तथा अनुत्पादक ही बनी रहती है। ये त्रुटियाँ ऐसी बैंकिग व्यवस्था की आवश्यकता की ओर इंगित करती हैं जो आवश्यक साधनो का वितरण देश क विभिन्न भागो तथा साल के विभिन्न मौसम मे समान रूप से करें।

---

१. के० अ० रि०, ५८१।

२. भारत में द्रव्य-दर पर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव की विशेष जानकारी के लिए सेक्शन ५० देखिए।

२५ हुण्डी के बाज़ार का अभाव—हुण्डियो की कमी, जो हुण्डियो मे लगे बैंको के आदेय की छोटी मात्रा से ही स्पष्ट है, वे निम्नलिखित कारण हो सकते हैं[1]—(१) चूंकि भारतीय बैंको को पाश्चात्य देशो की अपेक्षा अधिक तरल (लिक्विड) स्थिति कायम रखनी होती है, अत उनके आदेय का अधिकाश भाग सरकारी प्रतिभूतियो के रूप मे रह जाता है। (२) अप्रैल, १६३५ मे रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व तक बैंक अपनी हुण्डियो का भुगतान इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के साथ इसलिए नही करना चाहते थे कि ऐसा करने से वे बाज़ार मे कमज़ोर समझे जाते थे। (३) मिश्रित पूंजी वाले बैंक पुनर्बट्टा के लिए अपनी हुण्डियो को देने की अपेक्षा सरकारी ऋण-पत्र पर इम्पीरियल बैंक से उधार लेना इस कारण पसन्द करते थे कि इम्पीरियल बैंक तो खुद ही प्रतिस्पर्धी व्यावसायिक बैंक था, अत कोई भी अन्य प्रतिस्पर्धी बैंक अपनी हुण्डी का रहस्य इसके सामने रखना क्यो पसन्द करता? इसके अतिरिक्त चूंकि इम्पीरियल बैंक सबके प्रति एक से मापदण्ड और नीति के आधार न रखकर अपनी मरज़ी के अनुसार हुण्डियो का बट्टा करता था, कोई भी मिश्रित पूंजी वाला बैंक वित्त-पोषण प्राप्त करने के लिए अपने ग्राहको द्वारा प्राप्त हुण्डी पर निर्भर नही रह सकता था। (४) एक दूसरी बाधा यह है कि बाज़ार मे प्रचलित हुण्डियो की विभिन्नताओ के कारण बैंक उनका बट्टा तब तक नहीं करते जब तक बैंको द्वारा मान्य सर्राफो मे से कोई सर्राफ निजी जमानत न दे। बाज़ार मे प्रचलित हुण्डी से यह स्पष्ट नही होता कि वह शुद्ध वित्तीय हुण्डी है या किसी व्यापारी कार्य हेतु लिखी गई है, क्योकि उसके साथ बिक्री के सविदे, बीजक तथा स्वत्वाधिकार पत्र जैसे अधिकार-पत्र तो रहते नही जिससे यह समझा जा सके कि यह किसी फसल या वस्तु से सम्बन्धित है। हुण्डियो मे लिखी जाने वाली भाषाओ मे भी अनेक भेद, रिआयती दिन आदि की विभिन्नता तथा आम जनता की अशिक्षा आदि कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी हैं। (५) एक अन्य कारण नकद-साख की पद्धति भी है, जिसका उपयोग भारत के देशी व्यापार मे अधिक होता है।

२६ हुण्डी के बाज़ार की वृद्धि करने के उपाय—केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने भारत मे हुण्डी के बाज़ार की उन्नति करने के लिए अनेक सुझाव दिये हैं (के० अ० रि० ५६३)—(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को व्यावसायिक कार्यों से सम्बद्ध प्रथम श्रेणी की व्यापारिक हुण्डियो तथा प्रपत्रो के प्रकाशित बैंक-दर (जो निम्नतम हो) पर खरीदने या बट्टा करने को तैयार रहना चाहिए तथा अधिकृत प्रतिभूतियो के आधार पर मांगे गए ऋण पर अपनी इच्छानुसार अधिक ब्याज-दर लेनी चाहिए। मिश्रित पूंजी वाले बैंको को रिजर्व बैंक को अपना प्रतिद्वन्द्वी न समझना चाहिए। उनसे तो यह आशा है कि वे रिजर्व बैंक द्वारा दिये गए व्यापारिक पत्रो के पुनर्बट्टा-सम्बन्धी

१ और अधिक वर्णन के लिए के० अ० रि० का 'दि बैंकिंग सिस्टम एण्ड मनी मार्केट' नामक परिच्छेद देखिए।

सुविधाओं से लाभ उठाएँ। रिज़र्व बैंक को योग्य व्यावसायिक पत्रों का पुनर्बट्टा करने का अधिकार प्राप्त है, पर अभी तक वह भारत मे हुण्डी के बाज़ार को विकसित करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करने मे समर्थ नही हो सका है। (२) बट्टा-व्यय घटाना चाहिए तथा एक ही बार बट्टा देना पडे, इस हेतु यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रादेशिक राजधानी मे हुण्डियो के लिए निकासी-गृहो की स्थापना की जाए। (३) भारत के विभिन्न भागो मे गोदामो की स्थापना की जानी चाहिए, क्योंकि इनके कारण व्यापारियो तथा सर्राफो द्वारा लिखी गई शुद्ध व्यावसायिक (या वित्त योग हेतु लिखी) हुण्डियो का स्थान ऐसी बिल्टी-सहित हुण्डियाँ ले सकेंगी, जिनका बैंक खुशी से पुनर्बट्टा करेंगे। (४) हुण्डियो पर आवश्यक टिकट-व्यय (स्टाम्प ड्यूटी) भी कम कर देना चाहिए। (५) उचित है कि डाकखानो मे अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं में हुण्डियों के छपे फार्म मिल सकें। हुण्डी के मालिक को असुविधा तथा कष्ट से बचाने के लिए बैंको, सर्राफो तथा व्यापारियो की अधिकृत संस्थाओं द्वारा की गई हुण्डी आदि की अस्वीकृति की सूचना (नोटिंग ऑफ डिसऑनर) और निकराई-सिकराई (नोटिंग ऑफ प्रोटेस्ट) को मान्यता प्रदान की जानी चाहिए। हुण्डियो का चलन बढाने के उद्देश्य से उनसे सम्बन्धित रस्मो का प्रमाणीकरण कर देना चाहिए। (६) बैंक-स्वीकृत-विपत्रों[1] के निर्माण-कार्य मे बैंको को अग्रणी होना चाहिए। ये हुण्डियाँ साधारण व्यापारी हुण्डियो की अपेक्षा आसानी से विनिमय-साध्य होगी। (७) हुण्डी के दलाली-कार्य को देशी साहूकारो के व्यापार का एक अंग बनाकर तथा रिज़र्व बैंक की सरक्षता मे इन साहूकारो तथा उनके धनी निक्षेपको द्वारा एक बट्टा-गृह स्थापित करके एक हुण्डी बट्टा बाज़ार की स्थापना की जानी चाहिए। (८) हुण्डियो के उपयोग का विस्तार कृषको को फसल उपजाने के कार्य के लिए पेशगी देने, फसल-बिक्री हेतु वित्त-प्रबन्ध करने, गाँव के साहूकारो को सर्राफो द्वारा आर्थिक सहायता देने, शहरो से वस्तुओं को देश के भीतरी भागो मे ले जाने के कार्य का वित्तीय प्रबन्ध करने तथा देश के विदेशी व्यापार के वित्तीय प्रबन्ध करने के लिए कर देना चाहिए।

जनवरी १९५२ मे रिज़र्व बैंक ने बिल बाजार के सगठन के लिए एक योजना बनाई। प्रारम्भ मे यह योजना उन अनुसूचित बैंको तक सीमित रखी गई जिनके पास १० करोड रुपये या इससे अधिक के निक्षेप हो, ऋण तथा बिल की निम्नतम सीमा क्रमश २५ लाख रु० और एक लाख रु० निश्चित की गई। रिज़र्व बैंक ने बैंक-दर से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत कम दर से ब्याज लेने तथा आधी स्टाम्प ड्यूटी स्वय वहन करने की सुविधा प्रदान की। ये सुविधाएँ १ मार्च १९५६ से समाप्त हो गईं। जून १९५३ मे यह योजना ५ करोड रु० या इससे अधिक निक्षेप वाले बैंको तथा जुलाई १९५४ मे उन सभी बैंको पर लागू हो गई जिन्हे १९४९ के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत

---

१. बैंक-स्वीकृत-विपत्र वह हुण्डी है जिसे वस्तु-विक्रेता लिखता है और वस्तु-क्रेता के स्थान पर उसका बैंक उसकी स्वीकृति देता है। उधार क्रय करने की दृष्टि से वस्तु-क्रेता पहले से ही अपने बैंक से इस सम्बन्ध में बातचीत किये रहता है।

लाइसेन्स प्राप्त थे। चार वर्ष की अवधि में बैंकों द्वारा प्राप्त अग्रिम की मात्रा १९५२ के ८१ करोड रु० से बढकर १९५५ में २२५ करोड रु० हो गई। १९५८-५९ में निर्यात-बिलों को एक वर्ष के लिए प्रयोगात्मक रूप से बिल बाजार योजना में सम्मिलित करने का निर्णय किया गया।

२७ केन्द्रीय बैंक की उपयोगिता—१९२० में ब्रूसेल्स में हुए अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन में यह प्रस्ताव पास हुआ कि 'जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं हैं, वहाँ उनकी स्थापना की जानी चाहिए।' इस प्रस्ताव के मूल में यह विचार है कि वित्तीय स्थिरता तथा केन्द्रीय बैंकिंग व्यवस्था के बीच बहुत घना सम्बन्ध है। इस प्रस्ताव में निहित राय का अनुसरण यूरोपीय देशों तथा अभी हाल तक के 'विकेन्द्रीय बैंकिंग के देश' संयुक्तराज्य अमेरिका में हुआ।[1] हमारे देश में परिस्थितियों के वश में होकर स्वयं सरकार ही नोट जारी करने, नकद रकम का प्रबन्ध करने, विदेशी विनिमय की व्यवस्था करने आदि प्रमुख कार्यों को करने लगी थी, पर ऐसा अनुभव किया जाने लगा कि ये काम केन्द्रीय बैंक द्वारा अच्छी तरह से सम्पादित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त इन कार्यों को बैंकिंग कारोबार से अलग रखना भी बहुत बड़ी त्रुटि थी। इस सम्बन्ध-विच्छेद ने ही बचत को सरकारी बचत तथा साहूकारों की बचत नामक दो भागों में विभक्त कर दिया। इन दोनों का सम्बन्ध भी अस्पष्ट था तथा इसके कारण ही द्रव्य पद्धति अत्यधिक लोचहीन हो गई। केन्द्रीय बैंकिंग अधिकारी के अभाव के ही कारण देश की बैंक-सम्बन्धी नीति अनियन्त्रित-सी थी। सिद्धान्ततः तो हमारे यहाँ बहुसुरक्षित कोष प्रणाली थी, जिसका अर्थ यह था कि विभिन्न बैंक अपना-अपना सुरक्षित कोष रखते थे, पर व्यवहार में ये धन कदापि ही पर्याप्त हो पाते थे तथा इस बात का खतरा बना रहता था कि संकटकाल में ये बैंक एक-दूसरे से सहायता की ही आशा करेंगे। १९१३-१४ की बैंक-असफलता ने इस तर्क की और भी पुष्टि की। एक केन्द्रीय बैंक से जिन अन्य लाभों की आशा की जाती थी वे ये थे—बैंक-दर के अत्यधिक उतार-चढाव में कमी करना तथा बैंकिंग साधनों की वृद्धि एवं आपसी सहयोग द्वारा सामान्यतया ऊँचे रहने वाले द्रव्य-दर के स्तर को कम करना। केन्द्रीय बैंक पर्याप्त पुनर्कटौती की सुविधा भी प्रदान कर सकता था, जिससे दूसरे बैंक अपने आदेय को तरल बनाने में असमर्थ हो सकते थे। इस सुविधा से उनकी साख में भी वृद्धि हो जाती। यह केन्द्रीय बैंक सरकारी कर्मचारियों से उन वित्तीय तथा अर्द्ध-वित्तीय कर्तव्यों की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेता, जिन्हें वे ठीक तरह से नहीं कर पा रहे थे। हमारे देश में निपुण परामर्श तथा अनुभव के ही अभाव के कारण वित्तीय मामलों की शक्ति का केन्द्र इस देश से हटकर 'इण्डिया ऑफिस' तथा 'इण्डिया कौंसिल' के हाथ में चला गया, जो पर्याप्त रूप से भारतीय परिस्थिति के सम्पर्क में नहीं थे। केन्द्रीय बैंक प्रशिक्षित अनुभव तथा परामर्श दे सकेगा तथा भारत-सचिव और जन-आलोचना के बीच मध्यस्थ का भी काम करेगा। मुद्रा में स्थिरता रखने की ही दृष्टि

१. कीश एण्ड एल्किन, 'सेण्ट्रल बैंक्स', पृष्ठ २।

से वट्टे की दर पर नियन्त्रण रखने का कार्य केन्द्रीय बैंक के ही क्षेत्र के अन्तर्गत पडता है। इसी बैंक से यह भी आशा की जाती है कि वह सरकारी विधि का व्यापारिक तथा औद्योगिक कार्य-हेतु उचित उपयोग करेगा।

२८ इम्पीरियल बैंक की रचना—इम्पीरियल बैंक की केन्द्रीय परिषद् के लिए साल मे कम-से-कम एक बार प्रत्येक स्थानीय प्रधान कार्यालय मे एकत्रित होना आवश्यक था। पहले तीनो प्रेसीडेन्सी बैंको की पूँजी का योग ७ करोड रुपये ही था, पर अब पूँजी तथा सुरक्षित धन को १५ करोड रुपये करके बैंक के पूँजी के आधार को विस्तृत कर दिया गया।

अत: इम्पीरियल बैंक एक निजी निगम ही है, पर १९३५ मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना तक यह राज्य बैंक भी इस सीमित अर्थ मे था कि भारतीय व्यवस्थापिका के एक विशिष्ट कानून द्वारा इसका निर्माण हुआ था तथा कुछ अशो मे इसका नियन्त्रण, सहायता तथा निरीक्षण सरकार ही करती थी। इम्पीरियल बैंक और इगलैण्ड तथा फ्रान्स के केन्द्रीय बैंको के बीच मुख्य भेद यह था कि यह बैंक राज्य-बैंक के बहुत बडे कार्यों को कर पाता था।

२९. इम्पीरियल बैंक का विधान—इम्पीरियल बैंक का नियन्त्रण गवर्नरो की एक केन्द्रीय परिषद् के सुपुर्द कर दिया गया। गवर्नर जनरल को वित्तीय नीति या सरकारी रकम की सुरक्षा से सम्बन्धित किसी विषय पर बैंक को आदेश देने का अधिकार था। केन्द्रीय परिषद् के कर्तव्य ये थे—सामान्य नीति से सम्बन्धित मामलो को तय करना, स्थानीय परिषदो को नियन्त्रण-सम्बन्धी साधारण शक्ति का उपयोग करना, बैंक की निधि के बँटवारे तथा बैंक दर का निर्णय करना (जिसे अब अग्रिम दर कहा जाता है) तथा बैंक के हिसाब के साप्ताहिक प्रकाशन की जिम्मेदारी लेना। स्थानीय परिषद् अपने-अपने क्षेत्र के दैनिक कारोबार से अपना सम्बन्ध रखते थे। दैनिक साधारण (केन्द्रीय) प्रबन्ध के लिए केन्द्रीय परिषद् के तीन सदस्यो की एक समिति होती थी जिनमे से एक मुद्राध्यक्ष होता था। इस सम्बन्ध मे एक नई बात यह थी कि बैंक को लन्दन मे शाखा स्थापित करने की कानूनन इजाजत थी। यह बैंक लन्दन मे भारत-सचिव, सार्वजनिक सस्थाओ, दूसरे बैको तथा प्रेसीडेन्सी बैंक के पुराने ग्राहको के साथ-साथ भारत सरकार की ओर से व्यापार का कारोबार तो कर सकता था, पर विदेशी विनिमय के सिलसिले मे जनता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने की इजाजत इसे नही थी।

३०. इम्पीरियल बैंक के कार्य—१८७६ के पुराने प्रेसीडेन्सी बैंक एक्ट के बाद १९२० मे एक एक्ट यह स्पष्ट करने के लिए बनाया गया कि यह बैंक किस प्रकार का कारोबार करे। इम्पीरियल बैंक को निम्नलिखित कार्यों को करने की अनुमति दी गई—(१) भारत तथा इगलैण्ड की सरकारो के कुछ विशिष्ट ऋण-पत्रो तथा बन्दरगाह-समितियो, कुछ नगर-निगमो, सरकारी सहायता-प्राप्त रेलवे एव कुछ जिला परिषदो के ऋण-पत्रो मे पूँजी लगाना। (२) उपर्युक्त किसी भी ऋण-पत्र के आधार पर रुपया पेशगी देना। (३) स्वीकृत हुण्डी, प्रपत्र तथा बैंको के सुपुर्द की गई वस्तुओ या स्वत्वाधिकार-पत्रो के आधार पर रुपया पेशगी देना। (४) भारत

तथा लंका में भुगतान होने योग्य हुण्डियो तथा दूसरे विनिमय साध्य ऋण-पत्रो को लिखना, स्वीकार, बट्टा तथा विक्रय करना तथा गवर्नर जनरल इन-कौंसिल की आज्ञानुसार विदेशो मे चुकता होने योग्य हुण्डियो का बट्टा, खरीद तथा विक्रय करना। जिन व्यक्तियो की जायदाद का प्रबन्ध बैंक करता हो उनके लिए तथा अन्य व्यक्तिगत सस्थाओ एव ग्राहको की निजी आवश्यकता के लिए हुण्डी-लेखन तथा साख पत्रो की स्वीकृति प्रदान करने का अधिकार बैंक को दिया गया। (५) भारत मे ऋण लेना, निक्षेप लेना, सुरक्षित धरोहर-स्वरूप ऋण पत्र रखना एव उसका सूद वसूल करना तथा सोना-चांदी खरीदना तथा बेचना। (६) बैंक की लन्दन-शाखा बैंक के व्यापार के लिए बैंक के आदेय की सुरक्षा पर इगलैण्ड मे रुपया उधार तो ले सकती थी, पर उस रोक ऋण (केश-क्रेडिट) खाते खोलने, दूसरो के नकद हिसाब रखने या प्रेसीडेन्सी बैंक के पहले के ग्राहको के अतिरिक्त किसी अन्य से निक्षेप लेने की आज्ञा नही थी।

३१. सार्वजनिक सस्था के रूप मे कार्य—सरकारी बैंक के रूप मे इम्पीरियल बैंक के निम्नलिखित कार्य थे—

(१) इस बैंक ने भारत सरकार के बैंक-सम्बन्धी सभी साधारण कार्यों का जिम्मा ले लिया। वह सरकार की ओर से रुपये-पैसे स्वीकार करता तथा सरकार के लिए खर्च भी। जहाँ-जहाँ इसके प्रधान कार्यालय तथा शाखाएँ थी, सरकारी खजाने की सारी निधि इन्ही मे रखी जाती थी। इस प्रकार सुरक्षित खजाने की पद्धति समाप्त हो गई। (२) एक विशेष पारिश्रमिक पाने के बदले यह बैंक सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करने लगा। (३) बैंक से कहा गया कि वह १०० नई शाखाएँ खोले, जिनके चतुर्थांश के स्थान का निर्णय सरकार करेगी। (४) बैंक से ऐसी आशा की गई कि वह जनता को अपनी शाखाओ के बीच द्रव्य हस्तान्तरण की सुविधा मुद्राध्यक्ष द्वारा स्वीकृत उचित दर पर प्रदान करेगा। जिन दो स्थानो मे इम्पीरियल बैंक का कारोबार हो वहाँ सरकार ने उनके बीच जनता को रकम भेजने की सुविधा देना बन्द कर दिया। (५) जनवरी, १९२१ मे स्थापित बैंक की लन्दन शाखा ने भारत सरकार के कारोबार के कुछ ऐसे भाग को अपने जिम्मे ले लिया जो पहले बैंक ऑफ इगलैण्ड के हाथ मे थे (जैसे भारत के हाई कमिश्नर का चालू हिसाब)।

३२. इम्पीरियल बैंक की आलोचना के विषय—१९२१ मे निर्मित इम्पीरियल बैंक की बहुत ही आलोचना की जा चुकी है। इम्पीरियल बैंक पर भारतीय फर्मो तथा सस्थाओ से विभेद रखने तथा यूरोपीय फर्मो तथा सस्थाओ के प्रति अनुचित पक्षपात दिखाने का आरोप भी लगाया गया। बैंक द्वारा घोषित अत्यधिक लाभाश का मेल राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि के उद्देश्य के साथ नहीं बैठता था, जिसके लिए इस बैंक की सृष्टि हुई थी। बैंक तथा राज्य के बीच मुनाफे के बँटवारे के लिए कोई भी प्रबन्ध नहीं था। १९२० के एक्ट के अन्तर्गत बैंक के ऊपर राज्य का उतना प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं था जितना होना चाहिए, क्योकि मुद्राध्यक्ष द्वारा हस्तक्षेप की सम्भावना तभी की जानी थी जबकि राज्य का हित खतरे मे पड गया हो। बैंक की शाखा

खोलन की नीति बहुत सफल नही रही। कभी-कभी तो य शाखाएं ऐसी जगहो म खोली गई जहां पहले से ही अन्य बैंको को पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्य थी और इस प्रकार तत्कालीन अन्य भारतीय बैंको के साथ उस इम्पीरियल बैंक की अनुचित स्पर्धा हुई जिसे रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व विशेष अधिकार प्राप्त थे और जिसका सरकारी कोष के ऊपर अधिकार था। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि बैंक को बहुत ही थोडे कार्यो का दायित्व सुपुर्द किये जाने के कारण इसकी कुछ भी उपयोगिता नही रह पाती। सरकार द्वारा किये जाने योग्य बैंकिंग तथा मुद्रा-सम्बन्धी कार्य करने के सम्बन्ध मे यूरोप के बैंको के साथ इस बैंक की बहुत ही कम समानता थी। इसको केवल सरकारी नकद रकम रखने तथा बैंकिंग के साधारण कारोबार की ज़िम्मेदारी सौंपी गई थी। कागजी मुद्रा, स्वर्ण-मानकोष तथा भारत सरकार के इंग्लैण्ड मे खर्च के भुगतान के लिए भेजे जाने वाली रकम का प्रबन्ध स्वय सरकार ही करती थी। नोट छापने का अधिकार अपने हाथ मे न होने के कारण इम्पीरियल बैंक बैंक-दर की सहायता से उतनी अच्छी तरह से द्रव्य-बाजार पर नियन्त्रण नही कर सकता था जैसा अन्य बडे-बडे केन्द्रीय बैंक किया करते हैं।

३३ **इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया सशोधन एक्ट, १६३४**—यह सर्वसम्मत बात थी कि देश के केन्द्रीय बैंक के रूप म रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के मिश्रित रूप के कारण इसके ऊपर रखे गए नियन्त्रण को हटाने तथा इसके कार्य के ऊपर सरकारी नियन्त्रण मे सशोधन की दृष्टि से इम्पीरियल बैंक के विधान को बदलना आवश्यक होगा। अत १६३४ मे रिजर्व बैंक बिल के पारित होने के साथ-ही-साथ इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट (१६३४ का तीसरा) के रूप मे इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया सशोधन बिल को भी पारित किया गया।[1] सशोधन अधिनियम द्वारा निम्नलिखित प्रमुख परिवर्तन किये गए—

(१) बैंक के विधान मे परिवर्तन—केन्द्रीय परिषद् की स्थापना निम्नलिखित सचालको को मिलाकर की गई—(क) इस कानून द्वारा स्थापित स्थानीय परिषदो के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष, (ख) इस कानून द्वारा स्थापित हर स्थानीय परिषद् के सदस्यो मे से ही उन्ही द्वारा चुना गया एक सदस्य, (ग) केन्द्रीय परिषद् द्वारा ५ वर्ष के लिए नियुक्त एक प्रबन्ध सचालक, जिसे वह परिषद् अधिक से-अधिक और ५ वर्ष के लिए रख सकती है, (घ) गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा मनोनीत अधिक-से अधिक दो सदस्य जो सरकारी अफसर न हो, (च) केन्द्रीय परिषद् द्वारा नियुक्त एक उप-प्रबन्ध-सचालक, (छ) लोकल बोर्डों के सचिव, (ज) इस कानून द्वारा स्थापित किसी नई स्थानीय परिषद् का प्रतिनिधित्व करने वाले वे सदस्य, जिनकी व्यवस्था केन्द्रीय परिषद् ने की हो। (च) तथा (छ) मे निर्दिष्ट सचालको को केन्द्रीय परिषद् की सभा मे मत देने का अधिकार नही था। इस प्रकार बैंक के कारोबार पर से सरकारी

१. इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक में रूपान्तर न करने के सरकार के निर्णय के सम्बन्ध में आगे सेक्शन ३६ देखिए।

नियन्त्रण अब कम हो गया। (२) इम्पीरियल बैंक अब सरकार का महाजन नहीं रह गया (रिजर्व बैंक ने अब यह पद ग्रहण कर लिया), पर उसे रिजर्व बैंक के साथ इकरार करने का यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह उसके एकमात्र एजेंट रूप में सरकारी कारोबार का प्रबन्ध कर सके (आगे सेक्शन ४१ में यह और भी स्पष्ट है।) (३) बैंक के लन्दन शाखा के कार्यों पर लगाये गए पुराने प्रतिबन्ध हटा लिये गए। बैंक को भारतवर्ष तथा विदेशों में शाखाएं या एजेन्सियाँ स्थापित करने की छूट दी गई। (४) केन्द्रीय परिषद् को यह अधिकार प्रदान किया गया कि पहले से गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल की आज्ञा लिये बिना भी वह स्थानीय परिषदों की स्थापना या अपनी पूँजी बढाए। (५) बैंक के कारोबार-सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्धों को हटाने के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिवर्तन किये गए—बैंक को विदेशों में चुकता होने योग्य हुण्डियों को खरीदने, भारत से बाहर रुपया उधार लेने तथा विदेशी विनिमय-कार्य करने के अधिकार प्रदान किये गए। मौसमी कृषि-कार्यों की वित्तीय व्यवस्था-सम्बन्धी पेशगी तथा कर्ज की (भुगतान की हुण्डी की भी) अवधि को बढाकर ६ से ६ महीने तक कर दिया गया। बैंक को यह अधिकार था कि वह किसी ऐसी चल या अचल सम्पत्ति, जो किसी ऋण या पेशगी के लिए जमानत हो या जमानत से सम्बद्ध हो, सम्बन्धी अधिकार को प्राप्त करे, अपने अधिकार में रखे तथा अपने काम में लाए। रिजर्व बैंक के हिस्सों की म्युनिसिपल बोर्ड के अधिकारान्तर्गत गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल की आज्ञा से निर्गमित ऋण पत्र, देशी राजाओं के अधिकारान्तर्गत निर्गमित ऋण-पत्रों तथा केन्द्रीय बोर्ड की आज्ञानुसार सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के ऋण-पत्रों पर रुपया पेशगी और कर्ज देने तथा रोक ऋणखाता खोलने का भी अधिकार बैंक को प्रदान किया गया। बैंक को यह भी अधिकार दिया गया कि अगर केन्द्रीय परिषद् विशेष आज्ञा दे तो जमानत पर रेहन की गई वस्तु के आधार पर पेशगी या रोक-ऋण दिया जा सकता है। कुछ पुराने प्रतिबन्ध (जैसे जमीन के रेहन, या पेशगी और ऋण की अवधि (पूर्व-वर्णित संशोधनों के साथ), व्यक्तियों को दिये जाने वाले ऋण की मात्रा-सम्बन्धी तथा बैंक के हिस्से पर कर्ज देने के निषेध इत्यादि) अब भी चलते रहे।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिश मानकर भारत सरकार ने १ जुलाई, १९५५ से इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया। उसका नया नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया है जिसको इम्पीरियल बैंक के सभी आदेय और दायित्व हस्तांतरित कर दिये गए।

स्टेट बैंक का संचालन १८-२० संचालकों के एक केन्द्रीय संचालक मण्डल द्वारा किये जाने की व्यवस्था है जो निम्न प्रकार से निर्वाचित या मनोनीत होंगे—

(१) स्टेट बैंक के सभापति तथा उपसभापति, जिन्हें रिजर्व बैंक के परामर्श से भारत सरकार नियुक्त करेगी।

(२) रिजर्व बैंक तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत एक-एक सचालक।

(३) क्षेत्रीय अथवा आर्थिक हितो के प्रतिनिधित्व हेतु रिजर्व बैंक के परामर्शसहित केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत आठ सचालक।

(४) रिजर्व बैंक को छोडकर अन्य हिस्सेदारो द्वारा निर्वाचित छ: सचालक।

(५) भारत सरकार की स्वीकृति से स्टेट बैंक के केन्द्रीय सचालक-मडल द्वारा मनोनीत सदस्य, जिनकी सख्या दो तक हो सकती है।

जहाँ रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है तथा जहाँ वह स्टेट बैंक से कहे वहाँ स्टेट बैंक—यदि उसकी वहाँ शाखा है तो—रिजर्व बैंक के प्रतिनिधि रूप मे काम करेगा। भारत सरकार की अनुमति से स्टेट बैंक अन्य बैंको के कारोबार, आदेय व दायित्व कम कर सकता है।

स्टेट बैंक इम्पीरियल बैंक की भाँति उद्योग, व्यापार तथा व्यवसाय की सेवा करेगा और बैंकिंग विकास को तीव्र बनाएगा। गोदाम और बिक्री-विकास हो जाने पर यह आशा की जाती है कि स्टेट बैंक ग्रामीण साख प्रसार का महत्त्वपूर्ण साधन सिद्ध होगा। अगले पाँच वर्ष मे वह ४०० शाखाएँ खोलेगा, द्रव्य भेजने की अधिक सुविधाएँ देगा और ग्रामीण बचत प्राप्त करने मे योग भी देगा।

१९५९ तक स्टेट बैंक ने ३५९ शाखाएँ खोल दी थी। इसी वर्ष स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (सब्सिडियरी बैंक्स) सहायक बैंक अधिनियम पास हुआ, जिसे १० सितम्बर १९५९ को राष्ट्रपति ने स्वीकृति प्रदान की। इस अधिनियम के अन्तर्गत राज्य से सम्बन्धित आठ बैंको—बैंक ऑफ बीकानेर, बैंक ऑफ इन्दौर, बैंक ऑफ जयपुर, बैंक ऑफ मैसूर, बैंक ऑफ पटियाला, ट्रावनकोर बैंक, स्टेट बैंक ऑफ हैदराबाद तथा स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र—को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के सहायक बैंको के रूप मे सगठित किया गया। इसी वर्ष स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (सशोधन) अधिनियम भी पास किया गया, जिसे राष्ट्रपति ने २८ अगस्त १९५९ को स्वीकृति प्रदान की। सशोधन अधिनियम की धाराएँ स्पष्टीकरण तथा स्टेट बैंक एक्ट की धारा ३५ के अन्तर्गत स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा किसी बैंक के कार्य को ले लेने की पद्धति सरल बनाने के लिए हैं।

३४. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट १९३४—१९३३ मे प्रकाशित भारतीय सुधार-सम्बन्धी श्वेतपत्र मे यह शर्त रखी गई कि केन्द्र को वित्तीय जिम्मेदारी सौंपने के पूर्व यह आवश्यक है कि भारतीय व्यवस्थापिका सभा राजनीतिक प्रभावो से रहित एक रिजर्व बैंक की स्थापना करे। जुलाई, १९३३ मे रिजर्व बैंक विधेयक-सम्बन्धी लन्दन समिति ने इस प्रस्ताव का सपरीक्षण फिर किया। इस समिति ने अगस्त, १९३३ मे अपनी रिपोर्ट दी तथा इसी की सिफारिस के आधार पर निर्मित रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बिल को ८ सितम्बर, १९६३ को व्यवस्थापिका सभा मे प्रस्तुत किया गया और ६ मार्च, १९३४ को इसने अधिनियम का रूप धारण कर लिया।

(१) यह निर्णय हुआ कि यह बैंक हिस्सेदारो का बैंक होगा। मूल पूँजी ५ करोड रुपये की होगी जो पूर्णतया प्राप्त हिस्सा तथा सौ सौ रुपये के हिस्सो मे

बँटी हुई होगी। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून में हिस्सेदारों के अलग-अलग रजिस्टर रखे गए। इन खातों में पहले से निर्दिष्ट किये गए हिस्सों का नामांकित मूल्य इस प्रकार था—बम्बई १४० लाख रुपया, कलकत्ता १४५ लाख, दिल्ली ११५ लाख, मद्रास ७० लाख तथा रंगून ३० लाख। बाद में होने वाले हस्तान्तरण की वजह से हिस्सों के क्षेत्रीय वितरण में अत्यधिक परिवर्तन आ गए तथा वोटों के एकत्रीकरण और उनको निष्फल करने की प्रवृत्ति विशेषतः बम्बई क्षेत्र में अत्यधिक बढ़ गई। अप्रैल १९३५ से ३० जून १९४० तक हिस्सेदारों की संख्या ९२,०४७ से घटकर ५६,०५७ हो जाने से यह स्पष्ट है। अतः बैंक के हिस्से को थोड़े लोगों के हाथों में एकत्रित होने से रोकने के उद्देश्य से मार्च, १९४० में रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन किया गया। इस संशोधन द्वारा यह निर्धारित हुआ कि अगर किसी व्यक्ति ने मार्च, १९४० के बाद अकेले या सम्मिलित रूप से किसी ऐसे अतिरिक्त हिस्से को प्राप्त किया है, जिससे उसके नाम के कुल हिस्सों का कुल मूल्य २०,००० रुपये से अधिक हो जाता है तो वह इस हिस्से के लिए हिस्सेदार निबन्धित नहीं किया जा सकता।[1]

३५. रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया कार्यरूप में—१ अप्रैल, १९३५ को रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया का उद्घाटन हुआ और बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून में इसके कार्यालयों की स्थापना हुई। बाद में कानून द्वारा विधित लन्दन में भी एक शाखा खोलने की व्यवस्था की गई।

इसने बैंकिंग कम्पनी से सम्बन्धित नये विधानों को इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट में समावेश करने के सम्बन्ध में बहुमूल्य राय दी तथा भारतवर्ष में बैंक एक्ट बनाने का लाभकारी प्रस्ताव १९३९ में रखा। इसने देश के अन्तर्गत रुपया भेजने की सस्ती सुविधा दी है तथा ब्याज की दर कम करने में सहायता की है। देश में बैंक की सुविधा के विस्तार के लिए भी इसने अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया है।

इसने केवल अनुसूचित बैंकों, जो विधिवत् सदस्य-बैंक हैं, के ही साथ लाभकर सम्पर्क स्थापित नहीं किया बल्कि अगणित छोटे-छोटे गैर-अनुसूचित बैंकों के साथ भी द्रव्य तथा साख के अधिकारी की हैसियत से विगत युद्धकाल में अनेक कठिनाइयों को बड़ी चतुरतापूर्वक झेलकर द्रव्य-बाज़ार में स्थिरता लाने में योगदान दिया। "यह स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक ब्याज-दर की उन मौसमी विभिन्नताओं को दूर करने में अत्यधिक हिस्सा लेता रहा है, जिनका भारतवर्ष के भविष्य की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही प्रभाव पड़ता।"[2] इसने कृषि-साख तथा सहकारी आन्दोलन के अध्ययन के सम्बन्ध में बहुत काम किया है और ग्रामीण साख-संगठन-सम्बन्धी अनेक त्रुटियों को दूर करने के सम्बन्ध में भी बहुमूल्य सुझाव दिये हैं।

३६. रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया (सार्वजनिक स्वामित्व का हस्तान्तरण) एक्ट

---

१. रिज़र्व बैंक का वार्षिक विवरण (अगस्त, १९६०), पृ० ९।

२. मुरान्न, 'मॉडर्न बैंकिंग इन इण्डिया', प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८५।

१९४८—बैंक को राज्य-अधिकृत सस्था का रूप देने के सरकारी निर्णय को कार्य-रूप में परिणत करने के उद्देश्य से इस अधिनियम को पारित किया गया, जिससे इसके कार्यों का नियन्त्रण सार्वजनिक हित के लिए किया जा सके तथा द्रव्य सम्बन्धी आर्थिक एवं वित्तीय नीति के बीच समन्वय स्थापित हो सके। १ जनवरी, १९४९ को यह कानून लागू हो गया तथा बैंक की पूंजी के सारे हिस्सों को केन्द्रीय बैंक द्वारा हस्तान्तरित समझा गया।

शाखाएँ और कार्यालय—बैंक का मुख्य कार्यालय बम्बई में है। बैंक को जो कार्य सौंपे गए हैं उन्हें सम्पूर्ण देश में सन्तोषप्रद ढग से करने के लिए रिज़र्व बैंक ने स्थानीय कार्यालय-शाखाएँ बंगलौर, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, मद्रास, नागपुर और नई दिल्ली में स्थापित की हैं। इनमें दोनों ही—बैंकिंग और निर्गम—विभाग हैं। अन्यत्र इसका प्रतिनिधित्व इसके एजेण्ट करते हैं। इसके अलावा रिज़र्व बैंक की बैंकिंग विभाग की एक शाखा लन्दन में भी है। बैंकिंग विभाग के प्रादेशिक कार्यालय बंगलौर को छोड़कर उपर्युक्त स्थानों तथा त्रिवेन्द्रम में हैं। कृषि-साख विभाग के प्रादेशिक (रीजनल) कार्यालय कलकत्ता, मद्रास और नई दिल्ली में हैं तथा विनिमय नियन्त्रण विभाग के कार्यालय कलकत्ता, मद्रास, नई दिल्ली और कानपुर में हैं।

प्रबन्ध—इस समय बैंक के कार्यों की देखभाल १५ सदस्यों से निर्मित केन्द्रीय सचालक परिषद (सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स) के हाथ में है।

छः सचालक अधिनियम की धारा ८ (१) (स) के अन्तर्गत तथा एक सरकारी अधिकारी धारा ८ (१) (द) के अन्तर्गत नियुक्त होता है। धारा ८ (१) (स) के मनोनीत सचालकों की कार्यावधि चार साल होती है और वे बारी बारी (रोटेशन) से अवकाश ग्रहण करते हैं। धारा ८ (१) (ब) के अन्तर्गत सचालकों की कार्यावधि स्थानीय परिषद् की सदस्यता पर निर्भर होती है। केन्द्रीय सचालक परिषद् की बैठक वर्ष में कम-से-कम छः बार तथा तीन माह में कम-से-कम एक बार अवश्य होनी चाहिए। व्यावहारिक सुविधा के लिए परिषद् ने अपने कुछ कार्य एक समिति को सौंप दिए हैं जिसकी बैठक गवर्नर के मुख्य कार्यालय में प्रति सप्ताह होती है।

केन्द्रीय सचालक परिषद् का अध्यक्ष तथा बैंक का मुख्य प्रशासकीय अधिकारी गवर्नर होता है। उसके सहायक तीन उप-गवर्नर होते हैं।

रिज़र्व बैंक के कार्य—रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम १९३४ की प्रस्तावना में कहा गया है कि बैंक का मुख्य कार्य देश में स्थिरता रखने की दृष्टि से नोट निर्गमन का नियमन तथा सुरक्षित कोष रखना तथा देश के हित में साख व्यवस्था का सचालन करना है। (१) बैंक को नोट निर्गमन का एकमात्र अधिकार है। (२) रिज़र्व बैंक व्यापारिक बैंकों तथा अन्य वित्तीय सस्थानों, जिनमें राज्यीय सहकारी बैंक भी सम्मिलित हैं, के बैंकर के रूप में कार्य करता है। उनका नक़द कोष (कैश रिज़र्व) रिज़र्व बैंक की सुरक्षा में रहता है तथा वह इच्छानुसार उन्हें सहायता (एकमोडेशन) प्रदान करता है। (३) रिज़र्व बैंक साख-व्यवस्था का नियमन करता है। इस कार्य

के लिए वह बैंक दर, खुले बाजार कार्यों (ओपन मार्केट ऑपरेशन) के सामान्य उपायों के अतिरिक्त अधिकोषीय अधिनियम १९४९ (बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९) के अन्तर्गत चयनित साख नियंत्रण (सेलेक्टिव क्रेडिट कण्ट्रोल) तथा प्रत्यक्ष साख नियमन का प्रयोग कर सकता है। (४) रिजर्व बैंक का एक अन्य मुख्य कार्य सरकार के बैंकिंग और वित्तीय कार्यों का सम्पादन करना है। (५) एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य रुपये के विनिमय मूल्य को स्थिर रखना है। राष्ट्र के आर्थिक विकास और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण यह कार्य बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। इस कार्य के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षित कोष (इण्टरनेशनल रिजर्व्स) रिजर्व बैंक की सरक्षता और प्रबन्ध के अन्तर्गत रहता है।

देश में आर्थिक विकास की बढ़ती हुई गति के साथ बैंक के कार्यों की परिधि में लगातार विस्तार हो रहा है। अब अनेक कार्य, जो पहले केन्द्रीय बैंकों के क्षेत्र से बाहर समझे जाते थे, रिजर्व बैंक द्वारा किये जा रहे हैं।

नोट निर्गमन—मूल अधिनियम के अन्तर्गत नोट निर्गमन के लिए स्वर्ण और विदेशी प्रतिभूतियों का आनुपातिक सुरक्षा कोष निर्धारित किया गया था। इसके अनुसार कुल आदेय का ४० प्रतिशत स्वर्ण और स्वर्णमुद्रा तथा विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में होना चाहिए, किन्तु सोने का मूल्य ४० करोड़ रु० से कम न होना चाहिए। यह व्यवस्था लगभग २० वर्ष तक रही। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम १९५६ ने आनुपातिक सुरक्षा पद्धति के स्थान पर एक विदेशी सुरक्षा कोष की निरपेक्ष राशि निर्धारित कर दी। १९५६ से ४०० करोड़ रु० की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड़ रु० का स्वर्ण या स्वर्णमुद्रा सुरक्षित कोष के रूप में रखा जाने लगा। द्वितीय संशोधन अधिनियम १९५७ पास किया गया। इसके अनुसार निर्गम विभाग के स्वर्ण मुद्रा, स्वर्ण तथा विदेशी प्रतिभूतियों का कुल मूल्य २०० करोड़ रु० से कम नहीं होना चाहिए। इसमें स्वर्ण मुद्रा और स्वर्ण का मूल्य ११५ करोड़ रु० से कम नहीं होना चाहिए।

विदेशी विनिमय—केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक का एक मुख्य कार्य रुपये के बाह्य मूल्य को स्थिर रखना है। भारत के विदेशी लेन-देन का ७०% स्टर्लिंग में, १०% डालर में तथा शेष रुपयों में होता है अतएव पौण्ड स्टर्लिंग और रुपये का सम्बन्ध अब भी बना हुआ है। रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर अब भी १ शि० ६ पें प्रति रुपया है। यह दर १९२७ में निश्चित हुई थी और तब से अब तक चली आ रही है। बैंक के विदेशी विनिमय-सम्बन्धी दायित्व रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की धारा ४० के अन्तर्गत निर्धारित है। विदेशी विनिमय के नियन्त्रण द्वारा भी रिजर्व बैंक अपने उत्तरदायित्व को पूरा करता है।

अनुसूचित तथा ग़ैर-अनुसूचित बैंक—रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद सम्मिलित पूँजी वाली बैंक दो वर्गों में विभाजित हो गई—(१) अनुसूचित तथा ग़ैर-अनुसूचित। अनुसूचित बैंक वे हैं जो रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की दूसरी अनुसूची में सम्मिलित हैं। इनकी तुलना यू० एस० ए० की सदस्य-बैंकों से की जा सकती है।

अनुसूचित बैंको को रिजर्व बैंक से कुछ सुविधाएँ प्राप्त होती है और साथ ही कुछ दायित्व भी होते हैं। निम्न शर्तों को पूरा करने पर ही कोई बैंक अनुसूचित हो सकती है। (१) बैंक की परिदत्त पूँजी तथा कोष (रिजर्व) का कुल मूल्य ५ लाख रु० से कम नही होना चाहिए। (२) रिजर्व बैंक को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि उसकी कार्यवाही निक्षेपको (रुपया जमा करने वालो) के विरुद्ध नही है। (३) १९५६ के कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत एक कम्पनी होनी चाहिए या केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिसूचित संस्था या भारत के बाहर विधान के अन्तगत (जो लागू हो) कारपोरेशन या कम्पनी होनी चाहिए। मार्च, १९५८ म ४०० बैंकिंग कम्पनियो मे से ९२ अनुसूचित बैंक थी। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा ४२ (१) के अन्तर्गत अनुसूचित बैंको को रिजर्व बैंक के पास माँग दायित्व (डिमाण्ड लाइबिलिटी) तथा सावधि दायित्व (टाइम लाइबिलिटी) का क्रमश कम-से कम ५% और २% नकद कोष रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है। ११ मार्च १९६० को एक अधिसूचना द्वारा सभी अनुसूचित बैंको के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे माँग-दायित्व तथा सावधि दायित्व की वृद्धि का २५% अतिरिक्त निक्षेप के रूप मे रिजर्व बैंक के पास रखे, किन्तु किसी भी समय यह माँग-दायित्व के २०% तथा सावधि-दायित्व के ८% से अधिक न होना चाहिए क्योकि ये (अधिनियम द्वारा निश्चित) अधिकतम दरे हैं। ६ मई १९६० को पूर्व अधिसूचना को रद्द कर एक नई अधिसूचना निकाली गई, जिसके अनुसार, (१) ११ मार्च १९६० की तुलना मे ६ मई, १९६० को कुल दायित्व (सावधि तथा माँग) की वृद्धि का २५ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास रखा जाए तथा (२) ६ मई १९६० के बाद कुल दायित्वो मे जो वृद्धि हो उसका ५० प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास रखा जाए। रिजर्व बैंक ने इन अतिरिक्त निक्षेपो के लिए ब्याज देना स्वीकार किया। यह निश्चय किया गया कि ब्याज हर छमाही दिया जाए तथा ब्याज की दर उस छमाही के लिए अनुसूचित बैंक द्वारा दी जाने वाली ब्याज दर से ½ प्रतिशत ज्यादा हो, किन्तु ४½ प्रतिशत से अधिक न हो।

कृषि साख विभाग—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा ५४ के अन्तर्गत अप्रैल १९३५ मे कृषि साख विभाग की स्थापना की गई। प्रारम्भ म उसके परिनियत कार्यों मे कृषि-साख से सम्बन्धित प्रश्नो के अध्ययन हेतु विशेषज्ञ को रखना तथा कृषि साख प्रदान करने वाली संस्थाओ—जैसे राज्यीय सहकारी बैंक और रिजर्व बैंक—के कार्यों के बीच समन्वय स्थापित करना था। ग्रामीण अर्थ-प्रबन्धन के विस्तार के साथ-साथ कृषि साख विभाग के कार्यों का भी विस्तार हो गया है। १९५६ मे कृषि-उत्पत्ति (विकास और भण्डार) निगम अधिनियम के पास होने के बाद यह विभाग कृषि उत्पत्ति के विक्रय को सुविधाजनक बनाने के लिए भण्डार गृहो के देश व्यापी सगठन की स्थापना के लिए केन्द्रीय और राज्यीय सरकारो से सहयोग करता है। इस समय इसका कार्य चार भागो मे विभाजित है—(१) वित्त और निरीक्षण, (२) नियोजन और पुनर्संगठन, (३) सहकारी प्रशिक्षण और प्रकाशन तथा (४) हृष

करधा वित्त। प्रत्येक एक उप-मुख्य-अधिकारी (डिप्टी चीफ अफ्सर) के अन्तर्गत है। कृषि साख विभाग के प्रादेशिक कार्यालय भी बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और नई दिल्ली में स्थापित किये गए हैं।

३७ **१६३६ के बाद भारतीय बैंकिंग**—द्वितीय महायुद्ध के विस्फोट तथा दिसम्बर, १६४१ में जापानी युद्ध के प्रारम्भ होने के तुरन्त बाद ही भय के कारण जनता बैंकों से अपना रुपया वापस करने लगी, पर थोड़े ही दिनों बाद जनता ने इस त्रास की निरर्थकता को महसूस कर लिया और अपने को युद्ध की परिस्थिति के अनुकूल बनाने में समर्थ हो गई। १६३६ में अनुसूचित बैंकों का निक्षेप-दायित्व २४६.४५ करोड़ रुपये का था, पर जुलाई १६४४ के अन्त तक यह बढ़कर ७५६.२६ करोड़ रुपये हो गया। इसके दो मुख्य कारण हैं—बैंकिंग तथा राजस्व का घनिष्ठ सम्बन्ध तथा लड़ाई के कारण मुद्रा-प्रसार, जो साख को और भी अधिक बढ़ाने में सहायक होता है।

अवधि-निक्षेप (टाइम डिपाजिट) की अपेक्षा माँग-निक्षेप में अधिक वृद्धि हुई, जिसका कारण था जनसाधारण द्वारा तरलता को अधिमान दिया जाना। वे अपना रुपया पूँजी-रूप में न लगाकर लाभदायक विनियोग के अवसर आने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

माँग-दायित्व के अपेक्षाकृत बढ़ जाने के कारण बैंक अपनी स्थिति को अधिकाधिक तरल रख रहे थे। नकदी तथा हुण्डियाँ (जो बैंक के आदेय के लाभकारी मद हैं) तो बढ़ रही थीं, पर कुल निक्षेप में उनका प्रतिशत १६३६ में ५३ था जो १६४४ में केवल ३० रह गया। इसके दो मुख्य कारण थे—युद्ध के समय में व्यावसायिक विनियोग का अवसर कम हो गया तथा बैंकों ने अपनी रकम को युद्ध ऋण (वार-लोन्स) में लगा दिया। उपर्युक्त अधिक तरलता की इच्छा ने ही सरकारी प्रतिभूतियों में रुपया लगाने की प्रेरणा दी। हिस्सा-पूँजी तथा रक्षित कोष की रकम भी बढ़ी पर वह निक्षेप जितनी न बढ़ सकी। १६४५ के मध्य से, जबकि युद्ध का अन्त समीप ही था, माँग तथा अवधि-दायित्व का असम अनुपात स्वयं ही ठीक होने लगा। १६४६-४७ में पिछले वर्ष के समान माँग-निक्षेप की अपेक्षा अवधि-निक्षेप अधिक तेजी से केवल बढ़े ही नहीं बल्कि जिस समय माँग-निक्षेप में कम होने की प्रवृत्ति थी उस समय भी अवधि-निक्षेप बढ़े। इससे स्पष्ट था कि जनता के तरलता-अधिमान (लिक्विडिटी प्रेफरेन्स) में ह्रास होने लगा तथा निक्षेप का ढाँचा युद्ध-पूर्व की स्थिति के समान बदल रहा था।

१६१४-१८ के युद्ध की तरह १६३६-४५ के द्वितीय विश्व-युद्ध में द्रव्य-सम्बन्धी स्थिति तंग तथा बैंक-दर ऊँची नहीं हुई। ब्याज की दर पर कठोर नियन्त्रण युद्ध के खर्च को पूरा करने की नई शैली रही है तथा इसकी सफलता इसी से सिद्ध हो जाती है कि अत्यधिक बड़े सार्वजनिक व्यय तथा सरकार द्वारा अत्यधिक उधार लेने की अपेक्षा होते हुए भी ब्रिटेन तथा भारत के द्रव्य-सम्बन्धी अधिकारी ब्याज की दर को कम बनाये रहे हैं।

प्रथम युद्ध के सदृश विगत युद्ध ने भारतीय बैंकों के नकद कोष की स्थिति

को अधिक सक्षम ही बनाया है। निकासी गृह के माध्यम से होने वाले भुगतान का सन् १९३८-३९ में २००३ अरब रुपये से बढ़कर १९४४-४५ में ५६ १७ अरब रुपया हो जाना भी प्रगति का ही सूचक है। १९४५-४६ तथा १९४६-४७ के अंक क्रमशः ६५ ४२ अरब रुपये तथा ७१ ६८ अरब रुपये हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि भारतीय बैंकिंग पद्धति ने अत्यधिक जीवन-शक्ति दिखाई है तथा युद्ध ने साधारणतया इसे और भी सशक्त बनाया है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय बैंकों की प्रगति में दो उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। देश-विभाजन के बाद बैंकों तथा उनकी शाखाओं की संख्या तथा उनके निक्षेपों में ह्रास ही रहा था, परन्तु १९५३ के पश्चात् दोनों ही में पुनः वृद्धि की प्रवृत्ति स्पष्ट है। १९५४ में यद्यपि बैंकों की संख्या में २३ की कमी हुई, परन्तु शाखाओं को लेकर कुल बैंकों की संख्या में २२ की वृद्धि हुई। वृद्धि अधिकतर अनुसूचित बैंकों में हुई थी। गैर-अनुसूचित बैंकों में तो ह्रास ही हुआ है। १९५४ में बैंकों में कुल निक्षेप १०६३ करोड़ रुपये था, जो दो साल पहले की अपेक्षा लगभग १०० करोड़ रुपये अधिक है। इस वर्ष प्रति साढ़े दस हजार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। यह भी उल्लेखनीय है कि ५५% अनुसूचित बैंक तथा ३३% गैर-अनुसूचित बैंक ५०,००० से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में स्थित हैं। मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की विदेशों में १०७ शाखाएँ हैं।

१९५५ में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना भारतीय बैंकिंग की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। स्टेट बैंक का परिनियत कार्य शाखाओं के विकास द्वारा बैंकिंग व्यवस्था का विस्तार करना है। कुछ राज्यों की बैंकों को स्टेट बैंक की सहायक बनाने तथा करेन्सी रिज़र्व को घटाकर २०० करोड़ रु० निश्चित करने के अधिनियम की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। १९५४ के संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष की स्थापना की। इस कोष के लिए कम-से कम ५ करोड़ रु० प्रतिवर्ष का अनुदान पाँच वर्ष तक देने की व्यवस्था है। शेष की स्थापना १० करोड़ रु० से हुई। इसका उद्देश्य राज्य सरकारों को ऋण देना है ताकि वे सहकारी समितियों की हिस्सा पूँजी खरीद सकें। १९५७ में अनुसूचित बैंकों की संख्या ९१ थी तथा इनके कार्यालयों की संख्या ३२७३ थी। १९५६ में अनुसूचित बैंकों की संख्या ८९ थी और कार्यालयों की संख्या २९६४ थी।

तृतीय पचवर्षीय योजना प्रारम्भ हो रही है। वित्तीय व्यवस्था का आधार होने के कारण बैंकों को इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य करना है। अतएव उन्हें भावी आवश्यकताओं के लिए अपने-आपको सक्षम बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। नियोजन के फलस्वरूप बैंकों को व्यापार की नई दिशाओं में प्रवेश करना ही होगा। इस दृष्टि से निश्चित समय के लिए रुपया उधार देने का काम अवश्य ही एक नई दिशा है। अतएव उन्हें इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। १९५८ में रिफाइनेन्स कारपोरेशन की स्थापना के बाद इस दिशा में कार्य करने की सुविधा और बढ़ गई है, क्योंकि रिफाइनेन्स कार्पोरेशन प्रतिशोधन (रिम्बर्समेण्ट) की सुविधा प्रदान करता है

ताकि वे मध्यकालीन अग्रिम सरलता से दे सकें। १९६० के 'ट्रेन्ड्स एण्ड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग इन इण्डिया' (प्रकाशित जून १९६१) में कहा गया है कि तृतीय योजना के अन्त तक बैंकिंग व्यवस्था द्वारा सम्पादित कार्य लगभग दूना हो जाएगा। तृतीय योजना की चुनौती स्वीकार करने के लिए बैंकों को निक्षेप प्राप्त करने के प्रयत्न बढ़ाने चाहिए। उपर्युक्त प्रकाशन में इस हेतु तीन सुझाव दिये गए हैं—(१) अधिक शाखाएँ खोली जाएँ। (२) निक्षेपकों में विश्वास उत्पन्न किया जाए। (३) व्यापार नई दिशाओं में मोड़ा जाए।

३८ *औद्योगिक वित्त—औद्योगिक वित्त की सुसंगठित पद्धति का अभाव भारत के* आर्थिक ढाँचे की सबसे बड़ी कमी है। जर्मनी के बैंकों ने अपने देश के उद्योगों की आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति में अत्यधिक योग दिया है। वे उद्योगों की प्रारम्भिक पूँजी के अधिकांश भाग का बन्दोबस्त करते हैं, जिसे कालान्तर में विनियोग करने वालों से प्राप्त कर लेते हैं। जोखिम को आपस में बाँटने के उद्देश्य से अनेक बैंक अपने संघ (कोन्शोर्शियम) बना लेते तथा निर्गमित हिस्सों के कुछ अंश को लेने की प्रतिज्ञा करते हैं। पर औद्योगिक कम्पनियों के हिस्सों में बैंकों का यह विनियोग औद्योगिक बैंकों द्वारा किए विनियोग के सदृश दीर्घकालीन विनियोग नहीं है, वरन् इसे बैंक के साधनों की प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों के विनियोगों की भाँति सुरक्षित विनियोग समझा जाता है, जिसे बैंक अल्पकाल के लिए करते हैं। इन कार्यों से बैंकों को लाभ ही होता है, क्योंकि इस प्रकार उन्हें व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करने तथा अपना प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिलता है। नई पूँजी की प्राप्ति करने के लिए जर्मन औद्योगिक कम्पनियाँ सामान्यतः उन्हीं बैंकों से पूँजी की माँग करती हैं जिनके साथ उनका स्थायी बैंक-व्यवहार है। पर यह बात स्मरणीय है कि बैंक अपने साधनों का एक सीमित अंश ही औद्योगिक वित्त में लगाते हैं तथा उनका प्रधान कार्य बैंक का साधारण कारोबार करना ही होता है।[1] केन्द्रीय अधिकोष खोज-समिति ने जर्मन पद्धति को यथोचित संशोधनों के पश्चात् अपना लेने का स्वागत किया तथा यह सुझाव रखा कि इस दिशा में ख्याति प्राप्त व्यापारिक बैंक कार्य का श्रीगणेश करें। इस कार्य में अत्यधिक अनुभव तथा विवेक के अतिरिक्त अधिक निजी पूँजी होनी चाहिए एवं प्रतिभूतियों के निर्गमन तथा विक्रय में सट्टेबाज़ी के प्रलोभन का संवरण करना आवश्यक है। ये गुण आज के थोड़े से ही बैंकों के पास हैं। अगर देश के प्रमुख बैंकों को उद्योगों के प्रति सच्चा तथा सहानुभूतिपूर्ण अनुराग हो तो इन कठिनाइयों के होते हुए उद्योगों को काफी वित्तीय सहायता दी जा सकती है। जर्मन नमूने का अनुकरण कुछ हद तक हम पारस्परिक विश्वास की सृष्टि करने के लिए कर सकते हैं, बशर्ते स्वस्थ बैंकिंग से असंगत उलझनों से बचे रहें। बैंकों के प्रबन्ध-

१. 'इण्डस्ट्रियल ऑर्गेनाइजेशन इन इण्डिया' के पृष्ठ २४१-४२ पर डॉ० पी० एस० लोकनाथन यूरोपीय श्रेणी मिश्रित बैंकिंग के अनुकूल भारतीय व्यावसायिक बैंकिंग के निरूपण की कठिनाइयों का स्पष्ट करते हैं।

सचालको तथा प्रबन्धको की सम्बन्धित उद्योगो के सचालको के रूप मे नियुक्ति करके बैंको तथा उनसे सहायता पाने वाले उद्योगो के बीच उपयोगी सम्बन्ध स्थापित कर सकते है।

उपर्युक्त व्यावसायिक बैंको के सहयोग द्वारा नि सन्देह ही बहुमूल्य परिणाम की आशा की जा सकती है, पर केवल इसी विधि द्वारा पर्याप्त औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव नहीं है। अपने-अपने क्षेत्र में उद्योगो का विकास करना प्रादेशिक सरकारो का कार्य है। इन कार्यों को सन्तोषजनक ढग से करने के लिए प्रादेशिक सरकार द्वारा प्रारम्भिक अवस्था मे या स्थायी रूप से दी गई पूँजी के साथ प्रान्तीय औद्योगिक निगमो और उनकी शाखाओ की स्थापना उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इन निगमो द्वारा विशेषत उन उद्योगो को सहायता मिलनी चाहिए जो जनता के लिए लाभदायक हो, उस प्रदेश की उत्पादन-शक्ति बढ़ाएँ तथा जिनसे लोगो को रोजगार मिलें।[1] अखिल भारतीय औद्योगिक निगम की आवश्यकता भी स्पष्ट है। राष्ट्रीय महत्त्व के कुछ ऐसे उद्योग है जिन्हे विकसित करने की जिम्मेवारी प्रान्तीय सरकारो की नही वरन केन्द्रीय सरकार की समझी जानी चाहिए।

३१ औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १९४८—पार्लमेंट ने १३ फरवरी, १९४८ को औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम को पारित किया। इस कानून के अनुसार १ जुलाई १९४८ को औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना भारतवर्ष तथा विलयित देशी राज्यो मे ऐसी मिश्रित पूँजी वाली रजिस्टर्ड कम्पनियो तथा सहकारी समितियो को मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण देने के लिए हुई जो वस्तुओ का उत्पादन करने, खान खोदने तथा विद्युत या किसी अन्य प्रकार की शक्ति को पैदा करने या बाँटने के कार्य से सम्बद्ध हो। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक धन्धो को आज की अपेक्षा अधिक आसानी से मध्यम तथा दीर्घकालीन साख को उपलब्ध बनाना है। कॉरपोरेशन की हिस्सा पूँजी १० करोड रुपये की है, परन्तु अभी ५ करोड रुपया प्राप्त हिस्सा-पूँजी के रूप मे है। इन १० करोड रुपयो मे से १ करोड केन्द्रीय सरकार, १ करोड रिजर्व बैंक, ३½ करोड अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियो, विनियोग ट्रस्टो आदि तथा ½ करोड सहकारी बैंको द्वारा प्रदान किया गया। जरूरत के समय शेष पूँजी को सरकार की अनुमति के अनुसार निर्गमित किया जाएगा। केन्द्रीय सरकार ने पूँजी के लौटाने तथा आय-कर से मुक्त कम से कम २½% लाभांश देने की गारन्टी दी है। इस निगम पर सरकार तथा रिजर्व बैंक, इम्पीरियल बैंक[2], अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियो आदि का स्वामित्व रहेगा। इसके हिस्से का ४० प्रतिशत सरकार तथा रिजर्व बैंक के हाथ

१ डा० लोकनाथन ने प्रान्तीय बैंकों को सब कोटि के उद्योगों को आर्थिक सहायता देने की स्वतन्त्रता से उत्पन्न होने वाले खतरों को स्पष्ट करते हुए यह सुझाव दिया है कि वे केवल सार्वजनिक सेवा-उद्योगों को ही आर्थिक सहायता दें। देखिए, वही, पृष्ठ २६८।

२ यह अब स्टेट बैंक ऑफ इंडिया है और सरकारी अधिनियम से बँधा है।

मे तथा १० प्रतिशत सहकारी बैंको के हाथ मे रहेगा। इसमे सरकारें, रिजर्व बैंक (१ जनवरी, १९४९ को इसका राष्ट्रीयकरण हो गया) तथा इम्पीरियल बैंक के हिस्से का योग कुल हिस्सो का ५२ प्रतिशत होगा जिससे इस पर सरकारी नियन्त्रण का होना निश्चित-सा हो जाता है।

निगम का प्रबन्ध १२ सदस्यो की एक समिति को सौप दिया गया है, जिसमे मैनेजिंग डाइरेक्टर भी सम्मिलित हैं। यह १० करोड रुपये तक के निक्षेप स्वीकार कर सकता है, किन्तु उसकी अवधि पाँच वर्ष से कम नही होनी चाहिए। ऋण केवल सीमित दायित्व वाली कम्पनियो और सहकारी समितियों को प्रदान किया जाता है, पर शर्त यह रहती है कि वे स्वय अपने प्रयत्न द्वारा भी वाछित धन के एक उचित अनुपात की पूर्ति करें। ऋण देने के ढग य हैं—(१) ऋण देकर या २५ वर्ष के अन्तर्गत चुकता होने वाले औद्योगिक सस्थाओ के ऐसे ऋण पत्रो को खरीदकर, जो सुरक्षित हैं या जिनके साथ जायदाद आदि वस्तुएँ भी गिरवी समझी जाती है, (२) कम्पनी के हिस्से, स्टाक तथा बिक्री हेतु ऋण-पत्रो की स्वय गारण्टी करके और (३) बाजार मे बचे जाने वाले २५-वर्षीय ऋण की वापसी की गारण्टी देकर।

ऋण के प्रार्थना पत्रो पर विचार करते समय इन बातो पर ध्यान रखा जाता है—(क) आवदक कम्पनी की आर्थिक स्थिति, जो लन देन के चिट्ठो का अध्ययन करन और खातो की जाँच करने के उपरान्त प्रकट होती है, (ख) योजना की मान्त्रिक दृढता व व्यवस्था की कार्यकुशलता, और (ग) देश के आर्थिक ढाँचे मे उस उद्योग का महत्त्व। निगम को अधिकार है कि वह पूँजीगत वस्तुओ को प्राप्त करने की सुविधा क लिए कम्पनियो को आवश्यकतानुसार भारतीय या विदेशी मुद्रा म ऋण दे।

निगम आय कर के दायित्व से मुक्त नही है। मार्च, १९६० तक कारपोरेशन ने ७२ १८ करोड रु० का ऋण मजूर किया था। ४७ ४८ करोड रु० का ऋण वितरित किया जा चुका है। मजूर किये गए ऋणो मे दो-तिहाई ऋण स्वतन्त्रता के पश्चात् स्थापित नए कारखानो का दिये गए। १९५७ के औद्योगिक वित्त निगम (सशोधन) अधिनियम द्वारा निगम की साधन-सम्बन्धी स्थिति और दृढ हो गई है तथा उसके कार्यों की परिधि भी विस्तृत हो गई है।

भारतीय राज्यो म प्रादेशिक वित्त निगमो के बन जाने के कारण यह निर्णय हुआ है कि (१) १० लाख रुपये और (२) अपने प्रदेश क वित्त निगम की प्राप्त पूँजी के दस प्रतिशत तक के ऋण के आवदको को औद्योगिक वित्त निगम ऋण न दे।

दिसम्बर, १९५९ तक भारत म १४ राज्यीय वित्त निगम बनाए जा चुके थे। १९५१ के अधिनियम के अनुसार य निगम बाड तथा ऋणपत्र निर्गमित कर सकते हैं, कम्पनियों को गारण्टी दे सकते हैं तथा उनके ऋण-पत्रों आदि की बिक्री की सुविधा भी दे सकते हैं, परन्तु य सभी कार्य कुल निधि रूप म निगम की प्राप्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष के पाँच गुने से अधिक न हो। १९५९-६० के अन्त तक निगमो के ऋण और अग्रिम की मात्रा १४ १७ करोड रु० थी।

इसके अतिरिक्त तीन अन्य निगम अखिल भारतीय स्तर पर स्थापित किए गए हैं—

(१) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (१९५४) की स्वीकृत पूँजी १ करोड रु० तथा प्राप्त पूँजी १० लाख रु० है। निगम नियोजित विकास-हेतु उद्योगों को वित्तीय सहायता देगा। वह स्वयं भी उद्योग स्थापित कर सकता है तथा औद्योगिक योजना की जाँच भी। इस सम्बन्ध मे वह वैयक्तिक औद्योगिक क्षेत्र में उपलब्ध औद्योगिक विशेषज्ञों के ज्ञान का पूर्ण लाभ उठाएगा।

(२) औद्योगिक साख तथा विनियोग-निगम (१९५५) की स्वीकृत पूँजी २५ करोड रु० थी तथा निर्गमित पूँजी ५ करोड रु० है, जिसमे से दो करोड रु० के हिस्से भारतीय बैंक तथा बीमा-कम्पनियो ने, १ करोड अंग्रेजी कम्पनियो ने, ०.५ करोड अमरीकी कम्पनियो ने तथा शेष भारतीय जनता ने लिए है। निगम इस बात का प्रयत्न करेगा कि इसके सदस्य विस्तृत क्षेत्र के हो। भारत सरकार पन्द्रह वर्ष बाद से अगले पन्द्रह वर्षों मे चुकाने की शर्त पर ७½ करोड रुपये का ऋण दे रही है। भारत सरकार की गारण्टी पर पुनर्निर्माण तथा विकासार्थ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने भी १ करोड डालर का ऋण निगम को ४⅘% वार्षिक सूद की दर पर १५ वर्ष की अवधि के लिए देना स्वीकार किया है।

(३) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (१९५५) की १० लाख रुपये की स्वीकृत पूँजी १०० रुपये वाले १०,००० हिस्सों मे बँटी है, जो पूर्णत भारत सरकार ने प्रदान की है। भारत सरकार चालू पूँजी हेतु भी पर्याप्त निधि देगी। निगम पाँच लाख से कम पूँजी वाले शक्ति-चालित परन्तु ५० से कम श्रमिक वाले तथा बिना शक्ति-चालित और १०० तक श्रमिक वाले उद्योगो को सहायता, वित्त, सरक्षण तथा विकास-योग देगा। फरवरी, १९६६ मे इसका उत्तरदायित्व और सम्पत्ति १३२.६१ करोड रुपये थी।

रिफाइनेन्स कारपोरेशन— २५ जून, १९५८ को इसकी रजिस्ट्री हुई। इसका मुख्य उद्देश्य मध्यम आकार (जिनकी परिदत्त पूँजी और कोप २.५ करोड रु० से अधिक न हो) की औद्योगिक इकाइयों की सहायता हेतु बैंकिंग व्यवस्था को साधन उपलब्ध कराना है। १९५९ मे तीन सदस्य बैंको से २.२३ करोड रु० के लिए प्रार्थना-पत्र प्राप्त हुए। स्थापना से लेकर अब तक ४.२१ करोड रु० के लिए प्रार्थना-पत्र प्राप्त हुए। दिसम्बर, १९५९ तक ४.०३ करोड रु० का अर्थ-प्रबन्ध (रिफाइनेन्स) मंजूर किया गया। जिन उद्योगो ने सदस्य बैंको के माध्यम से सहायता माँगी थी उनमे सूती वस्त्र उद्योग, सीमेंट आदि थे।

इसकी अधिकृत पूँजी २५ करोड रु० है। दिसम्बर, १९६४ के अन्त तक इसने ५ कृषि प्रगति प्रोजेक्टो पर २१.८३ करोड रुपया व्यय किया।

४०. सचय करने की प्रवृत्ति—यह कथन सर्वविदित है कि भारतवर्ष बहुमूल्य धातुओं का अतल कूप है। भारतवासियों की सोने-चाँदी के प्रति तथाकथित अमिट तृष्णा के सम्बन्ध मे अत्यन्त चित्रमयता से यह कहा गया है कि 'एक कृष्णवर्ण जाति

बहुमूल्य धातुओं का भूमि से उद्धार करती है और दूसरी उन्हें पुनः भूमि के भीतर दफना देती है।' यह भी कहा जाता है कि जो स्वर्ण भारत में सामान्य उपयोग के लिए पहुँच जाता है, वह शेष संसार के लिए सदैव के लिए लुप्त हो जाता है। दीर्घ-काल तक यूरोपवासी भारत में बहुमूल्य धातुओं की निरन्तर खपत पर हर्ष, आश्चर्य और संतोष के साथ विचार करते थे। यदि भारत में सोने-चाँदी की इतनी अधिक खपत न हुई होती, तो इधर पिछले वर्षों में नई खानों के अन्वेषण और धातु निकालने की प्रणाली में सुधार हो जाने के फलस्वरूप सोने-चाँदी के उत्पादन में विपुलता आ जाने व मूल्यों में भारी वृद्धि हो जाने के कारण यूरोपीय देशों के आर्थिक जीवन में एक भीषण असन्तुलन आ जाता। किन्तु जब १९२४-२५ में इंगलैण्ड व यूरोप के अन्य देश अपनी मुद्राएँ स्थिर करने के लिए सचर्षरत थे, भारत यूरोप की आवश्यकताओं को तनिक भी ध्यान में न रखते हुए कम-से-कम ५० लाख पौंड के मूल्य का स्वर्ण एकत्र कर चुका था। तब यूरोपीय देशों ने अनुभव किया कि भारत सचय करने के अपने ढर्रे को पूरी सरगर्मी से जारी रखकर उनके मुद्रा स्थिर करने के प्रयास में भारी बाधा पहुँचा रहा है।[1]

भारत में इस संचित धन के सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाये गए हैं। कदाचित् सबसे पहला अनुमान श्री मैक्लायड (एच० डी०) का था। यह पहले अर्थशास्त्री थे जिनके मस्तिष्क में इस संचित धन के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उनका विश्वास था कि यह ३०० लाख पौंड से कम नहीं होना चाहिए। लार्ड कर्जन का अनुमान था कि यह ८२५ करोड़ रु० के निकट होगा, जबकि आर्नल्डराइट ने दिसम्बर १९१६ के फिनान्शियल रिव्यू ऑफ रिव्यूज़ में लिखते हुए उसे ७००० लाख पौंड ठहराया था।

भारत के सोने व चाँदी के उपभोग की शिकायत करते हुए यूरोपीय लेखकों ने सारा दोष भारतवासियों के ही गले मढ़ दिया है और स्वर्ण के उपभोग[2] के सम्बन्ध में भारत को द्वेषपूर्ण दायित्व का दोषी करार करने के प्रयास के फलस्वरूप उत्तेजनापूर्ण प्रत्युत्तर तक नौबत आ पहुँची और दोषारोपित करने वालों के सिर भी दोष मढ़े गए। यह इंगित किया गया कि स्वर्ण-संचय करने का दुर्व्यसन केवल भारतीयों के साथ ही नहीं है। संयुक्तराज्य अमरीका में ही १९१६ से लेकर १९२३[3] के बीच लगभग ५० करोड़ पौंड का सोना खप गया और न्यूयार्क में द्रव्य के नाम पर स्वर्ण का

---

१. जब हम सितम्बर, १९३१ (जब १ रुपया १ शि० ६ पैं० के बराबर था) से जनवरी, १९४० के बीच के ३५१ करोड़ रु० के सोने का भारत से निर्यात का ध्यान करते हैं, तो उपर्युक्त दलील में कोई जान नहीं दिखाई पड़ती। पीछे अध्याय ९, सेक्शन २२ देखिए। जिस समय भारत से इतनी बड़ी मात्रा में सोने का निर्यात हो रहा था, ठीक उसी समय संयुक्तराज्य अमरीका तथा अनेक यूरोपीय देशों में (विशेषतः फ्रांस में) इसका अत्यधिक संचय किया जा रहा था।

२ सर स्टेनली रीड द्वारा बैबिंगटन स्मिथ समिति को दिया गया वक्तव्य।

३ वाडिया और जोशी, 'दि वेल्थ ऑफ इण्डिया', पृ० ३८८-८९।

$\frac{3}{3}$ भाग से भी अधिक स्वर्ण सचय करने के उपरान्त सचय करने की वृत्ति को केवल भारतीय एकाधिकार नही कहा जा सकता। इसमे कोई सन्देह नही कि इन केन्द्रो मे स्वर्ण का अधिकाश भाग केन्द्रीय बैंक के सुरक्षा-कोष मे एकत्र था। परन्तु यदि भारत मे स्वर्ण का ऐसा उपयोग नही किया गया तो क्या इसका कारण यहाँ की दूषित मुद्रा-प्रणाली (स्वर्ण-विनिमय-मान), जो यहाँ पर्याप्त समय तक चलन मे रही, आंशिक रूप से नही है ? जो लोग भारत के सचय पर खेद प्रकट करते है, सामान्यत वे यह भूल जाते हैं कि यहाँ की खपत मे आने वाले स्वर्ण के एक अश का उपयोग औद्योगिक और घरेलू आवश्यकताओ के लिए भी होता रहा है।

जब इन सभी तथ्यो को ध्यान मे रखकर एक बार यह स्वीकार कर लिया गया कि सोने-चाँदी के लिए भारत की माँग असामान्य नही है, तो दूसरे देशो की मुद्रा की स्थिरता मे उत्पन्न होने वाली बाधाओ के विशिष्ट दायित्व से भारत को बरी कर दिया गया।

जो कुछ भी ऊपर कहा गया है उसका उद्देश्य यही प्रदर्शित करना था कि भारत मे सचय की मात्रा के सम्बन्ध मे अत्युक्तिपूर्ण उल्लेख हुए है। हाँ, सचय के अस्तित्व से बिलकुल इनकार करना तो सत्य की उपेक्षा करना होगा। इसमे कोई सन्देह नही कि मुद्रा के अतिरिक्त अन्य उपयोगो मे स्वर्ण की भारी खपत होती है और सचय द्वारा जड (अचल) बनी बहुमूल्य धातु की वर्तमान राशि पर्याप्त विपुल होगी।

यह कहना कठिन होगा कि यह प्रवृत्ति धन और सम्पन्नता की परिचायक है। अधिकाशत यह सचित धन लाखो पृथक्-पृथक् व्यक्तियो के पास छोटी-छोटी राशियो मे बिखरा पडा है और उत्पादक-कार्यों मे इसका उपयोग नही हो रहा है। यह उचित ही है कि इन्हें सम्पन्नता का मकेनक न स्वीकार करके निर्धनता का कारण माना जाता है।[1]

सोने तथा चाँदी के आभूषणो को भी साधारणतया सचित राशि का एक हिस्सा माना तो जाता है, पर इसकी स्वीकृति विवादास्पद विषय है। यह समझना कठिन है कि अगर हम दाँत मे लगाए सोने को सचित धन नही मानते तो शृगार के लिए उपयोग किये गए सोने को ऐसा क्यो मानें ? सच्ची बात यह है कि भारतवासी सोने तथा चाँदी के गहने दो उद्देश्यो से बनवाते है— निजी शृगार के लिए तथा आपत्ति-काल मे सहायता के लिए।[2] फिर भी इन दोनो प्रयोजनो मे भेद करना

१. भारत में सोने का आयात कानून द्वारा बन्द है। तब भी चोरी-चोरी विदेशों से काफी सोना बदरगाहों पर आता तथा बिकता है। भारत सरकार ने इस चोरी से किये आयात को रोकने के कड़े उपाय किये हैं। इसके तथा अच्छी फसलों के कारण किसान की बहुमूल्य धातुओं की बडी माँग के कारण स्वर्ण के मूल्य बढे है।

२. बैबिंगटन स्मिथ समिति ने भी इस व्यावहारिक सत्य को स्वीकार किया है कि जिस किसी भी हिन्दू या मुस्लिम महिला के पास सोने एव चाँदी के आभूषण तथा आभूषण के ही रूप में परिवर्तित सिक्के होते है, उसे यह अधिकार है कि वह उन्हें अपनी निजी जायदाद समझे।

आवश्यक ही है तथा इन बहुमूल्य पदार्थों को हम संचित धन तभी कह सकते हैं जबकि प्रयोजन मूल्य के संचित करने से सम्बद्ध हो।

बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार जिस प्रकार नशाखोरी की फिजूलखर्ची को कम करने का साधन नहीं है, उसी प्रकार यह आभूषण पर की गई फिजूलखर्ची का भी साधन नहीं हो सकता (जब तक हम गहने को बैंक का स्थानापन्न न मानें)। वास्तव में भारतीय कृषक अपने रुपये प्राय मच्छरदानी तथा भोजन-जैसी आवश्यक वस्तुओं पर खर्च करने के बजाय अपने तथा अपनी पत्नी के आभूषण के लिए खर्च करता है। कभी-कभी तो रीति-रस्मों के कारण सोने तथा चाँदी का व्यवहार करना पड़ता है, धार्मिक तथा परम्परागत उत्सवों में भी इनका प्रमुख स्थान होता है। यह दुःख की बात तो अवश्य ही है, पर इन्हें दूर करने के लिए हमें मूल्य के समुचित ज्ञान तथा शिक्षा एवं सामान्य चेतना के प्रसार द्वारा सामाजिक तथा धार्मिक रस्मों को मृदुल बनाना पड़ेगा। इसके साथ-ही-साथ यह भी नहीं भूलना होगा कि इस पहलू का सम्बन्ध वास्तविक सञ्चय से न होकर उपभोग तथा व्यय की अच्छी या बुरी रीति से है।

बैंकिंग के जिस विस्तार को सञ्चय बन्द करने के उपाय के रूप में बताया जाता है सञ्चय के कारण वह खुद ही कठिन हो जाता है, क्योंकि जब तक जनता बैंकों में रुपया जमा नहीं करती तब तक वे अपना कार्य-सचालन ही कैसे कर सकते हैं, पर इसके साथ यह कहना भी ठीक है कि जब तक कोई बैंक है ही नहीं तब तक उसमें कोई अपना रुपया जमा ही कैसे कर सकते हैं? अतएव यह प्रश्न क्रिया-प्रतिक्रिया से ही सम्बन्धित है और हमारे सामने केवल यही रास्ता बच जाता है कि हम अधिकाधिक बैंकों तथा लोगों की आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार विभिन्न प्रकार के बैंकों की स्थापना करें तथा और बातों को शिक्षा एवं सतत प्रचार पर छोड़ दें।

संचय की प्रवृत्ति को दूर करने के उपाय—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जो सचय आपत्ति-काल के लिए जेवरात के रूप में किया जाता है, उसे दूर करने का एक उपाय आपत्तिकाल के सचय के लिए वैकल्पिक साधनों को उपलब्ध कराना है। इस दिशा में पोस्ट ऑफिस सेविंग्स बैंक तथा विभिन्न प्रकार के बचत सर्टीफिकेट उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इनकी चर्चा की जा चुकी है। पोस्ट ऑफिस सेविंग्स बैंक चेक जारी करने की सुविधा प्रदान कर काफी निक्षेप प्राप्त कर सकती है। ऐसा करने से सेविंग्स बैंक को अधिक निक्षेप मिलेंगे, साथ ही जनता में चेक का प्रयोग बढ़ेगा और सचय की प्रवृत्ति कम होगी।

१९५९-६० में ८४ करोड़ रु० अल्पबचत के रूप में प्राप्त हुआ जो १९५८-५९ को ८० करोड़ रु० की राशि से अधिक है। यह राशि स्वत बहुत बड़ी नहीं है, किन्तु इसकी वृद्धि इस बात की सूचक तो है ही कि सचय की प्रवृत्ति के स्थान पर अल्प-बचत की प्रवृत्ति बढ़ रही है। बड़े कारखानों और सस्थाओं में कर्मचारियों की अनुमति से अल्पबचत के लिए वेतन मिलने से पूर्व कटौती कराने की व्यवस्था है। इस समय

दो गैर-सरकारी संस्थाएँ राष्ट्रीय बचत की केन्द्रीय परामर्श समिति (नेशनल सेविंग्ज सेण्ट्रल एडवाइज़री बोर्ड) तथा राज्यीय परामर्श समिति—अल्प बचत आन्दोलन के सम्बन्ध मे सरकार को सलाह देती हैं।

४१. भारतीय बैंकरो की संस्था—जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, हमारे देश मे आधुनिक बैंकिंग की अज्ञानता १६१३-१४ के बैंक संकट का एक कारण थी। २० अप्रैल, १६२८ को इण्डियन कम्पनीज एक्ट के अनुसार स्थापित इण्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ बैंकर्स (भारतीय बैंकरो की संस्था) का उद्देश्य इन्ही त्रुटियो को कुछ हद तक दूर करने का है। इस संस्था के कुछ मुख्य उद्देश्य ये है—(१) विशेषतः भारतवर्ष मे बैंकिंग कारोबार करने वाले व्यक्तियो के व्यवहार, पद तथा हित की रक्षा तथा सहायता करना। (२) बैंकिंग के सिद्धान्त के अध्ययन को प्रोत्साहन देना तथा इसी उद्देश्य से एक व्यवस्था करना तथा इस सम्बन्ध मे सर्टिफिकेट, छात्रवृत्ति तथा इनाम देना। (३) भाषणो, वादविवाद, समाचार-पत्रो, पुस्तको, सार्वजनिक संस्थाओ तथा व्यक्तियो से पत्र-व्यवहार द्वारा बैंकिंग तथा उससे सम्बद्ध विषयो की सूचना का प्रचार करना। (४) भारतीय बैंकिंग से सम्बद्ध आंकड़े इकट्ठा करना तथा उनका प्रसार करना।[1]

सितम्बर १६५४ मे रिज़र्व बैंक ने अधिकोषो के निरीक्षक कर्मचारियो को अधिकोषीय व्यवहार की शिक्षा देने के लिए बम्बई मे एक बैंकर्स ट्रेनिंग कॉलिज की स्थापना की है। कॉलिज ने अब तक २६ पाठ्यक्रम (कोर्स) संचालित किये हैं, जिनमे देश-भर की विभिन्न बैंको से ६३६ कर्मचारियो ने प्रशिक्षण प्राप्त किया। १६५६-६० मे पाँच पाठ्यक्रम संचालित किये गए तथा १३६ कर्मचारियो को प्रशिक्षित किया गया। अब उप-प्रबन्धको तथा खजांचियो आदि तक प्रशिक्षण-सुविधाओ का विस्तार करने की दृष्टि से एक माध्यमिक पाठ्यक्रम (इण्टरमीजियट कोर्स) बनाकर बैंको को भेजा गया है। राज्यीय वित्त निगम तथा रिफाइनेन्स कारपोरेशन के सदस्य बैंको के निरीक्षण-वर्ग के कर्मचारियो के लिए जुलाई १६६० से प्रारम्भ होने वाले 'औद्योगिक वित्त' के विशेष पाठ्यक्रम (एडवान्स कोर्स) की योजना भी रिज़र्व बैंक ने बनाई है। बैंकर्स ट्रेनिंग कॉलिज अधिकोषीय प्रशिक्षण के क्षेत्र मे बहुत बडी कमी दूर करेगा।

४२. बैंको की वर्तमान स्थिति—१६६३ के मुकाबले मे १६६४ मे बैंको का निक्षेप विशेषतया चालू जमा मे था। बैंको के ऋण मे बढोतरी का कारण एक तो यह था कि १६६३-६४ के व्यस्त समय मे बहुत बढोतरी हुई। मन्दे समय मे इतनी अधिक सविदा साख मे नही हुई। १६६४ मे बैंको मे जमा धन ११.६ प्रतिशत से बढे और उनके ऋण १४.६ प्रतिशत बढे और इस प्रकार जमा-उधार अनुपात ७१.८ प्रतिशत हो गया। १६६४ मे बैंको (Scheduled) की संख्या ८० से गिरकर ७६ हो गई। एक विशेष बात यह है कि पहली जुलाई १६६० से लघु उद्योगो की साख गारन्टी स्कीम को और बढाया गया और इस समय ६४ साख संस्थाएँ कार्य कर रही है। जब से यह

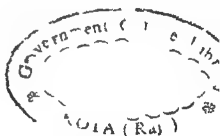
---

१. इण्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ बैंकर्स के मेमोरेंडम तथा आर्टिकल्स ऑफ एसोसिएशन देखिए।

स्कीम बनी है (जुलाई १९६०), तब से लेकर १९६४ के अन्त तक इस स्कीम के नीचे १२,४७७ गारन्टियाँ, ४९.५३ करोड रुपये की कीमत की दी गई।

बढ़ती हुई कीमतों तथा ऊँची दर के ऋण और बैंकों की साख को देखते हुए रिज़र्व बैंक ने मार्च सितम्बर १९६४ मे अपनी साख देने की नीति को और कड़ा कर दिया। बैंक दर का ५ प्रतिशत बढ़ा दिया और उधार देने की नीति को और ऊँचा कर दिया जिससे म य बैंकों को साख की बढ़ोतरी के लिए रिजर्व बैंक के पास आश्रय लेने का प्रयत्न करें। इस प्रकार १९६४ मे रिजर्व बैंक ने साख पर लगाये गए प्रतिबन्धों को तेलों और खाद्य पदार्थों पर और भी मजबूत कर दिया।

१९६५ के रिजर्व बैंक की साख नीति के कारण थोक वस्तुओं की कीमतों मे ६ प्रतिशत बढ़ोतरी हुई जो कि १९६४ का $\frac{1}{3}$ हिस्सा है। १९६५ की नीतियाँ इसलिए अपनाई गई थी कि जरूरी कामों के लिए साख मिल सके और बढ़ती कीमतों को रोका जाए। लोगों के पास धन की पूर्ति १०.२% मे बढ़ी। बैंक दर को ५ से ६ प्रतिशत बढ़ाने और रिजर्व बैंक की अनुकूलता को कम करने के बाद भी व्यस्त समय मे बैंक साख ४०७ करोड रुपये हो गई। इस प्रकार जब तक अच्छी साख की नीतियाँ नहीं अपनाई जाएँगी और बढ़ती कीमतों की रोकथाम नही की जाएगी, तब तक राष्ट्र को आर्थिक और सामाजिक स्थिति सकट से दूर न हो सकेगी।



अध्याय २५

वित्त और कर

१. परिचयात्मक विचार—१९१४-१८ के महायुद्ध के पहले समस्त भारत के लिए एक ही आय-व्ययक (बजट) होता था तथा प्रान्तीय सरकारो को स्वतन्त्र रूप से कर लगाने का अधिकार नही था। केवल केन्द्रीय सरकार को ही कर लगाने का अधिकार था। इस युद्ध के पश्चात् प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्धन केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्धन से सर्वथा पृथक् कर दिया गया और भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रूपरेखा सघीय अर्थ-प्रबन्धन के ढग पर विकसित हो रही है। अफीम, जो अभी हाल तक आय का एक महत्वशाली साधन था और जिसका मालगुजारी के बाद दूसरा स्थान था, लगभग पूर्ण रूप से भारत की परोपकारी अर्थ-व्यवस्था की नीति पर जोर देने के फलस्वरूप लुप्त हो गया और जो थोडी-सी आय इस शीर्षक मे बजट मे दिखाई जाती है वह १९३५ के बाद से भारत मे प्रयोग मे आने वाली अफीम की बिक्री के उत्पाद-कर से प्राप्त होती है।

आय के केन्द्रीय शीर्षक

२. निराकाम्य (कस्टम) प्रशुल्क का इतिहास—(क) १९१४-१८ के महासमर के पहले *आयात प्रशुल्क पद्धति शुद्धरूपेण स्वतन्त्र व्यापार-नीति पर आधारित थी।* इसके कारण बहुत साधारण आयात-कर लगाया जाता था। *जो माल इगलैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशो से आता उस पर अग्रेजी माल की तुलना मे दूना कर लगाया जाता है।*

मेनचेस्टर को प्रसन्न करने के विचार से भारतीय मिलो मे तैयार किये हुए १० अथवा २० से अधिक काउण्ट के सूत पर भी ५% कर लगाया गया। सूत पर लगाये हुए इस कर से लकाशायर को पूर्ण सन्तुष्टि नही हुई, इसलिए १८९६ मे सूती वस्त्रो पर आयात-कर की दर घटाकर ३½% कर दी गई और उसी दर से भारतीय मिलो मे बने हुए कपडो पर लगा दिया गया, सूत को—चाहे देशी अथवा विदेशी हो—इस कर से पूरी छूट दे दी गई।

भारत मे इस कर का घोर विरोध हुआ। इस उत्पाद-कर से मेनचेस्टर को किसी प्रकार का लाभ पहुँचाए बिना ही भारत को घाटा हो रहा था। सर जेम्स वेस्टलैण्ड के कथनानुसार भारत के ९४% सूती वस्त्र के निर्माण से मेनचेस्टर की प्रतिद्वन्द्विता की कोई सम्भावना ही न थी। भारतीय माल के मोटे होने के कारण महीन वस्त्रो के सम्बन्ध मे मेनचेस्टर का एकाधिकार ही था और उसका अधिकाश

व्यापार २० तथा उससे अधिक काउण्ट के महीन कपड़ो तक ही सीमित था। भारत बड़ी कठिनाई के साथ बहुत थोड़ी मात्रा मे २६ या उससे थोड़े अधिक काउण्ट के वस्त्र तैयार कर सकता था। अन्त मे यह भी कहा जा सकता है कि आयात-कर ५ से ३½ प्रतिशत कर देने से विदेशी वस्त्रो के धनी उपभोक्ताओ को ही विशेष लाभ होता, पर देशी सूती वस्त्रो पर लगाया हुआ ३½% कर गरीबो को विशेष हानि पहुँचाता। इसलिए देशी सूती वस्त्रो के उत्पादन पर ३½% कर कभी भी न्यायसगत नही कहा जा सकता।

(ख) १९१४-१८ के महासमर के पहले निर्यात प्रशुल्क—१८६० तक निर्यात-कर प्रारम्भिक प्रशुल्क नीति का मुख्य अग था और प्राय प्रत्येक निर्यात की वस्तु पर ३% कर लगाया जाता था। यद्यपि यह कर बहुत कम था और आय की दृष्टि से लगाया गया था, पर निर्यात कर के लगाये जाने का सिद्धान्त आर्थिक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त समझा जाता था। इससे विदेशी प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिलने के कारण निर्यात-व्यापार को धक्का पहुँचने का भय था। इस विचार से १८६० से १८८० तक निरन्तर इस कर को हटा देने की नीति का ही अनुसरण किया गया। फलत १८८० मे केवल चावल पर ही वह कर लगा रहने दिया गया। १९०३ मे भारतीय चाय उद्योग की प्रार्थना पर चाय के निर्यात पर एक साधारण कर लगा दिया गया।[1]

३. युद्धकालीन तथा उत्तर-युद्धकालीन निराकाम्य प्रशुल्क पद्धति—युद्ध-काल मे तथा उसके पश्चात् निराकाम्य प्रशुल्कों मे विस्तृत परिवर्तन हुए। उनका साराश निम्न-लिखित है—

(क) आयात कर—मूल्यानुसार लगाया जाने वाला कर सभी वस्तुओ, जैसे सूती वस्त्र, लोहा और इस्पात, रेल से सम्बन्धित वस्तुओ इत्यादि, पर बढा दिया गया। उदाहरण के लिए चीनी पर लगा मूल्यानुसार कर १९१६-१७ मे ५% से बढाकर १० प्रतिशत कर दिया गया और १९२२-२३ मे १५ से २५ प्रतिशत कर दिया गया। रूई कातने और बुनने की मशीनो तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ पर १९२१-२२ मे २½% कर लगाया गया, पर बाद म यह कर हटा लिया गया। विलासिता की सभी वस्तुओ, जैसे मोटरकार, सिनेमा के फिल्म, घड़ियाँ, रेशम के कपडे इत्यादि, पर लगे कर १९२१-२२ मे ७½ प्रतिशत से बढाकर २० प्रतिशत और १९२२-२३ मे बढाकर ३० प्रतिशत कर दिये गए। १९२७-२८ मे टैक्सेशन इनक्वायरी कमेटी की सिफारिशो के अनुसार, जिसमे मोटर परिवहन को प्रोत्साहन दने पर जोर दिया था, मोटरकार पर कर ३० से २० प्रतिशत कर दिया गया और टायरों पर ३० से १५ प्रतिशत कर दिया गया। तीव्र आर्थिक अवसाद तथा केन्द्रीय बजट के महान् घाटे ने अधिक आय प्राप्त करने के लिए आयात-करो म भारी और विस्तृत वृद्धि करने पर बाध्य कर दिया। उदाहरणार्थ, मार्च १९३१ के वित्त अधिनियम न (१) शराब, चीनी, चाँदी

[1]. देखिए, खण्ड १, अध्याय ६, पैरा ७, II (ii)।

और सिनेमा फिल्मो पर लगाए कर की दर मे विशेष वृद्धि कर दी। (२) २३ स १५ प्रतिशत अतिरिक्त कर अधिभार के रूप मे लगा दिए। १ नवम्बर १६३१ के पूरक वित्त अधिनियम ने रुई, मशीनरी, रग, कृत्रिम रेशमी सूत, रेशमी वस्त्र, बिजली के बल्ब आदि वस्तुओ के आयात-करो मे वृद्धि कर दी, और प्रचलित आयात कर तथा अधिकर, जो पिछले अधिनियम ने लागू कर रखे थे, की एक-चौथाई मात्रा का अधिभार लगा दिया।

भारतीय प्रशुल्क (तृतीय सशोधित) अधिनियम (मई, १६३६) ने ऐसे परिवर्तनो को कार्यरूप दिया जो भारत और इगलैण्ड के बीच हुए नये व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत थे। इस समझौते ने पिछले उटावा समझौते का स्थान ले लिया। इस नये समझौते के अनुसार भारत के लिए इगलिस्तान को ७½ प्रतिशत प्रशुल्क अधिमान विशेष प्रकार की मोटरगाडियो पर तथा १० प्रतिशत का अधिमान किन्ही विशेष वस्तुओ पर देना आवश्यक हो गया।[1] इस नये समझौते के अन्तर्गत इगलैण्ड के सूती कपडो पर आयात-कर मे भी कमी की गई। १६४१ के वित्त-अधिनियम ने कृत्रिम रेशम के सूत और डोरे पर आयात-कर ३ आने से ५ आने कर दिया। १६४२-४३ मे वर्तमान आयात प्रशुल्क के ऊपर (कपास, पेट्रोल और नमक को छोडकर) सभी वस्तुओ पर २० प्रतिशत का निराकाम्य अधिभार लगा दिया गया। पेट्रोल पर भी २५% टैक्स बढा दिया गया। १६४४ मे तम्बाकू और स्प्रिट पर भी अधिभार बढा दिया गया। १६४२ मे कॉटन फण्ड ऑर्डिनेन्स के अन्तर्गत १ आना प्रति पौण्ड के कर को मिलाकर २ आना प्रति पौण्ड (बिना अधिभार के) कर दिया गया जो कि पूर्णरूपेण भारतीय प्रशुल्क अधिनियम के अन्तर्गत लागू किया जा सकता था, और विदेश से मँगाये हुए सोने के सिक्के पर २५ रु० प्रति तोला, जिसमे १८० ग्रेन शुद्ध सोना हो, का प्रामाणिक कर (बिना अधिभार के) लगाया गया तथा चाँदी पर ३ आना ७ पाई के वर्तमान कर (जिसमे अधिभार सम्मिलित है) को ८ आना प्रति औस (बिना अधिभार के) कर दिया गया।

१६४८-४६ मे मोटरकार पर आयात-कर ४५% से ५०% कर दिया गया, पर इगलिस्तान को ७½% का अधिमान दिया गया। दियासलाई पर कर प्रति ग्रुस १ रु० १२ आना से २ रु० ८ आना कर दिया गया और टायरो पर ५०% कर बढा दिया गया (जो अगले वर्ष और अधिक बढाया गया)।

१६४६-५० मे मोटर की स्पिरिट पर आयात-कर १२ आने से १५ आने प्रति गैलन (ऐसी ही वृद्धि उत्पादन-कर मे भी की गई) कर दिया गया। मोटरो मे प्रयुक्त टायरो के मूल्य पर कर १५% से ३०% कर दिया गया और सुपारी पर कर ५ आना प्रति पौण्ड से ७½ आना प्रति पौण्ड कर दिया गया, परन्तु अंग्रेज उपनिवेशो से मँगाई हुई सुपारी पर ६ पाई प्रति पौण्ड का अधिमान मिलता रहा।

---

१. विशेष विवरण के लिए अध्याय ७ देखिए।

१९५१ से नियोजन-युग प्रारम हुआ तथा प्रथम पचवर्षीय योजना चालू हुई। अब आयात और निर्यात कर नीति के पीछे मुख्यत दो बाते हैं—आयात-कर उन वस्तुओ पर लगाया जाए या उन वस्तुओ पर उनकी दर बढाई जाए जो देश मे निर्मित वस्तुओ से प्रतिस्पर्धा करती हो या उनके विकास मे बाधक हो, निर्यात-कर इस ढग से लगाया जाए ताकि (अ) सबन्धित उद्योग देश की आन्तरिक उपयोग की आवश्यकताओ को ध्यान में रखकर निर्यात करे तथा (ब) कर की मात्रा इस प्रकार निर्धारित की जाए कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे उनकी प्रतिस्पर्धा शक्ति न घटे। निर्यात-उद्योगो के विकास-सम्बन्धी आयातो को अपेक्षाकृत अधिक सुविधा देने की व्यवस्था की जाए। योजना-काल के बजट इन्ही प्रवृत्तियो को लक्षित करते हैं। १९६१-६२ के बजट मे लगभग ४१ वस्तुओ पर कर (ड्यूटी) बढा दिये गए। देश मे मशीनो के निर्माण का तेजी से विकास हो रहा है। उनके विकास में सहायता करने के लिए मशीनो और उनके पुर्जो पर लगे कर की परिनियत दर मूल्यानुसार १० प्रतिशत से घटाकर मूल्यानुसार १५ प्रतिशत कर दी गई। जी० ए० टी० टी० के अन्तर्गत आने वाले सामान पर कोई वृद्धि नही हुई।

(ख) निर्यात-कर— १९१६-१७ मे दो नये निर्यात-कर चाय और जूट पर लागू किये गए। चाय पर तो निर्यात-कर १ रु० ८ आ० निश्चित कर दिया गया। १९२७-२८ मे यह कर हटा दिया गया, परन्तु इसके हटाने का घाटा चाय उद्योग के मुनाफे पर लगे आय-कर मे वृद्धिद्वारा पूरा कर दिया गया। जूट की ४०० पौण्ड की प्रत्येक गाँठ पर २ रु० ४ आ० निर्यात कर निश्चित किया गया, जो कि लगभग ५ प्रतिशत के मूल्यानुसार लगाए कर के बराबर था। जूट से बने माल पर १० रु० प्रति टन बोरो पर और १६ रु० प्रति टन टाट पर कर लगाया गया। १९१७-१८ मे जूट पर निर्यात-कर दुगुना कर दिया गया। अक्तूबर, १९१९ मे कच्चे चमडे पर भारतीय चमडा सिझान के उद्योग की रक्षा के लिए १५ प्रतिशत मूल्यानुसार कर लगाया गया। १९३० के वित्त अधिनियम ने चावल पर लागू निर्यात-कर मे एक-चौथाई की कमी कर दी अर्थात् ३ आने से घटाकर २ आना ३ पाई प्रति मन कर दिया, ताकि चावल के मूल्य मे हुई ससार-व्यापी कमी का मुकाबला किया जा सके तथा बर्मा और स्याम को, जोकि इस व्यापार मे उसके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे, मुकाबला कर सके और बर्मा के किसानो की सहायता एव उनके प्रति न्याय हो सके।

१९१४-१८ के युद्ध-काल मे धन की आवश्यकता तथा युद्धोत्तरकालीन आर्थिक घाटे के कारण निराकाम्य कर पर अधिकाधिक निर्भर रहने की प्रवृत्ति बढती गई। निराकाम्य-कर से प्राप्त आय मे द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण शत्रु देशो से व्यापार बन्द होने के ही कारण नही वरन् आयात मे प्रतिबन्ध लग जाने तथा जहाजो द्वारा माल के ले आने तथा ले जाने की सुविधा मे कमी होने से बहुत कमी हो गई। जब से युद्ध समाप्त हुआ है, निराकाम्य-कर पर निर्भरता की प्रवृत्ति पुन बढती जा रही है।

१९२४ मे प्रशुल्क मे ये परिवर्तन (कच्चे चमडे पर निर्यात-कर को छोडकर)

आय के ही दृष्टिकोण से नियमित थे। कुछ कर इतनी ऊँची दर के थे कि उनका प्रभाव निश्चित रूप से संरक्षणात्मक होता था। इससे वर्तमान अव्यवस्थित संरक्षण-प्रणाली के स्थान पर, जो अनायास स्थापित हो गई थी, एक सुव्यवस्थित विचारपूर्ण संरक्षण-प्रणाली की स्थापना की आवश्यकता का लोगो को अनुभव हुआ। १६२४ के स्टील प्रोटेक्शन एक्ट के पास होने के बाद से अनेक संरक्षण करो का आरोप किया गया। उटावा ट्रेड एग्रिमेण्ट (१६३२) तथा इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रिमेण्ट (१६३६) के परिणामस्वरूप भारतीय प्रशुल्क पद्धति सम-व्यवहार वाली न रह सकी, क्योंकि उसमे इंगलिस्तान, उपनिवेशो और संरक्षक शासनाधीन राज्यो से आने वाली कुछ वस्तुओ को अधिमान प्राप्त थे। इस प्रकार विभिन्न देशो की वस्तुओ के आयात के सम्बन्ध मे विभिन्न नीति बरती जाती थी।

१६३४ के वित्त अधिनियम ने कच्चे चमडे पर लगा निर्यात-कर उठा दिया, क्योंकि चमडे का निर्यात-व्यापार विशेषकर जर्मनी से घटता जा रहा था। १६३५ के अधिनियम ने सामान्य निर्यात-व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए कच्चे पशु-चर्म पर लगे निर्यात-कर को हटा दिया। १६४० के एग्रिकल्चरल प्रोड्यूसर्स एक्ट के अन्तर्गत कुछ विशेष वस्तुओ पर, जैसे हड्डी, मक्खन, गेहूँ, बीज, चमडा, तम्बाकू, कच्चा ऊन इत्यादि, जिन पर अभी तक कोई निर्यात-कर अथवा किसी प्रकार का उप कर नही लगा हुआ था, राजकीय कृषि अनुसन्धान परिषद् (इम्पीरियल काउन्सिल ऑफ एग्रिकल्चरल रिसर्च) की आर्थिक स्थिति को बढतर बनाने के दृष्टिकोण से $\frac{1}{2}\%$ का उप-कर लगा दिया गया। १६४६ मे चाय और रूई पर नये निर्यात-कर लगाये गए और जूट के निर्यात पर कर बढा दिया गया। १६४७ मे चाय पर निर्यात-कर २ आ० से ४ आ० प्रति पौण्ड कर दिया गया। १६४८-४६ मे (१) कपडे का निर्यात-कर २५% के मूल्यानुसार कर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। (करघे द्वारा निर्मित वस्त्रो को छोड दिया गया), (२) सूत पर लगाया हुआ कर उठा दिया गया, और (३) ८० रु० प्रति टन का निर्यात-कर तिलहन पर और १६० रु० प्रति टन का निर्यात-कर वनस्पति तेल पर लगा दिया गया। (अगले वर्ष दोनो कर उठा लिये गए)। १६४६-५० मे १५% का एक नया मूल्यानुसार कर सिगार, सिगरेट और चुरुट पर लगा दिया गया।

निराकाम्य करो (कस्टम्स) से प्राप्त आय १६६१-६२ मे १६६०-६१ के संशोधित अनुमान की तुलना मे १ करोड रु० अधिक होगी। कुल मिलाकर १६६१-६२ में ४१ मदो पर निराकाम्य-कर की दर बढा दी गई, जैसे अनिर्मित तम्बाकू, सुपारी आदि, जिनकी चर्चा की जा चुकी है। १६६५-६६ के बजट के आगणन के अनुसार यह ५०१ करोड रुपये थी और १६६६-६७ मे ५६१ करोड रुपये की सम्भावना है।

४ केन्द्रीय उत्पाद-कर—उत्पाद-कर केन्द्रीय सरकार की आय के प्रमुख साधनो मे से है। १६६०-६१ मे १४ वस्तुओ पर केन्द्रीय उत्पाद कर लगा था, उदाहरण के लिए मोटर, स्पिरिट, मिट्टी का तेल, चीनी, दियासलाई, लोहा, टायर, तम्बाकू, वनस्पति घी, सुपारी, कहवा, चाय और कोयला आदि। मिट्टी के तेल का उत्पादन

पर्याप्त न होने के कारण बाहर से मँगाना पड़ता है। अतएव मिट्टी के तेल के उपयोग की दर कम करने की दृष्टि से अच्छे प्रकार के मिट्टी के तेल पर उत्पाद-कर ४८% बढ़ा दिया गया और इस प्रकार उत्पाद-कर ६५.५५ रु० प्रति किलोमीटर हो गया। इस प्रकार ४४५ रु० के वर्तमान अतिरिक्त-कर को सम्मिलित कर लेने पर कुल कर की मात्रा १०० रु० प्रति किलोमीटर हो गई। निम्न कोटि का मिट्टी का तेल, जिसका उपयोग अधिकतर गाँवो मे होता है, पर यह कर नही लगाया जाएगा।

परिष्कृत डीजेल तेल तथा डीजेल तेल के बीच उत्पाद-कर मे भारी अन्तर होने के कारण डीजेल तेल को परिष्कृत डीजेल तेल मे मिलाने का चलन हो गया है। अतएव डीजेल तेल पर २८.१५ रु० का कर बढाने का प्रस्ताव किया गया।

औद्योगिक विकास के साथ ही अनेक वस्तुओ पर उत्पाद-कर लगाना सम्भव हो गया। अतएव १९६१-६२ के बजट मे निम्न प्रस्ताव किये गए। सोडा एश, कास्टिक सोडा और ग्लिसरीन पर मूल्यानुसार १५ प्रतिशत उत्पाद-कर, पेटेण्ट दवाओ पर (जिनमे एलकोहल न हो) १० प्रतिशत तथा शृगार-प्रसाधनो पर २५ प्रतिशत उत्पाद-कर लगाया गया। इसी प्रकार प्लास्टिक के सामान पर मूल्यानुसार २० प्रतिशत कर लगाया गया। मिल के बने ऊनी और सूती धागे पर एक विशिष्ट कर लगाने का प्रस्ताव किया गया। इस प्रकार होज़री तथा कुछ अन्य वस्त्र भी उत्पाद-कर की परिधि के अन्दर आ गए। शीशे और शीशे के सामान, पोर्सलीन तथा चीनी मिट्टी के सामान, जिनमे प्याले-प्लेटें भी शामिल हैं, पर मूल्यानुसार ५ प्रतिशत से १५ प्रतिशत तक का उत्पाद-कर लगाने का प्रस्ताव किया गया। शैक्षणिक तथा अनुसन्धान-शालाओ मे प्रयोग होने वाले शीशे के सामान पर कम दर से उत्पाद-कर लगाने की व्यवस्था की गई। १९६१-६२ के बजट मे ताँबे और जस्ते पर भी उत्पाद-कर लगा दिया गया। गोलाकार और चादरो पर २०० रु० प्रति मीट्रिक टन तथा नली और ट्यूब (पाइप और ट्यूब) पर मूल्यानुसार १० प्रतिशत कर लगा दिया गया। वातानुकूल मशीनरी (एअर कण्डीशनिंग मशीनरी), रिफ्रिजरेटर, बेतार के सेट यानी रेडियो (वायरलेस सेट) पर भी उत्पाद-कर लगाने का प्रस्ताव किया गया। १५० रु० के मूल्य के रेडियो उत्पाद-कर से मुक्त थे। १५० रु० से ३०० रु० तक के मूल्य के रेडियो सेट पर रियायती दर से उत्पाद-कर लगा था। ३०० रु० से अधिक मूल्य के रेडियो पर मूल्यानुसार अधिक-से-अधिक २० प्रतिशत कर लगाया जा सकता था। मिल के बने सिल्क के कपडे पर अभी तक राज्यो द्वारा बिक्री-कर लगाया जाता था। उसके स्थान पर एक अतिरिक्त उत्पाद-कर लगा दिया गया।

१९६१-६२ के प्रस्तावो के फलस्वरूप उत्पाद-करो से ३०.९० करोड रु० अधिक की आय होगी। इसमे से २.३ करोड रु० राज्यो को मिलेगा। १९६५-६६ मे केन्द्रीय उत्पाद-कर ७०४ करोड रुपये मिलने की आशा थी जबकि १९६६-६७ मे ७६६ करोड रुपया।

५. आय-कर का इतिहास—१८७७ तक कोई नया कर नही लगाया गया, पर

शिल्पियों और व्यापारियों पर लाइसेन्स-कर, दुर्भिक्ष बीमा-अनुदान (फेमीन इन्श्योरेन्स ग्राण्ट) के खर्चे के एक अंश को पूरा करने के लिए आरोपित कर दिया गया और १८७८ में इसके लिए उत्तर प्रदेश पंजाब, मद्रास, बंगाल और बम्बई प्रान्तों में अधिनियम पास कर दिये गए। ये अधिनियम १८८६ तक लागू रहे। १८७८ का लाइसेन्स कर १८८६ के आय-कर अधिनियम द्वारा साधारण आय-कर के रूप में परिणत कर दिया गया, जो समस्त भारत पर लागू हुआ। इस अधिनियम के अनुसार कृषि के अतिरिक्त आय के अन्य सभी साधनों पर कर लगा दिया गया। ५०० रु० से लगाकर २००० रु० तक की आय पर, चाहे वह वेतन से प्राप्त हो या प्रतिभूतियों के ब्याज से प्राप्त हो, प्रति रुपया ४ पाई कर लगा दिया गया, और २००० रु० के ऊपर की आय और कम्पनियों के लाभ पर ५ पाई प्रति रुपया कर लगाया गया। इसके अतिरिक्त कर का और कोई वर्ग न था। इसी प्रकार के अन्य साधनों से प्राप्त आय पर लगभग इसी दर से कर लगाया गया। दान तथा धार्मिक संस्थाओं की आय को छोड़ दिया गया। १९०३ में आर्थिक स्थिति के अच्छे होने के कारण ५०० रु० से १००० रु० तक की आय की छूट प्रदान कर दी गई।

१९१४ के पहले आय-कर से प्राप्ति बहुत कम थी, अर्थात् लगभग ३ करोड़ रुपये के लगभग थी, और धनी वर्ग के लोग बड़ी आसानी से ही मुक्त हो जाते थे। १ अप्रैल, १९३७ से बर्मा के अलग हो जाने से १.४० करोड़ रुपये का घाटा हुआ। १९४२-४३ में अधिक-से-अधिक प्रतिशत अनुपात ६४%, १९४३-४४ में ६६.८% और १९४४-४५ में ६८.१% थे।

आय-कर से प्राप्त धनराशि-सम्बन्धी इधर हाल के आँकड़े इस प्रकार हैं—

१९५६-५७	२०२.९२ करोड़ रु० (एकाउन्ट्स)
१९५७-५८	२१९.८३ करोड़ रु० (एकाउन्ट्स)
१९५८-५९	२१८.५० करोड़ रु० (बजट का संशोधित अनुमान)
१९५९-६०	२२५.०० करोड़ रु० (बजट)

केवल १९५८-५९ के वर्ष को छोड़कर प्रतिवर्ष आय-कर से प्राप्ति बढ़ती रही है। १९५७ के वर्ष में यह देखा गया कि यदि अधिकर और अधिभार को छोड़ दिया जाए तो सबसे अधिक आय कर १५००१—२०,००० रु० के वर्ग से प्राप्त हुआ।

१९६१ के वित्त अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक विवाहित हिन्दू और अविभाजित हिन्दू परिवार, जिनकी आय २०,००० रु० (वार्षिक) से अधिक नहीं है, के लिए निम्न दरें प्रस्तावित की गई हैं। विवाहित व्यक्ति के लिए यदि उसके कोई बच्चा न हो, कर-मुक्त आय ३००० रु० है। यदि उस पर एक बच्चा ही आश्रित हो तो कर मुक्त आय की सीमा ३३०० रु० होगी तथा दो या दो से अधिक बच्चों के आश्रित होने पर कर-मुक्त आय की सीमा ३६०० रु० होगी।

कुल आय में १ लाख रु० से अधिक अर्जित आय होने पर अधिभार की दर में परिवर्तन हो जाता है। विशेष अधिभार भी लगता है। १९६१ के वित्त अधिनियम में आय-कर अधिनियम के सम्बन्ध में कुछ संशोधन भी हुए हैं। उदाहरण के

लिए धारा १५ सी के अन्तर्गत संस्थान (अण्डरटेकिंग) मे होटल भी शामिल कर लिया गया है। धाराएँ २३ ए, ३५ तथा ५६ ए मे भी संशोधन किये गए हैं।

प्रतिवर्ष वित्त अधिनियम (फाइनेन्स एक्ट) पास होता है तो उसके अन्तर्गत आय-कर में प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ परिवर्तन प्रस्तावित होते रहते हैं। १९६० में निम्न परिवर्तन हुए—(१) नये औद्योगिक संस्थानों की आय कर से मुक्ति की अवधि (आय-कर अधिनियम की धारा १५ सी) ५ वर्ष के लिए—१९६५ तक—बढ़ा दी गई। (२) दान में दी जाने वाली धनराशि की कर-मुक्ति सीमा १ लाख रु० या कुल आय के ५% से बढ़ाकर १½ लाख रु० या कुल आय के ७½ प्रतिशत तक कर दी गई। (३) १ अप्रैल १९५० से पहले निर्मित सम्पत्ति पर स्थानीय अधिकारियों द्वारा लगाए गए कर की पूर्ण राशि सम्पत्ति की करारोप्य आय निर्धारित करने में घटा दी जाने लगी। अभी तक स्थानीय अधिकारियों द्वारा लगाये गए करों की केवल आधी राशि ही घटाई जाती है। (४) कृषि ग्रामीण साख तथा कुटीर उद्योगों से सम्बन्धित सहकारी समितियों को छोड़कर शेष सहकारी समितियों की १५,००० रु० से अधिक आय पर आय-कर लगा दिया।

१९५९-६० के वर्ष की महत्वपूर्ण घटना प्रत्यक्ष कर प्रशासन जाँच समिति (डाइरेक्ट टैक्सेज एडमिनिस्ट्रेशन इन्क्वाइरी कमेटी) की रिपोर्ट थी। सरकार ने १९६०-६१ में उसकी सिफारिशों की परीक्षा कर ली तथा अनेक सिफारिशों के सम्बन्ध में अपने निर्णय की घोषणा की। इन सिफारिशों को कार्यान्वित किया जा रहा है। विधान आयोग को यह कार्य सौंपा गया था कि वह आय कर अधिनियम की मूल-संरचना को प्रभावित किये बिना ही उसमें ऐसा संशोधन प्रस्तुत करे ताकि उसके अन्तर्गत दी गई व्यवस्थाएँ अधिक स्पष्ट हो जाएँ। १९६६-६७ के बजट में १६४ करोड़ रु० आय-कर से मिलने की सम्भावना है जबकि १९६५-६६ के संशोधन अनुमान के अनुसार १८७ करोड़ रु० आय-कर रूप में प्राप्त हुआ।

६. **आय कर में सुधार**—सर वाल्टर लेटन ने, जो साइमन कमीशन (१९३०) के वित्त सदस्य थे, तत्कालीन आय-कर पद्धति व अनेक दोष बताए तथा उनके सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत किये।

उनके द्वारा सुझाये गए बहुत-से सुधारों (आय कर की प्रगामिता को अधिक तीव्र बनाने) को १९३१-३२ के बजट में ही स्थान दे दिया गया। अक्तूबर, १९३५ में भारत सरकार ने भारतीय आय-कर पद्धति तथा प्रशासन की सम्पूर्ण जाँच एक कमेटी द्वारा करवाई, जिसके सदस्य दो अंग्रेज विशेषज्ञ तथा सबसे अधिक अनुभव-प्राप्त एक आय-कर कमिश्नर था। भारतीय आय-कर का संशोधन करने के लिए कमेटी की सिफारिशों के अनुसार केन्द्रीय धारासभा द्वारा १९३९ में एक बिल पास किया गया। इसने पहले प्रचलित सीढ़ी-प्रणाली, जिसके अनुसार समान कर की दर पूरी आय पर आरोपित की जाती थी, के स्थान पर वर्ग-प्रणाली (स्लैब सिस्टम) का प्रयोग आरम्भ कर दिया, जिसमें बढ़ती हुई दर से आय के विभिन्न अंशों पर कर आरोपित किया जाता था। आय-कर देने वालों के वर्गों की इस प्रणाली में कुछ

ऐसी व्यवस्था कर दी गई थी कि थोडी सख्या वाले धनी लोगो से वसूली अधिक हो और निर्धनो पर भार कम ही तथा कुल वसूली भी पहले की अपेक्षा अधिक मिल सके। अधिनियम की बहुत-सी आज्ञाएँ जाइट स्टॉक कम्पनियो से सम्बन्ध रखती थी, विशेषकर अवक्षयण अधिदेय (डेप्रिसिएशन एलाउन्स) की परिवर्तित व्यवस्था के कारण इस अधिनियम मे पारिवारिक अधिदेय के रूप में आय-कर में छूट देने की व्यवस्था नही थी। पारिवारिक अधिदेय (फेमिली एलाउन्स) देने के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह थी कि ऐसी छूट बहुत बडी सख्या से देनी पडेगी जो छूट बहुत मँहगी सिद्ध होगी।

७. कृषि आय पर कर—आय-कर के सुधार का दूसरा अग कृषि-आय पर कर से सम्बन्धित था। सर वाल्टर लेटन ने इस बात की सिफारिश की थी कि कृषि-आय की कर-मुक्तता निश्चित अवधि मे धीरे धीरे हटा देनी चाहिए। यह तर्क कि अन्य देशो मे मालगुजारी आय-कर के ही स्थान पर वसूल की जाती है और यदि आय-कर भी आरोपित कर दिया जाए तो एक प्रकार से दुहरा कर लग जाएगा, युक्तिसगत नही लगता, क्योकि मालगुजारी उत्पादकता की वृद्धि के अनुपात मे अस्थायी बन्दोबस्त मे ही नही बढाई जा सकती और स्थायी बन्दोबस्त में तो बिलकुल ही नही बढाई जा सकती है। बार-बार तथा पर्याप्त मात्रा मे मालगुजारी मे हेर-फेर करने से बहुत सी राजनीतिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती है और बडे-बडे भूस्वामियो के साथ-ही साथ छोटो पर भी उसका अनुचित भार पडता है। यदि कृषि-आय पर कर आरोपित कर दिया जाए तब ये आपत्तियाँ उपस्थित नही होती। भूमि-सम्बन्धी लेखा सुरक्षित रखने तथा प्रशासन और मालगुजारी वसूल करने से सम्बन्धित वर्तमान विशद पद्धति का प्रयोग कृषि लाभ का अनुमान करने मे बहुत अच्छे ढग से किया जा सकता है। इस कर का एक सबसे बडा लाभ यह होगा कि हर प्रकार की आय—कृषीय तथा गैर-कृषीय आय—का हिसाब रखने के कारण उन लोगो की जिनके पास भूमि भी है, गैर-कृषीय आय पर ऊँची दर से आय-कर आरोपित किया जा सकेगा। इसके साथ ही-साथ यह परिवर्तन करके बचाव के लिए उद्योगो मे बचाये हुए धन को भूमि मे लगाने की प्रवृत्ति की रोकथाम भी करेगा।

१९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट ने प्रत्येक प्रान्त को व्यक्तिगत रूप से अनुमति दे रखी थी कि यदि वे चाहे तो अपने प्रान्त की कृषि-आय पर कर आरोपित कर सकते है। १९३९ में आसाम की धारासभा ने कृषि-आय-कर विधेयक, जिसे सरकार की ओर से पेश किया गया था, थोडे से वोटो के आधिक्य से पास कर दिया। बगाल, बिहार और ट्रावनकोर ने भी आसाम का अनुकरण किया और कृषि-आय पर कर लगा दिया।

हैदराबाद मे कृषि-आय पर १९५०-५१ म कर लगाया गया, परन्तु विधान और नियमो के लागू न हो सकने के कारण उस वर्ष यह कर वसूल न किया जा सका। कृषि-आय पर कर लगाने के सम्बन्ध मे राजस्थान के विधानमण्डल ने २९ अप्रैल, १९५३ को कानून पास किया। १९५४-५५ के बजट मे मद्रास सरकार ने

चाय, कहवा, रबर और काली मिर्च पर कृषि-आय-कर लगाना प्रस्तावित किया।

यू० पी० कृषि-आय-कर विधान को संशोधित करने के लिए ११ मई, १६५४ की धारासभा में एक बिल पेश किया गया, जिसके अन्तर्गत अधिकर (सुपर टैक्स) समाप्त करने और कर-मुक्ति की सीमा ८,००० रु० निश्चित करने की व्यवस्था थी। बिल में कर की नई दरें भी प्रस्तावित की गईं, यथा—

कर लगने वाली आय के पहले १५०० रु० पर कोई कर नहीं लगेगा।
बाद के ३५०० रु० पर १ आ० प्रति रु० का कर लगेगा।
,, १०,००० ,, ,, २ आ० प्रति रु० ,, ,,
,, १०,००० ,, ,, ४ ,, ,, ,, ,,
,, १०,००० ,, ,, ८ ,, ,, ,, ,,
,, शेष आय पर १० ,, ,, ,, ,,

८ उत्तराधिकार-कर—१५ अक्तूबर, १६५३ से हमारे देश में उत्तराधिकार-कर (एस्टट ड्यूटी) लागू कर दिया गया है। इस कर को लगाने के सम्बन्ध में बहुधा यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि सम्पत्ति को एकत्र करने में सरकार का बहुत योग होता है। अतः व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त कर के रूप में इस सम्पत्ति का कुछ भाग ले लेना उचित ही है। परन्तु सच तो यह है कि उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति कर देने की क्षमता की सूचक है, अतएव उस पर कर लगाना उचित है। व्यक्तियों के लिए कर की न्यूनतम सीमा १ लाख रु० और संयुक्त परिवार के लिए ५०,००० रु० है।

सितम्बर, १६५८ में उत्तराधिकार कर (संशोधन) अधिनियम पास हुआ। इसके अन्तर्गत (१) मुक्ति-सीमा एक लाख रु० से घटाकर पचास हज़ार रुपये कर दी गई, तथा कर की दर निम्न वर्गों के लिए कुछ कम कर दी गई। (२) मिताक्षर, मरुमक्कट्टयम या अलियसथान की विधान प्रणाली का अनुसरण करने वाले अविभाजित हिन्दू परिवार के मृत सदस्य की सम्पत्ति पर कर के लिए संयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति में न केवल मृतक के वरन् पैतृक वंशजों के सदायद हितों (कोपार्सनरी) को ध्यान में रखने की व्यवस्था की गई है। (३) निर्धारण (एसेसमेण्ट) तथा अपील-सम्बन्धी व्यवहार अन्य प्रत्यक्ष करों के अनुरूप कर दिया गया है। कृषि भूमि पर उत्तराधिकार-कर राज्यीय विषय है। संविधान की धारा २५२ के अन्तर्गत उत्तराधिकार-कर (संशोधन) अधिनियम १६५८ के राज्यों में स्थित कृषि-भूमि पर लागू होने के लिए राज्यीय विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक थी। अप्रैल, १६६० में अन्तिम स्वीकृति प्राप्त हुई। सभी 'स्वीकृति' को कार्य-रूप देने के लिए उत्तराधिकार-कर (संशोधन) अधिनियम १६६० पास हुआ। दोनों संशोधन अधिनियम (१६५८, १६६०) १ जुलाई, १६६० से ही लागू हुए। १६५८ के संशोधन के अन्तर्गत (१) और (२) व्यवस्था (जिसकी ऊपर चर्चा की जा चुकी है) तभी लागू होगी जबकि मृत्यु १ जुलाई १६६० या उसके बाद हुई हो।

उत्तराधिकार-कर (संशोधन) अधिनियम १६६० यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत

करता है कि जम्मू और काश्मीर, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल को छोड़कर शेष सभी राज्यों में स्थित कृषि-भूमि पर यह लागू होगा। १६५६-६० में इस कर से २७८ करोड़ रु० प्राप्त हुए। सेण्ट्रल बोर्ड ऑफ रेवेन्यू ने संशोधित अधिनियम को लागू करने के लिए उत्तराधिकार-कर नियमों में आवश्यक सुधार कर लिया है। १६६६-६७ में भू-सम्पत्ति कर नियम में कुछ परिवर्तन किए जाएँगे, जिससे ७० लाख रुपया सरकार को अधिक मिलेगा। १ लाख रुपये को छोड़कर बाकी सारी रकम राज्य सरकारों को बाँट दी जाएगी।

६. सम्पत्ति-कर (वैल्थ टैक्स)—इस कर के सम्बन्ध में डॉ० काल्डर ने अपनी रिपोर्ट (रिपोर्ट ग्रान इण्डियन टैक्स रिफार्म) में सुझाव दिया था। यह कर एक व्यक्ति की वास्तविक सम्पत्ति पर लगता है। यह कर वार्षिक है तथा व्यक्तियों पर दो लाख रु० तक नहीं लगता। वास्तविक सम्पत्ति कुल सम्पत्ति के मूल्य से देय ऋण घटा देने पर मालूम होती है। इस कर के लिए निजी स्वामित्व के अन्तर्गत चल और अचल सभी प्रकार की सम्पत्ति है, किन्तु कुछ सम्पत्तियाँ विशेष रूप से मुक्त हैं। उदाहरण के लिए—

(१) कृषि-भूमि।
(२) ट्रस्ट के अन्तर्गत दातव्य सम्पत्ति।
(३) लकड़ी का सामान, बरतन आदि।
(४) ज़ेवरात २५००० रु० तक।
(५) ड्राइंग, चित्रकारी आदि।
(६) अदायगी के लिए अपरिपक्व बीमा पॉलिसी की रकम।
(७) नये औद्योगिक संस्थानों के हिस्से आदि।

१० व्यय-कर (एक्सपेन्डीचर टैक्स)—यह पूर्णतः वैयक्तिक कर है, जो व्यक्तियों तथा अविभाजित हिन्दू परिवारों के वैयक्तिक उपयोग पर किये व्यय पर लगता है। यह कर कम्पनियों पर लागू नहीं होता। निम्न व्यय कर-मुक्त हैं—

(१) अचल सम्पत्ति प्राप्त करने पर व्यय।
(२) बौंड, निक्षेप (डिपाजिट), हिस्से और प्रतिभूतियों में विनियुक्त धन।
(३) उधार लिये ऋण की अदायगी।
(४) उपहार।
(५) जीवन-बीमा तथा आग और चोरी के बीमा का प्रीमियम।
(६) दिये गए कर।
(७) किसी दाव (कचहरी के) में किये गए वैधानिक व्यय।
(८) निश्चित सीमा के अन्दर अपने आश्रितों के विवाह, इलाज, शिक्षा आदि पर व्यय।

१६६६-६७ के बजट के अनुसार इसको हटा देने का निश्चय किया गया है, क्योंकि इसमें कर कम इकट्ठा होता है और कर इकट्ठा करने पर बहुत धन व्यय हो

जाता है।

११ उपहार-कर—यह पहली अप्रैल १९५७ के बाद दिए गए सभी उपहारों पर लागू है तथा १९५८-५९ के वर्ष से लागू किया गया है। यह कर सभी के द्वारा देय है चाहे व्यक्ति हो या कम्पनी। यह कर देने योग्य उपहारों के कुल मूल्य पर लगाया जाता है। यह कर निम्न दशाओं में नहीं लगता—

(१) भारत से बाहर स्थित अचल सम्पत्ति के उपहार पर कोई कर नहीं लगता।

(२) भारत में रहने वाले विदेशियों पर भारत से बाहर स्थित चल सम्पत्ति पर भी कोई कर नहीं लगता।

(३) विदेशी कम्पनी की भारत से बाहर स्थित चल सम्पत्ति पर उसी हालत में कर लगता है जबकि कम्पनी भारत में हो।

इनके अलावा कुछ उपहार कर-मुक्त हैं

(१) दातव्य संस्था या कोष को दिए उपहार।

(२) पत्नी को किसी एक वर्ष या कई वर्षों में अधिक से अधिक १ लाख रु० का उपहार।

(३) बच्चों की शिक्षा के लिए उपहार।

(४) बोनस, ग्रेचुटी, पेन्शन।

(५) करदाता द्वारा किए जाने वाले रोजगार, या पेशे के लिए उपहार आदि।

उपहार-कर १९६६-६७ के बजट के अनुसार इसकी दरों में कुछ परिवर्तन किए जाएँगे ताकि उन्हें भू-सम्पत्ति-कर के बराबर कर दिया जाए। इस प्रकार दरों को कम करने से १.७१ करोड़ रुपया सरकार को पहले से कम मिलेगा।

१२ अफीम—१९३५ के अन्त तक अफीम से आय प्राप्त करने के तीन साधन थे—(१) विदेशों को भेजने के लिए सरकारी कारखानों में निर्मित अफीम से प्राप्त एकाधिकार लाभ, (२) अफीम की खरीदारी पर आरोपित निर्यात कर से प्राप्त आय जो कि राजपूताना और मध्यभारत की रियासतों से भेजी जाती थी, और (३) ब्रिटिश भारत में अफीम के उपभोग से प्राप्त एकाधिकार लाभ, जोकि लाइसेंस फीस अथवा ठेकेदारी की फीस के रूप में मिलता था। यह आय उत्पाद-कर के अन्तर्गत दिखलाई जाती थी और पहले दो साधनों से प्राप्त आय अफीम के अन्तर्गत दिखलाई जाती थी।

फरवरी, १९२८ में लार्ड रीडिंग ने यह घोषणा की कि भविष्य में सरकार की नीति अफीम के निर्यात को लीग ऑफ नेशन्स के आदेशानुसार औषधि-सम्बन्धी प्रयोगों को छोड़कर और सब प्रकार के प्रयोगों के लिए पूर्णतः बन्द कर देने की है। भारत सरकार इस बात से भी सहमत हो गई कि १९३५ के पहले ही अफीम का निर्यात पूर्णतः बन्द कर दिया जाएगा, जिसका फल यह हुआ कि अन्य प्रयोगों के लिए अफीम के निर्यात से प्राप्त आय का १९२५ से अन्त हो गया। अब अफीम से प्राप्त

आय भारत मे उपयोग के लिए उसकी बिक्री पर सीमित है जो बहुत ही नियमित है।

आजकल अफीम से प्राप्त आय पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गई है, जबकि १९१३ के पहले के तीन वर्षों की वार्षिक औसत आय लगभग ८ करोड़ रुपये थी, १९५६ ५७ मे केवल २.३० करोड़ रुपये[1] से भी कम हो गई है। १९५९-६० मे अफीम से प्राप्त आय ४ १६ करोड़ रु० थी। १९६०-६१ के बजट (सशोधित) अनुमान के अनुसार प्राप्त आय ५ ६६ करोड़ रु० थी तथा १९६१-६२ के बजट अनुमान मे अफीम से प्राप्त आय ६ २५ करोड़ रु० आँकी गई है।[2]

राज्यीय आय के साधन

१३. मालगुजारी—खण्ड १ के अध्याय १२ मे इस विषय पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। १९५६-५७ मे कुछ प्रमुख राज्यो की मालगुजारी की आय इस प्रकार थी—आन्ध्र ७.५१ करोड़ रु०, आसाम २.२४ करोड़ रु०, केरल १.०५ करोड़ रु०, उड़ीसा १ ५८ करोड़ रु०, उत्तर प्रदेश १९.०८ करोड़ रु० तथा पश्चिमी बगाल ४.४ करोड़ रु०। १-११-११५६ से ३१-३-१९५७ की अवधि के लिए पजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, मद्रास तथा बिहार की मालगुजारी आय क्रमश १.५६ करोड़ रु०, २.३५ करोड़ रु०, ४ २२ करोड़ रु०, २ ४२ करोड़ रु० तथा ३.६५ करोड़ रु० थी।[1]

१४ आबकारी (एक्साइज)—आबकारी की आय नशे की वस्तुओ, जैसे गाँजा, भाँग, अफीम इत्यादि, के बनाने तथा बिक्री से प्राप्त होती है।

मद्यपान के दोष को रोकने के विषय मे इस बात पर सभी सहमत हैं कि बड़े साहस और अध्यवसाय के साथ काम करना आवश्यक है, पर यह कैसे किया जाए इस पर एकमत नही हैं। काग्रेस मन्त्रिमण्डलो द्वारा प्रान्तीय सरकार का कार्य भार अपने हाथो मे लेने के पहले सरकार यथासम्भव मूल्य बढा देने के उपाय पर विशेषतया निर्भर थी, परन्तु मूल्य इतना अधिक नही बढाया जाता था कि अवैध रूप से शराब बनाना प्रारम्भ हो जाए। शराब के उपयोग मे कमी करने के दूसरे उपाय राशनिंग, दुकानो की सख्या मे कमी, पास रखी जाने वाली शराब की मात्रा मे कमी, शराब की तेजी मे कमी, बिक्री के घण्टो मे कमी आदि थे। बहुत-से प्रान्तो ने मद्य-निषेध का कार्यक्रम आरम्भ कर दिया जो कि विभिन्न प्रान्तो की स्थानीय स्थिति और इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाई को सहन करने की शक्ति पर निर्भर था। इस मामले मे मद्रास सरकार ने बड़े साहस से सलेम जिले मे पूर्ण मद्य-निषेध करके नेतृत्व किया। बिहार ने इसका अनुकरण किया। जुलाई, १९३८ मे बम्बई ने अहमदाबाद नगर मे तथा अगस्त, १९३९ मे बम्बई नगर तथा टापू मे पूर्ण मद्य-निषेध प्रचलित

१. ये केन्द्रीय सरकार का आय से सम्बन्धित आँकड़े हैं।
१. दखिए, इण्डिया १९६१, पृ० २१५।
२. देखिए, स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट १९५७-५८, पृ० २१७-२२१।

कर दिया। बम्बई में कांग्रेस सरकार की पूर्ण निषेध की नीति प्रचलित करने मे कुछ कानूनी और व्यवस्था की कठिनाइयो के कारण १६४० मे निषेध-नियमो को कुछ ढीला करना पडा। कुछ प्रान्तो ने छोटे-छोटे क्षेत्रो को चुना, अन्य ने दुकानो को बन्द करवाकर शराब की बिक्री की रोकथाम की और लाइसेन्स पर नियन्त्रण रखा। मद्रास ने २ अक्तूबर, १६४८ से पूर्ण मद्य-निषेध प्रचलित कर दिया है, जिससे १७ करोड रुपये की आय का घाटा हुआ। बम्बई ने ४ वर्ष मे पूर्ण निषेध का इरादा किया, जो कि १६४७ से प्रारम्भ हुआ और ७ अप्रैल, १९५० मे पूरा हो गया। यदि अन्य राज्य जरा धीमी गति से चलने के लिए बाध्य हैं तो ऐसा आर्थिक विचारो के फलस्वरूप अनिवार्य हो गया है। परन्तु सभी राज्य यथासम्भव तीव्र गति से एक ही दिशा मे चल रहे हैं और सबने एकमत होकर पूर्ण निषेध को ही मद्यपान के दोष दूर कर देने का एकमात्र उपाय मान लिया है।

मद्य-निषेध के विरोधी बराबर यह कहा करते हैं कि यदि इसकी रोक के लिए जल्दी की गई अथवा कठोर नियम प्रचलित किये गए तो दोहरी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। सबसे पहले तो तुरन्त आय मे कमी हो जाएगी और प्रतिबन्ध लगाने वाली संस्थाओ पर, जो चौर्यपरण तथा अवैध शराब खीचने की रोकथाम के लिए स्थापित की जाएँगी, खर्च भी बढ जाएगा। करोडो रुपये, जो अन्यथा शिक्षा, सिंचाई की सुविधाओ तथा देश की उन्नति के लिए अन्य कामो पर खर्च किए जा सकते हैं, वे सब व्यर्थ हो जाएँगे। यदि पूर्ण मद्य-निषेध के लिए एकबारगी प्रयास किया गया तो यथार्थ मे ये कठिनाइयाँ बडे भयकर रूप मे उपस्थित होगी। दूसरा भय इस बात का है कि बुराई, जो भय के कारण दबा दी जाती है, वह कोई दूसरा उग्रतर रूप धारण करके उपस्थित होती है। इस प्रकार यह शिकायत की जाती है कि देसी शराब के प्रयोग पर रोकथाम लगाने के परिणामस्वरूप विदेशी शराब के प्रयोग मे वृद्धि हुई है और लोग शराब के स्थान पर मेथिलेटिड स्पिरिट पीते पाये गए हैं।

तीसरी पचवर्षीय योजना मे केन्द्रीय आबकारी से ३६६·८७ करोड रु० राज्यो को मिला। १६६६-६७ के इस वर्ष १६५·६६ करोड रु० मिलेगा।

१५ आय के अन्य साधन—(१) स्टाम्प—स्टाम्प से आय व्यापार तथा न्यायालय-सम्बन्धी स्टाम्पो की बिक्री से प्राप्त होती है। न्यायालय-सम्बन्धी स्टाम्प वे हैं जो मुकदमो और अन्य आवश्यक कागज़ो की फीस के रूप मे माल और फौजदारी की कचहरियो मे जमा किये जाते हैं। व्यापारिक स्टाम्प वे हैं जिनका प्रयोग उन व्यापारिक लेन-देन मे होता है जो लिखा-पढी मे होते हैं, जैसे जायदाद, भूमि और हुण्डी आदि एक व्यक्ति से दूसरे के पास जाने मे। न्यायालय मे प्रयोग किए जाने वाले स्टाम्प की आय कुछ लोगो के मत से वास्तव मे कर से प्राप्त आय नही है, क्योकि व इसे न्यायालय-जैसे महँगे विधान की सेवाओ के लिए दी जाने वाली रकम समझते हैं। मद्रास राज्य के विभाजित होने से पूर्व स्टाम्पो से सबसे अधिक आय मद्रास मे होती थी और सबसे कम आसाम मे। मद्रास के विभाजित होने पर सबसे अधिक आय

बम्बई मे है।

(२) वन—इस साधन से आय मुख्यत: लकडी तथा अन्य उत्पत्ति की बिक्री, पशु चराने की फीस, पेडो तथा जगल की अन्य उत्पत्ति को काटने के लाइसेन्स की फीस द्वारा प्राप्त होती है। इस प्राप्त आय की वृद्धि की बहुत अच्छी सम्भावना दिखाई पडती है। राज्यीय सरकारे, जिनके अधिकार मे ये जगल दे दिये गए है, प्रतिवर्ष करीब २½ करोड रुपये का वास्तविक लाभ आर्थिक अवसाद-काल के आरम्भ तक उठाती रही है। १९५६-५७ मे विभिन्न प्रान्तो के वनो से निम्न आय प्राप्त हुई—आन्ध्र १.५८ करोड रु०, आसाम ९९.२६ लाख रु०, बम्बई २.९३ करोड़ रु०, बिहार ५७ १९ लाख रु०, मध्य प्रदेश ३.३५ करोड़ रु०, मद्रास ६७.६५ लाख रु० तथा उत्तर प्रदेश ५.०२ करोड रु०।[1] जगलो से अधिक और स्थायी आय प्राप्त करने के लिए आरम्भ मे बहुत अधिक खर्च की आवश्यकता है।

(३) रजिस्ट्रेशन—रजिस्ट्रेशन से आय न्यायालयो मे प्रयोग किये जाने वाले स्टाम्पो से प्राप्त आय की ही तरह होती है और विशेषकर रजिस्ट्री किए जाने वाले प्रलेखो (डाक्यूमेंट) के मूल्य पर निर्भर होती है। दानपत्रो तथा स्थायी सम्पत्ति के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध मे रजिस्ट्री होना अनिवार्य है और अन्य मामलो मे ऐच्छिक। रजिस्ट्रेशन की फीस को एक प्रकार से सेवाओ का मूल्य कह सकते है। इससे लाभ तर्क मे स्थिरता, उभय पक्ष वालो का सारी कार्यवाही को प्रकाशित कर देने के लिए बाध्य होना तथा लिखा-पढी मे एक सन्तोषप्रद सबूत का होना, जिससे या तो भविष्य मे मुकदमेबाजी कम हो जाए अथवा न्यायालयो मे उनका निर्णय जल्दी हो जाए, आदि है।

(४) परिगणित टैक्स—१९२१ के सुधारो के अनुसार प्रान्तीय सरकारो को इन करो के आरोप का अधिकार दे दिया गया था, पर प्रान्तो ने इन करो के विशेष लाभदायक न होने अथवा किसी अन्य कारण से अपने इस अधिकार का समुचित रूप से प्रयोग नही किया। जुए और मनोरजन पर कर अनेक प्रान्तो द्वारा लगाये गए है, जैसे बगाल, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और आसाम। उनसे प्राप्त आय बढ रही है।

१९. प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के अन्तर्गत नये कर : बिक्री-कर—गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट १९३५ के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन के १ अप्रैल १९३७ से आरम्भ होने के कारण प्रान्तो में कुछ ऐसे नये कर लगाये गए जिनके आरोपण का अधिकार उन्हे नये विधान मे प्राप्त था। इन नये करो के आरोपित करने का आशय आय और व्यय के बीच के व्यवधान को पूरा करना था। यह व्यवधान कुछ तो कांग्रेस मन्त्रिमण्डल की मद्यपान-निषेध नीति और कुछ सामाजिक सेवा-सस्थाओ को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए किये गए व्यय के कारण उत्पन्न हो गया था। इन नये करो से, जिन्हे प्रान्तो ने प्रचलित किया, बिक्री-कर (सेल्स टैक्स) यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

बम्बई के १९३९ के बिक्री-कर अधिनियम (सेल्स टैक्स एक्ट) के अनुसार चुनी हुई दो वस्तुओ—मोटर स्पिरिट तथा मशीनो द्वारा निर्मित वस्त्र—की फुटकर

१. बम्बई, बिहार, मध्य प्रदेश तथा मद्रास की आय १-११-५६ से ३१-३-५७ तक के लिए है।

विक्री पर बिक्री-कर लगाने का अधिकार प्राप्त था। व्यवस्था की कठिनाइयों के कारण कपड़े पर बिक्री-कर लागू नहीं किया गया। १६३६ का मद्रास का सामान्य बिक्री कर अधिनियम (जनरल सेल्स टैक्स एक्ट) सर्वांगीण था, जो सभी वस्तुओं पर लागू होता था। यह कर मद्रास में कुल बिक्री से आवश्यक खर्चे निकाल देने पर वास्तविक बिक्री पर लगाया जाता था। वस्तुओं की बिक्री पर इसी प्रकार का सामान्य कर बगाल में बगाल वित्त अधिनियम द्वारा १६४१ में आरोपित किया गया।[1]

नये करों ने प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के करारोपण और वसूली के वैधानिक अधिकारों के प्रश्न को जन्म दिया। उदाहरण के लिए पेट्रोल-कर, जिसे मध्य प्रदेश की सरकार ने लगाया था, के विरुद्ध केन्द्रीय सरकार ने सघानीय न्यायालय में यह मुकदमा चलाया कि प्रान्तीय सरकार केन्द्रीय सरकार के कर लगाने (उत्पाद-कर) के अधिकारों का, जो उन्हीं के लिए सुरक्षित हैं, अतिक्रमण कर रही है। सघानीय न्यायालय ने इस आधार पर प्रान्तीय सरकारों के हित में न्याय किया कि केन्द्रीय विधानमण्डल को वस्तुओं पर उत्पाद-कर लगाने का उसी समय तक एकाकी अधिकार है जब तक कि वे किसी प्रान्त-विशेष की सम्पत्ति नहीं बन जातीं (अर्थात् उत्पादन अथवा निर्माण की स्थिति तक ही) और उसके बाद प्रान्तीय सरकारों को उन वस्तुओं की बिक्री पर कर लगाने का एकाकी अधिकार है। सघानीय न्यायालय के इस हितकारी फैसले ने 'वस्तुओं की बिक्री पर' (देखिए सेक्शन ३७) वाक्यांश का वास्तविक अर्थ स्पष्ट कर दिया और प्रान्तों के लिए कर लगाने का एक विस्तृत क्षेत्र खोल दिया। साथ-ही-साथ, जैसा कि प्रधान न्यायाधीश ने भी नोट किया था, पारस्परिक सहनशीलता की अत्यन्त आवश्यकता है, ताकि करारोपण के अधिकार वाली दोनों सरकारें कहीं अपने-अपने अधिकारों का एक साथ ही प्रयोग करके आन्तरिक परोक्ष-कर इतना न बढ़ा दें कि वस्तु का मूल्य इतना अधिक ऊँचा हो जाए कि उसका उपभोग अत्यन्त कम हो जाए। १६६५-६६ के बजट अनुसार इससे २८७ ३ करोड़ रु० इकट्ठा होगा।

मोटर वेहीकिल्स अधिनियम के अन्तर्गत आरोपित कर तथा कुछ अन्य कर भी प्रांतीय आय के साधन हैं। मोटर वेहीकिल्स अधिनियम के अन्तर्गत १६५६-५७ में पश्चिमी बगाल को १·३६ करोड़ रु०, उत्तर प्रदेश को १ ४० करोड़ रु०, उड़ीसा को ४७ ८३ लाख रु०, केरल को ५१·४८ लाख रु०, आसाम को ५४ ५२ लाख रु० तथा आन्ध्र को २·०० करोड़ रु० की आय हुई, जबकि १-११-१६५६ से ३१-३-१६५७ की अवधि में बम्बई को ८६·७३ लाख रु०, बिहार को २ ४८ लाख रु०, दिल्ली को १ ०१ लाख रु०, मध्य प्रदेश को ७·१७ लाख रु०, मद्रास को २५ ३५ लाख रु०, पंजाब को २५ ०४ लाख रु०, राजस्थान को १६·६५ लाख रु० की आय हुई।[2]

---

१. अन्य वस्तुएँ, जो सेल्स टैक्स के लिए चुनी गई, बिजली, तम्बाकू तथा विलासिता की वस्तुएँ, जैसे मोटरगाड़ी, रेडियो आदि थीं। बिहार में १६४८ से कोयला, कोक और अभ्रक भी बिक्री-कर के अन्तर्गत आ गए हैं।

२. देखिए, स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट, १६५६-५७, पृ० २१७-२२१।

१७. भारत में सार्वजनिक व्यय—सार्वजनिक व्यय का निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है।[1]

(१) राष्ट्रीय सुरक्षा—पैदल सेना, समुद्री सेना और हवाई सेना, सरहदी तथा सैनिक महत्त्व वाली रेलें, बन्दरगाह तथा रक्षा से सम्बन्धित कारखाने और युद्ध, जैसे सरहदी मोर्चा इत्यादि, पर किया जाने वाला व्यय इसके अन्तर्गत आता है।

(२) आन्तरिक शांति और व्यवस्था कायम रखना—इसके अन्तर्गत (क) पुलिस, न्यायालय और जेल पर किया जाने वाला व्यय, (ख) सामान्य प्रशासन का व्यय, (ग) कर-वसूली पर किया जाने वाला व्यय, (घ) राजनीतिक व्यय, जिसमे विधानमण्डल पर खर्चा, विदेशो के प्रतिनिधियो तथा राजदूतो पर किया जाने वाला व्यय और (च) कर्मचारियों की पेन्शन, भत्ते तथा अन्य व्यय आते है।

(३) राष्ट्रीय उन्नति—इसके अन्तर्गत (क) नैतिक तथा (ख) आर्थिक उन्नति के हेतु किये जाने वाला व्यय आता है। पहले शीर्षक मे वैज्ञानिक तथा अन्य प्रकार की शिक्षा, उपचार तथा सफाई-सम्बन्धी खर्चे और दूसरे शीर्षक मे रेल, सिंचाई, सरकारी सड़को तथा इमारतो के बनाने के विभाग पर खर्च, कृषि तथा अकाल पर व्यय, तार और डाक पर खर्च और सरकारी ऋण पर दिये जाने वाला ब्याज आदि आते है। अनुत्पादक ऋण का ब्याज पहले अथवा दूसरे शीर्षक के ही अन्तर्गत रखा जाना चाहिए।

भारत का सार्वजनिक व्यय लगातार बढ़ता रहा है। स्वर्गीय गोखले ने बहुत दिन हुए कहा था, "राजकीय व्यय की वृद्धि हमेशा चिन्ता और भय का कारण नही होनी चाहिए।" इस बारे मे बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर रहता है कि व्यय की वृद्धि किसलिए की गई है तथा उसका परिणाम क्या हुआ है।

सितम्बर, १९३९ मे द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ जाने और विशिष्ट रूप से १९४१-४२ के पश्चात् जापान के युद्ध मे सम्मिलित हो जाने के बाद रक्षा का व्यय बहुत अधिक बढ़ गया।

युद्ध छिड़ जाने के ठीक पूर्व भारतीय सेना को नवीनतर रूप देने के सम्बन्ध मे चेटफील्ड कमेटी के सुझावो को इंगलैंड तथा भारत की सरकार ने स्वीकार कर लिया था। भारतीय सेना को नवीनतम रूप देने के व्यय का अनुमान लगभग ४५·७७ करोड़ रुपये कर दिया गया था, जो इंगलैण्ड की सरकार से ५ वर्ष के अन्दर प्राप्त होने वाला था, जिसका $\frac{3}{4}$ भाग तो भेंट के रूप मे और बाकी $\frac{1}{4}$ कर्ज़ के रूप मे था, जिसे भारत सुविधा के साथ धीरे-धीरे लौटाता। युद्ध छिड़ जाने के कारण इन प्रस्तावों पर फिर से विचार करना आवश्यक हो गया, क्योंकि सेना का अभिनवी-करण तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार तथा बढ़े हुए मूल्य के आधार पर होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त भारत मे ही पूरी शक्ति पर उत्पत्ति करने के लिए बहुत अधिक खर्चे की आवश्यकता थी, ताकि कारखानो, युद्ध और आवश्यकताओ की

---

१. देखिए, शाह, 'सिक्सटी ईयर्स ऑफ इण्डियन फिनान्स', पृष्ठ ४४-४६।

वस्तुओं के निर्माण की शक्ति बढ़ जाए और बहुत-सा सामान सुरक्षित रखा जा सके। भारत को युद्ध का मोर्चा लेने के लिए तैयार रखने के उपायों पर खर्च करने से भी रक्षा-व्यय पर काफी धन खर्च किया गया। इन सब बातों को विचाराधीन रखते हुए नवम्बर, १९३९ में इंग्लैण्ड की सरकार और भारत सरकार के बीच एक आर्थिक समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत भारत को निम्न व्यय अपने ऊपर लेने पड़े[1]—

(क) लड़ाई के पहले के व्यय की निर्धारित ३६·७७ करोड़ रु० की रकम,

(ख) मूल्य की वृद्धि के लिए अतिरिक्त धन (३·५५ करोड़ रु०),

(ग) युद्ध-सम्बन्धी उन उपायों का खर्च, जिनके लिए पूर्ण रूप से भारत को इसलिए उत्तरदायी समझा जा सकता था क्योंकि वे व्यय भारत अपने हित के लिए कर रहा था (३५·४० करोड़ रुपये), और

(घ) एक करोड़ रुपये की एकत्र रकम जो भारत की रक्षा-सेना को समुद्र-पार बनाए रखने के लिए विदेशों में रखी गई थी (८·४१ करोड़ रु०)।

पहले शीर्षक से चौथे तक का योग ८४·१३ करोड़ रुपये होता है। युद्धकाल में भारत का रक्षा पर वार्षिक व्यय जितनी रकम से पहले से तीसरे शीर्षक तक के खर्चों के योग से बढ़ता था वह रकम इंगलैण्ड की सरकार से मिलनी थी। केवल शर्त इतनी थी कि युद्ध के पश्चात् जो-कुछ भी समझौता भारत में दोनों देशों के हित के दृष्टिकोण से खरीदी हुई युद्ध-सामग्री के बचे हुए कोश के सम्बन्ध में होगा, उसके अनुसार परिवर्तन हो सकता था। अप्रभावशाली खर्चों के विषय में अलग से विचार होना था। भारत को अपनी उत्पत्ति में से ही अपने युद्ध-सम्बन्धी उपाय पर जो-कुछ खर्च करना था उसके लिए तथा युद्ध-सम्बन्धी संयुक्त उपायों पर व्यय होने वाली रकम में से अपने हिस्से के लिए, जिसमें वस्तुओं को सुरक्षित रखने का खर्च भी सम्मिलित था, मूल्य देना था और इंगलैण्ड की सरकार को बाकी सभी इकट्ठी रखी जाने वाली युद्ध-सम्बन्धी वस्तुओं के लिए तथा उस सारी पूँजी के लिए, जो उत्पत्ति तथा एकत्र रखने की सुविधाओं के बढ़ाने के लिए लगाई गई थी।

युद्ध-काल की तरह पूरी सेना को बनाए रखने के स्थान पर शान्ति-काल में ऐच्छिक पद्धति के अनुसार थोड़ी-सी सैनिक सेवा बनाए रखने का भी सुझाव दिया गया था। युद्ध की समाप्ति के बाद आशा की जाती थी कि रक्षा-व्यय में भारी कमी होगी, परन्तु यह आशा सफल नहीं हो सकी जैसा कि नीचे के आँकड़ों से प्रकट है—

भारत का रक्षा-व्यय करोड़ रु० में (ऑन रेवेन्यू अकाउण्ट)

१९४७-४८ (७½ माह)	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१
८६·६३	१४६·०५	१४८·८६	१६४·१३

---

1. कोष्ठक में दिया हुआ संख्याएँ १९४६-४७ के रक्षा-बजट से सम्बन्धित हैं। १९३९ का आर्थिक समझौता ३१ मार्च, १९४७ को रद्द कर दिया गया।

सेना के भारतीयकरण की योजना लगभग पूर्णतया कार्यान्वित हो चुकी है और अब लगभग सारी सैन्य-शक्ति भारतीयो से ही निर्मित है। स्वतन्त्रता के बाद रक्षा-व्यय के बढने के प्रधान कारण विभाजन के फलस्वरूप भारत की सीमा का बढ जाना, देशी राज्यो की रक्षा का भार भारत के कन्धो पर पडना, रक्षा के सम्बन्ध मे आत्मनिर्भरता का प्रयत्न करना, आदि है।

१९५१-५२ के बाद सार्वजनिक व्यय मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। १९५१-५२ मे केन्द्र तथा राज्यीय सरकारो का कुल व्यय ९९८ करोड रु० था। १९५५-५६ मे यह राशि १,४७० करोड रु० हो गई तथा १९६०-६१ के बजट-अनुमान के अनुसार यह २,५८७ करोड रु० है। हर्ष की बात यह है कि सार्वजनिक व्यय की यह वृद्धि चिन्ता का विषय नही है, क्योकि वृद्धि मुख्यत विकास कार्यों पर व्यय बढने के कारण हुई है। विकास-कार्यों पर किए जाने वाले व्यय का कुल व्यय से अनुपात १९५१-५२ मे ४८ प्रतिशत, १९५५-५६ मे ६० प्रतिशत तथा १९६०-६१ मे ६६ प्रतिशत था। केन्द्रीय सरकार का कुल खर्चा राजस्व-लेखा के लिए १९६६-६७ के लिए २१७० करोड रुपया निर्धारित किया गया, जिसमे से रक्षा-व्यय ७९८ करोड रुपया और नागरिक प्रशासन के लिए १३७२ करोड रुपया और पूँजी लेखा २२०७ करोड रुपया होगा। कुल व्यय ६२७, विकास के लिए ५२७, अविकसित १०० तथा रक्षा के लिए १२१ करोड रुपये होगा।

१८ नागरिक प्रशासन पर व्यय—नागरिक प्रशासन पर व्यय मे हुई वृद्धि के सम्बन्ध मे लोगो का सामान्य विरोध यही था कि भारतीय प्रशासन ससार-भर मे सबसे अधिक मँहगा था और जो वेतन तथा भृति उच्चाधिकारियो को दिए जाते थे, जिसमे कुछ दिन पहले तक अधिकतर अग्रेज ही थे, बहुत अधिक थे।

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ हो जाने के बाद से प्रशासन पर व्यय बहुत अधिक मात्रा मे बढ गया है। इसमे सन्देह नही कि युद्ध के समय अनेक विभागो के विस्तार की आवश्यकता थी, पर आश्चर्य तो इस बात का है कि युद्ध समाप्त हो जाने पर व्यय का स्तर पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचा था। युद्ध के पहले शासन-व्यवस्था पर व्यय १ ८७ करोड रुपया था। १९४४-४५ मे, जबकि युद्ध अपनी चरम सीमा पर था, यह व्यय ४·२४ करोड रु० था, १९४६-४७ मे यह ६ २३ करोड रु० था और १९४७-४८ मे अनुमान किया गया कि उसमे ९ लाख रु० की कमी होगी।

वर्तमान समय मे व्यय-वृद्धि अशत सरकार द्वारा वेतन आयोग (पे कमीशन) की सिफारिशो की स्वीकृति तथा विकास-योजनाओ के परिणामस्वरूप विभागीय सेवाओ की स्थापना तथा प्रसार के कारण है। पर यह भी मानते हैं कि अप०यय दूर करने तथा खर्च कम करने का बहुत अवसर है। प्रशासन के प्रत्येक विभाग मे मित-व्ययता के गम्भीर प्रयत्नो की सबसे बडी आवश्यकता है और जिन लोगो के अधिकार मे सरकारी कोष है उन्हें कर देने वाले के दृष्टिकोण से अपनी स्थिति का पूरा ज्ञान होना चाहिए तथा उसके व्यय के ढग मे पूरी जागरूकता का परिचय देना चाहिए।

नागरिक प्रशासन की इधर हाल की वृद्धि इस बात से स्पष्ट है कि १९५२-५३ में यह व्यय २·९५ करोड़ रु० था जबकि १९५५-५६ में यह बढ़कर ३·३३ करोड़ रु० तथा १९५६-५७ में ४·८५ करोड़ रु० हो गया।[1]

भारत सरकार ने १ अप्रैल, १९५३ को कर-जाँच आयोग की नियुक्ति की, जिसके अध्यक्ष डॉ० जान माथाई थे।[2] १९२५ में पिछले कर-जाँच आयोग द्वारा रिपोर्ट प्रस्तुत करने के बाद से लेकर अब तक भारत की आर्थिक स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे। अतएव इन नई परिस्थितियों में इस आयोग को अन्य बातों के साथ-साथ केन्द्रीय, राज्यीय तथा स्थानीय करारोपण का विभिन्न राज्यों में विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले भार की परीक्षा का कार्य सौंपा गया। आयोग ने ३० नवम्बर, १९५४ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

आयोग के मतानुसार ग्रामीण क्षेत्र से नगर-क्षेत्र की ओर बढ़ने पर प्रति व्यक्ति कुल व्यय से रोकड़ व्यय का अनुपात भी बढ़ता जाता है, अधिक करारोपित वस्तुओं की अधिक खरीद के कारण रोकड़-व्यय से कर का अनुपात भी बढ़ता जाता है। इनके फलस्वरूप नगर-क्षेत्रों में कर-तत्त्व (टैक्स एलिमेंट) और कर-भार बढ़ता जाता है, यद्यपि ग्रामीण जनसख्या के आधिक्य के कारण अप्रत्यक्ष करों के प्रति ग्रामीण क्षेत्रों का कुल अशदान कहीं अधिक है।

युद्ध-पूर्व काल की तुलना में नगर-क्षेत्रों में कर का कुल भार अपेक्षाकृत बढ़ गया है।

१९ **कर-भार का वितरण**—अर्थशास्त्र में कर-भार की समस्या सबसे अधिक जटिल समस्याओं में से एक है और भारत में तो प्रति व्यक्ति आय तथा राष्ट्रीय आय के वितरण के सम्बन्ध में ठीक-ठीक आँकड़े न प्राप्त होने के कारण और भी अधिक जटिल हो गई है। १९२४ में कर-भार के वितरण के विषय में जाँच करने तथा इस बात की परीक्षा करने के लिए कि केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय करारोपण की प्रणाली वैज्ञानिक और न्यायोचित है अथवा नहीं, कर जाँच समिति (टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी) नियुक्त की गई। उन्होंने जनसख्या से कुछ विशेष वर्गों को चुनकर कुछ नतीजे निकाले। कमेटी को इस बात का पता चला कि कर का भार किसी भी वर्ग के लिए दुर्वह नहीं था, पर उसका वितरण असमान था। कुछ वर्ग अपने हिस्से के उचित कर को भी बचा जाते थे, जैसे बड़े-बड़े जमींदार और गाँव का महाजन।[3] १९१४ के पहले कर-भार समाज के विभिन्न वर्गों में बहुत ही असमान ढंग से बँटा हुआ था। निर्धन लोग मालगुजारी, नमक कर, उत्पाद-कर, स्टाम्प आदि के रूप में कर का भार पूरा पूरा वहन करते थे और धनी वर्ग के लोग अपना न्यायपूर्ण भाग भी बचा जाते थे, जैसा कि प्रोफेसर के० टी० शाह द्वारा १९२३-२४ के लिए दी गई निम्न

१. देखिए, स्टैटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट, १९५७-५८, पृ० २१५।
२. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन, १९५३-५४, खण्ड १।
३. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पैरा ४७८-९२।

तालिका से प्रकट है—[1]

करोड़ रुपयो मे

आय के शीर्षक	कर-भार की मात्रा जो वहन की गई	
	धनी वर्ग द्वारा	निर्धन वर्ग द्वारा
निराक्राम्य-कर	२०	२१
मालगुजारी और सिंचाई-कर .	२०½	२१½
आय-कर ..	२०	...
उत्पाद-कर	..	२०
नमक ..	१¾	७½
जगल और रजिस्ट्रेशन ..	२	५
स्टाम्प ...	६½	६½
रेलवे ..	३३	६०
डाकखाना . .	५	५½
नगरपालिका-कर ...	३	१०
ज़िला परिवेध-कर	.	१०
कुल	१११¾	१६७

इस तालिका से प्रो० शाह इस निर्णय पर पहुँचे कि 'आर्थिक दृष्टि से जो कमजोर तथा कम योग्य थे वे ही लोग भार मे कर-भार का अधिकाश वहन करते थे। रेल, डाक आदि कुछ करो को अपवाद मानते हुए भी हम यह कह सकते है कि जबकि धनी वर्ग १०० करोड रुपया कर के रूप मे देते हैं तो निर्धन वर्ग के लोग १५० करोड रुपया देते हैं। परिवार की १००० रु० और इससे अधिक औसत वार्षिक आय के दृष्टिकोण से कर की कुछ वसूली, ६०० करोड रुपये की आमदनी मे से, जोकि कुल जनसख्या के $\frac{1}{200}$ अश से कम लोगो द्वारा उपयोग की जाती है, लगभग १०० करोड रुपये के होती है, और बाकी १५० करोड रुपया १००० या १२०० करोड रुपये की कुल आमदनी मे से, जो बाकी जनसख्या के ९९% लोगो द्वारा उपयोग की जाती है, वसूल किया जाता है। यह वितरण मितव्ययी अथवा न्यायोचित नही कहा जा सकता।'

इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स के सलाहकार श्री ए० सी० सम्पत आयगर

१. देखिए, शाह और खम्बाट, 'वेल्थ एण्ड टेक्सेबल केपेसिटी', पृष्ठ २८६-९१, और शाह, 'सिक्सटी ईयर्स ऑफ इण्डियन फिनांस', दूसरा सस्करण, पृष्ठ ३७३-७४।

ने कुछ समय हुआ (१५ नवम्बर, १९४९) अपनी एक पुस्तक प्रकाशित करवाई, जिसमें उन्होंने उच्च अथवा मध्यम और निम्नवर्ग के लोगों के ऊपर केन्द्रीय तथा राज्यीय करों का कितना भार पड़ता है, इसका सांख्यिक अनुमान लगाने का प्रयास किया है। इस अध्ययन में उन्होंने २००० मासिक आय को दोनों वर्गों के पार्थक्य की सीमा माना है। केन्द्रीय और प्रान्तीय करों से प्राप्त आय को १९४९-५० के बजट में दो वर्गों में बाँटा गया है। पहला वह वर्ग, जिसमें निम्न वर्गों से कुछ भी प्राप्त नहीं होता और दूसरा वह वर्ग, जिसमें उच्च अथवा मध्यम वर्ग वाले लोगों के साथ-साथ निम्न वर्ग के लोग भी कर देते हैं। पहले वर्ग के उदाहरण हैं आय-कर, निगम-कर, व्यवसायों पर कर, कृषि-आय कर और ऐसी वस्तुओं पर निराकाम्य कर, जैसे शराब, स्पिरिट, बूट और जूते, बेतार के तार के औज़ार, तम्बाकू, कृत्रिम रेशम के सूत और डोरे, चाय पर निर्यात कर, शराबों के उत्पादन पर तथा व्यापारिक कामों में आने वाली स्पिरिट पर उत्पाद-कर और नगर-स्थित अचल सम्पत्ति पर कर इत्यादि। दूसरे वर्ग की वस्तुओं पर विभिन्न प्रतिशत में निम्नवर्ग वाले लोगों द्वारा कर दिया जाता है। योजनाओं के फलस्वरूप करों की मात्रा में लगातार वृद्धि हुई है, किन्तु इसके आधार पर कर-भार के वितरण के सम्बन्ध में निश्चयात्मक परिणाम नहीं निकाला जा सकता। द्वितीय योजना-काल में केन्द्र द्वारा ७९७ करोड़ रु० की अतिरिक्त-कर आय प्राप्त की गई तथा राज्यों द्वारा २४४ करोड़ रु० नये करों द्वारा प्राप्त किया गया। इस प्रकार द्वितीय योजना-काल में कुल १०४१ करोड़ रु० अति-रिक्त-कर आय के रूप में प्राप्त हुआ। किन्तु कर-आय और राष्ट्रीय आय (चालू मूल्यों पर) के अनुपात पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। १९५५-५६ में कर-आय राष्ट्रीय आय के ८ प्रतिशत के बराबर थी और १९६०-६१ में ९ प्रतिशत के बराबर है। यह तो निश्चित है कि अतिरिक्त-कर आय का अधिकांश बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय से प्राप्त हुआ है।

२०. भारतीय वित्त का संक्षिप्त इतिहास—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक और शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी खातों में गड़बड़ी, कम्पनी के प्रशासन में सदा रहने वाला घाटा, गदर का आर्थिक भार, कालान्तर में पृथक् वित्त सदस्य की नियुक्ति, आर्थिक विकेन्द्रीकरण की ओर धीरे-धीरे विकास, दुर्भिक्षों, सरहदी युद्ध और विदेशी विनिमय में कमी के कारण उत्पन्न कठिनाइयाँ, सरकार की ऋण-नीति, १९१४-१८ के महा-युद्ध से पहले बजट में बचत इत्यादि मुख्य समस्याएँ हैं।

प्रथम विश्व युद्ध के छिड़ जाते ही युद्ध के पहले की आर्थिक सुगमता तथा बजट में बचत का युग अनायास ही समाप्त हो गया। युद्ध-काल में भारतीय वित्त की विशेषताएँ बजट में घाटा, व्यय कम करने के कठोर उपायों का अपनाना, रेल और सिंचाई की सुविधाओं में भारी कमी, निराकाम्य-करों में वृद्धि, आय-कर, नमक-कर, उत्पाद-कर और भारत में ही जनता से बड़े-बड़े कर्ज़े लेना आदि थीं।

२१. घाटे के बजट—१९१४ के पहले के अतिरेक बजटों के विपरीत अब केन्द्रीय तथा प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्धन में निरन्तर घाटे के बजट दिखाई पड़ने लगे। यूरोपीय युद्ध के

कारण हुए व्यय के अतिरिक्त भारत पर अफगानिस्तान के आक्रमण के कारण भी कठिनाइयाँ बढ गईं, जिसके फलस्वरूप कई करोड रु० का खर्च बढ गया। इसके अतिरिक्त सैनिक तथा असैनिक प्रशासन का खर्च भी उत्तरोत्तर बढता गया। रेल-प्रबन्ध का खर्च भी बहुत बढ गया और व्यापारिक अवसाद के कारण, जो युद्ध के पश्चात् क्षणिक अभिवृद्धि-काल के समाप्त होते ही आरम्भ हो गया था, आमदनी घट गई। रेल की आय की कमी के अतिरिक्त आय कर से होने वाली प्राप्ति मे भी कमी आ गई थी। इन सब कारणो का सयुक्त प्रभाव १६१४-२२ के बीच के काल मे करो की वृद्धि के होते हुए भी घाटे के बजटो मे लक्षित हुआ।

रिट्रेंचमेण्ट कमेटी[1] (१६२२-२३) की सिफारिशो के अनुसार १६२३-२४ मे असैनिक व्यय मे ६ ६ करोड रुपये की कमी और सैनिक व्यय मे ५·५ करोड रु० की कमी की गई। परन्तु बजट के असन्तुलन को सँभालने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नही था और वाइसराय को नमक-कर दूना अर्थात् १ रु० ४ आने से २ रु० ८ आने करने के लिए बाध्य होना पडा। १६२३-२४ मे स्थिति ने पलटा खाया और आय के अनुमान से आवश्यकता से अधिक सावधानी बरतने, रुपये की विदेशी विनिमय-दर १ शि० ६ पैं० पर निश्चित हो जाने, आय-दर पर करों के आरोप को ज्यो-का त्यो बनाए रखने और उद्योग और व्यापार मे धीरे-धीरे उन्नति होने के कारण अस्थायी रूप से बजट मे अतिरेक की पुरानी प्रवृत्ति फिर से दिखाई पडने लगी। इन अतिरेको का प्रयोग प्रान्तो के अनुदान को घटाने तथा अनुत्पादक ऋण को कम करने मे किया गया। १६२७-२८ के पश्चात् बजट के सन्तुलन मे फिर से गडबड पैदा हुई और प्रान्तीय अनुदान के पूर्ण रूप से हटा देने के पश्चात् बजट बराबर घाटे प्रदर्शित करते रहे।

१६३६-४० के व्यापार मे निरन्तर होती हुई अवनति के कारण आय मे बहुत घाटा हुआ। विशेष रूप से निराकाम्य-कर मे और नये प्रचलित आय-कर की वर्ग-प्रणाली (स्लैब सिस्टम) के अन्तर्गत वृद्धि के होने हुए भी ऋण पर ब्याज देने और रक्षा पर व्यय करने मे कमी करते हुए भी बजट मे लगभग ५० लाख का घाटा पूरा करने के लिए बाकी रह गया। यह कमी कच्ची रूई पर आयात-कर को दूना करके पूरी की गई।[2] सितम्बर १६३६ मे लडाई छिड जाने से बजट मे अगले महीने मे विभिन्न परिवर्तन हुए। १६३६-४० के आय-व्यय का अन्तिम परिणाम ७७७ रु० के अतिरेक मे लक्षित हुआ, जिसके कारण रक्षित आय-कर कोष मे ६८६ लाख रुपया अधिक जमा किया जा सका। यह आय मे ६८१ लाख रु० की वृद्धि और व्यय मे ५ लाख रुपये की कमी के कारण सम्भव हो सका।

१६४०-४१ मे रेल की आय मे वृद्धि होते हुए भी पूरे वर्ष के लिए इस प्रथम युद्धकालीन बजट ने ७१६ लाख रुपये की सम्भावित कमी को नवीन साधनों से आय

१. देखिए, 'रिट्रेंचमेण्ट कमेटी की रिपोर्ट', पार्ट ११, पैरा ८।
२. ६ पाई प्रति पौण्ड से १ आना प्रति पौण्ड कर दी गई।

मे वृद्धि करके पूरा करने की आवश्यकता की ओर सकेत किया था, जो कि युद्धजनित अतिरिक्त आवश्यकताओं को पूरा करने के कारण हुई थी। केवल रक्षा-बजट ही ५२ ५२ करोड रुपये का था।

१९४१-४२ के बजट मे १९४०-४१ के सशोधित अनुमानों के अनुसार ८ ४२ करोड रु० की तथा १९४१-४२ के बजट मे २०·४० करोड रु० की कमी दिखाई गई थी। १९४१-४२ के बजट मे होने वाली २० ४० करोड रु० की भारी कमी बहुत बडे रक्षा-बजट के कारण पैदा हुई, जिसमे ८४ १३ करोड रुपये रक्षा पर तथा युद्ध के कारण शासन-व्यवस्था पर व्यय किये जाने का अनुमान किया गया था। यह प्रस्ताव किया गया था कि यह कमी ६ ६१ करोड रु० तक नये करो के आरोप द्वारा तथा शेष ऋण लेकर पूरी कर ली जाएगी।

१९४२-४३ का बजट पेश करते समय वित्त-मन्त्री ने १७ करोड रुपये की उसी वर्ष और ४७ करोड की अगले वर्ष कमी दिखाई थी। १९४२-४३ मे रक्षा पर १३३ करोड रु० का व्यय अनुमान किया गया था। यह प्रस्ताव किया गया था कि इस कमी को ३५ करोड रुपये के कर्ज द्वारा और १२ करोड रु० के नये करो की वृद्धि द्वारा पूरा किया जाएगा।

१९४३-४४ के बजट-आगणन मे १९९ ३ करोड रुपये की आय का अनुमान किया गया था, जबकि १९४२-४३ के सशोधित आगणन म आय केवल १७८ ७६ करोड रुपये ही थी और २५९ ५६ करोड रुपय के व्यय की सम्भावना की गई थी। ६० २६ करोड रुपये की कमी को २०·१ करोड रुपय तक नय करों के आरोप द्वारा और बाकी कर्ज द्वारा पूरा करन का इरादा था। उस वर्ष सशोधित आगणन मे २५ ५० करोड रुपय की आय मे वृद्धि और ८७ ३४ करोड रुपये की व्यय म वृद्धि दिखाई गई। इस प्रकार वर्ष के अन्त म आय स ९२ ४२ करोड रुपये की कमी रही।

१९४४-४५ के बजट मे वर्तमान समय मे आरोपित कर के स्तर पर कुल आय का अनुमान २८४ ९७ करोड रुपये था और कुल व्यय ३६३ १८ करोड रुपये था, इसलिए होने वाली कमी ७८ २१ करोड रु० की अनुमानित की गई थी, जिसको कुछ सीमा तक नये करो के आरोप द्वारा और कुछ सीमा तक अनिवार्य रूप से जमा कराए धन द्वारा पूरा करने का इरादा था। ऐसे आय-कर के पहले जमा कर दिये जाने की सुविधा, जिस पर उद्गम के स्थान पर ही कर नही वसूल कर लिया जाता था, एक बहुत बडा आय का साधन था।

१९४५-४६ की आय का अनुमान ३५३ ७४ करोड रुपय किया गया था। रक्षा पर लगभग ३९४ २३ करोड रुपए और आय की प्राप्ति क साधनो और पूंजी लगान में ५९ ४१ करोड रुपये के व्यय का अनुमान किया गया था। शासन-व्यवस्था पर व्यय १२३.४० करोड रुपये के लगभग रखा गया था। १६३ ८९ करोड रुपये की जो कमी होने वाली थी उसे मुख्यत १५५.२९ करोड रुपये तक ऋण लेकर और ८ ६० करोड रुपये तक करो के द्वारा पूरा करने का विचार था (जो तम्बाकू पर कर बढाकर, डाक द्वारा भेजे जाने वाली पारसल की दर बढाकर और तार-टेलीफोन

ने किराये तथा ट्रककाल की फीस पर अधिभार लगाकर पूरी की गई थी।) यह पहला अवसर था जब कि बजट मे अर्जित और अनर्जित आय मे अन्तर माना गया।

१६४७-४८ के बजट के आगणन के अनुसार व्यय ३२७ ८२ करोड रुपये और आय २७६ ४२ करोड रुपये वर्तमान करो के आधार पर की गई। इसके परिणामस्वरूप बजट मे ४८ ४६ करोड रुपये का घाटा था। रक्षा पर १२२ ७१ करोड रुपये के व्यय और शासन-व्यवस्था पर १३६ १७ करोड रुपये के लगभग अनुमान किया गया।

१६४७-४८ मे भारत का आर्थिक इतिहास दो भागो मे बाँटा जा सकता है—पूर्व-विभाजन काल तथा उत्तर विभाजन काल। आय मे ४८ ४६ करोड रुपये की कमी, जिसका ऊपर जिक्र आ चुका है, पूर्व विभाजन काल के बजट मे नमक कर के हटा देने से ८ २४ करोड रुपये से और बढ गई और ५६ ७ करोड रुपये हो गई।

अन्तर्कालीन बजट मे, जोकि ७½ महीने के लिए था, १७१.२ करोड रुपये की आय और १६७.४ करोड का व्यय तथा आय मे २६ २ करोड की कमी थी। इस कमी का १ ६ करोड रुपये का अश सूती कपडे पर ३% के मूल्यानुसार कर के स्थान पर ४ आना प्रति वर्ग गज की दर से और रुई के सूत पर ६ आना प्रति पौण्ड की दर से परिमाण कर लगाकर पूरा किया गया। जिस कमी को पूरा नही करना था वह २४ ६ करोड रुपये की थी और वह असामान्य कारणो से थी, जैसे २२ करोड रुपया लोगो को पाकिस्तान से रक्षित अवस्था मे लिवा लाना और शरणार्थियो को सहायता देना तथा २२ ५ करोड रुपया विदेश से मँगाये हुए अन्न की सहायता देना आदि। देखने मे बहुत अधिक लगने वाला रक्षा पर ६.२७ करोड रुपये का खर्च बँटवारे के पश्चात् सेना के धीमी गति से स्थानान्तरण तथा सामान्य काल से अधिक सेना के रखने के कारण था।

असैनिक व्यय मे बजट के अनुमान से ४८ १४ करोड रुपये की वृद्धि (१) बँटवारे के पूर्वकाल मे ऋण को देने के लिए २० ७५ करोड रुपये के अलग रख देने के कारण, (२) १२ ०५ करोड रुपये के व्यय की विदेशो से मँगाए जाने वाले अन्न से सहायता देने के निमित्त तथा प्रान्तीय सरकारो को अपने-अपने राज्य की सीमा मे अन्न एकत्रित कर लेने मे लाभाश देने के कारण और (३) सहायता तथा पुनर्वास पर अधिक व्यय कर देने के कारण हुई।

१६४६-५० के बजट के अनुसार कुल आय ३२३ करोड रुपये और कुल व्यय ३२२½ करोड रुपये था। सशोधित आगणन मे आय ३३२ करोड रुपये से कुछ अधिक और व्यय ३३६ करोड रुपये से कुछ अधिक था, इस प्रकार बजट मे केवल ३ ७४ करोड की कमी रह गई थी। रक्षा पर व्यय १२३¾ करोड रुपये से बढ गया था। इसके विरुद्ध निराआम्य-कर मे अनुमानित आय से ६ करोड रुपये की वृद्धि हो गई थी। इन दोनो के बीच का अन्तर कमी की मात्रा के लगभग बराबर था। रक्षा पर व्यय ऊँचे ही स्तर पर रखना पडा, क्योकि काश्मीर की समस्या का शान्ति से सुलझाव, जिसकी आशा की जाती थी, नही हो सका। निराआम्य-कर मे वृद्धि

उदार आयात-नीति के कारण तथा निर्यात-कर से रुपये का अवमूल्यन हो जाने के कारण अधिक आय की प्राप्ति के कारण हुई।

वर्तमान कर के स्तर पर १९५०-५१ में कुल आय ४०५.८६ करोड़ रुपये और कुल व्यय ३४६.६४ करोड़ रुपये ५६.२२ करोड़ रुपये के अतिरेक के साथ मार्गणित किये गए थे। इसके तीन कारण थे—(१) भारतीय संघ में मिलने वाली देसी रियासतों से प्राप्त आय, (२) कर की बकाया रकम की तत्परता के साथ वसूली और (३) आय-कर अधिनियम के १८ (अ) भाग के अन्तर्गत पेशगी वसूली।

युद्धकालीन तथा युद्धोत्तरकालीन घाटे के बजटों ने अर्थ-प्रबन्धन की प्राचीन मान्यताओं को बदल दिया। 'सन्तुलित बजट' का सिद्धान्त केवल आदर्श-मात्र रह गया। १९५१ में अखिल भारतीय स्तर पर नियोजन प्रारम्भ होने के कारण विकास की मदों पर व्यय की आशातीत वृद्धि हुई। परिणाम यह हुआ कि घाटे के बजट समाप्त नहीं हुए। वस्तुतः घाटे के बजट के बारे में अब यह धारणा हो गई है कि जब तक वे मूल्य-वृद्धि को अनावश्यक रूप से बढ़ावा न दें, तब तक उन्हें देश के आर्थिक विकास के अर्थ-प्रबन्धन के साधन के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए। १९५५-५६, १९५६-५७, १९५७-५८ में भारत सरकार की आय व्यय से क्रमशः ४०.४५ करोड़ रु०, ८९.४० करोड़ रु०, ४२.०५ करोड़ रु० अधिक थी, किन्तु १९५८-५९, १९५९-६० में क्रमशः ५.२५ करोड़ रु० तथा १५.३६ (संशोधित अनुमान) करोड़ रु० का घाटा हुआ। १९६०-६१ के बजट में ६०.३७ करोड़ रु० के घाटे का अनुमान था। २८ फरवरी, १९६१ को १९६१-६२ का बजट संसद के समक्ष पेश हुआ। इस बजट में प्रस्तावित व्यय १,०२३.४२ करोड़ रुपये तथा प्रस्तावित आय (कर के वर्तमान स्तर पर) ९६२.८६ करोड़ रुपये है। इस प्रकार ६०.६० करोड़ रु० का घाटा इस बजट में निहित है, किन्तु नये करों से ६०.८७ करोड़ रु० की अनुमानित आय को ध्यान में रखने पर बजट में नाम मात्र के लिए २७ लाख रु० की बचत होगी, ऐसा अनुमान है।

१९६५-६६ में श्री० टी० टी० कृष्णमाचारी ने जो बजट संसद के सामने रखा था कई बातों में सर्वश्रेष्ठ था। पहली बार कई वर्षों के बाद इस बजट में कुछ लोगों को कर बोझ के स्थान पर परिहार प्राप्त हुए। दूसरे, कई वर्षों के बाद पहली बार बेशी का बजट दिखाया गया जो कि न केवल राजस्व बजट में बशी दिखाई गई, घाटे के वित्त को बिलकुल रद्द करते हुए बेशी दिखाई गई। इस प्रकार *कृष्णमाचारी ने कर-नीति को इस प्रकार बनाया जिसमें निजी कर और कम्पनी-कर* में परिवर्तन किये, जिससे कर ढाँचे को एक अच्छे और उचित आधार पर खड़ा कर दिया।

२८ फरवरी १९६६ में देश के नये वित्त मन्त्री श्री सचीन चौधरी द्वारा देश की आर्थिक दशा और आर्थिक उन्नति के निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ध्यान रखा गया। इस प्रकार नए बजट में राष्ट्र के सभी विशेष क्षेत्रों में उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया है। वित्त मन्त्री के आदेशानुसार जनता को बढ़ाने के लिए इस प्रकार का वातावरण बना देना चाहिये जिससे बचत-शक्ति बढ़ सके और यह

ठीक क्षेत्रों मे इसका निवेश होगा। साथ ही बजट मे इस बात पर भी जोर दिया कि खर्चे मे कुछ कमी हो और ऐसे प्रोजेक्ट, जिनकी सरकारी उत्पादन शक्ति को बनने मे समय लगेगा, उन्हे इतना अधिमान न दिया जाए जितने का उन उद्योगो को, जिनकी आवश्यकता जल्दी है।

इस बजट के प्रस्तावो के अनुसार नये करो से १०१ ५ करोड रुपया और प्राप्त होगा। कर प्रस्तावो का विशेष रूप इस प्रकार हैं—

(१) बोनस शेयर कर को हटा दिया जाए।

(२) लाभांश कर को ठीक रूप दिया जाए।

(३) कुछ परिहार समवाय पर करो का लगाना।

(४) १० प्रतिशत स्पेशल अधिभार बडी आय वाले लोगो पर।

(५) कम आय वाले लोगो पर कुछ परिहार और अन्त मे

(६) समवाय क्षेत्र को कुछ प्रोत्साहन दिये जाएँगे ताकि धन का निवेश तथा पूँजी का सचय बढ सके।

१९६६-६७ के बजट मे ११७ करोड रुपया मौजूदा करो को देखते हुए, घाटे का भाग रहेगा। एक बडा अश इस घाटे का करो से पूरा किया जाएगा, बाकी भाग राजकोष पत्रो को रिजर्व बैंक को जारी कर पूरा किया जाएगा। १९६६-६७ के बजट मे कुछ मजबूरियो के कारण जनपद प्रशासन ऋण-व्यय, नये वित्त कमीशन के प्रस्तावो के अनुसार राज्य सरकारो को अधिक अनुदान देने के कारण, राजस्व व्यय २१७० करोड रुपया हो जाने की सम्भावना है। उसके मुकाबले मे राजस्व प्राप्ति नये करो से धन को मिलाकर २४८१ करोड रुपये की सम्भावना है। इस प्रकार राजस्व लेखे मे ३११ करोड रुपये की बचत होने की सम्भावना है। परन्तु विशेष जमा तथा वित्त पूँजी-गणना १९६५-६६ मे १८७३ करोड रुपये हो जाएँगे और इस प्रकार पूँजी-गणन मे ३३४ करोड रुपये का घाटा होगा। इस प्रकार इस वर्ष कुल १६५ करोड रुपये के घाटे के मुकाबले मे १२५ करोड रुपये का घाटा होगा।

१९६६-६७ के लिए लोक क्षेत्र खर्च के लिए १२३ करोड रुपया और बढने से कुल १३७३ करोड रुपया हो जाएगा। ऋण-व्यय इसलिए बढ रहा है क्योकि सरकार को स्वदेशी तथा विदेशी ऋण व्यय का कर देना होता है। १९६६ मे रक्षा पर १०० करोड रुपया खर्च हुआ। केन्द्रीय सरकार का भुगतान दिन प्रतिदिन बढता जा रहा है। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो को उधार तथा अनुदान दे रही है योजनाओ की पूर्ति के लिए। चौथे वित्त कमीशन के प्रस्तावो के अनुसार राज्य सरकारो का भाग केन्द्रीय आय-कर मे बढ गया है। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार की सहायता राज्य सरकारो को ६७० करोड रुपये (१९६२-६३) से बढकर १४०९ करोड रुपये (१९६६-६७) हो जाने की सम्भावना है। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार की उधार तथा केन्द्रीय सरकार का सार्वजनिक ऋण विशेषकर योजनाओ की पूर्ति के लिए दिन-प्रतिदिन बढता चला जा रहा है। मार्च १९६६ मे कुल सशोधित ऋण ११,३८३ करोड रुपये था (पहली योजना मे यह ऋण ६४६ करोड रुपये, दूसरी

योजना मे ३,०३३ करोड रुपये और तीसरी योजना मे ४,८३९ करोड रुपये) मार्च १९६७ के अन्त तक यह बढकर १२,३९- करोड रुपये हो जाएगा।

२२ भारत मे लोक-ऋण का सर्वेक्षण—१८६७ के बाद, जब से लोक-निर्माण-कार्य करने की नीति अपनाई गई, जिसे बाद मे उत्पादक-कार्य कहा जाने लगा, जैसे रेल, सिंचाई आदि, लोक निर्माण ऋण अथवा उत्पादक ऋण मे निरन्तर वृद्धि हुई है। १८७९ के बाद से अनुत्पादक ऋण को साधारण ऋण कहा जाने लगा। जब से सरकार को भी कर्ज लेने की आवश्यकता पडी, कुछ रेलो को कम्पनियो से खरीदने के लिए अथवा कर्ज देने के लिए सरकार के उत्पादक ऋण मे वृद्धि हुई। १८७८ मे प्रवर समिति (सिलेक्ट कमेटी) की सिफारिशो के अनुसार किसी एक वर्ष की अतिरेक आय का प्रयोग ऋण की अदायगी मे नही होना चाहिए, वरन् उसका प्रयोग उत्पादक कार्यों मे करना चाहिए, जिसके लिए अन्यथा सरकार को ऋण लेना ही पडता। साधारण ऋण मे कमी का अर्थ दूसरी ओर लोक निर्माण कार्य के लिए लिये गए ऋण मे वृद्धि थी।

१९१४-१८ के युद्ध के पहले भारत के लोक-ऋण का अधिकाश इगलैंड मे लिया गया था। सरकार ने नीति का अनुमोदन इस आधार पर किया कि इंगलैंड और भारत मे ब्याज की दर मे इतना अन्तर था कि इगलैड मे उधार लेने से यदि कोई हानि की सम्भावना हो तो वह पूरी हो जाए। उन्हे भारत के द्रव्य-बाज़ार का बहुत ही भ्रमपूर्ण ज्ञान था, जिसकी उधार देने की शक्ति वे किसी भी वर्ष ५ करोड रुपये से अधिक नही समझते थे। १९१४-१८ के महायुद्ध मे यह सिद्ध हो गया कि उनका यह अनुमान बहुत कम था। इस काल मे साधारण लोक-ऋण बडी तीव्र गति से बढा। ३१ मार्च, १९१६ मे ३१ करोड रुपये था और मार्च १९२४ मे वह २५७७० करोड रुपये हो गया। यह भारत के युद्धकालीन १००० लाख पौण्ड[1] का अशदान नई दिल्ली के व्यय और केन्द्रीय सरकार के युद्धोत्तरकालीन घाटे के बजटो के फलस्वरूप था। इन आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए भारत में लगातार युद्धकालीन ऋण लिये गए। इगलैंड के द्रव्य-बाज़ार पर वहाँ की सरकार द्वारा युद्ध के लिए माँगे हुए कर्ज का भार पहले ही शक्ति-भर पड चुका था और भारत से १९१७ मे ५३ करोड रु० का और १९१८ मे ५७ करोड रुपये का ऋण प्राप्त हो चुका था। इससे और अधिक ऋण पाने की आशा भी थी। युद्ध-काल में भारत की धन के बाज़ार की ऋण देने की शक्ति का जो परिचय मिला वह युद्धोत्तर-काल मे भी जारी रहा। युद्ध-सम्बन्धी ऋण की बडी मात्रा के अतिरिक्त इस ऋण की एक दूसरी विशेषता ऋण देने वालो की सख्या थी। इसके लिए हमे प्रभावशाली विज्ञापन और लोक-ऋण प्रशासन द्वारा अधिकाधिक सुविधाओ, जो राज्य के खज़ानो और

---

१ १९१८ में युद्ध के और अधिक चलने की दशा में युद्ध-सम्बन्धी ४५० लाख के अतिरिक्त अशदान का वचन दिया जा चुका था, परन्तु १९१९-२० में अफगान-युद्ध के कारण १९० लाख पौण्ड का भारी खर्च हो जाने के कारण युद्ध-सम्बन्धी अशदान की मात्रा बहुत घटा दी गई।

उप-खजानो मे प्राप्त थी, का आभारी होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे डाकखाने की युद्ध सम्बन्धी ऋण शाखा और कैश सर्टिफिकेट की प्रणाली, जिसे सरकार की ऋण नीति मे स्थान मिला था, विशेष उल्लेखनीय है।

ट्रेजरी बिल १६१४-१८ की लडाई की देन थे, जो सर्वप्रथम १६१७ के ब्रिटिश युद्ध-कार्यालय की तरफ से सरकार द्वारा वितरण के लिए जारी किये गए। युद्धोत्तर-काल मे आय का कमी पूरी करने के लिए ये फिर जारी किये गए थे, जबकि पुराने बिलो की रकम नये बिल जारी करके अदा की गई थी। अन्त मे ट्रेजरी बिल की बहुत बडी बकाया रकम लम्बी अवधि के ऋण से प्राप्त धनो द्वारा दी गई, जोकि अच्छे अर्थ-प्रबन्ध की दृष्टि से अनुचित थी। १६२६-३० से ट्रेजरी बिल का जारी करना केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्ध का एक साधारण कार्य हो गया है।

१ फरवरी, १६४१ से छ-वर्षीय सुरक्षापत्र (डिफेन्स-बॉण्ड) के स्थान पर ३% का दूसरा सुरक्षा ऋण (डिफेन्स लोन) अधिक लम्बी अवधि के लिए जारी किया गया। १६४२-४३ मे सुरक्षा ऋण मे लोगो ने ११५ करोड रुपया लगाया। बाद मे तीसरा, चौथा तथा अनेक ऋण जारी किये गए, जिनमे १६४३-४४ मे कुल २७६ करोड रुपया जमा हुआ और यदि युद्ध-आरम्भ-काल से ही हिसाब लगाया जाए तो कुल ५४७ करोड रुपया जमा हुआ। ऊपर वर्णित ऋणो मे अतिरिक्त सरकारी कर्मचारियो के लिए डिफेन्स सर्विस प्राविडेण्ट फण्ड आरम्भ किया गया, जिससे सरकारी कर्मचारियो के लिए नियमित रूप से रुपया जमा करने की सुविधा हो गई। एक सरल ढग सर्वसाधारण के लिए रुपया जमा करने का पोस्ट ऑफिस डिफेन्स सेविंग्ज़ बैंक एकाउण्ट की नई योजना द्वारा प्रचलित किया गया, जिसमे जमा किया हुआ रुपया मॉगने पर नही बल्कि युद्ध-समाप्ति के एक वर्ष बाद मिल सकता था। इसे प्रोत्साहित करने के लिए इसमे ब्याज की दर साधारण पोस्ट सेविंग्ज बैंक एकाउण्ट से १% अधिक रखी गई।

१६३७-३८ से भारत के लोक-ऋण की निम्न मुख्य विशेषताएँ रही है—(१) ब्याज वहन करने वाले भारत सरकार के ऋण की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि (जिसमे अनिश्चित काल के ऋण और निश्चित काल के ऋण सम्मिलित थे), (२) १६४२-४३ तक सावधि और बिना अवधि के ऋण की मात्रा मे, जो किसी सीमा तक स्टर्लिंग ऋण की अदायगी के सम्बन्ध मे प्रचलित किये गए थे, निरन्तर वृद्धि, (३) १६४२-४३ तक अल्पकालीन ऋण मे वृद्धि, जिसका प्रतिनिधित्व ट्रेजरी बिलो द्वारा किया जा रहा था, जिसकी मात्रा युद्ध के पहले से ६ गुनी बढ गई थी जो स्टर्लिंग ऋण की अदायगी के लिए प्रचलित किये गए थे, (४) अगले चार वर्ष मे अल्पकालीन ऋण मे कमी होना और अनिश्चित काल के ऋण की मात्रा मे वृद्धि, (५) १६४२-४३ तक छोटी मात्रा मे बचत म कमी, पर बाद के वर्षो मे फिर से मात्रा बढना (विशेषकर नेशनल सेविंग्ज सर्टीफिकेट के प्रचलन के कारण), और (६) स्टर्लिंग ऋण का अन्त, जो युद्ध के समय मे रुपये के ऋण से बढ गया था, आदि।

१९४२-४३ से युद्धकालीन वित्त सम्बन्धी विकास का नया रूप प्रारम्भ हुआ, जिसकी एक विशेषता लोक-ऋण की वृद्धि की गति में तीव्रता तथा युद्धकालीन व्यय में निरन्तर वृद्धि के कारण घाटे के बजट और मुद्रा-प्रसार का बढ़ता हुआ भार था।

१९५३-५४ में यह २६९५ करोड रुपये था। इसमें से २५५४ करोड रु० आन्तरिक ऋण था तथा शेष १४१ करोड रु० बाह्य ऋण था। १९५४-५५ में भारत का ऋण बढ़कर ३०३९ करोड रु० हो गया। इसमें से २९०० करोड रु० आन्तरिक और १३९ करोड रु० बाह्य ऋण था। आशा की जाती है कि मार्च, १९५६ के अन्त तक ऋण में ४७० करोड रु० की वृद्धि होगी और ऋण बढ़कर ३५०९ करोड रु० हो जाएगा।

१९६० के संशोधित अनुमान के अनुसार भारत के आन्तरिक लोक-ऋण की मात्रा ३८३४·८१ करोड रु० थी तथा १९६१-६२ के बजट अनुमान में इसकी मात्रा ४०५९.६२ करोड रु० प्रस्तावित है। इन्हीं वर्षों के लिए बाह्य ऋण की मात्रा—जिसमें इंगलैंड, यू० एस० ए०, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, जापान, चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, स्विट्ज़रलैण्ड तथा विश्व बैंक के ऋण भी सम्मिलित हैं—६२९०·६० करोड रु० तथा ७११०.१३ करोड रु० है।[1] १९६६-६७ में बाह्य ऋण की मात्रा ३२९३.४४ करोड रुपये हो जाएगी।

यहाँ लोक-ऋण के सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। जो ऋण भारत में लिया जाता है उसे रुपये का ऋण कहा जाता है, क्योंकि रुपये में ही यह प्राप्त होता है और मूलधन तथा ब्याज आदि सब रुपये ही में अदा किए जाते हैं। भारत में रुपये का ऋण दो भागों में विभाजित है—प्रथम भारतीय विनियोजक और दूसरा यूरोपीय विनियोजक। यह सुझाव दिया गया है कि सभी ऋण, चाहे रुपये के हों और चाहे स्टर्लिंग के, चाहे भारत में प्राप्त हुए हों और चाहे इंगलैंड में, यदि गैर-भारतीयों द्वारा दिये गए हैं तो बाह्य ऋण हैं और यदि भारतीयों द्वारा दिये गए हैं तो आन्तरिक ऋण हैं।

२३. **पौण्ड-पावना**—पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के भाग के रूप में भारत सदैव से इंगलिस्तान में स्टर्लिंग रखता आया है। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत निर्गम-विभाग (इशू डिपार्टमेण्ट) की सम्पत्ति का कम-से-कम ४० प्रतिशत स्वर्ण या स्वर्ण-सिक्के अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में होना आवश्यक है। साथ ही शर्त यह भी थी कि स्वर्ण की मात्रा का मूल्य कम-से-कम ४० करोड रुपये हो। सितम्बर, १९३९ में पौंड-पावने ५२० लाख पौण्ड थे। १४ अगस्त, १९४७ को यह ११,३७० लाख पौण्ड थे। पौण्ड-पावना एकत्रित होने का मुख्य साधन युद्ध के लिए ब्रिटिश सरकार और मित्र देशों द्वारा भारत से भण्डार और अन्य वस्तुओं का क्रय था। इस क्रय के लिए रुपया रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की उस धारा के अन्तर्गत प्राप्त किया गया, जिसके अन्तर्गत बैंक असीमित मात्रा में स्टर्लिंग खरीदने के लिए बाध्य

१. देखिए, इण्डिया १९६१, पृ० २२८।

था। पौण्ड-पावना भारतीय जनता का भारी त्याग प्रदर्शित करते है, जो भारत की अपनी सुरक्षा की लागत तथा ब्रिटेन और मित्र देशो की सरकार के युद्ध-सम्बन्धी प्रयासो के लिए वस्तुएँ और सेवाएँ प्रस्तुत करने के कारण कठोर अभाव और मुद्रा-स्फीति के रूप मे प्रकट हुआ। यह लागत भी भारत को अपनी इच्छा के विरुद्ध केवल वाइसराय के अप्रजातन्त्रात्मक आदेश से युद्ध मे सम्मिलित होने के कारण उठानी पडी। अतएव भारत का पूरा भुगतान मिलने का अधिकार बहुत ही दृढ है और उसके प्रति पहले की अपेक्षा अब बहुत कम विरोधी है।

३१ दिसम्बर, १९४७ तक की अवधि के लिए भारत के पौण्ड-पावनो के सम्बन्ध मे एक अन्तर्कालीन समझौते (इण्टरिम एग्रीमेण्ट) पर लन्दन मे १४ अगस्त, १९४७ को हस्ताक्षर हुए। इस समझौते की मुख्य बातें निम्न थी—

(१) रिज़र्व बैंक को दो खाते रखने के लिए कहा गया। खाता न० १ खास चालू खाता होगा, जिसमे परिवर्तनीय मुद्रा होगी। पौण्ड-पावने से दी जाने वाली रकम और भविष्य की अर्जित राशि इसी खाते मे जमा की जाएगी।

खाता न० २ शेष एकत्रित राशि होगी।

(२) खाता न १ मे ३५० लाख पौण्ड जमा करना था।

(३) ३५० लाख पौण्ड के अलावा विदेशो को भुगतान करने के साधनो की कमी पूरा करने के लिए खाता न० १ मे ३०० लाख और जमा किया गया।

१९४८ के एक नए समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिसकी मुख्य बाते निम्न थी—

(१) भारत में इगलिस्तान के भण्डार—१ अप्रैल, १९४७ को दिये गए सारे भण्डारो आदि के पूरे और अन्तिम भुगतान के लिए १००० लाख पौण्ड (१३३ करोड रुपया) दिया जाएगा।

(२) स्टर्लिंग पेन्शन (निवृत्ति-वेतन)—इगलिस्तान की सरकार को १४७५ लाख पौण्ड (१९७ करोड रु०) दिया जाएगा और भारत सरकार क्रमश ह्रासमान वार्षिक वृत्ति (एनुइटी) खरीद लेगी, जो १९४८ मे ६३,००,००० पौण्ड से शुरू होगी। धीरे-धीरे ६० वर्ष मे शून्य हो जाएगी।

(३) सुरक्षा व्यय योजना—अविभाजित भारत के १९४६-४७ के अन्तिम लेखो के अनुसार भारत और इगलैण्ड के बीच सुरक्षा-व्यय निर्धारण योजना के अन्तर्गत इगलिस्तान पर ४६० लाख पौण्ड (६५ करोड रुपया) था। इस योजना मे निर्धारित अवधि की अन्य देयताओ को ध्यान मे रखकर अन्तिम रकम ५५० लाख पौण्ड (७३ करोड रु०) निश्चित की गई।

(४) पौण्ड-पावना की अदायगी—१ जुलाई, १९४८ से तीन वर्ष की अवधि म इगलिस्तान ८०० लाख पौण्ड पौण्ड-पावने मे से देगा और भारत खाता न० १ मे पौण्ड-पावने की इससे पहले अदा की गई रकम से ८०० लाख पौण्ड जमा रखेगा।

(५) बहु-परिवर्तनशीलता (मल्टीलेटरल कनवर्टिबिलिटी)—पहले वर्ष यानी

१६४८ मे १५० लाख पौण्ड (२० करोड रु०) देने की व्यवस्था थी और ३ वर्ष के अन्त मे स्थिति के पुनर्विलोकन की व्यवस्था थी।

जैसा ऊपर (४) कहा जा चुका है, सैनिक भण्डारो, पेन्शनो आदि के मद मे भुगतान करने के बाद भारत के पौण्ड-पावने ८००० लाख पौण्ड थे। यदि पहले तीन वर्षो मे मिलने वाला १६०० लाख पौण्ड इसमे से घटा दिया जाए तो पौण्ड-पावने कुल ६४०० लाख पौण्ड क थे।

किन्तु जून, १६५१ मे समाप्त होने वाले स्टर्लिंग समझौते को ३० जून,१६५७ तक के लिए बढा दिया गया और उसमे निम्न परिवर्तन किये गए—

(१) (करेन्सी) मुद्रा-सुरक्षित-कोष के रूप मे रिजर्व बैंक द्वारा रखे जाने के लिए खाता न० २ से ३१०० लाख पौण्ड खाता न० १ मे स्थानान्तरित कर दिये गए।

(२) १ जुलाई, १६५१ से १२ महीने की ६ अवधियो मे प्रत्येक वर्ष खाता न० २ से खाता न० १ मे अधिक-से-अधिक ३५० लाख पौण्ड स्थानान्तरित किया जा सकता था, बशर्ते कि (क) खाता न० १ की न्यूनतम राशि ३४०० लाख पौण्ड बनाए रखने के लिए स्थानान्तरण हो, या दोनों सरकारो को मान्य इससे कम रकम का स्थानान्तरण इसी उद्देश्य से हो, (ख) ३५०० लाख पौण्ड का स्थानान्तरण योग्य कोई भी भाग, जो किसी अवधि मे स्थानान्तरित न किया जाए, वह बाद के वर्षो मे स्थानान्तरण-योग्य राशि मे जोड दिया जाए, (ग) यदि किसी अवधि मे भारत सरकार खाता न० २ से ३५०० लाख पौण्ड से अधिक लेने की आवश्यकता समझे तो बाद की अवधि मे स्थानान्तरण-योग्य राशि ५० लाख पौण्ड कर दी जाएगी। यदि भारत सरकार बाद की अवधि मे इससे अधिक की आवश्यकता समझे तो दोनो सरकारें इसे आपस मे तय कर लेगी, (घ) ३० जून, १६५७ को खाता न० २ मे जो कुछ भी होगा वह खाता न० १ को स्थानान्तरित कर दिया जाएगा।

फरवरी १६५२ मे पौण्ड-पावने के १६५१ के समझौते को ३० जून, १६५७ तक के लिए बढा दिया गया। जुलाई, १६५३ मे एक औपचारिक समझौता और किया गया, परन्तु पौण्ड-पावने की १६५१ की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नही किया गया।

प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बन्ध

२४. १६१६ के सुधारों के पूर्व के वित्तीय सम्बन्ध—१८३३ से १८७१ तक वित्त-शक्ति पूर्ण रूप से भारत सरकार के ही हाथो मे केन्द्रित थी और वही प्रान्तीय सरकार के व्यय की छोटी-से-छोटी बातो पर नियन्त्रण रखती थी।

१८७७ मे लॉर्ड लिटन द्वारा विकेन्द्रीकरण की ओर एक कदम और उठाया गया, जिसमे वित्त-मन्त्री सर जॉन स्ट्रेची ने सहयोग दिया। आय के प्रान्तीय प्रकृति के सभी साधन, जैसे मालगुजारी, उत्पादन, स्टाम्प, सामान्य प्रशासन, न्याय आदि, प्रान्तो को दिये गए। विभागो से प्राप्त आय और प्राचीन धन के अनुदान के अतिरिक्त कुछ आय के साधन, जैसे उत्पाद-कर, स्टाम्प और न्याय प्रान्तीय सरकारो को दे दिये गए। इस प्रबन्ध के अन्तर्गत आय के साधनो को प्रान्तीय और केन्द्रीय दो

भागो मे बाँट दिया गया ।

१८८२ मे लार्ड रिपन ने वित्त-सदस्य मेजर बेरिंग की सहायता से प्रान्तीय समझौतो मे कुछ सुधार किये । अब हर पाँचवें वर्ष इन समझौतो का पुनर्विलोकन होना था । उन्होने निश्चित इकट्ठी रकम के अनुदान को वन्द कर दिया और निम्न प्रकार से आय के साधनो का फिर से बटवारा किया—

(१) केन्द्रीय मद—अफीम, नमक, निराकाम्य-कर, व्यापारिक कार्य इत्यादि।

(२) प्रान्तीय मद—नागरिक विभाग, प्रान्तीय निर्माण-कार्य और प्रान्तीय कर।

(३) विभाजित मद—उत्पाद-कर, आरोपित कर, स्टाम्प, वन, रजिस्ट्रेशन इत्यादि ।

अपना घाटा पूरा करने के लिए निश्चित धनराशि का अनुदान देने के स्थान पर उन्हे मालगुजारी का एक विशेष प्रतिशत दे दिया गया और उसके साथ-साथ निश्चित रोकड उसी मद के अन्तर्गत हस्ताक्षित कर दी गई जोकि व्यवस्थापन का एक महत्त्वशाली साधन बन गई। इसी प्रकार के समझौते सिद्धान्तो मे परिवर्तन किये बिना १८८७, १८९२ और १८९७ के सिद्धान्तो मे किये गए, यद्यपि प्रान्तो मे कुछ असन्तोष और मतभेद रहा ।

वित्तीय नीति की अनिश्चितता और निरन्तरता की कमी दूर करने के लिए पचवर्षीय प्रान्तीय समझौतो को लॉर्ड कर्जन ने १९०४ मे अर्द्ध-स्थायी बना दिया, अर्थात् पूर्वस्थिति मे काफी परिवर्तन होने अथवा अकाल या युद्ध-जैसे विपत्ति-काल के उपस्थित होने पर ही उन्हे बदला जा सकता था ।

१९१२ मे लॉर्ड हार्डिंग द्वारा यह समझौता स्थायी घोषित कर दिया गया और निम्न विभाजन किया गया । जहाँ तक आय से सम्बन्ध है, केन्द्रीय सरकार ने वे सारे आय के स्रोत अपने पास रखे जो बाँटे नहीं जा सकते थे या किसी प्रान्त-विशेष के नही थे । इनको साम्राज्य (इम्पीरियल) आय-स्रोत कहा गया, जैसे अफीम, रेल, निराकाम्य-कर, नमक, टकसाल, विनिमय, डाक और तार, सेना द्वारा आय और देशी रियासतो से प्राप्त धन । बचे हुए मे से कुछ तो पूर्णरूपेण प्रान्तीय थे, जैसे जगल, उत्पाद-कर, (बगाल और बम्बई मे) रजिस्ट्रेशन तथा विभागो से प्राप्त आय, जैसे शिक्षा, न्याय आदि । अन्त मे एक बहुत महत्त्वशाली आय का स्रोत विभाजित मद थे, जैसे मालगुजारी, आय-कर, उत्पाद-कर (बगाल और बम्बई को छोडकर), सिंचाई और स्टाम्प । सुधार के पूर्व की प्रणाली मे अनेक दोष थे—(१) दोनो सरकारो के बीच बँटने वाले आय के स्रोत निरन्तर केन्द्रीय सरकार द्वारा हस्तक्षेप के साधन बने थे और प्रान्तो के विकास मे बाधक थे, (२) समय-समय पर प्रान्तीय सरकारो को केन्द्रीय सरकार द्वारा अपनी बचत से दी हुई 'भिक्षा' (डोल्स) का प्रभाव प्रान्तीय वित्त पर अस्त व्यस्तकारी था, (३) इसने अन्तर्प्रान्तीय वित्त-सम्बन्धी गम्भीर असमानता को जन्म दिया, (४) प्रान्तीय सरकारो को करारोपण तथा ऋण लेने का स्वतन्त्र अधिकार नहीं था, (५) केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तो के बजट और व्यय पर बहुत विशद नियन्त्रण लगाया गया था । उदाहरण के लिए प्रान्तीय

सरकारें घाटे को पूरा करने का न तो कोई प्रबन्ध ही कर सकती थी और न अपने अतिरेक को स्वतन्त्रतापूर्वक खर्च ही कर सकती थी।

२५. १६१६ के सुधारों के अन्तर्गत पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध—सुधार के बाद से केन्द्रीय सरकार के साथ आर्थिक सम्बन्ध बिलकुल बदल गए। आय-व्यय का नवीन बटवारा निम्न प्रकार किया गया—(१) केन्द्रीय आय के साधन—अफीम, नमक, निराकाम्य-कर, आय कर, रेल, डाक और तार, सेना से आय, (२) प्रान्तीय आय के साधन— मालगुजारी (सिंचाई को सम्मिलित करते हुए), स्टाम्प (व्यापारिक और न्यायिक), रजिस्ट्रेशन, उत्पाद-कर और वन। जो माण्टेगू चेम्सफोर्ड सुधार और मेस्टन कमेटी द्वारा आय-कर केन्द्रीय करार दिया गया था, उसे प्रान्तों से पूर्णरूपेण ले लिये जाने के विरुद्ध मुख्यतः बम्बई और बंगाल के औद्योगिक प्रान्तों द्वारा आन्दोलन करने के कारण अन्त में यह निर्णय किया गया कि प्रान्तों को इस कर से प्राप्त आय का एक छोटा-सा अंश दे दिया जाए, जोकि आधार-वर्ष १६२०-२१ में आय-कर की निर्धारित आय के उपरान्त जितने रुपये की आय पर कर-निर्धारण किया गया, उससे प्राप्त करके प्रत्येक रुपये के ३ पाई के बराबर होगा। टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि यह नियम अपने उद्देश्य में असफल रहा। वस्तुतः किसी एक आधार-वर्ष के अनुसार बटवारा करना नितान्त अशुद्ध था।[1]

२६. मेस्टन परिनिर्णय—बाँटे जाने वाले आय के स्रोतों के अन्त और कुछ स्रोतों, जैसे मालगुजारी और स्टाम्प आदि, को प्रान्तों को दे देने का परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार की आय में ६८३ लाख रुपये की कमी हो गई, जिसको प्रान्तीय अंशदान की किसी योजना से पूरा करना था। १६२० में एक कमेटी लार्ड मेस्टन के सभापतित्व में इस प्रश्न पर तथा इससे सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करने के लिए नियुक्त की गई और इसकी सिफारिशें मेस्टन परिनिर्णय के नाम से पुकारी जाती हैं। इस कमेटी ने इस भार के बटवारे के लिए यह प्रस्ताव किया कि १६२१-२२ में प्रान्त एक प्रारम्भिक अंशदान दें, जिसकी मात्रा प्रान्तों की बढ़ी हुई व्यय-शक्ति के आधार पर निश्चित की जाए।

२७. प्रान्तीय अंशदान का अन्त—मेस्टन परिनिर्णय से कोई प्रसन्न न था, वरन् प्रान्तों में इससे बड़ा असन्तोष फैल गया। बम्बई और बंगाल के औद्योगिक प्रान्त आय-कर के घाटे को सहन करने को कभी भी तैयार न थे और कृषि-प्रधान प्रान्त, जैसे मद्रास, पञ्जाब और उत्तर प्रदेश, इस बात से अप्रसन्न थे कि उनका प्रारम्भिक अंशदान बहुत अधिक था। ये अंशदान यथार्थ में भार लगने लगे, जबकि प्रान्तों को मेस्टन कमेटी के अनुमानित सुखदायी अतिरेक के स्थान पर लगातार आय की कमी का सामना करना पड़ा। जो आय के स्रोत उनको दिए गए थे, जैसे मालगुजारी, वे सामान्य विकास-सम्बन्धी व्यय के लिए ही—समय-समय पर आने वाली विपत्तियों की कौन कहे—अपर्याप्त और लोचहीन थे। इसलिए अंशदान के अन्त के लिए निरन्तर माँग होती रही।

---

१. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पैरा ५२१।

केन्द्रीय सरकार की आय मे धीरे-धीरे वृद्धि होने के कारण १९२५ २६ और १९२६-२७ मे कुछ सहायता सम्भव हो सकी। १९२७-२८ मे जो-कुछ अंशदान का अवशेष था उसको कम कर दिया गया और १९२८-२९ मे उसका अन्त कर दिया गया।

२८. भारत मे संघात्मक वित्त की समस्या—प्रान्तीय अंशदान के अन्त से प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारो के बीच आय के स्रोतो के बटवारे के झगडे का अन्त नही हुआ। प्रान्तो, विशेषकर औद्योगिक प्रान्तो, जैसे बगाल और बम्बई की मुख्य आपत्ति फिर भी बनी रही। आपत्ति यह थी कि यद्यपि केन्द्रीय सरकार के व्यय स्थायी बने रहे, जिनमे केवल सेना के बनाए रखने का व्यय और लोक-ऋण पर ब्याज के व्यय ही सम्मिलित थे, केन्द्रीय सरकार ने अपने लिए आय के ऐसे स्रोतो को, जैसे आय कर और निराकाम्य-कर आदि, अपना लिया था, जिनमे वृद्धि हो रही थी अथवा जिनमे वृद्धि की सम्भावना थी और उन्होने प्रान्तो के लिए आय के ऐसे स्रोत छोड रखे थे जो लोचहीन और न बढने वाले थे, जैसे मालगुजारी और उत्पाद कर आदि, हालांकि प्रान्तो की आवश्यकताएँ तीव्र गति से बढ रही थी। कुछ स्थानो पर मालगुजारी पहले से ही बहुत अधिक थी और सर्वत्र बहुत लम्बी अवधि के लिए निश्चित की जा चुकी थी। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार की वृद्धि के लिए जनता सहमत नही थी। मद्य-निषेध की नीति अपनाने के कारण उत्पाद-कर मे अवनति अवश्यम्भावी थी। वन विभाग के विस्तार के लिए बडी मात्रा मे पूँजी के विनियोग की आवश्यकता थी। केवल स्टाम्प ही एक ऐसा स्रोत था जिसमे वृद्धि की कुछ सम्भावना थी। प्रान्तो पर ही राष्ट्रीय उन्नति के विभागो, जैसे शिक्षा, औषधि, कृषि आदि, का उत्तरदायित्व था, जिन पर बडी मात्रा मे विनियोजन अत्यन्त आवश्यक था। दुर्भिक्ष-सम्बन्धी व्यय भी प्रान्तो ही के कन्धो पर डाल दिया गया था। नये सुधारो के अन्तर्गत अतिरेक आय के बटवारे मे जो भाग प्रान्तो को हस्तान्तरित किया जाता था, उसकी मात्रा का निर्णय अनियमित ढग से किया जाता था और उसका सम्बन्ध न तो प्रान्तो की आवश्यकताओ से ही था और न उनसे वसूल की जाने वाली कुल आय से ही। निस्सन्देह १९२० के आय-स्रोतो के बटवारे के परिणामस्वरूप सब प्रान्तो को अधिक व्यय-शक्ति मिली। इसका लाभ असमान मात्रा मे अनुभव किया गया और अंशदान के अन्त ने प्रान्तीय आय-स्रोतो की असमानता को और भी अधिक बढा दिया। जब साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दी (१९३०), तो उस समय स्थिति यह थी कि प्रान्तो की आय तो स्थिर थी पर उसकी भावी आवश्यकताएँ सर्वत्र असीमित थी।[१]

२९. १९३५ के विधान के अनुसार केन्द्र और प्रान्तों के बीच आय स्रोतो का बटवारा[२]—गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी कि कर

१. साइमन कमीशन रिपोर्ट, खण्ड २, पैरा २६०-६१ और २६३।

२. गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट की वित्त-सम्बन्धी व्यवस्था उस एक्ट के १३७-४४ सेक्शनों में दी हुई है।

मिलाकर १३ करोड रुपये से कम होती, उस समय तक आय कर छोडा जाने वाला नही था।

जिस प्रतिशत अनुपात मे प्रान्तो के बीच आय बटने वाली थी, वे निम्न हैं—मद्रास १५, बम्बई २०, बगाल २०, यू० पी० १५, पजाब ८, बिहार १०, मध्य प्रदेश ५, आसाम २, उ० प० सीमाप्रान्त १, उडीसा २ और सिन्ध २।

३१. प्रान्तों को सहायता—प्रान्तीय स्वायत्त शासन के आरम्भ-काल से ही कुछ प्रान्तों को तुरन्त सहायता देने के लिए सर ऑटो निमेयर ने प्रस्ताव किया था। यह सहायता कुछ सीमा तक नकद सहायता के रूप मे थी, कुछ सीमा तक १९३६ के पहले लिये वास्तविक ऋण (कुछ चीजें घटाकर) के विलोपन के रूप मे थी और कुछ सीमा तक १२½% के जूट-कर के बटवारे के रूप मे थी। बगाल, बिहार, आसाम, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और उडीसा के सम्बन्ध मे सारा वास्तविक ऋण विलोपित कर दिया गया था और मध्य प्रदेश के सम्बन्ध मे १९३६ के पहले के आय के घाटे के कारण लिये गए ऋण और उसके साथ १९२१ के पहले का लगभग २ करोड रुपये का ऋण भी विलोपित कर दिया गया था।

वार्षिक अर्थ-सहायता निम्न प्रकार थी—उत्तर प्रदेश २५ लाख पाँच वर्ष तक, आसाम ३० लाख, उडीसा ४० लाख, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त १०० लाख, (पाँच वर्ष पश्चात् इस पर पुन. विचार करना आवश्यक था), सिन्ध १०५ लाख, जो दस वर्ष बाद धीरे-धीरे कम किया जाना था।

सर ऑटो निमेयर का कहना था कि पर्याप्त मात्रा मे न्याय तभी हो सकेगा जबकि बाँटने की दर कुछ तो निवास-काल और कुछ जनसख्या के आधार पर निश्चित की जाएगी। इन दोनो सिद्धान्तो के प्रति कट्टर सिद्धान्तवादी आदर दिखाना असगत और अन्यायपूर्ण होगा।

३२. समझौते के सिद्धान्त—रिपोर्ट के मुख्य अश नीचे दिये जाते है—गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट तक जितने वादविवाद इस सम्बन्ध मे हुए है सबमे यह बात मान ली गई थी कि प्रान्तीय स्वायत्त शासन के आरम्भ-काल से ही प्रत्येक प्रान्त को इस प्रकार सम्पन्न कर देना चाहिए कि आर्थिक सतुलन बनाए रखने की सम्भावना पर उनमे विश्वास रहे और विशेष रूप से स्थायी आर्थिक हीनता की दशा का, जिसमे कुछ प्रान्त पड गए थे, अन्त हो जाए। इसलिए मेरा सर्वप्रथम ध्येय प्रान्तो की वर्तमान और भावी आर्थिक स्थिति की परीक्षा करना और इस बात का पता लगाना रहा है कि इस ध्येय को पूरा करने के लिए किस सीमा तक सहायता की आवश्यकता पडेगी और दूसरे यह समझ लेना भी आवश्यक रहा है कि किस सीमा तक केन्द्रीय सरकार अपनी आर्थिक समृद्धि को हानि पहुँचाए बिना इस प्रकार की सहायता प्रदान करने की स्थिति मे है। अन्त मे हमे भविष्य की ओर भी देखना और सुझाव देना था कि कब और किस सीमा तक केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारो के समक्ष आय कर की प्राप्ति मे से खर्च करने के लिए और अधिक धन दे सकेगी।

प्रान्तीय दृष्टिकोण से इस ध्येय की प्राप्ति की वाञ्छनीयता अस्वीकार नही

की जा सकती, पर एक ही प्रश्न (यद्यपि यह कठिन प्रश्न है) उठता है कि पक्षपात-रहित न्यायपूर्ण बटवारे का आधार कैसे निश्चित किया जाए और दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि भारत की आर्थिक दृढता, स्थिरता और साख का ध्यान सर्वप्रथम होना चाहिए।

भारत सरकार ने सर ओटो निमेयर के सुझाव को पूर्णत स्वीकार कर लिया और प्रान्तीय स्वायत्त-शासन आरम्भ करने के लिए १ अप्रैल, १९३७ की तिथि प्रस्तावित की। इसलिए २७ मई, १९३६ को कौन्सिल से आय के बटवारे तथा प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के आरम्भ की आज्ञा जारी की गई।

३३ **प्रान्तों द्वारा आपत्ति**—जैसी कि आशा थी बहुत-से प्रान्त असतुष्ट थे और उन्होने अन्याय की शिकायत की। उडीसा को यह शिकायत थी कि उसके लिए अर्थ सहायता केवल ५० लाख रुपये की थी, जबकि सिन्ध के लिए १०५ लाख रु० थी। इस बात की भी शिकायत की गई कि प्रान्तो को दी गई सहायता का बटवारा वास्तविक आवश्यकता के विचार से किया गया था, न कि उनके गुणो के विचार से, इसलिए प्रान्तो म आय का बटवारा अन्यायपूर्ण और निराधार था। वे प्रान्त, जिन्होने अपना अर्थ-प्रबन्ध मितव्ययता और योग्यता से नियमित किया था, व ऐसे प्रान्तो की तुलना म, जो फिजूलखर्ची करने वाले और अयोग्य थे, सबसे अधिक घाटे मे रहे। उदाहरण के लिए बम्बई इसलिए दु खी था कि इतने वर्षों की उसकी कष्टकारी मितव्ययता, जिसके लिए उसे मेस्टन के परिनिर्णय के कारण बाध्य होना पडा था, उचित ध्यान नही रखा गया। उसने आय-कर मे से अधिक बडे भाग की इस अतिरिक्त आधार पर माँग की थी कि २५% से अधिक आय-कर बम्बई म ही वसूल होता था और बम्बई को औद्योगिक जनसख्या के हित क लिए अनेक मँहगी सेवाओ की व्यवस्था करनी पडती थी। बम्बई ने इस बात पर आपत्ति की कि आय-कर से सहायता का बटवारा पूर्णरूपेण रेलवे विभाग की सफलता पर आधारित था और इस बात पर जोर दिया कि काल्पनिक ऋण, जिसका सृजन अनुत्पादक सिंचाई के साधनो के सम्बन्ध म किया गया था और जिसे आय से पूरा किया जाता था न कि ऋण से, विलोपित कर दिया जाए। बम्बई सरकार की ओर से यह तर्क भी उपस्थित किया गया था कि यदि बगाल को जूट के निर्यात-कर से लाभ मिलता था तो उसे भी रुई के निर्यात-कर से लाभ मिलना चाहिए। इस प्रकार मद्रास की यह भावना थी कि उसे अधिक मिलना चाहिए था, क्योकि यदि जनसख्या को ही आधार बनाया जाए तो उसे २० प्रतिशत के स्थान पर आय-कर का लगभग २४ प्रतिशत मिलना चाहिए था। मद्रास सरकार ने अपनी तुलना बगाल-जैसे प्रान्तो से की जिसने अपनी आय-व्यय का सतुलन करने की तनिक भी चिन्ता नही की थी और यह शिकायत की कि बम्बई को आय-कर का बहुत बडा भाग दिया गया है। बिहार ने अपने को सबसे अधिक निर्धन प्रान्त कहकर अधिक सहायता की माँग उपस्थित की और यह इच्छा प्रकट की कि बटवारे का आधार यदि जनसख्या होता तो अधिक अच्छा होता। पजाब की यह शिकायत थी कि उसके उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त से पृथक किये जाने को बहुत

पुरानी बात को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है और बेकार ही यह धारणा बना ली गई कि यदि सीमाप्रान्त अलग न किया गया होता तो उसके ऊपर वह एक बहुत भारी बोझ के रूप मे होता।

प्रान्तो की कुछ शिकायते अवश्य उचित थी और उनका उपचार सम्भव था, पर ऐसा असम्भव था कि उनके कारण पुनर्विलोकन आवश्यक सिद्ध कर दिया जा सकता। एक प्रकार के तर्क के समक्ष दूसरे बराबर के युक्तिपूर्ण तर्क उपस्थित करना तो सरल था। यह स्मरण रखना चाहिए कि एक दल को अधिक दे देने का अर्थ दूसरे को कम देना था, चाहे वह केन्द्र हो या अन्य प्रान्त हो और यह सम्भव था कि केन्द्र की आवश्यकता अधिक तीव्र हो अथवा वह राष्ट्र की जनता के साधारण हित के लिए हो और इसलिए उसका पर्याप्त रूप से पूरा करना आवश्यक हो।

३४ केन्द्र की आवश्यकताएँ—यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रान्तो को यथेष्ट मात्रा में देश का विकास करने वाले विभागो पर व्यय करने की पर्याप्त शक्ति प्रदान की जाए, और यह भी सत्य है कि केन्द्रीय सरकार की आवश्यकताएँ तुलनात्मक दृष्टि से स्थायी है, इसलिए उसके आय के साधन भी स्थायी होने चाहिएँ। सर ऑटो निमेयर का यह विचार बिलकुल सत्य था कि केन्द्रीय सरकार का अर्थ-प्रबन्ध स्थायी और पर्याप्त होना एक मूल आवश्यकता थी। अखिल भारतीय कार्यों पर व्यय करने के लिए केन्द्र के पास पर्याप्त धन होना चाहिए जैसे देश की साख बनाए रखना, बाह्य देशो के आक्रमण से अपने देश की रक्षा करना और आन्तरिक अशान्ति को शान्त करना, इत्यादि। इस बात पर भी ज़ोर दिया गया था कि बिना केन्द्रीय सरकार की समृद्धि पर दृढ विश्वास हुए भारतीय रियासतें संघ की सदस्य बनने मे आनाकानी करेंगी, और चूँकि नई व्यवस्था मे केन्द्रीय सरकार को थोडा-सा अतिरिक्त व्यय करना पड़ेगा, जैसे संघीय न्यायालय की स्थापना के सम्बन्ध मे, और चूँकि उसके कुछ स्रोत अब उतने विश्वसनीय नही रहे जितने वे पहले थे।[1]

सर ऑटो की योजना की सफलता विशेषकर उस भाग की, जिसका सम्बन्ध आय-कर के केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो के बीच बटवारे से था, रेल-विभाग के सन्तोषपूर्ण ढग से काम करने पर निर्भर थी। प्रान्तीय सरकारो को अपने ही हित के लिए भारत सरकार के साथ रेलवे की समृद्धि को पुन स्थापित करने के लिए तथा उनको पुन देश की आय के प्रति पर्याप्त मात्रा मे अशदान देने योग्य बनाने के लिए सहयोग करना चाहिए था। इसके लिए प्रान्तीय सडक नीति को नियमित करना आवश्यक था, ताकि सडके रेलो के साथ प्रतिस्पर्धा करने के बजाय रेलो की सहायता करें। इस सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार द्वारा रेल-विभाग के व्यय का भी आद्योपान्त सुधार होना अत्यावश्यक था और विभिन्न प्रकार के यातायात के साधनो का सामजस्य भी जरूरी था। १९३७ ३८ मे रेल-विभाग की आय मे अनिरेक होने से, रेल-विभाग

१. सरक्षण की नीति के कारण निरात-आय-कर से कम आय होने की सम्भावना थी और आयात व्यापार पर युद्ध का बहुत बुरा प्रभाव पडा था और रेल की आय की कोई निश्चितता नहीं थी।

की देयता का अन्त होने से और केन्द्राय सरकार की आय मे वृद्धि होने से निमेयर परिनिर्णय के अन्तर्गत यह सम्भव न हो सका कि प्रान्तो को आय-कर का निर्णीत भाग १९३७-३८ के आर्थिक वर्ष से देना आरम्भ किया जा सके।

३५ प्रान्तों को आय-कर का भाग अभिहस्तांकित करने मे निमेयर-सूत्र मे संशोधन—फरवरी, १९४० मे आय-कर मे से प्रान्तो को उनका भाग देने के सम्बन्ध मे निमेयर के सूत्रों मे ससद ने सशोधन कर दिया। कौन्सिल की सशोधित आज्ञा के अन्तर्गत (जो १ अप्रैल, १९३९ से लागू हुई है) रेल-विभाग का अशदान पूर्ण रूप से केन्द्रीय धन-राशि की गणना से, जोकि प्रान्तो को बाँटने के लिए प्राप्त थी, अलग कर दिया गया और केन्द्र का भाग बाँटी जाने वाली धनराशि मे पिछले तीन वर्ष के औसत पर नियत कर दिया गया, अर्थात् ४½ करोड रुपया १९३९-४०, १९४०-४१, १९४१-४२ के लिए था, बाकी रुपया प्रान्तो के बीच बाँट दिया गया। बाद के सशोधनो के साथ यही व्यवस्था १९४२-४३, १९४३-४४, १९४४-४५ मे लागू रही। प्रान्तो के भाग मे से जितना केन्द्र को अपने पास रखना था वह घटाकर १९४५-४६ मे ३ ७५ करोड रु० और १९४७-४८ में ३ करोड रु० कर दिया गया। इस परिवर्तन का औचित्य युद्ध के कारण आर्थिक परिस्थितियो मे हुआ परिवर्तन था, जिसके फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार को व्यय का बहुत अधिक भार उठाना पडा था और जिसने निरा-काम्य कर की आय मे बहुत कमी कर दी थी।

३६ देशमुख परिनिर्णय—भारत के बँटवारे के कारण पहले के बगाल, पजाब और आसाम प्रान्त के अश पाकिस्तान मे चले गए। इसलिए यह निश्चित करना आवश्यक हो गया कि इन प्रान्तों के कुछ अश के पाकिस्तान मे चले जाने के कारण उनके लिए निश्चित आय के अश मे से कितना वापस ले लिया जाए और भारतीय सघ के राज्यो मे वह पुन किस प्रकार बाँटा जाए। नये विधान की धारा २७ के अन्तर्गत जूट निर्यात-कर की आय मे भाग पाने वाले प्रान्तो के लिए अनुदान निश्चित करने का प्रश्न भी हल करना आवश्यक था। ये दोनो जाँच और सिफारिश के लिए नवम्बर, १९४९ मे श्री चिन्तामणि देशमुख को सौंप दिये गए।[1] श्री देशमुख का परिनिर्णय, जो भारत सरकार के पास जनवरी, १९५० तक भेजा गया, १ अप्रैल, १९५० से लागू हुआ।

निमेयर-परिनिर्णय के अन्तर्गत आय-कर के बाँटे जाने वाले भाग के बँटवारे का प्रतिशत अनुपात ऊपर दिया जा चुका है। पाकिस्तान में चले गए प्रान्त के भागो के प्रतिशत की गणना करने में श्री देशमुख ने इस समस्या को हल करने मे यह जानने का प्रयत्न किया कि पाकिस्तान मे चले गए भागो को अलग प्रान्त मान लेने पर इनके समान क्षेत्रफल और वित्तीय स्थिति वाले प्रान्तो की तुलना मे निमेयर इनके लिए कितना भाग निश्चित करते।

जूट के निर्यात-कर के सम्बन्ध मे देशमुख-परिनिर्णय के अन्तर्गत सहायक

---

१. पहले रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के गवर्नर थे और १९५० में भारत सरकार के वित्तमंत्री थे।

अनुदान (ग्रान्ट्स इन-एड) लाख रुपयो मे निम्न प्रकार है—पश्चिमी बंगाल १०५, आसाम ४०, बिहार ३५ और उडीसा ५। यह परिनिर्णय वित्त आयोग की रिपोर्ट प्राप्त होने तक लागू रहने को था जिसे २२ नवम्बर, १९५१ को सविधान की धारा १८० (१) के अन्तर्गत राष्ट्रपति ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता मे नियुक्त किया। इस आयोग की नियुक्ति कुछ करो की आय का केन्द्र और राज्यो के बीच वितरण, राज्यो को सहायक अनुदान तथा केन्द्र और राज्यो के बीच धारा २७८ (१) के अन्तर्गत किये गए समझौतो आदि के सम्बन्ध मे सिफारिश करने के लिए की गई थी। आयोग ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट ३१ दिसम्बर, १९५२ को प्रस्तुत की। इस आयोग ने वर्तमान परिस्थितियो मे राज्यो की आय निश्चित करने के लिए जनसख्या को आधार बनाया और आय-कर की विभाज्य राशि मे से २०% राज्यो की सापेक्षिक वसूली के आधार पर और ८०% (१९५१ की जनगणना) सापेक्षिक जनसख्या के आधार पर बाँटने की सिफारिश की।

जूट निर्यात-कर—देशमुख-परिनिर्णय के अनुसार पश्चिमी बगाल, आसाम, बिहार और उडीसा को जूट निर्यात-कर के स्थान पर सहायक अनुदान दिये जाते परन्तु ये राज्य इन अनुदानो से सन्तुष्ट नही थे और अधिक की माँग करते थे। इस सम्बन्ध मे वित्त-आयोग ने निम्न अनुदानो की सिफारिश की—

(लाख रु० मे)

राज्य	देशमुख-परिनिर्णय के अन्तर्गत दी जाने वाली रकम	वित्त-आयोग द्वारा प्रस्तावित रकम
पश्चिमी बगाल	१०५	१५०
आसाम	५०	७५
बिहार	३५	७५
उडीसा	५	१५

सघीय उत्पाद-कर—इन करो की बढती हुई आय के कारण राज्य की सरकारो ने इनमे भाग माँगना शुरू कर दिया। राज्यो ने वित्त आयोग से इस आय मे से भाग देने की माँग की। आयोग ने कुछ वस्तुओ के उत्पाद-कर को वितरित करने का निश्चय किया।

सरकार ने इन सिफारिशो को स्वीकार कर लिया और मार्च, १९५३ मे यूनियन ड्यूटीज ऑफ एक्साइज (डिस्ट्रीब्यूशन) एक्ट पास किया।

जून १९५६ मे दूसरा वित्त आयोग नियुक्त किया गया। वित्त आयोग को निम्न बातो पर रिपोर्ट प्रस्तुत करनी थी—

(१) केन्द्र और राज्यो के बीच करो का विभाजन,

(२) राज्यो को सहायक अनुदान (ग्राण्ट इन एड) देने के नियम, तथा

(३) भारत सरकार द्वारा राज्यो को दिये गए ऋण की व्याज-दर और

अदायगी में यदि अपेक्षित हो तो, परिवर्तन ।

वित्त आयोग का मत यह था कि आय-कर में राज्यों को दे दिया जाने वाला भाग जनसंख्या के आधार पर होना चाहिए, न कि कर की वसूली के आधार पर। वितरण के सिद्धान्त के रूप में कर की वसूली को उन्होंने धीरे-धीरे दूर करने की सिफारिश की और यह प्रस्ताव किया कि राज्यों के भाग का वितरण १० प्रतिशत कर की वसूली और ६० प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर किया जाए।

प्रथम वित्त आयोग ने तम्बाकू (निर्मित तम्बाकू सम्मिलित है), दियासलाई, वनस्पति पदार्थ (वेजीटेबिल प्रोडक्ट्स) पर लगे उत्पाद-कर की ४० प्रतिशत आय को वितरित करने की सिफारिश की थी। द्वितीय वित्त आयोग ने इस सूची में चीनी, चाय, कहवा, कागज तथा वेजीटेबिल तेल के उत्पाद-करों को जोड़ दिया, किन्तु वितरित करने के लिए प्रतिशत घटाकर २५ कर दिया।

द्वितीय वित्त आयोग की अन्य महत्त्वपूर्ण सिफारिश उत्तराधिकार कर (एस्टेट ड्यूटी) के सम्बन्ध में है। इससे पूर्व इस मद से प्राप्त आय राज्यों के बीच आय कर के अनुपात में ही बाँटी जाती थी। द्वितीय आयोग की सिफारिश थी कि इस आय का एक प्रतिशत संघीय क्षेत्रों के लिए अलग कर देने के बाद शेष राशि अचल तथा अन्य सम्पत्ति के कुल मूल्य (ग्रॉस वेल्यू) के अनुपात में बाँट दी जाए। तदनन्तर अचल सम्पत्ति की राशि प्रान्तों में स्थित अचल सम्पत्ति के अनुपात में बाँट दी जाए तथा अन्य सम्पत्ति की आय जनसंख्या के आधार पर बाँट दी जाए।

सहायक अनुदानों के सम्बन्ध में आयोग ने सिफारिश की कि अनुदान के लिए राज्य की उपयुक्तता का निर्णय विस्तृत अर्थ में वित्तीय आवश्यकता के आधार पर किया जाना चाहिए जो योजना की प्राथमिकताओं और व्यवस्था के अनुरूप हो। दूसरे राज्य की आय और व्यय के अन्तर के करों में भाग प्राप्त करके ही पूरा करना चाहिए तथा सहायक अनुदान को अवशिष्ट (रेजीडुअरी) सहायता के रूप में सामान्य और बिना शर्त के अनुदान के रूप में होना चाहिए। वृहद् उद्देश्यों के लिए भी सहायक अनुदान दिये जाएँ, किन्तु उनका व्यय उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होना चाहिए।

सरकार ने राज्यों को दिये गए ऋण के सम्बन्ध में की गई सिफारिशों को छोड़कर शेष सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया।

इस आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप केन्द्रीय करों में प्रान्तीय भाग दून से भी अधिक हो गया। १९५६-५७ में केन्द्रीय कर आय से राज्यों को प्राप्त हुई आय कुल ७९ ४ करोड़ रु० थी। १९५८ ५९ १९५९-६०, १९६०-६१ (संशोधित अनुमान) में यह क्रमशः १६२ १ करोड़ रु०, १६६ ६ करोड़ रु० तथा १७८ ८ करोड़ रु० थी। १९६१-६२ (बजट अनुमान) में यह १६० ०० करोड़ रु० होगी।

इस समय तीसरा वित्त आयोग, जिसे राष्ट्रपति ने २ दिसम्बर, १९६० को नियुक्त किया था, कार्यशील है तथा निकट भविष्य में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा। आयोग को निम्न विषयों के सम्बन्ध में सिफारिशें प्रस्तुत करनी हैं—

(क) संघ और राज्यों के बीच में केन्द्रीय करों की वास्तविक आय का वितरण।

(ख) केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले सहायक अनुदान (ग्राण्ट इन एड) को निश्चित करने के नियम।

इनके अतिरिक्त राष्ट्रपति ने निम्न विषयों पर भी आयोग से सुझाव देने के लिए कहा है—

(१) तृतीय योजना का आवश्यकताओं के लिए राज्यों को धारा (आर्टिकिल) २७५ के अन्तर्गत दिये जाने वाले सहायक अनुदान तथा राज्यों द्वारा उपलब्ध साधनों से अतिरिक्त आय की प्राप्ति।

(२) धारा २६६ के अन्तर्गत कृषि-भूमि के अलावा अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकार-कर (एस्टेट ड्यूटी) की वास्तविक आय को किसी वित्तीय वर्ष में राज्यों के बीच वितरित करने से सम्बन्धित नियमों में परिवर्तन।

(३) धारा २६९ के अन्तर्गत रेल के किराये पर लगे करों से प्राप्त आय के वितरण-सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन।

(४) निम्न वस्तुओं पर लगे अतिरिक्त उत्पाद-कर से प्राप्त आय के वितरण-सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन—(१) सूती वस्त्र, (२) रेशम या कृत्रिम रेशम के वस्त्र, (३) ऊनी वस्त्र, (४) चीनी और (५) तम्बाकू, जिसमें निर्मित तम्बाकू भी सम्मिलित है।

मई १९६४ में डॉक्टर पी० वी० राजामनार मद्रास के हाईकोर्ट के मुख्य सेवा से मुक्त न्यायाधीश की अध्यक्षता में एक चौथा वित्त कमीशन नियुक्त किया गया। इसकी सिफारिशें १९६६-६७ से लेकर १९७०-७१ तक लागू रहेंगी और केन्द्रीय तथा राज्यों में वित्त वितरण पर प्रभाव डालेंगी।

३७ वर्तमान प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्ध—प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के आरम्भ होने के बाद से प्रान्तीय सरकारों की आय और उनके व्यय दोनों में ही बहुत काफी वृद्धि हुई है—विशेषकर द्वितीय युद्ध के बाद। आय में वृद्धि कृषि की उत्पत्ति के मूल्य में वृद्धि, प्रान्तीय आय के साधनों, जैसे जंगल के उत्तरोत्तर प्रयोग, अनेक प्रान्तों में अतिरिक्त अथवा नये करों के आरोपण, जो मुद्रा-प्रसार के प्रभाव को रोकने के लिए थे, और केन्द्र के पास एकत्रित आय-कर से प्रान्तों के भाग में प्रतिवर्ष वृद्धि के कारण हुई थी।

व्यय के अन्तर्गत वृद्धि पुलिस और नागरिक रक्षा के उपायों के कारण अतिरिक्त प्रार्थिक भार, मँहगाई तथा अन्य अधिदेयों, खाद्य सामग्री पर विनियोग पूर्ति तथा वितरण सम्बन्धी योजनाओं, कुछ प्रान्तों द्वारा अपने ऋण के भार को कम करने के लिए केन्द्र को धन देने, राष्ट्र विकास की योजनाओं पर अधिक व्यय करने और अधिकतर प्रान्तों द्वारा युद्ध के पश्चात् पुनर्निर्माण कार्यों पर व्यय करने के लिए धन पृथक् करने आदि कारणों से हुई थी।

दूसरी विशेषता युद्ध-काल के प्रत्येक वर्ष में आय का अतिरेक होना था, जोकि

केन्द्र के बडे घाटों के बजट में नितान्त विपरीत रक्षा पर अधिक व्यय के कारण था।[1]

प्रान्तीय कर व्यवस्था में कृषि-आय पर कर उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। अनेक प्रान्तों, जैसे पश्चिमी बगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार, आसाम, उडीसा आदि, ने पहले से ही यह कर लगा रखा है और दूसरे प्रान्त लगाने की बात सोच रहे है।

१९५१-५२ मे नियोजन-युग के सूत्रपात के पश्चात् प्रान्तीय आय-व्यय में बहुत वृद्धि हुई है। इसका कारण, जैसा पहले भी कहा जा चुका है, विकास-कार्यों के लिए सेवाओं की स्थापना और प्रसार है। इसके अतिरिक्त आर्थिक प्रगति के लिए अपेक्षित विनियोग के फलस्वरूप पूँजी व्यय भी बहुत बढ गया है। १९५८-५९ (एकाउण्ट्स) मे भारत के सभी राज्यो के पूँजी-बजट सम्मिलित करने पर १२,९६ लाख रु० का घाटा था। १९५९-६० (सशोधित अनुमान) मे यह ३६,३८ लाख रु० था तथा १९६०-६१ के बजट मे १२,७७ लाख रु० था। आय के मद मे इन्हीं वर्षों में ४८,३१ लाख रु०, २३,४७ लाख रु० तथा ५६८ लाख रु० की बचत थी।

रेल-वित्त

३८ सेपेरेशन कान्वेंशन के अन्तर्गत रेल विभाग के आर्थिक परिणाम—१९२४ के सेपरेशन कान्वेंशन के अन्तर्गत रेल-विभाग के कार्यों के आर्थिक परिणामो का साराश निम्न प्रकार दिया जा सकता है—१९२४-२५ से १९३५-३६ तक के काल पर विचार करने से यह पता लगता है कि प्रथम ६ वर्ष उत्कर्ष के वर्ष थे और अन्तिम ६ वर्ष अपकर्ष के। यदि पूरे काल को लिया जाए तो पहले ६ वर्षों मे कुल अतिरेक आय जो अर्जित की गई वह ५२,६४ लाख रुपये थी और पिछले ६ वर्षों की कमी ११६३ लाख रुपयो की थी। इस बदलते हुए भाग्य की लबी अवधि मे ११०१ लाख रुपये का वास्तविक अतिरेक हुआ, अर्थात् नित्य-प्रति के कार्यों का व्यय काटकर, अवक्षयण की व्यवस्था करके और ऋण ली हुई पूंजी पर पूरा-पूरा ब्याज देकर प्रतिवर्ष १ करोड रुपये से कुछ कम का अतिरेक हुआ।

१९३० ३१ के वर्ष से घाटे का युग आरभ हुआ, जो कि मुख्यत विश्वव्यापी आर्थिक अवसाद, वस्तुओ के मूल्य मे कमी, गेहूँ के निर्यात मे कमी राजनीतिक स्थिति मे अशान्ति, बाढ और भूकपो से पहुँचाई हुई हानि, सडको की तीव्र प्रतिस्पर्धा[2], नदी और समुद्र की बढ़ी हुई प्रतियोगिता, मजदूरी मे वृद्धि के कारण नित्य-प्रति के कार्यों के खर्च मे वृद्धि आदि के कारण था। ससार के समस्त देशो की, जिनमे से अधिकाश शान्तिकाल से हमारे सर्वोत्तम ग्राहक थे, प्रशुल्क-पद्धति ने रेल की आय की शक्ति पर बुरा प्रभाव डाला।

---

१ बगाल, जिसके बजट में १९४३-४४ व १९४४-४५ में बहुत बडी कमी हो गई थी, एक अपवाद था।

२. वेजवुड इन्क्वायरी कमेटी (१९३७) के अनुमान से सडक यातायात द्वारा रेलवे को ४½ करोड प्रतिवर्ष का घाटा रहा—रिपोर्ट, पैरा १६६।

इन लगातार होने वाले घाटो के कारण १९३१-३२ के बाद देश की सामान्य आय के प्रति रेलवे कोई भी अशदान न कर सकी। सेपेरेशन कान्वेंशन के अन्तर्गत एकत्रित किया हुआ अशदान का बकाया १९३१-३२ से लगाकर १९३६-३७ तक ३०.७४ करोड रुपये हो गया था। १९३९-४० के अन्त तक यह सख्या बढकर ३६¼ करोड रुपये हो गई थी। इस काल मे रेल-विभाग ने यही नही कि अपना सामान्य-कोष कम कर दिया हो, वरन् अवक्षयण कोष से भी उन्होने ३१.३४ करोड रुपया ऋण पर ब्याज अदा करने के लिए उधार ले लिया। यह नितात असभव था कि लगभग ६२ करोड रुपये की इतनी बडी देयता भविष्य मे होने वाले अतिरेक से थोडे-से नये हुए समय के अन्दर अदा की जा सके। इसी बीच नये विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन के प्रचलित हो जाने के साथ-ही-साथ और अधिक आय के साधनो की प्राप्ति के लिए जोर लगाया जा रहा था। चूँकि वर्तमान सेपेरेशन कान्वेंशन के अन्तर्गत अवक्षयण कोष से लिये हुए ऋण भविष्य के अतिरेक पर सबसे प्रथम अधिकार समझे जाते थे और उसके पश्चात् सामान्य आय की देयता भी पूरी करती थी। इसलिए सामान्य आय को रेल से अशदान पाने के लिए बहुत काफी प्रतीक्षा करनी आवश्यक थी। इससे बचने का उपाय देयता पूरी करने के लिए १९३७ से तीन वर्ष के विलम्ब-काल मे निहित था।[1] इस विलम्ब-काल के कारण यह सम्भव हो सका कि ब्याज देने के बाद रेल-विभाग की वास्तविक आय के अतिरेक की, जो १९३६-३७ से दिखाई पडने लगा था, व्यवस्था की जा सके, ताकि ६२ करोड रुपये का भारी ऋण पूरा किये बिना ही सामान्य आय मे अशदान देना तुरन्त आरम्भ किया जा सके। इससे केन्द्रीय सरकार को भी १९३७-३८, १९३८-३९ और १९३९-४० मे निमेयर परिनिर्णय के अन्तर्गत आय-कर की प्राप्ति को सीमित मात्रा मे प्रान्तो को हस्तांकित करने का अवसर प्राप्त हुआ।

१९३८-३९ मे प्राप्त अतिरेक १.३७ करोड रुपये का था, परन्तु १९३९-४० मे वह बढकर ४.३३ करोड रु० हो गया। वर्ष के आरम्भ मे अनिश्चित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति के कारण कुछ वस्तुओं की लोगो ने राशि एकत्रित कर ली और यात्रियो की सख्या तथा भेजे जाने वाले माल से प्राप्त आय मे कमी आ गई। युद्ध की घोषणा के पश्चात् परिवर्तन हुआ, विशेषकर भेजे जाने वाले माल से प्राप्त आय में और बाद मे यात्रियो से भी, क्योकि लोगो की आरम्भ मे ही आर्थिक स्थिति कुछ सुधर गई थी। समुद्र-मार्ग से हटकर रेल मार्ग से यात्रा बढ जाने के कारण भी रेल की आर्थिक स्थिति मे उन्नति हुई, जैसा कि १ मार्च, १९४० से किराया और शुल्क बढने से हुआ था।

१९४५-४६ के हिसाब मे ३८.२० करोड रुपये का लाभ दिखाई पडा। १९४३ के निर्णय के अनुसार, जिसमे सामान्य आय मे ३२ करोड रुपये का अशदान दोनो वर्षो के लिए (१९४४-४५ और १९४५-४६) निश्चित किया गया था, ३२ करोड रुपया

१. बाद में यह काल ३१ मार्च १९४२ तक बढा दिया गया।

सामान्य आय मे जमा कर दिया गया और ६·२० करोड की बेची हुई रकम रेलवे रक्षित कोष मे जमा कर दी गई, जिससे उस कोष मे अब कुल ३८ १३ करोड रुपया इकट्ठा हो गया। १९४६-४७ के पुनरीक्षित आगणन के अनुसार अतिरेक ८·६४ करोड रुपये का आंका गया था। पिछले वर्ष के समझौते के अनुसार, जिसमे १९४६-४७ मे रेल-विभाग के सामान्य आय के अशदान को उतनी रकम पर निश्चित कर दिया था जितनी कि बराबर होनी है, व्यापारिक ढंग पर पूंजी के ऊपर लगाई हुई १ प्रतिशत रकम के, जिसमे से सैनिक महत्व रखने वाली रेलो पर घाटा निकाल दिया जाए और जिसमे ३ करोड रुपया सुधार-कोष (जो १९४६ मे कायम हुआ, जिसमे प्रारम्भ मे ही १२ करोड रुपया रेलवे रक्षित कोष से यात्रियो और कर्मचारियो को सुविधा देने के लिए निकाल लिया गया था) मे जमा कर देने के बाद जितना बचे उसका आधा जोड दिया जाए, बाद को सामान्य आय मे ५ ६१ करोड रुपये के दिये जाने की सम्भावना थी। बटवारे के फलस्वरूप भारतीय सघ को कुल ३१,८६५ मील रेल की लाइन ६७८ करोड रुपये की पूंजी के साथ तथा अवक्षयण-कोष ९३ २२ करोड रुपया, रेलवे-रक्षित कोष ७ ९८ करोड रुपया और सुधार-कोष ११ ७१ करोड रुपया प्राप्त हुआ।

बहुत बडी मात्रा मे प्रतिस्थापन के बकाया और मूल्यो के बढ जाने से प्रतिस्थापन के व्यय मे वृद्धि होने के कारण भारतीय रेलवे जाँच कमेटी (कुजरू कमेटी) ने पांच वर्ष तक २२ करोड रुपये के वार्षिक अशदान का प्रस्ताव किया है। १९४९ ५० के पुनरीक्षित आगणन के अनुसार ११ ०२ करोड रुपये का अतिरेक था, जिसमे से ७ करोड रु० सामान्य आय मे जमा किया गया और ४ ०२ करोड रु० अवक्षयण कोष मे।

१९२४ का कान्वेन्शन १ अप्रैल, १९४३ से रद्द हो गया—मार्च, १९४३ मे विधानसभा द्वारा स्वीकृत प्रस्तावानुसार अवक्षयण-कोष का बकाया ऋण धन के पश्चात् १९४३-४४ मे व्यापारिक रेलो से लाभ सामान्य आय के साथ ३ १ के अनुपात मे बाँटा जाने वाला था। इसके अतिरिक्त व्यापारिक रेलो पर अतिरेक सामान्य आय और रेलवे-रक्षित कोष के बीच दोनो की आवश्यकतानुसार बाँट जाने वाले थे।

१९४९ मे बिठाई गई कान्वेन्शन कमेटी ने १९२४ के जटिल सूत्र को अस्वीकृत कर दिया और दूसरी सरल तथा काम मे लाई जाने योग्य व्यवस्था को अपनाया, जिसके अन्तर्गत सामान्य आय मे ४% का लाभांश प्रयुक्त पूंजी पर (केपिटल एट चार्ज) दिया जाता। १९५०-५१ मे ३१ ८५ करोड[1] रुपये की बजट मे व्यवस्था की गई। १९५०-५१ मे आय के अतिरेक की गणना १४ ०१ करोड रुपये की की गई (आय २३३ ५० करोड रु०, व्यय २१८ ४९ करोड रु०)।

---

१. इसमें २ ५७ करोड रुपया सम्मिलित है, जो लगभग ६५०० मील दूर तक फैली हुई १० रियासतों की रेलों के लिए था और जो १ अप्रैल, १९५० से केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत आ गई थीं।

नवम्बर, १९५४ मे रेलवे कान्वेन्शन कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह कमेटी दिसम्बर, १९४९ के कान्वेन्शन प्रस्ताव के अनुसार, मई १९५४ मे बिठाई गई थी। अन्य बातो के साथ इस कमेटी के परीक्षा के विषय निम्न थे—

(१) रेलवे द्वारा सामान्य आय को दिया जाने वाला लाभाश,
(२) पूंजी और आय के खाते मे रेलवे व्यय का विवरण, और
(३) तीनो रेलवे कोष—अवक्षयण सुरक्षित कोष, विकास-कोष तथा सुरक्षित आय-कोष—को दी जाने वाली रकम।

कमेटी ने भी १९५५-५६ से ५ वर्ष तक ४% के लाभाश की सिफारिश की। अवक्षयण सुरक्षित कोष को दी जाने वाली रकम ३० करोड से बढाकर ३५ करोड रुपये करने की सिफारिश भी की गई।

रेलवे व्यय तथा अशदान

(करोडो मे)

	प्रथम योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना
योजना अनुसार रेलवे पर व्यय	४२३ २३	१,०४३ ६९	१,५८१ ००
रेलवे का अशदान योजनाओ मे	२८० ००	४६५'००	५३१ ००
विदेशी मुद्रा का रेलवे योजनाओ मे भाग		३१९ ४५	२८३ ५०

स्थानीय वित्त

३९ स्थानीय (गाँव-सम्बन्धी) बोर्ड—चूंकि भारत के अधिकाश लोग गाँवो मे निवास करते हैं, इसलिए नगर-पालिकाओ की तुलना मे, जो सख्या मे बहुत कम जनसख्या की सेवा करती हैं, जिला और उपजिला-बोर्डों की महत्ता बहुत अधिक है। किसी समय मे भूमि पर प्रान्तीय शुल्क अथवा अधिकर केन्द्रीय सरकार के बजट के मुख्य अग हुआ करते थे। आज वे स्थानीय और जिला बोर्डों की आय के मुख्य अंग हो गए हैं। ये आरम्भ-काल मे बम्बई और मद्रास मे १८६५ और १८६९ के बीच शुरू किये गए थे और सडको के निर्माण तथा मरम्मत के लिए, स्कूलो और अस्पतालो को चलाने के लिए, गाँव की सफाई के लिए तथा अन्य स्थानीय खर्चों के लिए भूमि पर लगाये गए थे। इस सिद्धान्त का लार्ड मेयो की विकेन्द्रीकरण-योजना के अनुसार प्रसार किया गया था। इसी प्रकार के उपकर बगाल, उत्तर प्रदेश और पजाब मे लगाए जाने के लिए अनेक विधेयक पास किये गए। पजाब और अवध मे सडको, स्कूलो और जिलो के डाकखानो के लिए मालगुजारी का बन्दोबस्त होते समय निर्धारित उपकर, नये सामान्य उपकर के साथ-साथ जारी रहे। ऐसे ही बन्दोबस्तीय उपकर मध्य प्रदेश, बर्मा और आसाम मे लगाये गए, पर बाद मे उनका स्थान

सामान्य उपकर न ले लिया। १८७१ और १९०५ के बीच कुछ उपकर केन्द्रीय आवश्यकताओं के लिए लगाये गए। अकाल-बीमा-कोष १८७८ में आरम्भ हुआ, जिसमें कुछ प्रान्तों में अन्य गाँवों के कर्मचारियों को देने के लिए प्रान्तीय उपकर भी जोड दिये गए। भारत सरकार की आर्थिक स्थिति की उन्नति के कारण १९०५-६ में उन उपकरों को छोडकर, जो स्थानीय आवश्यकताओं के लिए लगाये गए थे, और सब उपकर हटा दिये गए। इस सुधार का प्रभाव किसी-किसी स्थान पर आरोपित उपकरों की मात्रा में कमी करने का नहीं था, वरन् धन-राशि का प्रान्तों से स्थानीय आवश्यकताओं के लिए स्थानान्तरित करना था। प्रान्तीय सरकारों का यह घाटा केन्द्रीय सरकार ने पूरा किया। हाल में कुछ प्रान्तों में उपकरों की दर में वृद्धि करने अथवा जैसा मद्रास ने किया है विशेष कार्यों, जैसे प्रारम्भिक शिक्षा आदि, के लिए नये अतिरिक्त उपकर लगाने की प्रवृत्ति दिखाई पड रही है। भूमि पर लगाये हुए इन स्थानीय उपकरों का आधार मालगुजारी की प्रथा के अनुसार बदलता रहता है। भूमि पर उपकर यद्यपि कर देने की शक्ति के अनुपात में नहीं लगाया गया है, क्योंकि इसका आरोप समान रूप से एक ही दर पर होता है, फिर भी प्रत्येक स्थान पर इसे उचित कर मानते है, क्योंकि इसका प्रयोग सम्पत्ति के लाभ के लिए किया जाता है, जिन्हें स्थानीय बोर्डों के कार्यों से लाभ पहुँचता है।

४०. नगरपालिका-वित्त—नगरपालिकाओं की आय के मुख्य स्रोत कर और शुल्क हैं, जिनसे लगभग ⅔ आय प्राप्त होती है। बची हुई ⅓ आय नगरपालिका की सम्पत्ति और प्रान्तीय सरकारों की आय के अंशदान तथा अन्य साधनों से प्राप्त होती है। स्थानीय अधिकारियों द्वारा आरोपित कर चार वर्गों में बाँटे जा सकते है—(१) व्यापार पर कर, जैसे चुंगी, सीमा-मार्ग शुल्क, (२) सम्पत्ति पर कर, जैसे घरों तथा उनकी स्थिति पर कर, (गाँवों में भूमि पर उपकर), (३) व्यक्तियों पर कर, जैसे परिस्थिति, व्यवसाय, व्यापार, पेशा, धार्मिक यात्री, घरेलू नौकर-चाकर आदि, (४) फीस और लाइसेन्स। फीस म्युनिसिपैलिटी द्वारा की गई किसी विशेष सेवा, जैसे सफाई, के लिए वसूल की जाती है अथवा विलासिता पर कर के रूप में वसूल की जाती है, या कभी-कभी नियमित करने के लिए भी लगाई जाती है, जैसे गाने पर लाइसेन्स, गाडियों पर, कुत्तों और अन्य पशुओं पर। अप्रिय और खतरनाक व्यापारों पर भी लाइसेन्स फीस लगाई जाती है। टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी ने इस बात का संकेत किया था कि परोक्ष-करों के सम्बन्ध में विशेष रूप से जागरूक रहने की आवश्यकता है, जैसे व्यापार पर कर, जो चुंगी का रूप धारण करता है और सीमा-मार्ग शुल्क जिससे अन्तर्प्रान्तीय आवागमन में अनावश्यक बाधा पडती है। चुंगी और मार्ग शुल्क पर, जो कि करारोप के सभी सिद्धान्तों के विरुद्ध है, विशेष आपत्ति की गई थी और उनके स्थान पर फुटकर बिक्री अथवा पशुओं पर कर लगाए जाने की राय दी गई थी। कमेटी ने दूसरा महत्त्वपूर्ण सुझाव नगर की सम्पत्ति पर ऊँची दर से कर लगाने का दिया, क्योंकि उन्हें नगरपालिका के कार्यों से विशेष लाभ पहुँचता है। जो-कुछ भी हो, कर निर्धारित करने और वसूल करने के यन्त्र को आज की

अपेक्षा और अधिक कुशल होने की आवश्यकता है। सबसे अधिक व्यय लोक स्वास्थ्य सुविधा तथा लोक-निर्माण और शिक्षा पर है। नगरपालिकाएँ प्रायः अपनी साधारण आय से अपना व्यय पूरा नहीं कर पाती और उन्हें प्राय सरकार अथवा जनता से रुपया उधार लेना पड़ता है, विशेषकर अपनी ऐसी बड़ी-बड़ी योजनाओं को पूरा करने के लिए, जैसे पानी का प्रबन्ध और गन्दे पानी के बहने का प्रबन्ध आदि।

४१ स्थानीय संस्थाओं के अपर्याप्त साधन—अधिकारों के धीरे-धीरे स्थानीय संस्थाओं के प्रति हुए अवक्रमण और विस्तृत कार्य, जो लार्ड मेयो के समय से और विशेषकर स्थानीय स्वशासन के चुने हुए मन्त्रियों के हाथ में आने के बाद से नगरपालिकाओं, ग्राम-बोर्डों और पंचायतों को दिये गए हैं, जैसे लोक-स्वास्थ्य और शिक्षा आदि को विचाराधीन रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इन संस्थाओं के आय के स्रोत नितान्त अपर्याप्त है। उनके लिए आधुनिक प्रशासन प्रणाली का प्रचलन उस समय तक असम्भव है जब तक कि उनकी आय की वृद्धि का उपाय न किया जाए। १९१९ और १९३५ के विधान के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं से यह आशा की जाती है कि वे उन सेवाओं का खर्च उठायेंगी जो पहले विभिन्न विभागों के सरकारी कर्मचारियों द्वारा नि शुल्क प्राप्त होती थी। प्रारम्भ के उत्साह में स्थानीय संस्थाएँ यह भूल गईं कि "सारे कार्य धन के ऊपर निर्भर हैं" और उन्होंने बड़ी महँगी शिक्षा, उपचार आदि की योजनाएँ आरम्भ कर दी जो उनकी शक्ति के बाहर थी। इस प्रकार उत्पन्न आर्थिक कठिनाई बाद में व्यय में कमी करके, अतिरिक्त कर का आरोप करके और अधिक विचारपूर्ण ढंग से साधनों का बटवारा करके दूर की गई। फिर भी यह कहा जा सकता है कि मूलत. स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक स्थिति बहुत ही अधिक असन्तोषजनक है। उनकी कठिनाइयाँ हाल में व्यय में वृद्धि के कारण और भी अधिक बढ़ गई हैं, जोकि श्रम और पूँजी के मूल्य के बढ़ जाने, वेतन के पुनरीक्षण और महँगाई भत्ता देने के कारण हुई है, जबकि उनके आय के साधन कम और लोचहीन ही बने रहे हैं।[1]

४२ साधनों के अपर्याप्त होने का कारण—बम्बई की स्थानीय स्वशासन कमेटी (१९४०) ने कहा था कि "प्रान्तीय सरकारों और स्थानीय बोर्डों के बीच आय के साधनों का बटवारा स्पष्ट रूप से नहीं हुआ है और प्रान्तीय सरकार अच्छे आय के साधनों से लाभ उठाती रही है," जो कि औचित्य के दृष्टिकोण से स्थानीय बोर्डों को मिलने चाहिए थे। स्थानीय और प्रान्तीय आय-प्राप्ति के क्षेत्रों का स्पष्ट बटवारा अत्यन्त आवश्यक है। भारत में स्थानीय संस्थाओं की निर्धनता का एक कारण यह भी रहा है कि उनका विकास धनी, अर्द्ध-स्वतन्त्र और छोटी-छोटी इकाइयों में बड़े राजनीतिक संघ के रूप से व्यवस्थित होने के बजाय अधिकारों के अवक्रमण से हुआ है। दूसरा कारण यह भी है कि स्थानीय बोर्डों का अधिकार-

---

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ दि एडमिनिस्ट्रेटिव इन्क्वायरी कमेटी, बम्बई १९४८, पृष्ठ १६६।

क्षेत्र प्राय इतना विस्तृत होता है कि उनका करदाताओं से कोई प्रभावशाली सम्बन्ध ही नही रह पाता। यदि ऐसा न हुआ होता तो गाँवो, घरो और व्यक्तियो पर स्थानीय बोर्डो द्वारा कर आरोप बडा सरल होता। इस दृष्टिकोण से गाँव-पचायतो के प्रभाव को फिर से स्थापित करना तथा वर्तमान स्थानीय बार्डों के कर्तव्यो को सीमित कर देना वाछनीय होगा।

४३ **साधनों की उन्नति**—यद्यपि विकेन्द्रीकरण आयोग के प्रस्तावो तथा १९१९ के सुधारो के प्रचलित होने से स्थानीय अधिकारियो कोब हुत अधिक आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है, फिर भी जहाँ तक आरोपित करो की प्रकृति से सम्बन्ध है, इसके सिवाय और कुछ नही हुआ है कि वे कर, जो बिना भारत सरकार की आज्ञा लिये हुए आरोपित किये जा सकते हैं, उनका स्पष्टीकरण परिगणित कर नियमो मे कर दिया गया है। टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी ने निम्न प्रस्ताव स्थानीय सस्थाओ के आय-साधनो की वृद्धि के दृष्टिकोण से किये हैं—(१) मालगुजारी का नीची दर पर प्रामाणिक कर देना, ताकि स्थानीय कर आरोप का अधिक अवसर प्राप्त हो सके, (२) प्रान्तीय सरकारो द्वारा नगरो से भूमि के वसूल किये हुए किराये और कृषि के अतिरिक्त अन्य काम मे आने वाली भूमि पर वसूल किये हुए शुल्क का एक अश स्थानीय सस्थाओ को देना, (३) नगरपालिकाओ को विज्ञापन पर कर लगाने का अधिकार देना, (४) मनोरजन तथा जुए पर कर-आरोप के क्षेत्र को बढाना और स्थानीय सस्थाओ को इस प्रकार प्राप्त हुई आय का पर्याप्त अश देना, (५) परिस्थिति और सम्पत्ति तथा पेशो पर कर लगाने की व्यवस्था को अधिक उन्नत तथा विस्तृत करना, (६) मोटरगाडियो पर आयात-कर घटाना और प्रान्तीय सरकारो को इस योग्य बनाना कि वे एक प्रान्तीय कर मार्ग-शुल्क के स्थान पर लगा सकें जो कि स्थानीय सस्थाओ को दिया जा सके, (७) चुने हुए क्षेत्रो मे स्थानीय सस्थाओ को विवाहो के रजिस्ट्रेशन पर फीस लगान का अधिकार देना, और (८) स्थानीय सस्थाओ के साधनो को आर्थिक सहायता द्वारा बढाना, जो कि साधारणतया राष्ट्रीय महत्ता की सेवाओ तक सीमित होनी चाहिए और इस प्रकार दी जानी चाहिए कि प्रान्तीय सरकार कुशलता पर ज़ोर दे सके।[1] बम्बई की स्थानीय स्वशासन कमेटी ने इनमें से अधिकाश सिफारिशो को स्वीकार किया और स्थानीय सस्थाओ के साधनो को बढाने के लिए निम्न सुझाव दिए। नगरपालिकाओ के आय के साधन निम्न प्रकार बढाए जा सकते हैं—(१) स्थायी सम्पत्ति के स्थानान्तरण पर कर लगाकर, (२) नगरपालिकाओ के अन्दर भवनो के निर्माण किये जाने वाले भूमि के टुकडो पर लगाये हुए कर का एक अश देकर, (३) विवाह, गोद लेन तथा दावतो पर कर लगाकर और (४) मनोरजन कर के एक अश को देकर तथा बिजली के अधिकार से प्राप्त आय का ५०% देकर। गाँव की स्थानीय सस्थाओ के लिए कमेटी ने निम्न सिफारिशें की थी—(१) स्थानीय धनराशि पर उपकर १ आने के स्थान पर १½ अथवा २½ आने

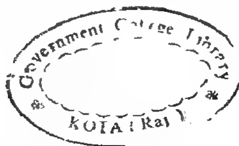
---

१. देखिए, 'टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट', पैरा १६४-६६।

करना, (२) जगल की प्रमुख उत्पत्ति से प्राप्त आय पर १? आने का उपकर लगाना और (३) मालगुजारी के १०% का हस्ताकन करना। कमेटी ने ठीक ही कहा था कि स्थानीय सस्थाओ के लिए सबसे उपयुक्त ढग करो और उपकरो को व्यक्तियो के प्रति की गई निश्चित सेवाओ पर लगाना होना चाहिए, जैसे अनिवार्य शिक्षा पर उपकर।[1]

१६४६ मे नियुक्त स्थानीय वित्त जाँच समिति ने सिफारिश की थी कि सघीय सूची के ८६वें मद मे दर्ज रेल, हवाई या पानी से जाने वाले सामान और सवारी पर लगा टर्मिनल टैक्स तथा रेल के किराये और भाडे पर लगे कर को स्थानीय सस्थाओ के लिए सुरक्षित कर देना चाहिए। इसके अलावा राज्यीय सूची की सातवी अनुसूची मे दर्ज टाल टैक्स तथा अन्य कर, जैसे अखबारी विज्ञापन के अलावा अन्य विज्ञापन पर कर, विद्युत् के उपयोग और विक्रय पर कर आदि, को स्थानीय सस्थाओ के उपयोग के लिए सुरक्षित कर देने की सिफारिश की। १६५३ मे नियुक्त कर जाँच आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि स्थानीय वित्त का ठोस आधार स्थानीय प्रत्यक्ष करारोपण ही हो सकता है। आयोग ने स्थानीय सस्थाओ को कर लगाने के सम्बन्ध मे अधिकार प्रदान करने के लिए दो कसौटियाँ रखी . (१) कर का स्थायित्व तथा (२) करारोपण और प्रशासन की क्षमता। आयोग ने राज्य सरकारो द्वारा ऋण और आर्थिक सहायता देने की भी सिफारिश की।

पश्चिमी देशो मे नगरपालिकाओ के क्षेत्र के विस्तार—भूमि की स्थायी सम्पत्ति तथा औद्योगिक और व्यापारिक क्षेत्र—मे वृद्धि हो रही है और म्युनिसिपैलिटियाँ ट्राम्बे, पानी के कारखाने, गैस और बिजली के कारखाने, कब्रिस्तान, स्नानागार, मछली मारने के स्थान, जहाजो के ठहरने के स्थान, रोटी बनाने के स्थान, रगमच, सराय, जलपान-गृह, कारखाने, चक्की और दुग्धशालाएँ इत्यादि चला रही हैं। ये सब आर्थिक कार्य प्रभावशाली रूप से केवल सेवा ही नही हैं वरन् आय के अच्छे साधन भी है। भारत मे स्थानीय वित्त के इस अग पर विशेष ध्यान नही दिया गया है और यदि स्थानीय सस्थाएँ इन साधनो के प्रयोग की सम्भावनाओ पर अपनी छोटी आय को बढाने तथा नागरिक जीवन की सुविधाओ को बढाने के लिए ध्यान दें तो बहुत अच्छा हो।



१. देखिए, 'बम्बई स्वशासन कमेटी की रिपोर्ट' (१६४०)।

अध्याय २६

बेरोज़गारी

१. अध्ययन का क्षेत्र—पाश्चात्य देशों में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न आर्थिक योजना में यत्किंचित् बेरोजगारी (वृत्तिहीनता) अनिवार्य है। १९१४-१८ के युद्ध के उपरान्त वाली मन्दी से वृत्तिहीनता की एक अभूतपूर्व परिस्थिति उत्पन्न हो गई। तत्कालीन परिस्थिति की भयकरता और अभूतपूर्वता के बावजूद यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पाश्चात्य देशों में इस प्रकार की परिस्थिति (औद्योगिक वृत्तिहीनता) बिलकुल नई नहीं थी।

भारतवर्ष में बेरोजगारी से उत्पन्न समस्याओं के कुछ ऐसे पहलू हैं जो पाश्चात्य देशों के लिए बिलकुल नये प्रतीत होंगे। प्रथमतः देश की जनता का अधिकांश अपनी रोजी के लिए कृषि पर निर्भर है। हम पहले ही देख चुके हैं कि शिथिल मौसमों में ५ से लेकर ९ महीने तक बेकारी रहती है। इस प्रकार की अनिवार्य बेकारी के लिए पूरक उद्योगों की चर्चा हो चुकी है। किन्तु बेकारी का एक और भयकर पक्ष भी है। यह परिस्थिति पूर्णत या आंशिक रूप से मानसून की विफलता का परिणाम होती है, जिससे दुर्भिक्ष उत्पन्न हो जाता है। एक विस्तृत क्षेत्र में कृषि-कार्य बन्द हो जाने से कृषि तथा उससे सम्बद्ध पूरक उद्योगों में लगे हुए श्रमिक बेकार हो जाते हैं। यह भारत में होने वाली बेकारी का सबसे भयकर पक्ष है।

उद्योगों तथा अन्य पेशों की ओर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि श्रमिक दो वर्गों में विभाजित हैं—एक तो हाथ से काम करने वाले श्रमिक, दूसरे मस्तिष्क से काम करने वाले बाबू लोग, अर्थात् तथाकथित पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय लोग। जहाँ तक प्रथम वर्ग का प्रश्न है हमारी समस्या उतनी ही जटिल नहीं है। कारखानों के बन्द होने या उनके मजदूरों की छटनी (रिट्रेंचमेण्ट) के कारण कितने ही साधारण और कुशल श्रमिक बेकार हो गए। किन्तु साधारण परिस्थितियों में यहाँ कुशल श्रमिकों की अधिकता और तज्जन्य बेकारी न होकर 'औद्योगिक श्रम' की कमी का ही अनुभव किया जाता है। इसके अतिरिक्त यदि यहाँ वृत्तिहीनता आती भी है तो उसका रूप उतना भयकर नहीं होता जितना की पाश्चात्य देशों में। कारण यह है कि बहुत-से औद्योगिक श्रमिक खेती से भी सम्बद्ध होते हैं। प्राय कारखानों का काम केवल सहायक स्थान का अधिकारी माना जाता है, जो धनुष की दूसरी प्रत्यचा की तरह कृषि के बेकार और शिथिल मौसम में काम देता है। अतएव भारत की वृत्तिहीनता पाश्चात्य वृत्तिहीनता से न केवल आकार में भिन्न होती है वरन् सरकार के लिए तज्जन्य समस्याओं का रूप भी भिन्न होता है।

संगठित उद्योगों की वृत्तिहीनता से भिन्न यत्किंचित् बेकारी कुटीर-श्रमिकों में भी पाई जाती है। भारत में 'आर्थिक-सक्रमण'[1] वाले अध्याय तथा कुटीर-उद्योगों की स्थिति[2] के विवरण में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्ग के लोग आर्थिक सक्रमण से प्रभावित हुए। इस विवरण में ही हमें अपनी रोज़ी खो देने और कोई उपयुक्त रोज़ी न मिलने के कारण उत्पन्न कठिनाइयों और दुखों का भी कुछ अनुमान मिल गया था।

एक और प्रकार की वृत्तिहीनता अभी हाल में ही विकसित होने लगी है। यह है मध्यवर्गीयों की वृत्तिहीनता। इससे वे लोग प्रभावित होते हैं जो कि एक स्तर तक शिक्षा पा चुके हैं और अपनी जीविका के लिए बाबूगीरी या क्लर्की पर निर्भर रहते हैं। हाल में यह समस्या प्रधान स्थान ग्रहण करने लगी थी।

ग्रामीण वृत्तिहीनता : दुर्भिक्ष का वर्तमान रूप और उसका उपचार

२. **दुर्भिक्ष का उत्तरदायित्व**—देश की राजनीतिक जागृति के साथ-साथ बार-बार दुर्भिक्षों के पड़ने के कारण इन दैवी आपत्तियों को एक प्रकार की प्रमुखता मिल गई जो कि अन्यथा अप्राप्य होती।

१८६७ के विशेष आयोग ने दुर्भिक्ष की परिभाषा करते हुए बतलाया कि जनता के बड़े समूह का भूख की यातना सहना दुर्भिक्ष है। लेकिन भारत के इतिहास का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि दो प्रधान कारणों से शब्द के इस अर्थ में परिवर्तन हो गया है। एक तो यातायात एवं परिवहन के साधनों में सुधार होने के कारण एक भाग के दुर्भिक्ष को दूसरे भाग की बहुलता से सहायता पहुँचाई जा सकती है। दूसरे, प्रशासन में भी दुर्भिक्षों का सामना करने की पद्धति में प्रगति हुई है। अतएव वर्तमान दुर्भिक्ष खाद्य दुर्भिक्ष न होकर द्रव्य-दुर्भिक्ष है। सरकार के सामने समस्या है कि समुचित रूप में मजदूरी और काम की व्यवस्था करे।

द्रव्य दुर्भिक्ष या वृत्ति-विस्थापन के मुख्य कारण जब तक दूर नहीं किये जाएँगे, ग्रामीण बेरोजगारी की समस्या हल नहीं हो सकेगी। ये कारण हैं—(१) जनता का कृषि पर अत्यधिक अवलम्बन—कृषि एक ऐसा पेशा है जो अनिश्चित वृष्टि पर निर्भर है, (२) पुराने उद्योगों का विनाश तथा कितने ही उद्योगों की अनुपस्थिति; (३) जनता का ऋण में डूबा होना आदि। भारतीय जनता किसी प्रकार अपनी आजीविका प्राप्त करती है और उसके पास कोई सुरक्षित धनराशि नहीं रहती जिस पर वह कमी और अकाल के समय आश्रित रह सके। जनता की आर्थिक शक्ति को सुदृढ़ करने के तरीकों में अनेक बातें शामिल हैं, जैसे जनता के जीवन स्तर को बढ़ाना और उसकी साख को कायम रखना, सुरक्षा-कार्य- सिंचाई की नहरें, सड़कों का निर्माण, कुओं की मरम्मत इत्यादि; साधारण प्रशासन में सुधार, विशेष रूप से माल-प्रशासन के स्थगन और छूट की व्यवस्था; सुविचारित और उदार वन-नीति;

१. देखिए, खण्ड १, अध्याय ५।

२. देखिए, अध्याय २, सेक्शन ३६-४६।

कृषि-महाविद्यालय, अनुसन्धान तथा प्रयोग-केन्द्रो द्वारा सुधार; सरकारी आन्दोलन का पूरा-पूरा उपयोग, बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास और छोटे पैमाने के उद्योगो को प्रोत्साहन, सक्षेप मे, सब पहलुओ मे आर्थिक आयोजन।

हर्ष का विषय है कि देश मे आर्थिक आयोजन १९५१-५२ से चल रहा है और उसके द्वारा वृत्तिहीनता की समस्या को हल करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। द्वितीय कृषि श्रम जांच (१९५६-५७) के अनुसार १९५०-५१ मे ग्रामीण बेकारो की सख्या २८ लाख थी। योजना आयोग के अनुसार १९५६ में ५३ लाख ग्रामीण बेकार थे। कार्याङ्कन सगठन (प्रोग्राम एवेल्यूएशन आर्गनाइजेशन) की आधुनिकतम रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण ३० प्रतिशत मानव दिन (मैन डे) बेकार रहते हैं। अतएव तृतीय योजना में इस समस्या को हल करने के लिए पांच प्रकार क कार्यक्रम प्रस्तावित किये गए हैं :

(१) अकुशल तथा अर्धकुशल श्रम की अपेक्षा रखने वाली राज्यीय तथा स्थानीय सस्थाओ की योजनाएँ,

(२) विधान द्वारा निर्धारित ढग से जाति या समूह द्वारा लिये गए कार्य,

(३) वे विकास-काय जिनमे स्थानीय जनता श्रम देती है तथा सरकार कुछ सहायता देती है,

(४) वे योजनाएँ जो गाँवो की प्रतिफलात्मक सम्पत्ति के निर्माण मे सहायक हो, तथा

(५) जिन क्षेत्रो मे बेकारी अत्यधिक हो वहां पूरक योजनाएँ चालू की जाएँ।

इन योजनाओ म से ऐसा अनुमान है, योजना के प्रथम वर्ष मे १ लाख व्यक्तियो को, द्वितीय वर्ष म ४-५ लाख व्यक्तियो को, तृतीय वर्ष म १० लाख व्यक्तियो को तथा अन्तिम वर्ष मे २५ लाख व्यक्तियो को रोजी मिलेगी। उपर्युक्त आधार पर ग्रामीण जन शक्ति के उपयोग के लिए ३ ' अग्रगामी योजनाएं प्रारम्भ की गई हैं। मार्च १९६२ तक प्रत्येक योजना के लिए २ लाख रु० निर्धारित किया गया है। प्रारम्भ की गई अग्रगामी योजनाओ म सिचाई, वनरोपण, सचार-सुधार आदि हैं।

मध्यवर्गीय बेरोजगारी

१ समस्या का विस्तार क्षेत्र—यद्यपि सभी साधारण तौर स 'शिक्षित' और मध्यवर्गीय शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु शिक्षित और अशिक्षित के बीच कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती, न तो मध्यवर्ग के उच्चतर और निम्नतर स्तरो को ही अलग किया जा सकता है। साधारणतया 'शिक्षित मध्यवर्ग' मे ऐसे लोग आते हैं जो इतनी अच्छी आर्थिक स्थिति मे नहीं हैं कि अपनी आय मे अच्छी तरह अपना जीवन बिता सकें, जो कि शारीरिक श्रम नहीं करते तथा जिन्हे किसी-न किसी रूप मे माध्यमिक या उच्चतर शिक्षा मिली होती है। कभी-कभी वर्नाक्युलर और एग्लो वर्नाक्युलर कोर्स पूरा करने वाले लोगो को भी इसमे शामिल किया जाता है।

४ मध्यवर्गीय बेरोजगारी की समस्या की गम्भीरता और प्रसार—मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता ने इधर हाल मे भयकर आकार ग्रहण कर लिया है।[१] कुछ समय से जनता का ध्यान इस ओर गया है। सरकारी तथा गैर-सरकारी और अर्द्ध-सरकारी सस्थाओ, जैसे विश्वविद्यालयों, ने इसमे रुचि प्रदर्शित की है।[२] १६२४ और २८ के बीच विशिष्ट रूप से आयुक्त समितियो द्वारा कितनी ही गवेषणाएँ की गई हैं। ये गवेषणाएँ एव प्रयोग बगाल, मद्रास, पजाब और बम्बई-जैसे प्रान्तो एव ट्रावनकोर-जैसी रियासतो मे किये गए हैं। सबसे हाल मे नियुक्त होने वाली समितियो मे युक्त प्रान्त (सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता मे) की और बिहार की समितियो का नाम लिया जा सकता है।[३]

इन समितियो की रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो गया है कि मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता अखिल-भारतीय प्रकार की है।[४] मद्रास समिति ने बताया कि रोजी खोजने वाले शिक्षित व्यक्तियो और रोजगार का अनुपात २ १ है। स्कूल और कॉलेजो की वार्षिक उत्पत्ति और वर्ष मे होने वाली स्थान रिक्तता की गणना के अनुसार वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वृत्तिहीनता की सख्या वस्तुत दुखद थी। १६२७ की पजाब समिति भी इसी प्रकार की गणना के उपरान्त इस नतीजे पर पहुँची। जबकि अग्रेजी वर्नाक्युलर स्कूलो की उत्पत्ति या उत्पादन ५ वर्ष मे (१६२२-२७) बढकर दूना हो गया है, इसके विपरीत रोजगार म ऐसी कोई वृद्धि नही हुई है—न तो सरकारी नौकरी मे और न व्यावसायिक क्षत्र मे ही।

इस प्रकार की वृत्तिहीनता की भयकरता को हम पूर्णतया समझ नहीं पात। इससे वृत्तिहीन व्यक्ति का कष्ट तो पहुँचता ही है, साथ ही एक प्रकार का नैतिक पतन होता है जो साधारण रूप से समाज को ग्रस्त कर लेता है और पीढी दर-पीढी बढता ही जाता है। इस प्रकार के असन्तुष्ट नवयुवको का अधिक सख्या मे बेकार होना देश की राजनीतिक स्थिरता के लिए भी हानिकारक और भयकर है। क्रान्तिकारी समाजवाद या साम्यवाद उन युवको मे बडी ही शीघ्रता से जड जमा लेता है, जिनके दिल मे वस्तुस्थिति के खिलाफ एक प्रकार का विरोधी भाव पहले मे ही घर कर चुका होता है।

५ विशेष रूप से प्रभावित वर्ग—शिक्षा के क्षेत्र मे प्रशिक्षितो मे अप्रशिक्षितो की अपेक्षा कम बेकारी थी। कानूनी पेशे मे बहुमत इस पक्ष मे था कि यह जरूरत से ज्यादा

१. द्वितीय महायुद्ध ने वृत्ति के अनेक द्वार खोल दिए और कुछ समय के लिए शिक्षित वृत्तिहीनता समाप्तप्राय हो गई। भारत सरकार के श्रम मन्त्रालय के वृत्ति विनिमय, जोकि पहले पुराने नौकरी वालों और छूटे लोगों को श्रम दिलाने के लिए काम करते थे, अब सबके लिए खोल दिये गए हैं।

२. १६३० में हुए विश्वविद्यालय सम्मेलन ने इस प्रश्न पर विचार किया, लेकिन वे इसके आगे कोई सुझाव नहीं रख सके कि विश्वविद्यालय अपने स्नातकों की वृत्तिहीनता का पता लगाएँ।

३ बम्बई के श्रमालय ने १६३८ मे विश्वविद्यालय के स्नातकों की वृत्तिहीनता की जाँच फिर मे प्रारम्भ की।

४. १६३७ की नवें उद्योग सम्मेलन की बुलेटिनों में भारत के विभिन्न प्रान्तों और रियासतों की मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता की परिस्थिति की समीक्षा और इसे दूर करने के लिए काम में लाये गए या विचारित उपचारों का विवरण प्राप्त होगा। 'बुलेटिन्स ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज एण्ड लेबर', न० ६५।

भर चुका है। इसी प्रकार औषधि पेशे के लोग बाजारो, विशेषकर बडे शहरो, मे तो भरे पड़े हैं, जबकि छोटे-छोटे गाँवो मे इनकी सख्या अत्यन्त कम है, क्योंकि यहाँ पर जीवन की सुविधाएँ अपेक्षाकृत बहुत कम हैं और लोग औषधियो के लिए नियमित रूप से नकद फीस देने के आदी नहीं हैं। इञ्जीनियरो की दशा कुछ हो अच्छी थी। रेलवे मे रोजी खोजने वाले काफी बडी सख्या मे थे, लेकिन प्रशिक्षित न होने के कारण नौकरी न पा सके। जहाँ तक बैंकिंग का प्रश्न है, जो लोग इस विषय मे शिक्षा प्राप्त कर चुके थे वे बेकार न रहे, लेकिन जिन्हें प्रशिक्षा न प्राप्त थी वे नौकरी न पा सके।

वृत्ति विनिमयालय के सचालकालय के जन शक्ति विभाग ने १५ मई १९५७ को स्नातकीय बेकारो के सम्बन्ध मे यह पाया कि इस प्रकार की बेकारी अन्य राज्यो की अपेक्षा पश्चिमी बगाल, उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा दिल्ली मे अधिक है। स्त्री-स्नातको मे सबसे अधिक बेकारी केरल मे थी। काम ढूँढने वाले बेकार स्नातको मे ९३% पुरुष तथा ७% स्त्रियाँ थी। कला और विज्ञान की तुलना मे वाणिज्य के स्नातको मे बेकारी अधिक थी।

६ **वृत्तिहीनता के कारण**[१]—(१) **युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी और छटनी**—अन्य देशो की भाँति भारत मे भी युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी का प्रभाव पडा। बाबूगीरी और युद्ध के अन्य विभागो मे वृत्ति प्राप्त लोग बडी सख्या मे बाहर निकाल दिये गए। छटनी की कुल्हाडी के प्रहार सब दिशाओ मे हुए और पुराने सस्थापन की यथास्थिति न रही। मध्यवर्ग बडी ही कठोर अग्निपरीक्षा से होकर निकला।

(२) **शिक्षा-पद्धति के दोष**—वृत्तिहीनता का दूसरा तथाकथित कारण देश की औद्योगिक प्रगति और देश मे प्रचलित शिक्षा मे सन्तुलन का अभाव है। ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली केवल क्लर्की करने योग्य नवयुवक तैयार कर रही है और यह सरकारी नौकरी पाने का केवल एक द्वार मात्र है। पजाब समिति के लिए प्रस्तुत की गई अपनी सूची मे सर एण्डरसन ने यह स्वीकार किया कि प्रारम्भ से ही (वर्तमान शिक्षा-पद्धति) लडको को विदेशी परीक्षाओ के लिए तैयार करने के लिए बनाई गई थी, जिनका पास करना बहुतो के लिए एक प्रकार का भ्रमजाल था। इसका उद्देश्य लडको को बाबूगीरी की शिक्षा देना था। अब बाबूगीरी का पेशा जन-सकुल हो उठा है। इसमे अब नौकरी खोजने वालो की भीड के लिए बहुत ही कम स्थान रह गया है। उन्होंने मैट्रिकुलेट की परिभाषा, जिसे वह वृत्ति समस्या का मूल मानते थे, इस प्रकार की—"एक भ्रमणार्थी, जो विश्व मे टहलता है, जिसे नौकरी नहीं मिलती, क्योंकि वह नौकरी देने योग्य नही है।" भारत का साधारण शिक्षित व्यक्ति सर्वप्रथम जीविका के लिए सरकारी नौकरी की ओर झुकता है। उसके न

---

१. बगाल समिति ने वृत्तिहीनता का एक प्रकार का वर्गीकरण करने का सुझाव रखा—ऐसे लोग, जो अपने किसी अपराध या दोष के बिना ही नौकरी न पाने वाले हों, ऐसे व्यक्ति जोकि ऐसी रोजी चाह रहे हैं जिसके लिए अनुपयुक्त है, उसका कारण बहुधा उसके कद के बाहर की बात मले ही हो। देखिए 'बगाल वृत्तिहीनता समिति की रिपोर्ट', पैरा २।

मिलने पर अर्द्ध-सरकारी प्रकार की क्लर्की, जैसे रेलवे, म्युनिसिपल बोर्ड और अन्य स्थानीय संस्थाएँ, जैसे पोर्ट-ट्रस्ट इत्यादि, की क्लर्की ढूंढता है। शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध यह भी आरोप है कि यह लडको को अपने पैतृक पेशो के लिए भी बेकार बना देती है, क्योंकि वे एक क्षण के लिए हाथ से काम करके अपनी जीविका कमाने की बात नही सोच सकते। वे पचम श्रेणी का क्लर्क होना पसन्द करेंगे, चाहे उन्हें उससे हाथ का काम करने से कम की ही आमदनी क्यो न हो। वे कृषि को भी हेय दृष्टि से देखने लगते हैं। इस प्रकार हाथ से काम न करने वालो की सख्या बढती जाती है। इसका कारण वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का दूषित होना ही है जोकि अनुत्पादक होने के अतिरिक्त देश की मानसिक शक्ति को नष्ट कर देनी है। किसान, हस्तकार्य करने वाले तथा अन्य पिछडे वर्ग के लोग भी अपने बच्चो को सरकारी नौकरी के लालच मे पड-कर, स्कूलो और कॉलेजो मे भेजने लगे हैं। इस प्रकार वे सामाजिक सीढी के ऊँचे वाले डडो पर चढ रहे हैं। साहित्यिक एव अर्द्ध साहित्यिक पेशो का यह आकर्षण, जोकि अपनी परिधि मे उन वर्गों को भी सन्निविष्ट कर रहा है जिनके पास कोई भी विद्या की पृष्ठभूमि नही है, तथा इससे प्रचलित वृत्तिहीनता और भी बढ रही है।

(३) सामाजिक कारण—कुछ सामाजिक कारण, जैसे जाति-प्रथा, शीघ्र विवाह, सयुक्त परिवार और साम्प्रदायिक असमानताएँ, सब शान्त किन्तु सशक्त रूप से नवयुवको की आर्थिक महत्वाकाक्षाओ और भाग्य को निर्धारित करने मे क्रियाशील हैं।[1] उदाहरण के लिए जाति-प्रथा युवको को कितने ही ऐसे धन्धे करने से रोक देती है, जोकि लाभदायक हैं किन्तु जो सामाजिक दृष्टि से निम्न स्तर के माने जाते हैं। शीघ्र विवाह के परिणामस्वरूप नवयुवको पर शीघ्र ही जिम्मेदारी पड जाती है और प्रशिक्षा भी अवरुद्ध हो जाती है। सयुक्त परिवार प्रथा इस प्रकार के उत्तरदायित्व का भार हलका कर देती है और कमजोर तथा असहाय को सहायता और सुरक्षा देकर आर्थिक पराश्रयता को जन्म देती है और वैयक्तिक महत्वाकाक्षा तथा प्रतिभा को समाप्त कर देती है। शिक्षित वर्ग मे वृत्तिहीनता का एक कारण नवयुवको मे अपने घरबार से दूर जाकर अपने भाग्य-निर्माण की अनिच्छा भी है, जोकि सयुक्त परिवार-प्रथा की देन है। इसके विपरीत मद्रास समिति के मत मे इस प्रकार की गतिहीनता अब धीरे-धीरे घट रही है और इसका वृत्तिहीनता पर कुछ भी प्रभाव नही पडता। वृत्तिहीनता मूलत माँग से पूर्ति का अधिक होना ही है।[2]

(४) आर्थिक पिछडापन—देश के आर्थिक अविकास का कारण औद्योगिक दृष्टि से देश का पिछडा होना है, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षित नवयुवको को वृति के मार्ग नही मिलते। विलायत मे सेना, नौसेना और सिविल सर्विसेज को छोडकर इस समय देश मे कुल १६,००० पेशे हैं। भारत मे कुल मिलाकर ४० से भी कम हैं।[3] यह याद रखना चाहिए कि केवल व्यावहारिक शिक्षा देने और उसकी सुविधाएँ करने

१. देखिए, मद्रास की रिपोर्ट, पृ० १८, खण्ड १, अध्याय ४ भी देखिए।

२. मद्रास रिपोर्ट, पृ० १८ और २०।

३. देखिए, त्रावनकोर रिपोर्ट, पैरा ५८।

से ही परिस्थिति पर पूरी तरह से काबू नही पाया जा सकता। यह असदिग्ध है कि इससे देश की औद्योगिक प्रगति तीव्रतर हो जाएगी, लेकिन इससे औद्योगिक प्रगति का जन्म नहीं होगा, जब तक कि शिक्षित और प्रशिक्षित लोगो को खपा लेने वाले उद्योगो का विकास और प्रोत्साहन नही किया जाता। जैसा कि बगाल-समिति का मत है—"एक आदर्श सुसतुलित विकास मे आर्थिक प्रगति और टेकनिकल प्रशिक्षा का साथ-साथ विकास होगा, और एक-दूसरे को प्रोत्साहन देंगी। जब एक पीछे रहेगी तो दूसरी को भी रोकेगी और जब एक बढ़ेगी तो दूसरी को भी बढाएगी।"

७ वृत्तिहीनता को दूर करने के उपचार : वृत्ति-ब्यूरो—वृत्तिहीनता के अनेक कारण हैं इसलिए इसकी कोई एक रामबाण-औषधि नही हो सकती। पहले तो जो उपचार सामने रखे गए हैं उनके ऊपर दृष्टिपात कर लेना चाहिए। सरकार, यूनिवर्सिटी और वैयक्तिक सस्थाओ द्वारा चलाये गए वृत्ति ब्यूरो का सुझाव सामने रखा गया है। उत्तर प्रदेश और पजाब में नोकरी चाहने वालो और नौकरी देने वालो को एक दूसरे के सम्पर्क मे लाने के लिए वृत्ति बोर्ड स्थापित किये गए। इनसे अत्यन्त ही महत्वपूर्ण और लाभदायक काम होगा। यदि कुशलता से इनका प्रबन्ध किया गया तो जनता मे एक प्रकार के विश्वास का सचार होगा।

जन-प्रवास (माइग्रेशन) भी वृत्तिहीनता को दूर करने का एक साधन माना गया है, किन्तु मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता एक अखिल भारतीय प्रकार की है। इससे देश के अन्दर स्थानान्तरण सम्भव न होगा, इससे समस्या की सघनता का देश के सब भागो मे समान रूप से वितरण हो जाएगा, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। एक देश से दूसरे देश म जाने से भी समस्या का स्थायी निराकरण न हो सकेगा।[1]

८. वृत्ति विनिमयालय (एम्प्लायमेंट एक्सचेंज)—द्वितीय विश्वयुद्ध म युद्ध की आवश्यकताओ हेतु अधिकारियो की नियुक्ति के लिए राष्ट्र सेवा श्रमिक न्यायालय (नेशनल सर्विस लेबर ट्रिब्यूनल) स्थापित किये गए। तब से ये सब सगठन शान्तिकाल मे भी कुशल और अर्द्ध-कुशल व्यक्तियो की रजिस्ट्री और स्वेच्छा-स्थानान्तरणकाल के लिए प्रसारित और अनुकूल बनाये गए। १६४५ मे युद्ध से निकाले गए श्रमिको और सिपाहियो तथा विस्थापित और छुड़ाये गए पूर्व-सेवको (एक्स-सर्विसमैन) के पुनर्स्थापन और वृत्ति-दान के लिए वृत्ति पुनर्स्थापन के सामान्य सचालकालय (डायरेक्ट्रेट जनरल ऑफ रिसेटलमेण्ट एण्ड एम्प्लायमेण्ट) की स्थापना की गई। इधर हाल मे वृत्ति विनिमयालयो का कार्यक्षेत्र शरणार्थियो और साधारण रूप से औद्योगिक श्रमिको से सम्बन्धित वृत्ति और पुनर्स्थापन के लिए पर्याप्त विकसित कर दिया गया है। सम्पूर्ण सगठन सचालक (डायरेक्ट्रेट-जनरल) की अधीनता मे है, जिसमे तीन सचालनालय (डायरेक्ट्रेट) हैं—(१) वृत्ति-विनिमयालयो का सचालकालय, (२) प्रशिक्षण सचालकालय और (३) प्रसार सचालकालय। देश का विभाजन आठ भागो में किया गया है और जिनमे से प्रत्येक विभाग एक सचालक के अधीन है। देश मे ५४ वृत्ति विनिमयालय

---

१ देखिए, खण्ड १ अध्याय ३, सेक्शन २७ और ३३।

और २३ ज़िला वृत्ति कार्यालय हैं। केन्द्रीय वृत्ति विनिमयालय का काम एक अन्तर्प्रान्तीय निकास गृह (क्लियरिंग हाउस) का है। यह विभिन्न भागो के श्रम की मांग और पूर्ति को व्यवस्थित करता है।

९ अन्य उपचार—जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि हर प्रकार और श्रेणी की वृत्ति-हीनता अन्तिम व्याख्या मे देश के आर्थिक अविकास और पिछडेपन का प्रतिबिम्ब-मात्र है। अतएव जिस किसी भी साधन से देश का आर्थिक विकास होगा उससे देश की वृत्तिहीनता की समस्या का समाधान होगा। भौतिक समृद्धि से न केवल वृत्ति के नवीन पथों का उद्घाटन होगा, वरन् देश की समृद्धि के स्तर के उठ जाने से वकीलो, डॉक्टरो, अध्यापको इत्यादि की भी आवश्यकता बढ जाएगी। इसी प्रकार समृद्धि-तल के उठ जाने से प्रशासकीय सेवाओ मे भी प्रसार होगा और अन्त मे, सरकार द्वारा देश के आर्थिक पुनरुद्धार के किसी भी कार्य मे शिक्षित वर्ग मे से व्यक्ति अवश्य लिये जाएँगे।

मद्रास समिति का 'क्षेत्र-उपनिवेश' (फार्म कॉलोनीज़) स्थापित करने का प्रस्ताव काफी आकर्षक था, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता सीमित थी। पहले तो पजाब और आसाम-जैसे प्रान्तो को छोडकर शिक्षित वृत्तिहीनो को देने के लिए काफी भूमि नही पाई जा सकती, चाहे इसके लिए ग्रामीण समाज और दलित-वर्ग के दावे को थोडी देर के लिए भुला भी दिया जाए। दूसरे, यदि यह पता चल गया कि सरकार शिक्षित वृत्तिहीनो के लिए भूमि देगी तो मध्य वर्ग के लोगो का अपने पुत्रो को स्कूल और कॉलिजो मे भेजने का आकर्षण अधिक बढ जाएगा।

पजाब वृत्तिहीनता जाँच समिति के बहुमत ने यह सुझाव रखा कि वृत्तिहीनता को कम करने का एक तरीका यह होगा कि उच्चतर शिक्षा के लिए केवल पर्याप्त योग्यता और तीक्ष्ण बुद्धि वाले छात्रो को ही भेजा जाए। वे यदि गरीब हैं तो उन्हे सरकारी सहायता भी दी जाए या उन लोगो को भेजा जाए जो इसकी पूरी कीमत दे सकें (पैरा १९)। हम यह ठीक नही समझते कि उच्चशिक्षा को खरचीली बनाने के लिए कुछ भी किया जाए या इसका क्षेत्र सकुचित किया जाए, हालांकि हम यह स्वीकार करते हैं कि छात्रो के अभिभावको को इस बात का पता लग जाए कि वर्तमान काल मे सरकारी नौकरियो के लिए व्यक्तियो की मांग की अपेक्षा पूर्ति बहुत ही अधिक है, और यह कि उन्हे अपने बच्चो के लिए अन्य प्रकार के पेशो की बात सोचनी चाहिए। सप्रू समिति भी किसी भी कृत्रिम नियम द्वारा विश्वविद्यालयो मे प्रवेश को बाधित करने के खिलाफ थी। ट्रावनकोर समिति के इस कथन मे अधिक सार है कि हर प्रकार की सरकारी नौकरी को प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर होना चाहिए। परीक्षाओ को कठोर कर देने और मानदण्ड को ऊँचा उठा देने से कितने ही उम्मीद-वार, जो अयोग्य होगे, छँट जाएँगे और इस प्रकार की शिक्षा मे होने वाली शक्ति तथा धन का अपव्यय भी न होगा। जो प्रतियोगिता-परीक्षा मे फेल होगे वे जान जाएँगे कि उनके लिए सरकारी नौकरी मिलना सम्भव नही और वे अनिश्चित काल तक इस आशा मे तो नही रहेगे कि शायद कभी उन्हे सरकारी नौकरी मिल ही जाए। इससे

शिक्षा का स्तर भी ऊँचा उठेगा और सेवा के लिए अधिक उपयुक्त व्यक्ति मिलेंगे।

१०. सप्रू (वृत्तिहीनता) समिति—यहाँ हम सप्रू-समिति के कुछ महत्वपूर्ण सुझावों की ओर संकेत करना चाहेंगे। यह समिति युक्तप्रान्त की वृत्तिहीनता की जाँच के लिए नियुक्त की गई थी, किन्तु इसके सुझावों को समस्त भारत पर लागू किया जा सकता है। इन्हें हम इस प्रकार विभाजित करते हैं—(क) वे, जो कि शिक्षित व्यक्तियों की माँग बढ़ाने से सम्बन्ध रखते हैं, (ख) वे, जो पूर्ति की अधिकता को कम करने से सम्बन्ध रखते हैं; (ग) वे, जिनका उद्देश्य वास्तविक माँग और पूर्ति का समुचित सन्तुलन स्थापित करना है।

(१) जिला और नगरपालिकाओं को बाध्य करना चाहिए कि वे सड़कों और इमारतों को अपनी स्थिति में रखने के लिए कुशल और योग्य इञ्जीनियर तथा निरीक्षकों को नियुक्त करें। यदि सरकार चाहे तो जन-औषधि-सहायता के प्रसार द्वारा सुयोग्य व्यक्तियों को रोजी दे सकती है। जनता के अस्पतालों में अधिक डॉक्टरों की नियुक्ति—देशी दवाओं और जड़ी-बूटियों की प्रभविष्णुता की छानबीन के लिए भी डॉक्टरों की नियुक्ति कर सकती है। नगरपालिकाओं तथा जिला-बोर्डों को चाहिए कि वे जनता के स्वास्थ्य और स्वच्छता की देख-रेख के लिए योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करें। कानून के पेशे में होने वाली भीड़ का निराकरण करने के लिए यह आवश्यक होगा कि लोग क़ानून की विशेष शाखाओं में विशिष्टता प्राप्त करें। उदाहरण के लिए, कुछ लोग केवल दस्तावेज की रूपरेखा तैयार करने में विशेष योग्यता प्राप्त करें और कुछ मुकदमों की बहस में, इत्यादि। ५५ साल पर सेवा से विरत करने के नियम का कठोरता से पालन किया जाना चाहिए, ताकि नवयुवकों को तुरन्त अवसर प्राप्त हो सके। बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों को साथ-ही-साथ प्रेरणा देनी चाहिए, ताकि वे बड़ी संख्या में नवयुवकों को खपा सकें। अनिवार्य-प्रारम्भिक-शिक्षा प्रचलित करने का ज़ोर-शोर से प्रयास किया जाना चाहिए।

(२) हाई स्कूल-परीक्षा में दो प्रकार के प्रमाण-पत्र प्राप्त होने चाहिएँ। एक तो शिक्षा की समाप्ति का होना चाहिए और उन छात्रों को सहायक सरकारी नौकरियों में स्थान मिलने की योग्यता के प्रमाण-पत्रस्वरूप होना चाहिए, जिससे अवसर पड़ने पर औद्योगिक, कृषि और अन्य व्यावसायिक स्कूलों में भी प्रवेश पा सकें। दूसरा प्रमाण-पत्र कला और विज्ञान के महाविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए होना चाहिए।

(३) व्यावहारिक शिक्षा के लिए मिलने वाली सुविधाएँ भी बढ़ानी चाहिएँ। समग्र रूप से और विशेष रूप से प्रारम्भिक कक्षाओं में—शिक्षा की प्रवृत्ति व्यावहारिक और ग्रामीण होनी चाहिए। दवा-दारू की शिक्षा प्राप्त करने और डॉक्टरी पेशा अख्तियार करने वालों को चाहिए कि सरकार उन्हें ग्रामीण क्षेत्र में बसने की सुविधा और सहायता दे। इस प्रकार बड़े नगरों से डॉक्टरों की भीड़ भी कम हो जाएगी। फार्मेसी, डेन्टिस्ट्री (दाँत की विद्या), हिसाब-किताब, निर्माण और वास्तुकला, पुस्तकाध्यक्ष की शिक्षा, बीमा-कार्य और अखबारनवीसी-जैसे पेशों का विकास करना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि डिप्लोमा-प्राप्त व्यक्ति तथा कृषि-स्नातक

वैज्ञानिक कृषि को जीविका के साधन के रूप मे अपनाएँ। उनके लिए वैज्ञानिक पशु-पालन मे भी खपत होगी। यह भी कोशिश करनी चाहिए कि योग्य शिक्षित व्यक्ति नौकरी के लिए व्यवसाय गृहो के सम्पर्क मे आ सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न खण्डो मे पेशो की रहनुमाई के लिए प्राधिकारियो की नियुक्ति करनी चाहिए। सरकार को चाहिए कि समन्वित जीवन-पथो की सूचना दिया करें और इस प्रकार की व्यवस्था सगठित करे कि अभिभावको को उनके लडको की मानसिक और शारीरिक कुशलता की परीक्षा करके उनके आगे की गति के विषय मे सलाह दें। माध्यमिक पाठशालाओ को चाहिए कि वे अध्ययन के और भी अधिक विविध पाठ्य क्रम निर्धारित करें। विश्वविद्यालयो मे वैज्ञानिक और पेशे की शिक्षा पर अधिक जोर दें। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के नियुक्ति सघ (अपॉइण्टमेंट्स बोर्ड्स) के ढग का नियुक्ति सघ यहाँ भी बनाया जाना चाहिए, जिसमे यूनिवर्सिटियो के उप-कुलपति, कुछ विभागाध्यक्ष (उदाहरण के लिए शिक्षा, उद्योग और कृषि) तथा कुछ जनता के व्यक्ति और कुछ यूरोपीय तथा भारतीय व्यापारी हो। इसी प्रकार माध्यमिक पाठशालाओ के उत्पादनो की समस्या को सुलझाने के लिए भी सघो की नियुक्ति की जानी चाहिए। इन बोर्डों को चाहिए कि वे विश्वविद्यालयो के स्नातक तथा स्कूल और कॉलेजो के छात्रो की वृत्ति की समस्या सुलझाएँ।

तृतीय योजना मे मध्यवर्गीय बेकारी दूर करने के सम्बन्ध मे कहा गया है कि उद्योगीकरण, विकास की योजनाओ तथा ग्रामीण जन-शक्ति के उपयोग के लिए प्रारम्भिक कार्यक्रम स्वतः शिक्षितो को रोजगार देंगे। वृत्ति विनिमयालय मे दर्ज व्यक्तियो के सम्बन्ध मे यह अनुमान कर लेने पर कि इनका प्रतिशत निश्चित रहा है, यह कहा जा सकता है कि १० लाख शिक्षित बेकार योजना के प्रारम्भ मे होगे और ३५ लाख नए शिक्षित बेकार योजना अवधि मे काम ढूँढेंगे। अतएव यह सुझाव रखा गया है कि शिक्षा मे इस प्रकार के परिवर्तन किए जाएँ ताकि भविष्य के उपलब्ध कामो के लिए व्यक्ति मिल सकें। प्राविधिक शिक्षा का प्रसार किया जा रहा है तथा नई शिक्षा-सस्थाएँ खोली जा रही है। पेशो के सम्बन्ध मे पथ-प्रदर्शन (वोकेशनल गाइड्स) करने की योजनाएँ भी पिछले पाँच वर्ष मे विकसित की गई हैं। निकट भविष्य मे ग्रामीण क्षेत्रो और ग्रामीण कार्यक्रमो मे ही शिक्षितो को रोजगार मिलने की सम्भावना है। अतएव यह सुझाव रखा गया है कि शिक्षितो को विशेष कार्यों के लिए प्रशिक्षित किया जाए। इस दिशा मे शिक्षा-पद्धति का पुनर्गठन तथा पेशेवर और प्राविधिक शिक्षा की सुविधाओ का विकास सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है।

बेरोजगारी की समस्या पर उचित ढग से विचार करने के लिए सभी प्रकार की बेरोजगारी पर दीर्घकालिक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। आगामी १५ वर्षों मे श्रम शक्ति की वृद्धि ७०० लाख के लगभग होगी—तृतीय योजना मे १७० लाख, चतुर्थ योजना मे २३० लाख तथा पाँचवी योजना मे ३०० लाख। पिछली दो योजनाओं का अनुभव यह है कि रोजगार के अवसर अधिकाशतः गैर कृषीय क्षेत्रो मे बढे हैं। इस अनुमान पर कि यह प्रवृत्ति भविष्य मे बनी रहेगी तथा आगामी १५ वर्षों मे ³⁄₅

श्रम शक्ति कृषि के बाहर काम पाएगी, यह सम्भव हो सकेगा कि १९७६ तक कृषि पर निर्भर श्रम-शक्ति का अनुपात घटकर ६० प्रतिशत हो जाए।

११ बेरोजगारी तथा योजनाएं—(क) पहली पचवर्षीय योजना—यह योजना ऐसे समय म बनी थी जबकि विभाजन तथा युद्ध के पश्चात् स्थिति के कारण बेरोजगारी के बारे मे ठीक प्रकार से कुछ नही कहा जा सकता था। इसलिए पहली योजना मे रोजगारी का अध्याय एक प्रकार से व्यर्थ-सा था। यह ठीक है कि बाद मे १९५३ के अन्त तक योजना आयोग ने रोजगारी अवसर की उन्नति के लिए ११ शाखाओ वाला प्रोग्राम बनाया। इसके बाद भी पहली योजना मे कुछ अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई और प्रत्यक्ष रोजगारी कुल ४ ५ मिलियन तक ही रह गई।

(ख) दूसरी योजना—इस योजना के आरम्भ मे अपूर्ण बेरोजगारी ५ ३ मिलियन लोगो मे थी और यह आशा प्रकट की गई कि योजना के दौरान म १० मिलियन और लोगो की सामर्थ्य-शक्ति और बढ जाएगी। दूसरी योजना मे रोजगारी का लक्ष्य १० मिलियन रखा गया और यह सोचा गया कि ५ ३ मिलियन लोगो की सामर्थ्य अगली योजनाओं मे ठीक की जाएगी। परन्तु दुर्भाग्य से दूसरी योजना मे रोजगारी (खेती को छोडकर) कुल ६ ५ मिलियन लोगो मे बढी। इस प्रकार बेरोजगारी की सामर्थ्य तीसरी योजना के आरम्भ होने के समय ९ मिलियन के लगभग थी। इससे यह प्रतीत होता है कि देश मे रोजगार लोगो के बढने के साथ-साथ बेरोजगार तथा रोजगारी ढूंढने वाले लोगो की सख्या भी बढती रही है।

(ग) तीसरी योजना—योजना आयोग के हिसाब के अनुसार तीसरी योजना मे नये रोजगार ढूंढने वालो की सख्या १७ मिलियन और हो जाएगी और पिछले ९ मिलियन बेरोजगारों को मिलाकर कुल बेरोजगारो की सख्या इस प्रकार बढकर २६ मिलियन हो जाएगी। परन्तु तीसरी योजना मे निवेश तथा इसके स्तर को देखते हुए १४ मिलियन लोगो को नौकरियां मिलने की सम्भावना थी (३ ५ मिलियन खेती में, १० ५ मिलियन बाकी क्षेत्रो मे)। दुर्भाग्य से तीसरी योजना के मध्य मूल्याकन अनुसार खेती के बाहर ५ मिलियन ४७ प्रतिशत लोगो को नौकरियां मिलीं।

(घ) चौथी योजना—वर्तमान स्थिति को देखते हुए चौथी पचवर्षीय योजना मे नौकरियां ढूंढने वालो की सख्या ३५ मिलियन तक बढ जाएगी, जिसमे २१ मिलियन नई नौकरियां ढूंढने वाले होंगे और १२ मिलियन पुराने ही जो तीसरी योजना मे प्राप्त न कर पाए। परन्तु चौथी योजना में २१,५००—२२,५०० करोड रुपया खर्च करके अधिक से अधिक १५-१६ मिलियन लोगो को और नौकरियां (खेती से बाहर) मिल सकती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अगर चौथी योजना मे कम से-कम २५ मिलियन लोगो को नौकरियां न मिली तो पांचवी तथा अन्य योजनाओ मे रोजगारी की स्थिति बहुत खराब हो जाएगी। ऐसे सक्टकाल को दूर रखने के लिए सरकार को अपनी रोजगारी, उत्पादन तथा राजकोषीय नीतियो मे परिवर्तन लाने होंगे।

अध्याय २७

भारतीय पंचवर्षीय योजनाएं

१. भूमिका—हम आज उस युग मे से गुजर रहे हैं जबकि उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सभी दिशाओं से राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिए योजनाओ का वर्णन हो रहा है। विशेष रूप से जब से रूस ने योजना के पथ पर अग्रसर होकर अपने-आपको विश्व के बड़े देशो मे ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है, तब से योजना के मार्ग को और भी उन्नत स्थान मिला है। वैसे तो भारत मे काफी समय से योजना की आवश्यकता को महसूस किया गया था। १६३१ मे सर आर्थर साल्टर और बाद मे १६३५ में डा० बाऊले तथा प्रोफेसर डी० एच० रॉबर्टसन ने योजना प्रारम्भ करने का विचार रखा। देश के एक सर्वश्रेष्ठ इन्जीनियर सर विश्वेश्वरैया ने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था 'प्लैंड इकॉनमी ऑफ इण्डिया' (Planned Economy of India)। उसके पश्चात् १६३८ मे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने, जोकि उस समय काग्रेस के अध्यक्ष थे, जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे 'राष्ट्र योजना समिति' देश की आर्थिक उन्नति के लिए बनाई। परन्तु दूसरे महायुद्ध के छिड़ जाने तथा काग्रेसी नेताओ के जेलो मे भेज देने के कारण इस कमेटी के कार्य मे विघ्न पड गया।

वैसे तो कई कागज़ी योजनाएँ बनी, उदाहरणतया 'बॉम्बे प्लॉन' (Bombay Plan), 'पीपल्स प्लॉन' (Peoples Plan), गांधियन प्लॉन (Gandhian Plan), तथा पोस्ट वार रिकन्सट्रक्शन एण्ड प्लॉनिंग (Post-war Reconstruction and Planning)। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् सुचारु रूप से योजना के महत्त्व को समझते हुए भारत सरकार ने मार्च १६५० मे (राष्ट्र के सभी स्रोतो के ठीक उपयोग और उसके उत्पादन के सन्तुलित वितरण के लिए) योजना आयोग बनाया। काफी सोच-विचार के बाद पहली पचवर्षीय योजना ससद के सम्मुख दिसम्बर, १६५२ मे रखी गई। वैसे तो पहली योजना को १६५१ से ही चालू समझा गया।

२. योजनाओं के लक्ष्य—भारतीय योजनाओ के कई लक्ष्य है। पहली योजना मे विशेष लक्ष्य को सामने रखते हुए, इसके अन्तर्गत वह एक नया उन्नति का मार्ग बनायेगी, जिससे जनता का रहन सहन ऊँचा हो सकेगा और अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने के लिए अच्छे अवसर मिलेंगे। योजना का मतलब न केवल साधनो को उन्नत करना होगा, बल्कि मानवता की कार्य-शक्ति और सस्था के ढांचे मे परिवर्तन लाया जाएगा। दूसरा, लम्बे समय के लक्ष्य थे कि राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय को दुगुना किया जाए। यह आशा प्रकट की गई कि १६७५-७६ तक ६ प्रतिशत के लगभग वृद्धि की दर हो ताकि राष्ट्रीय आय (१६६०-६१ की कीमतो को सामने रखते हुए) १६६०-६१ मे

१८,५०० करोड से बढकर राष्ट्रीय आय १९७५-७६ मे ३४,००० करोड रुपये हो जाए और प्रति व्यक्ति आय इस समय मे ३१ प्रतिशत बढकर ३३० रुपये से ५३० रुपये हो जाए। तीसरा, ४६ करोड लोगो के लिए रोजगार (खेती को छोडकर) पैदा किये जाएँ, जिससे जनसख्या का दबाव खेती पर ७० प्रतिशत से घटकर ६० प्रतिशत हो जाए। चौथा, चौदह वर्ष तक के बालको को विधान के अनुसार व्यापक शिक्षा दी जाए। पाँचवाँ, कुल निवेश दर दूसरी योजना के अन्त तक ११ से १४ प्रतिशत तीसरी मे और १८ प्रतिशत चौथी योजना के सम्पूर्ण होने तक। कुल निवेश का बडा भाग घरेलू जमा से वित्त का रूप ले और इस प्रकार शुद्ध जमा—आय अनुपात १९६०-६१ मे ८.५ प्रतिशत से बढकर ११.५ प्रतिशत १९६६ म और १६ प्रतिशत १९७१ के अन्त तक हो जाए। छठा लक्ष्य यह है कि १० वर्षों मे हम विदेशी सहायता को काफी हद तक कम कर लें और यह कार्य निर्यात की अच्छी नीतियो द्वारा ही हो सकता है।

१. **पहली दो योजनाएँ**—पहली योजना (१९५१-५६) न खेती, सिचाई, शक्ति और यातायात के साधनो पर जोर देते हुए भविष्य मे आर्थिक एव औद्योगिक उन्नति का आधार बनाने की चेष्टा की और कुछ बुनियादी नीतियो मे परिवर्तन किये। दूसरी योजना (१९५६-६१) मे इन नीतियो को और अच्छा रूप दिया गया और राष्ट्र को समाजवादी आधार पर रखने की चेष्टा की गई। इस योजना मे मौलिक तथा बड़े उद्योगों पर जोर दिया गया और यह आशा की गई कि राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिए सरकारी क्षेत्र का बहुत महत्त्व होगा।

पहली दो योजनाओं मे कुल निवेश १०,११० करोड रुपया—५२१० करोड रुपया सरकारी क्षेत्र मे और ४९ करोड रुपया निजी क्षेत्र मे था। इस प्रकार वार्षिक निवेश दर ५०० करोड रुपये १९५१ से बढकर १६०० करोड रुपये १९६१ तक हो गई। पहली दो योजनाओ मे खेती तथा सिचाई पर २१ तथा २० प्रतिशत खर्च किया गया। दूसरी योजना मे औद्योगिक उन्नति पर जोर देने के कारण उद्योग तथा खनिज पर ४ प्रतिशत प्रथम योजना से बढाकर दूसरी योजना म २० प्रतिशत कर दिया। पहली तथा दूसरी योजना मे शक्ति की उन्नति पर १३ तथा १० प्रतिशत दूसरी योजना मे खर्चना निर्धारित हुआ। दोनो योजनाओ मे ट्रासपोर्ट और सचार पर एक ही जैसा जोर देत हुए लगभग २८ प्रतिशत धन व्यय हुआ। सेवा समितियो इत्यादि पर पहली पचवर्षीय योजना म २२ प्रतिशत तथा दूसरी में १८ प्रतिशत धन व्यय हुआ। प्रथम योजना में कुल सरकारी व्यय (Public Sector) का ६० प्रतिशत भाग घरेलू साधनो से प्राप्त हुआ और दूसरी योजना में ४,६०० करोड का ७६ प्रतिशत घरेलू साधनो से तथा शेष विदेशा से प्राप्त हुआ। दूसरी पचवर्षीय योजना में विशेष तौर पर टैक्सो पर जोर दिया गया और कई नये प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कर लगाये गए और जो रिक्त साधनो मे मिला उसे या तो घाटे के बजट (Deficit Financing) से या विदेशी सहायता स पूर्ण किया गया। दूसरी योजना म घाटे का बजट ९४८ करोड रुपये था।

पहली दो योजनाओं में राष्ट्रीय आय ४२ प्रतिशत बढी, परन्तु प्रति व्यक्ति आय तेजी से जनसख्या के बढने के कारण केवल १६ प्रतिशत ही बढ सकी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय में औद्योगिक उत्पादन ६२ प्रतिशत बढ गया और विशेषतया दूसरी योजना में कई क्षेत्रों में उन्नति हुई और एक प्रकार का देश में औद्योगिक आन्दोलन चालू हो गया। औद्योगिक उन्नति और राष्ट्रीय आय के अधिक न बढने के ये निम्नलिखित कारण हैं—

(१) खेती-उत्पादन दर न केवल अस्थायी रही बल्कि इसके साथ-साथ औद्योगिक और निर्यात को बढ़ाने में असफल थी।

(२) विदेशी मुद्रा की कठिनाइयों के कारण कई शक्ति-साधनो को बढाने वाले प्रोजक्टो और रासायनिक प्रोजेक्टो को चलाने में बडी देर लगी।

(३) इन दस वर्षों में निर्यात स्थिर रहा और उतना न बढ पाया जितनी आशा थी।

(४) औद्योगिक तथा खेती के क्षेत्रो में प्रशासन के ठीक न होने और योजना के कार्यों को ठीक प्रकार से कार्यान्वित न होने के कारण बहुत बाधाएँ पडी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दूसरी योजना का समय बहुत सकटपूर्ण था। इन रुकावटो को दूर करने के लिए और योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए तीसरी योजना मे विशेष रूप से जोर दिया।

४. तीसरी पचवर्षीय योजना—(क) लक्ष्य—तीसरी पचवर्षीय योजना (१६६१-६६) में लम्बे समय के उद्देश्यो को सामने रखते हुए ये लक्ष्य रखे गए—

(१) राष्ट्रीय आय में लगभग ५ प्रतिशत की बढोतरी हो और इस प्रकार का निवेश का आधार बने जिससे कि आत्म-निर्भरता की स्थिति बन सके।

(२) खेती की उन्नति इस प्रकार से हो कि खाद्य-पदार्थों में आत्म-निर्भरता हो, उद्योग तथा निर्यात की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।

(३) बुनियादी उद्योग-धन्धे, इस्पात, रासायनिक, ईंधन-शक्ति आदि, मशीन तथा यन्त्र इस प्रकार से बढ़ें कि १० वर्ष के समय मे और औद्योगिक उन्नति स्वदेशी साधनो से पूरी हो सके।

(४) बहुबल साधनों का अधिक-से-अधिक उपयोग हो और राष्ट्र में रोजगारी के अवसर बढ सकें।

(५) आयों मे अन्तर तथा आर्थिक साधनो के अकेन्द्रीकरण का कार्य पूरा करना।

(ख) व्यय तथा धन-विभाजन—तीसरी योजना मे भौतिक उत्पादन के लिए ८,००० करोड रुपया सरकारी क्षेत्र मे, ४,१०० करोड रुपया निजी क्षेत्र मे निर्धारित हुआ। परन्तु सरकारी क्षेत्र मे वित्त साधन ७,५०० करोड रुपया ही मिलने की आशा की गई।

निम्नलिखित तालिका मे दूसरी योजना के असली खर्चे के साथ तीसरी योजना के सम्भावित खर्चे विभिन्न क्षेत्रो मे दिखाये गए हैं—

	दूसरी योजना		तीसरी योजना	
	कुल खर्च (करोड़ों मे)	प्रतिशत	कुल निर्धारित	प्रतिशत
कृषि तथा बहुमुखी योजनाएँ	५३०	११	१,०६८	१४
बड़ी तथा छोटी सिंचाई के साधन	४२०	६	६५०	६
शक्ति	४४५	१०	१,०१२	१३
ग्राम तथा लघु उद्योग	१७५	४	२६४	४
सगठित उद्योग तथा खनिज	६००	२०	१,५२०	२०
यातायात तथा सचार	१,३००	२८	१,४८६	२०
श्रम दान तथा अन्य विशेष	८३०	१८	१,३००	१७
पदार्थ (Inventories)	—	—	२००	३

सरकारी क्षेत्र में ७,५०० करोड़ रुपये में से असल निवेश ६,३०० करोड़ रुपया होगा और बाकी का १२०० करोड़ रुपया चालू खाते पर व्यय होगा। इस योजना में निजी क्षेत्र में ४,१०० करोड़ रुपये का निवेश होगा। इस प्रकार कुल निवेश (शुद्ध निवेश) १०,४०० करोड़ होगा। जबकि दूसरी योजना मे ६,६५० करोड़ रुपया और पहली योजना में ३,३६० करोड़ रुपया हुआ था।

योजना की पूर्ति के लिए धन इन साधनो से प्राप्त होने की सम्भावना थी जो कि निम्नलिखित तालिका से पता लगता है—

तालिका

(करोड़ रुपयो मे)

	दूसरी योजना	तीसरी योजना
१. शेष चालू वित्त (वर्तमान दर अनुसार)	५०	५५०
२. रेलवे का अनुदान	१५०	१००
३. सरकारी उद्यम का अनुदान	—	४५०
४. लोक उधार	७८०	८००
५. छोटी बचत	४००	६००
६ कोष इत्यादि	२३०	५४०
७ नये कर इत्यादि	१,०५२	१,७१०
८ विदेशी सहायता (बजट-प्राप्ति-पत्र)	१,०९९	२,२००
९ घाटे का बजट (Deficit Financing)	९४८	५५०
कुल	४,७०९	७,५००

५. तीसरी योजना और रोजगारी—दूसरी योजना मे बेरोजगारी ठीक प्रकार से दूर न हो सकी और इसके साथ-साथ बढ़ती हुई जनसख्या के कारण बेरोजगारी जितनी सोची थी उससे अधिक बढ गई, जिससे तीसरी योजना में लगभग २६ मिलियन लोगो के लिए रोजगार ढूंढने की समस्या बनी। इसका किसी हद तक हल ढूंढने के लिए निम्नलिखित बातो का ध्यान रखना आवश्यक समझा गया—

(१) बेरोजगारी का पहले के अन्तर में तेजी और अच्छी तरह से हल ढूंढना होगा।

(२) ग्रामीण उद्योगो को उन्नत किया जाए तथा मानव-शक्ति और बिजली का प्रश बढाया जाए।

(३) ग्रामीण कार्यों को इस प्रकार से चालू किया जाए कि कम से-कम २५ लाख मनुष्यो के लिए वर्ष में १०० दिन का काम निकल आए।

परन्तु मध्यकालीन मूल्याक अनुसार 'कृषि योजना के पहले दो वर्षों में रोजगारी केवल गैर-कृषि क्षेत्र में ३२ लाख अधिक लोगो को मिल सकी। जैसा कि पहले बताया गया है कि तीसरी योजना के बेरोजगारी के लक्ष्य को पूरा नही किया गया।

६ तीसरी योजना का मूल्याक—*तीसरी योजना के मध्य मूल्याक अनुसार* यह पता चलता है कि आर्थिक उन्नति की दर तथा रोजगारी के अवसर पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किये गए। यह ठीक है कि कुछ क्षेत्रो में, जैसे कि यातायात, शक्ति की प्रगति निर्धारित रूप से हो पाई है। परन्तु बहुत-से क्षेत्रो में—मशीन, यन्त्र, अलमूनियम, कपडा, इस्पात तथा कच्चा लोहा, सीमेन्ट, रासायनिक खाद, सिंचाई, कपास, तेल निकालने के बीज और खाद्य पदार्थों मे उत्पादन के लक्ष्य बिल्कुल पूरे न हो सके। इसलिए नेशनल प्रगति कौंसिल (National Development Council) ने इस बात का निर्णय किया कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें उन सभी कमियो को दूर करके योजना के लक्ष्यो को पूरा करें। इस विषय में यह कहना उचित होगा कि योजना के पहले तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय केवल ६ प्रतिशत बढी, जबकि बढ़ने का लक्ष्य ५ प्रतिशत प्रति-वर्ष था और प्रति व्यक्ति आय २९३ २ रुपये से (१९६१) बढकर केवल २९९ ८ तक (१९६४) बढ सकी। इसी प्रकार खेती का उत्पादन भी लगभग स्थिर रहा और राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सकट में रही।

इस दशा के उपचार के लिए खेती के कार्यक्रम को श्रेष्ठ स्थान दिया गया। खेती पर पैसे का खर्चा १९६१-६२ में ७२ ६ करोड से बढाकर १९६४-६५ में १४६ ७ करोड कर दिया। इसके अतिरिक्त २१.५ करोड रुपया छोटी सिंचाई के साधनों तथा उपजाऊपन के सरक्षण के लिए और ७ करोड रुपया डेरी, मछली उद्योग, उद्यान-विकास इत्यादि के लिए, जो खेती तथा इन उद्योगो के उत्पादन को जल्दी बढा सकें। इस प्रकार बडी सिंचाई की योजनाओ पर भी अधिक धन व्यय किया गया जिससे कार्य जल्दी सम्पन्न किया जा सके। इस प्रकार १९६४-६५ में खेती पर व्यय ९५५ करोड रुपये हुआ जबकि पहले ५५ करोड रुपया होने की सम्भावना थी।

औद्योगिक क्षेत्रो में प्रगति इतनी खराब न थी जितनी कि कृषि क्षेत्र में। १९६१-६२ में औद्योगिक उत्पादन ६ ६ प्रतिशत से बढा। अगले दो वर्षों में यह

६ प्रतिशत तक पहुँचा और योजना के अन्तिम वर्ष में ११ प्रतिशत पहुँचने की सम्भावना है। इस मध्यम प्रगति की दर के कारण विशेषतया कुल उत्पादन का गिर जाना और इस्पात, अलमूनियम, सीमेन्ट, जूट, पटसन उद्योग में उत्पादन की दर का इतनी तेजी से न बढना था। इस प्रकार विदेशी मुद्रा की कठिनाइयो के कारण शक्ति स्कीम बहुत कम उन्नत हो पाई और देश के विभिन्न भागो में शक्ति के साधनो की कमी को महसूस किया गया। इसकी रोकथाम के लिए तीसरी योजना में कई कदम उठाये गए और प्रयत्न किया गया कि राष्ट्र में शक्ति के साधनो की स्थापना ५६ लाख किलोवाट (Kwt) (१९६०-६१) से बढकर ८८ लाख Kwt (१९६४-६५) में हो गई। इसी प्रकार तीसरी योजना में रेलो तथा सडको इत्यादि तथा सामान लादने की शक्ति को बढाने की कोशिश की गई और यह आशा प्रकट की जाती है कि तीसरी योजना के २४ ५ करोड टन के लक्ष्य से भी अधिक १ ५ करोड टन लादने की शक्ति बढ सकेगी। परन्तु चीनी आक्रमण (अक्तूबर १९६२) और हाल ही में पाकिस्तान के आक्रमण के कारण बहुत-से समाज-कल्याण के कार्यों को बहुत धक्का पहुँचा, क्योकि बहुत-सा पैसा सुरक्षा के कार्यों के लिए लगाना पड रहा है। यह ठीक है कि सरकार सुरक्षा तथा विकास दोनो पर ज़ोर दे रही है, परन्तु ऐसा देखा गया है कि जब देश को सुरक्षा, लडाई इत्यादि पर अधिक धन व्यय करना पडता है तो आर्थिक विकास में विघ्न पड जाता है।

१९६१ से ६४-६५ तक तीसरी योजना में विभिन्न क्षेत्रो मे प्रतिदिन व्यय बढता ही चला गया, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से प्रतीत होता है—

तालिका

तीसरी योजना मे व्यय तथा खर्चे की रूपरेखा

बडे कार्य	केन्द्रीय तथा राज्य सम्मिलित	
	१९६१–६२ वित्तसग्रह	१९६१–६५ कुल व्यय
कृषि तथा बहुमुखी उद्योग	१,०६८	८१५
सिचाई के बडे तथा छोटे साधन तथा बाढ से बचाव	६५०	४९३
शक्ति	१,०१२	८९१
उद्योग तथा खनिज	१ ५२०	१ २३४
ग्राम तथा लघु उद्योग	२६४	१७३
सचार तथा यातायात	१,४८६	१,५९३
सामाजिक सेवा कार्य	१,३००	१,०५०
पदार्थ	२००	—
कुल	७,२००	६,२४९

यातायात पर दूसरे क्षेत्रों के अन्तर में न केवल अधिक धन खर्च हुआ बल्कि १०७ करोड रुपया योजना के निर्धारित धन से किया गया। इसी प्रकार खेती, उद्योग, शक्ति, साधन इत्यादि पर भी धन वर्ष-प्रतिवर्ष बढता ही चला गया। तीसरी योजना के पहले चार वर्षों में करो से प्राप्ति काफी रही। केन्द्रीय सरकार ने और अधिक करो से १९६१ ६२ मे १५ करोड से १९६५-६६ में २१३ करोड रुपया इकट्ठा किया। इसी प्रकार सरकारी उद्यम से भी धन की वेशी १९६१-६२ में २९ करोड से बढकर १९६४-६५ मे १३० करोड हो गई। इसी प्रकार सार्वजनिक कर्जा और छोटी जमा १९६१-६२ में १४८ करोड तथा ६२ करोड से बढकर २१४करोड तथा २०१ करोड हो गई। विदेशी सहायता योजना के प्रथम चार वर्षों में १७२३ करोड रुपये रही, जबकि योजना में २,२०० करोड रुपया इसके अन्तर्गत मिलने की सम्भावना थी। घाटे का बजट इन वर्षों में ९८९ करोड रुपये रहा, जबकि योजना में ५ वर्षों के लिए केवल ५५० करोड रुपया होना निश्चित था।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि इन पहली तीन योजनाओं के कारण राष्ट्र की आर्थिक अवस्था में काफी उन्नति हुई। १९५१-६१ मे राष्ट्रीय आय ४४ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय १८ ५ प्रतिशत बढी। परन्तु तीसरी योजना मे राष्ट्रीय आय-दर तथा प्रति व्यक्ति आय-दर इतनी नही बढी जितनी कि योजना के अन्तर्गत निर्धारित थी। इससे अधिक दु ख की बात तो कीमतो का दिन-प्रतिदिन बढना और अदायगी शेष विदेशी सहायता के मिलने के पश्चात् भी खराब होते चले जाना ही है।

तीसरी पचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष मे यो प्रतीत होता है कि योजना से कोई सुदृढ सफलता प्राप्त नही हुई।

७ चौथी पचवर्षीय योजना—अक्तूबर १९६४ मे स्मृतिपत्र मे चौथी पचवर्षीय योजना का १९६३-६४ की कीमतो को देखते हुए ढांचा तैयार किया गया। चौथी योजना की विशेष समस्या यह है कि राष्ट्रीय उत्पादन-शक्ति को इस प्रकार बढाया जाए कि सामाजिक स्थिति को कोई हानि न पहुँचे। विशेषतया भौलिक वस्तुएँ प्रत्येक व्यक्ति के उपभोग के लिए आवश्यक हैं, इनका उत्पादन बढे। मानव-जाति तथा आर्थिक साधनो पर निवेश बढे और राष्ट्र शीघ्रातिशीघ्र विदेशी सहायता से मुक्त हो सके। तीसरी पचवर्षीय योजना मे जो लक्ष्य अपूर्ण रहे उनके कारणो तथा कीमतो के बढने से जो स्थिति बनी है, इसे देखते हुए चौथी योजना के लक्ष्य तथा रचना इस प्रकार से हो कि मुद्रास्फीति को दूर रखा जा सके, जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊचा किया जा सके और धन का वितरण ठीक प्रकार से हो सके, मानव-साधनो का तेजी स विकास और उपयोग हो सके और राष्ट्र आत्म-निर्भर हो सके। इस प्रकार स्मृति-पत्र मे पारिभाषिक लक्ष्य निम्नलिखित रखे गए हैं—

(१) कृषि-क्षेत्र मे कम से-कम ५ प्रतिशत, अगर हो सके तो इससे अधिक वार्षिक दर ऊंची हो।

(२) इसकी पूर्ति के लिए रासायनिक खाद, कृषि-यन्त्रों तथा कीडो के विनाश की दवाइयो को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाए।

(३) आवश्यक उपभोग की वस्तुएँ, जैसे कि कपडा, चीनी, दवाइयां, मिट्टी का तेल, कागज इत्यादि के उत्पादन को तेजी से बढाया जाए।

(४) सीमेंट तथा भवन बनाने की सामग्री की वृद्धि की जाए।

(५) खनिज पदार्थों, रासायनिक पदार्थों, भवन-निर्माण की मशीनें, खानों, विद्युत् शक्ति तथा यातायात के उद्योगो की चालू स्कीमो को पूर्ण किया जाए और नई स्कीमो को जल्दी चालू किया जाए।

(६) अधिक-से अधिक सामाजिक उन्नति के लिए सहायता के साधनो की पूर्ति हो, जिससे वे उत्पादन की शक्ति को बढाने मे सहायक हो सकें।

(७) इन सभी शाखाओ मे विकास के लिए अधिक रोजगारी के अवसर बढाए जाएँ और सामाजिक न्याय प्रदान किया जाए।

८ इस योजना मे व्यय—मौलिक आगणन के अनुसार २१,५०० करोड रुपये के लगभग चौथी योजना की पूर्ति के लिए धन प्राप्त होगा, जिसमे से ७,००० करोड रुपया निजी क्षेत्र म से प्राप्त होगा। सरकारी क्षत्र मे धन इकट्ठा करने के लिए इस बात का प्रयत्न किया जाएगा कि अनियोजित खर्चा कम-से-कम हो और वर्तमान करो के अनुसार अधिक-से अधिक धन इकट्ठा हो। यह आशा की जाती है कि २५०० करोड रुपया बजट के प्राप्ति पत्रो से मिलेगा और २५०० से होकर ३,००० करोड रुपये तक करो को बढाने तथा करो के उपवचन को कम करके और सरकारी क्षेत्र के उद्यम की कीमतो मे कमीवेशी करके इकट्ठा किया जाएगा। चौथी योजना मे ३,२०० करोड रुपया विदेशी सहायता के रूप मे लिया जाएगा।

इस प्रकार चौथी योजना मे विशेष क्षेत्रो के धन का वितरण निम्नलिखित तालिका से प्रतीत होता है। साथ ही मे तीसरी योजना का खर्चा भी दिया गया है, ताकि इससे वितरण का ठीक अनुमान लगाया जा सके—

तालिका

(करोड़ो मे)

बड़े उद्योग	अनुमानित व्यय तीसरी योजना मे	चौथी योजना मे वितरण तथा उनके स्थान
कृषि	१,०९०	२,४००
सिंचाई	६४६	१,०००
	१,७३६	३,४००
शक्ति	१,१८७	१,६५०
छोटे उद्योग	२३३	४५०
सगठित उद्योग	१,६६२	३,२००
यातायात तथा सचार	१,९४०	३,०००
	५,०२२	८,६००
शिक्षा	५५७	१,४००
वैज्ञानिक अनुसन्धान	७२	१७५
स्वास्थ्य	३४५	१,०९०
भवन तथा निर्माण	११२	४००
पिछड़ी जातियो की सहायता	१०४	२०५
शिल्पकारी ट्रेनिंग तथा मजदूरो की सहायता		६५
लोक कल्याण	२५०	१४५
ग्रामीण कार्य		१५
फिर से बसाना		२५
आवश्यक		५०
पदार्थ		५०
कुल	८,२००	१५,६२०

१. **विशेष उद्देश्य**—योजना के उद्देश्यो का निर्धारण इस विचार को देखते हुए रखा गया कि २२,५०० करोड रुपये का व्यय होगा और राष्ट्र की तकनीकी तथा प्रशासन-शक्ति इस प्रकार से होगी कि यह निम्न लक्ष्यो की पूर्ति हो सके।

खाद्य-पदार्थों का उत्पादन ९·२ करोड टन १९६५-६६ से बढकर १२ करोड टन १९७०-७१ मे हो जाए। कपास की गाँठें ६३ लाख से ८५ लाख तक बढ जाएंगी। गन्ने का उत्पादन १·१० करोड से बढकर १·३५

करोड़ हो जाए। सिचाई छोटी तथा मध्यम साधनो से १·४० करोड़ एकड़ और भूमि को लाभ हो। स्थिर शक्ति उत्पादन १ १७ लाख किलोवाट से बढ़कर २२० लाख किलोवाट हो जाए। औद्योगिक उन्नति, विशेष रूप से खनिज पदार्थ, रासायनिक, कृषि-यन्त्रो, उपभोग-सामग्री तथा पेट्रोल साफ करने की शक्ति बहुत बढ़ा दी जाए। यह आशा प्रकट की जाती है कि कच्चा इस्पात का उत्पादन १९६६-६७ मे ८६ लाख टन से बढ़कर १६५ लाख टन १९७० ७१ तक हो जाए। कच्चे लोहे का उत्पादन १२ लाख टन से बढकर ४० लाख टन तथा अलमूनियम का ६८,००० से २·४ लाख टन हो जाए। इस प्रकार रासायनिक खाद का उत्पादन चार गुना तथा अखबारी कागज़ ५ गुना, सीमेन्ट दुगुना। १९७०-७१ तक १९६५-६६ के अन्तर मे ५० प्रतिशत और वजन उठाने योग्य हो जाएगी। वाणिज्य-सम्बन्धी गाड़ियो की सख्या दुगुनी हो जाएगी। सचार के क्षेत्र मे ७ लाख और टेलीफोन के सम्बन्ध मिलेंगे, शिक्षा के कार्यों को बढ़ाया जाएगा और प्रवेश की मात्रा इन्जीनियरिंग तथा तकनीकी धाराओ मे डिग्री स्तर तक बढ़ाई जाएगी। १९७०-७१ तक ६८,६०० विद्यार्थियो को शिक्षा दी जा सकेगी। इस प्रकार परिवार-नियोजन तथा डॉक्टरी आदि की शिक्षा का विकास भी होगा।

१० भारतीय योजनाओ मे कमी—कुछ एसे आलोचक हैं जिन्हे भारतीय योजनाओ की आलोचना किये बिना चैन ही नही। ऐसे आलोचको की हम अपेक्षा कर सकते हैं। परन्तु कुछ ऐसी आदर्श विभूतियाँ हैं जिनकी योजनाओ की विवेचना को हम रद्द नहीं कर सकते। १२ अगस्त १९६५ के 'इण्डियन एक्सप्रेस' समाचार-पत्र के सम्पादकीय मे योजनाओ के बारे मे यह कहा गया कि "पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओ की प्रगति से यह स्पष्ट है कि कल्पना तथा अनुभव म बहुत अन्तर है। योजनाओं मे अधिक ज़ोर कार्यान्वित करने पर दिया जाना चाहिये था और अगर देश की आर्थिक दशा को ठीक प्रकार से सुधारना है तो इस बात की खोज करनी थी कि किनको प्रधानता देनी है।" क्योकि ऐसा नहीं किया गया, इसलिए चारो तरफ से योजनाओ के लक्ष्यो की पूर्ति नहीं हो रही। जो योजना की असफलता पर निराश हैं उनका कहना है कि योजना से कुछ समय के लिए अवकाश मिलना चाहिए। योजना आयोग की नीति ऐसी ही है जैसे उल्टे बाँस बरेली भेजना। इस योजना ने वे लक्ष्य रखे हैं जो किसी प्रकार से थोड़े समय मे पूर्ण नही हो सकते। आज योजना की दशा ऐसी है कि धन तो व्यय किया जा रहा है परन्तु उसकी प्राप्ति नहीं हो रही और इस प्रकार धन व्यर्थ जा रहा है। बिल्कुल ऐसे ही विचारों को 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के श्री चमन सरकार ने सम्पादकीय मे व्यक्त किया था।

परिशिष्ट

रुपये का अवमूल्यन

भूमिका—भारत सरकार ने हाल ही मे कुछ महत्त्वपूर्ण आर्थिक निर्णय किये है। आशा की जाती है कि उनका हमारी आर्थिक स्थिति पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय, जो भारत सरकार ने किया, वह ५ जून १९६६ को रुपये का विनिमय मूल्य १०० रुपये के लिए १८.६६ ग्राम सोने से गिराकर ११.८५ ग्राम कर देना है। इस प्रकार रुपये का बाहरी मूल्य ३६.५ प्रतिशत घटा दिया गया, जिसका अर्थ यह हुआ कि अमरीका को एक डालर के बदले ४.७६ रुपये के स्थान पर ७.५ रुपये मिलेंगे। इसी प्रकार पौंड स्टर्लिंग के बदले १३.३३ रुपये की जगह पर २१ रुपये मिलेंगे।

अवमूल्यन का अर्थ—रुपये के विनिमय मूल्य का अर्थ है कि विदेशी विनिमय मूल्य के दाम मे कमी। इसका मतलब यह हुआ कि रिज़र्व मे जो विदेशी मुद्रा दी जाए उसके बदले मे किस हिसाब से रुपया मिले और उससे जो विदेशी मुद्रा ली जाये उसके बदले मे किस हिसाब से रुपया लें। इस प्रकार हम देखते हैं कि और चीजो के दाम की तरह स्वदेशी मुद्रा का दाम भी होता है। यह कोई ऐसी घटना या मसला नहीं जिसके कारण देश के सम्मान को कोई ठेस पहुंचे। अन्य प्रकार के माल की तरह विदेशी मुद्रा के दाम तय करने के लिए केवल आर्थिक बातो का ध्यान रखा जाये और सब चीजें आर्थिक वास्तविकता के अनुसार हो।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—इसमे कोई शक नही कि जो पिछले दस वर्षों मे रुपये का मूल्य था वह आज नही। आज दाम ८० प्रतिशत पहले से अधिक है। परन्तु १९४९ के बाद रुपये के सरकारी विनिमय मूल्य मे कोई तबदीली नही हुई। ससार के और बडे राष्ट्रों मे, जिनके साथ हमारा आर्थिक व्यापार है, वहाँ की चीज़ो के दाम अधिक नही बढे। इसका नतीजा यह हुआ कि और देशो के मुकाबले में वहाँ की मण्डियों मे हमारा माल महँगा मिलता है। इसके साथ साथ हमे अपने निर्यात बढाने तथा विदेशी मुद्रा को और कमाने की आवश्यकता तेज़ी से बढती रही है। निर्यात को बढाने के लिए पिछले वर्षों मे औरो के मुकाबले मे अपने माल को सस्ता करने के लिए हमने कई तरीके अपनाये है। उदाहरणतया निर्यात को सहारा देना तथा ऋणपत्रो की सुविधा, परन्तु इन उपायो का कोई खास असर न हुआ। हो सकता है कि अगर हमारी कठिनाइयां अस्थायी होती तो शायद इनसे लाभ होता। परन्तु हमारी कठिनाइयाँ बहुत गहरी हैं जिनको दूर करने के लिए उपाय भी गहरे होने आवश्यक थे।

अवमूल्यन के प्रभाव—अवमूल्यन का दरअसल मतलब ही यह था कि देश के

निर्यात को बढाने के लिए अच्छे तथा मजबूत उपाय किये जाएँ। अगर एक निर्यात करने वाला १०० डालर का माल निर्यात करता है तो ४७३ रुपये के स्थान पर ७५० रुपये कमायेगा। इससे निर्यात को बहुत प्रोत्साहन मिलेगा, न केवल हमारा माल सस्ता होगा बल्कि निर्यात के उद्योग धन्धो का निवेश और बढायेंगे। इसमे कोई सन्देह नही कि हमारी कुछ पुरानी निर्यात की चीजो को इस प्रकार की सहायता की जरूरत नही। इसी प्रकार अवमूल्यन से आयात की बहुत-सी चीजो को देश मे ही बनाने की वृद्धि होगी। आयात की चीजो का मूल्य बढ जाएगा जिससे इनको देश मे बनाने की कोशिश की जाएगी। यह बात खेती पर भी उसी प्रकार लागू होती है जिस प्रकार उद्योग के लिए। कृषि-उन्नति से आत्मनिर्भरता को बढावा मिलेगा।

इस विनिमय-दर का न केवल निर्यात और आयात पर ही प्रभाव पडेगा बल्कि देश से बाहर जाने वाले तथा बाहर से आने वाले भुगतान (Invisibles) पर भी गहरा असर पडेगा जिससे देश से भेजने मे प्रोत्साहन मिलेगा, परन्तु देश मे आने पर कुछ रोक-टोक हो जाएगी। इस प्रकार विदेशी मुद्रा का बोझ पूँजी, मुनाफा, धन आदि को बाहर भेजने से होता है, उसकी छोजन अब कम हो जाएगी। इसके अतिरिक्त जो नये लोग विदेशी पूँजी अब हमारे देश म लगायेंगे उन्हे और अधिक रुपया मिलेगा और इस प्रकार नये क्षत्रो मे तथा विदेशी यात्रियो (Tourists) को प्रोत्साहन मिलेगा। इसके साथ-साथ रुपय की ऋण शक्ति मे कमी आने के कारण जो बहुत-सी बुराइयाँ पैदा हो गई हैं, जैसे कि नियातकर्ता माल के बिल को कम बनाना, सोना, विदेशी मुद्रा, घडियाँ, कैमरे तथा ट्राजिस्टरो की चोरबाजारी मे कमी होगी। यह कहना गलत होगा कि अवमूल्यन के कारण, विकास-कार्यों के लिए ऋण लेने का बोझ बढ जाएगा। विदेशी मुद्रा के रूप म न तो रुपये की कुल रकम तथा इसकी वार्षिक अदायगी की राशि मे कोई विशेष वृद्धि होगी यद्यपि रुपये के रूप मे ऋण की अदायगी का बोझ जरूर बढ़ेगा। सरकारी आयात तथा दूसरे विदेशी खर्चो का परिणाम भी रुपये के रूप मे बढ जाएगा। परन्तु जैस कि वित्तमन्त्री सचीन चौधरी ने अवमूल्यन की घोषणा करते हुए बताया है कि सरकार के बजट मे कई प्रकार से लाभ होगा, अगर आयात के बारे मे उदार नीति को हम ठीक तरह से चला सकें।

कीमतें तथा उत्पादन—इसमे कोई सन्देह नही कि अवमूल्यन से आयात की वस्तुओ की लागत मे वृद्धि होगी। इस प्रकार आयात की चीजो को दश म बनाने की प्रवृत्ति को बढावा मिलेगा। आजकल इन चीजो का मूल्य उनके वास्तविक मूल्य से कही अधिक है, इसलिए अब उपभोक्ता को आयात की हुई चीजो की कीमत जो देनी पडेगी वह वर्तमान दामो से ज्यादा अधिक नही होगी। इसके साथ-साथ अवमूल्यन करते हुए सरकार ने इस बात का प्रबन्ध किया है कि उर्वरक, मिट्टी तथा डीजल तेल की कीमत बढने नही दी जाएगी और विदेशो में पढने वाले भारतीय विद्यार्थियो के हितो का ध्यान रखा जाएगा।

असली बात तो यह है कि उत्पादन के बढने से दामो मे स्थिरता आ सकती है। सरकार कृषि-उत्पादन तथा उद्योग को बढाने की पूरी कोशिश कर रही है। हमारी

तीनो योजनाओं के अन्तर्गत जो कारखाने खुले वे अधिकतर बाहर से कच्चे माल तथा कलपुर्जों के प्राप्त न होने से पूरी क्षमता से उत्पादन नही कर सके। इससे न केवल उत्पादन-शक्ति को धक्का पहुँचा है बल्कि साथ साथ चीजो की लागत को कम करने में भी कठिनाई पैदा हो गई है। इस प्रकार उत्पादन को बढ़ाने के लिए अवमूल्यन के साथ-साथ कई और तरीके अपनाने होंगे जिनसे निर्यात बढ़े और आयात के तरीके सरल हो जाये।

अवमूल्यन से देश क विदेशी व्यापार, आयात-निर्यात और विदेशी मुद्रा मूल्य पर क्या असर पड़ेगा ? आयात का विदेशी मुद्रा मूल्य बढने का कोई कारण नही है। इसी प्रकार निर्यात मे भी हमारी इन चीजो का, जो कि कुल विश्व-व्यापार का बहुत छोटा हिस्सा है, विदेशी मुद्रा मूल्य मे बढावा नहीं होगा, लेकिन चाय, पटसन, जैसी कुछ चीजें हैं जिनका विश्व-व्यापार मे काफी बडा हिस्सा है और जिनकी माँग भी घटती बढती रहती है, इनके दामो मे कमी को रोकने के लिए सरकार को अवमूल्यन के बाद कुछ न-कुछ करना पडेगा।

अवमूल्यन तथा आर्थिक विकास—रक्षामन्त्री श्री चह्वाण ने अपने ८ जून १९६६ के रेडियो भाषण मे इस बात पर जोर दिया कि "अवमूल्यन विकास के लिए जरूरी है। मुख्य रूप से विकास का अर्थ है कि राष्ट्र अपनी आवश्यकता का सामान तथा मशीने आदि स्वय बनाये। अपने देश की जनता के सुख सुविधा और भलाई के साधनो को बढा सके। इस प्रकार आत्म-निर्भरता देश के विकास-कार्यो का सबसे मुख्य लक्ष्य है। विकास-कार्यों मे देश का रुपया तथा विदेशी मुद्रा लगाई जाती है। विदेशी मुद्रा विदेशो से ऋण तथा निर्यात करने से प्राप्त होती है। इनमे से निर्यात से मुद्रा कमाना कही अच्छा है। इससे वर्तमान तथा भविष्य दोनो को लाभ पहुँचता है और यह विदेशी ऋणो के मुकाबले मे अधिक स्थिर होती है। इसलिए जितना निर्यात बढता है उतना ही हमारी आत्म-निर्भरता भी। इस प्रकार निर्यात को बढाना बहुत आवश्यक है। निर्यात को बढाने के लिए अवमूल्यन करना बहुत आवश्यक तथा लाभप्रद दिखाई पडता था। अवमूल्यन से अधिक विदेशी सहायता प्राप्त करने मे भी मदद मिलती है, जोकि खेती तथा उद्योग दोनो बढायेगी। आशा की जाती है वह दिन दूर नही जब विदेशी सहायता लेने की जरूरत ही न होगी। यदि देश का उत्पादन तथा ऋण चुकाने की क्षमता बढाने के लिए विदेशी सहायता लेनी पडे तो इसमे कोई हर्ज नही। स्मरण रहे कि देश मे रुपये के मूल्य मे कोई खास परिवर्तन नही होना चाहिए। हाँ, बाहर से आने वाली चीजो के दाम बढ जाएँगे, लेकिन अगर विदेशी सामान से देश मे जो माल बने उसम उत्पादन हो तो जल्दी ही आयातित भोग की वस्तुएँ शनै -शनै कम हो जाएँगी। अवमूल्यन के बाद जो चीजें साधारण जनता के प्रतिदिन व्यवहार मे आती हैं उनके दाम को न बढने दिया जाए। जो चीजें आयातित मशीनों के प्रयोग से बनती हैं और जिनका उपयोग धनी लोग करते हैं, उदाहरणतया विलासिता उपभोग की वस्तुएँ, उनकी बात अलग है। अवमूल्यन के बाद व्यापारियो के जो ऊँचे लाभ हैं उनमे अत्यधिक कमी होगी। इसके साथ-साथ बाहर से आने वाली

चीज़ो के दाम बढने के कारण उन उद्योगो को संरक्षण मिलेगा जो भारत मे पहली बार व्यापार करने तथा उत्पादन करने की कोशिश मे जुटे है।"

अवमूल्यन क्यो ?—देश मे अवमूल्यन करने का यह पहला मौका नही है, इससे पहले भी कई बार अवमूल्यन की समस्या देश के सामने आई जैसे कि १९२९ के आर्थिक सकट के समय, १९३६ मे जब यूरोप के कुछ देशो ने अवमूल्यन किया, १९३७ मे, उसके पश्चात् १८ सितम्बर १९४९ को जब ब्रिटेन की सरकार ने अपनी मुद्रा के अवमूल्यन की घोषणा की। भारत सरकार ने भी अपनी मुद्रा को उसी प्रकार ३०.५ प्रतिशत गिरा दिया। इस बार भी सरकार ने बहुत महत्वपूर्ण निर्णय किया जब अवमूल्यन की घोषणा की गई। कुछ लोगो का कहना है कि सरकार ने एक बहुत बडा अपराध किया है जिससे राष्ट्र के सम्मान को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है। यह भी कहा जाता है कि अवमूल्यन करने से पूर्व लोगो को इसकी खबर न दी गई। लोगो को पहले से बता देना बहुत खतरनाक होता जिससे करोडो रुपये का सट्टा तथा हानि हो सकती थी। बाकी रही देश की सम्मान की बात, यह तो वही बात हुई कि ऑपरेशन करने से एक रोगी की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचना। मूल्यो मे लगातार वृद्धि होने के साथ, विदेशो मे भारतीय रुपये का मूल्य बहुत अधिक गिर गया था। एक अमरीकी डालर का काला बाजार मे मूल्य १०-१२ रुपये के बीच था, जबकि विनिमय की सरकारी दर इसी आधार पर ४.७५ पैसे थी, जिससे अर्थव्यवस्था पर बहुत प्रभाव पड रहा था। इससे निर्यात करना हानिकारक और आयात करना लाभप्रद सिद्ध हो रहा था। सरकार ने आयात शुल्क लगाया तथा निर्यात मूल्य मे सहायता देने का प्रयत्न किया, परन्तु यह जल्दी सिद्ध हुआ कि ये उपाय एक तरफ पेचीदा थे बल्कि अपूर्ण तथा एकतरफा थे। इनसे न तो निर्यात मे वृद्धि हुई और न ही आयात के ढांचे मे कोई परिवर्तन हुआ। इसके अतिरिक्त कई और प्रतिकूल परिणाम देखने मे आये। भुगतान सतुलन की स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होने के कारण देश के उद्योगो के लिए न तो कच्चा माल और न ही कलपुर्जे ही मिल रहे थे जिससे कई कारखाने बन्द हो गए और कुछ मे काम कम हो गया, जिससे देश मे बेरोजगारी, छटनी, उत्पादन की कमी, वस्तुओ का अभाव और ऊँची कीमतो का सामना करना पडा।

व्यापारिक तथा औद्योगिक उन्नति—अवमूल्यन कर देना पर्याप्त नही, जैसा कि श्री एस० के० पाटिल रेलवे मन्त्री ने ६ जून १९६६ को अपने रेडियो भाषण मे कहा कि "अवमूल्यन के साथ-साथ उत्पादन, निर्यात, आयातित वस्तुओ के स्थान पर स्वदेशी वस्तुओ को बढावा दिया जाए और सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था को ठीक रूप से रखा जाए जिससे भारतीयो की आवश्यकता पूरी होगी, मूल्यो को ठीक स्तर पर रखा जा सकेगा और राष्ट्र आत्मनिर्भरता की ओर बढ सकेगा। यह आशा प्रकट की गई है कि दस वर्षो मे हम अपने निर्यात म तिगुनी वृद्धि करके ८०० करोड से बढाकर २४०० करोड तक पहुँचा देंगे। अवमूल्यन से निर्यात उद्योगो मे विनियोग को प्राथमिकता मिलेगी। नई वस्तुओ का व्यापार स्थापित हो सकेगा। परन्तु इस बात का ध्यान रखना होगा कि अवमूल्यन केवल हमारे ही देश की स्थिति को मजबूत बनाने म सफल

नहीं होगा जब तक हम अन्य उपायों पर ध्यान नहीं देंगे, जैसे कि कठिन परिश्रम, सामाजिक तथा आर्थिक संयम, उत्तम प्रबन्ध-व्यवस्था, लागत में कमी करने की प्रबल इच्छा, अधिक उत्पादन, वस्तुओं को बर्बाद न होने देना और सचिवालय तथा सार्वजनिक क्षेत्र, दोनों की देख-रेख में कुशलता आदि। इस प्रकार अधिक-से-अधिक निर्यात तथा आत्म-निर्भरता तथा कम-से-कम लागत में वस्तुएँ बनाना हमारा उद्देश्य होना चाहिए।"

अवमूल्यन पर वाद-विवाद—अवमूल्यन की घोषणा के पश्चात् देश में इसके बारे में प्रत्येक नागरिक ने अपना ही नवीन मत दिया। जैसे कि सी० जी० के० रेड्डी तथा श्रीमती के अनुसार अवमूल्यन के पश्चात् समाचार-पत्रों को बहुत भारी आर्थिक संकट देखना होगा। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के उप-कुलपतियों की नैनीताल की गोष्ठी में कहा गया कि विश्वविद्यालयों के बजट को बहुत भारी धक्का पहुँचा है। दिल्ली के एक रिपोर्टर ने समाचार-पत्र में यह लिखा कि अवमूल्यन से पुस्तकें पढ़ने की आदत बहुत महँगी पड़ेगी क्योंकि बाहरी देशों से आने वाली पुस्तकों की कीमतों में बहुत वृद्धि हो जाएगी। इसी प्रकार श्री एस० एम० जोशी, अध्यक्ष संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, ने कहा कि अवमूल्यन आम जनता के लिए एक बहुत बड़ी घटना है।

निष्कर्ष—भारत की प्रधान-मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने १२ जून १९६६ के रेडियो भाषण में कहा कि अवमूल्यन कोई जादू नहीं है, किन्तु यह देश की अर्थव्यवस्था में आई हुई मौजूदा गिरावटों में कुछ शीघ्रता से सुधार कर सकता है। सरकार को भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में बढ़ते हुए अन्तर के कारण यह कदम उठाना पड़ा। इसका महत्त्व और उद्देश्य यह है कि देश के निर्यात लाभप्रद हों, और जिन वस्तुओं का आयात होता है उनका स्थान स्वदेशी माल ले सके, जिससे सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में पूँजी लगाने के लिए अनुकूल वातावरण बन सके।

परन्तु अवमूल्यन का उद्देश्य पूरा होगा कि नहीं, इस बात पर निर्भर करता है कि अवमूल्यन के बाद सरकार बाकी कदम क्या उठाती है। अवमूल्यन कोई एक अपने-आपमें ही अन्त नहीं है, बल्कि एक आर्थिक स्थिति को उन्नत बनाने का रास्ता है। सरकार को उन तमाम प्रतिबन्धों से मुक्त कर देना चाहिए जो उत्पादन के मार्ग में विघ्न डालते हैं। बैंकों को औद्योगिक उन्नति के लिए प्रोत्साहित किया जाए। सरकार को नये क्षेत्र न खोलकर कृषि, औद्योगिक तथा अन्य सामाजिक क्षेत्रों में विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए, जिससे निर्धारित लक्ष्य पूर्ण हो सकें। ऐसा करने से देश के कर के बोझ में काफी कमी हो सकेगी, जिससे निजी क्षेत्र में उपनिवेश होगा और उत्पादन अच्छी मात्रा में बढ़ेगा, इससे मुद्रास्फीति पर काबू पा लिया जा सकेगा।

●